॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

चतुर्थ पुष्प

श्री मद्भागवत महापुराण की श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध–पूर्वार्ध अध्याय—२२-२८

श्री सुबोधिनी–तामस–साधन उप-प्रकरण अध्याय—१९-२५

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।
साकार ब्रह्म वादैक स्थापको वेद पारगः ॥–(श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी—श्री मद्विठ्ठलेश प्रभुचरण
लेख—गो० श्री वल्लभजी महाराज
प्रकाश—गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
योजना—प० भ० श्रीलालूभट्टजी
कारिकार्थ—प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री गोवर्धनजी शास्त्री वेदान्ताचार्य
कोटा (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति, १०००
राधाष्टमी-महोत्सव
भाद्रपद शुक्ला ८ वि. सं. २०२६
दिनांक १८ सेप्टेम्बर, १९६९

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

न्यो
सा
संस्था
सदस्यों
को

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार १९वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'प्रथम अध्याय'

चीर-हरण-लीला

कारिका—अतः सप्तभिरध्यायैर्निरोधोत्र निरूप्यते ।
उत्तमः फलपर्यन्तो विद्यानिर्णयपूर्वकः ॥१॥

कारिकार्थ—अब यहाँ* सात अध्यायों से विद्या के निर्णय पूर्वक, फल पर्यन्त† उत्तम निरोध का निरूपण किया जाता है ॥१॥

---

*—'अत्र'—इस तामस-साधन उप-प्रकरण में । † 'फल पर्यन्त'—बैकुण्ठ की प्राप्ति करा देने वाले आत्म समपर्ण तक ।

कारिका—विद्या पञ्चकमत्रापि तस्मिन् जाते सुरेक्षणम् ।
इहैव गमनं चापि वैकुण्ठावधि वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस साधन प्रकरण में भी, पाँच विद्याएँ कही गई हैं और इनके सिद्ध हो जाने पर, देवताओं का दर्शन तथा वैकुण्ठ पर्यन्त गमन का वर्णन इसी उप प्रकरण में किया गया है ॥२॥

योजना—उत्तम–इस दशम स्कन्ध में, निरोध लीला का वर्णन है। वह प्रेमात्मक निरोध आसक्त्यात्मक निरोध और व्यसनात्मक निरोध, भेद से तीन प्रकार का है। उनमें प्रथम (प्रेमात्मक) निरोध का निरूपण, "प्रमाण" उप-प्रकरण में, हो चुका है और मध्यम (आसक्त्यात्मक) निरोध का प्रमेय उप-प्रकरण में वर्णन कर दिया गया। उत्तम (व्यसनात्मक) निरोध का वर्णन, इस "साधन" उप-प्रकरण में करते है। यह व्यसनात्मक निरोध बिना किसी व्यवधान[1] के स्वयं साधन रूप होने से उत्तम (निरोध) है, और शास्त्र मे बतलाया है, कि* जब भगवान् कृष्ण में व्यसन हो, तब जीव कृतार्थ होता है। अतः व्यसन रूप होने से, यह "साधन" उप-प्रकरण का, निरोध ही उत्तम (निरोध) है और उसी का यहाँ वर्णन है।

फलपर्यन्त--ब्रह्मानन्द का अनुभव रूप अवान्तर[2] फलपर्यन्त ॥१॥

टिप्पणी—विद्यापञ्चकम्–यदि साक्षात् सेवा सम्भव न हो, तो परम्परा से भी भगवान् की ही सेवा करना चाहिए। देह इन्द्रिय आदि का विनियोग, भगवान् में ही करना, अपने स्वार्थ में देह आदि को नहीं लगाना,–ऐसी निर्णय रूप विद्या '**प्रथम**' विद्या है।

देह के निर्वाह के लिए और प्राणादिक भूख प्यास आदि धर्म की निवृत्ति के लिए भी,–देह निर्वाह और भूख प्यास आदि प्राणादि के धर्मों की निवृत्ति करने में, स्वयं समर्थ होने पर भी,–प्रभु से ही प्रार्थना करना, अन्य किसी से नहीं। प्रभु लोक में, अलौकिक, कुछ नहीं करते हैं। भगवद्भाव की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकती है, शास्त्रोक्त जप आदि साधनों से नहीं हो सकती–ऐसा निर्णय करने वाली विद्या '**दूसरी**' विद्या है। अन्य का भजन नहीं करना, स्व पूर्वजों की परम्परा से चले आए धर्म का भी भगवान् की इच्छा हो, तो त्याग कर देना ऐसा निर्णय करने वाली विद्या, 'तीसरी' है। सब अवस्था में भगवान् की ही सेवा करना तथा अक्लिष्ट कर्मा (सम्पूर्ण क्रीडादि कार्य में श्रम रहित) भगवान् अपने दास जनों की रक्षा अवश्य करते ही हैं–यह '**चतुर्थ**' विद्या

---

*'यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि'।

१—अन्तर, दूरी २—गौण

कारिका—**ज्ञानं कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकमिति स्थितिः ।**
अविद्या कार्य सम्बन्धो नात्रेति विनिरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—ज्ञान और कर्म रूप विद्या में, अंगभूत ज्ञान पांच प्रकार का है और कर्म भी पाँच प्रकार का है । अविद्या और अविद्या के कार्य का सम्बन्ध यहाँ नहीं है—इस बात को बतलाने के लिए, विद्या के निरूपण के अनन्तर, देव के दर्शन का निरूपण आता है ॥३॥

है । भगवान् का माहात्म्य जान कर, उन में परम स्नेह करना तथा भक्तों को, सब की अपेक्षा श्रेष्ठ समझना,—यह '**पांचवी**' विद्या है । इन पाँचों विद्याओं की प्राप्ति होने पर, पूर्ण निरोध सिद्ध हुआ, तब अपना कार्य (निरोध सिद्धि) हो जाने के अनन्तर इन्द्रादि देवता को देखने की दृष्टि प्रभु ने व्रजवासियों की करी । इसी से इसका निरूपण, पीछे किया है और श्रीनन्दरायजी को भगवान् की महिमा (उत्कर्ष) का ज्ञान कराने के लिए ही वरुण का दर्शन कराया यही तात्पर्य—तस्मिन् जाते सुरेक्षणम्—इन पदों में कहा है ।

लेख—'अत्रापि'—साधन मार्गीय भक्तों में । 'अत्रापि' पद का सम्बन्ध-'निरूप्येत'-के साथ समझना । लीलास्थ भक्तों के विषय में भी, पाँच विद्याओं का निरूपण किया जाता है । 'तस्मिन जाते सति' व्यसन पर्यन्त निरोध की सिद्धि हो जाने पर, भगवान् ने इन्द्र का दर्शन कराया और भक्तों ने वरुण का दर्शन किया—इन दोनों का वर्णन—सुरेक्षणम्-पद में किया, ऐसा सम्बन्ध है अतः इस निरोध की सिद्धि होने तक, भगवान् ने अन्य कोई कार्य नहीं किया । उक्त निरोध की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर ही व्रज वासियों की इन्द्र विषयिणी दृष्टि की । इससे यह लीला अत्यन्त महत्वपूर्ण समझ में आती है । तात्पर्य यह है कि, यह निरोध, देव दर्शन में आने वाले प्रतिबन्ध को, दूर करने में तथा भगवल्लोक के दर्शन की इच्छा उत्पन्न करा कर, वरुण के दर्शन की स्वरूपयोग्यता का सम्पादन कराने में, कारण है । इहैव—वरुण दर्शन के अध्याय में । 'च' छन्द तथा ब्रह्मात्मकता का भी द्योतक है ।

टिप्पणी—इस निरूपण का तात्पर्य कहते हैं—'अविद्याकार्येति-अविद्या' तथा अविद्या का कार्य—यह समझना ।

लेख—कर्म और ज्ञानात्मक विद्या में, उसके अंगभूत ज्ञान का वर्णन आगे होगा वह (ज्ञान) पर्व के भेद से, पांच प्रकार का है । कर्म भी, देश, काल द्रव्य, कर्त्ता और मन्त्र भेद से पांच प्रकार का है । ऐसी मर्यादा है । अविद्या और उसके कार्य का सम्बन्ध यहां नहीं है, इसीलिए इस (सम्बन्धाभाव) को बतलाने के लिए विद्या का निरूपण कर देने के अनन्तर, देव दर्शन का निरूपण आता है ।

योजना—'ज्ञानं कर्म च विद्यायाम्'—यहाँ-'विद्या'-'टिप्पणी' में कहे हुए भेदों से पाँच प्रकार की समझना । ज्ञान और तदनन्तर ज्ञान के अनुकूल कर्म भी, निम्नलिखित प्रकार से पाँच प्रकार का है:—१—कात्यायनी व्रत, पूजा आदि कर्म, भगवान् को प्राप्त करा (देने की इच्छा) देगा—ऐसी इच्छा से ही करना और परम्परा से भी भगवान् की ही सेवा करना । २—गोपजनों ने भूख से पीड़ित होकर भी क्षुधा की शान्ति के लिए, भगवान् की

कारिका—स्त्रीपुंसोः सहभावेन तुल्यत्वान्निरूपणम् ।
लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा ॥४॥

कारिकार्थ—स्त्रियों और पुरुषों की समानता है इसलिए सह भाव से निरूपण है। पहिले गोप और गोपीजनों की कर्म ज्ञानात्मिका तथा लोकानुसारिणी (लोक का अनुसरण करने वाली) विद्या का भेद सहित निरूपण किया गया है ॥४॥

कारिका—निरूप्यते गोपिकानां गोपानां च विभेदतः
एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ॥५॥
अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानमिहोच्यते ॥५½॥

कारिकार्थ—भोग्य कुमारिकाओं के व्रत का निरूपण उन्नीसवें अध्याय में जिस प्रकार किया है उसी प्रकार (इसी अध्याय में) अन्तःस्थ कुमारों के ज्ञान का निरूपण (वर्णन) भी यहीं किया गया है ॥५½॥

ही प्रार्थना की—यह प्रार्थना रूप, द्वितीय कर्म। ३—श्रीनन्दरायजी आदि ने इन्द्र का याग रूप परम्परागत धर्म का त्याग किया और गोवर्धनयाग किया—यह तृतीय कर्म। ४—इन्द्र के द्वारा की गई वृष्टि से व्याकुल हुए, व्रज जनों ने हरि की ही सेवा की—यह शरणगमन रूप, चतुर्थ कर्म। ५—उन गोपों ने जिनका सन्देह श्रीनन्दरायजी के वाक्यों से दूर हो गया था, भगवान् में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक, स्नेह युक्त कार्य किया—यह पाँचवाँ कर्म है।

टिप्पणी—स्त्रियों और पुरुषों का सह भाव से निरूपण करने का कारण, उनकी तुल्यता है अविद्या के सम्बन्ध का अभाव अथवा निरोध दोनों में समान है।

योजना—स्त्रीपुंसो–कुमारिका और उनके पुरुषभावरूप वयस्य। तुल्यत्वात्–रहस्यलीला का अनुभव कुमारिका और उनके पुरुष भाव रूप वयस्य दोनों को साथ ही फल प्रकरण में होगा। अतः फल के अनुभव की, समानता होने से, 'साधन' उप-प्रकरण में भी दोनों का सहभाव से, निरूपण किया गया है। 'वयस्यैरागतस्तत्र' वयस्यों (सखाओं) के साथ भगवान् वहाँ पधारे—इत्यादि स्थलों पर साधन में, सहभाव का निरूपण है। इससे गोपीजनों की कर्मात्मिका विद्या कात्यायनी व्रतरूप विद्या—का निरूपण किया गया है और गोपों की ज्ञानात्मिका विद्या का निरूपण—'धन्य एषां वर जन्म'—इन वृक्षों का जन्म उत्तम है—इत्यादि वाक्यों में, भगवान् ने उपदेश करके किया है। इस प्रकार गोपीजनों की कर्मात्मिका विद्या और गोप जनों की ज्ञानात्मिका विद्या का, भेद सहित निरूपण किया गया है। यही विषय अन्तिम कारिका में स्पष्ट कहा है कि उन्नीसवें अध्याय में, जिस प्रकार भोग्य कुमारिकाओं के व्रत का निरूपण किया है, उसी प्रकार अन्तस्थ कुमारों के ज्ञान का निरूपण भी यहाँ (इसी अध्याय में) ही किया गया है। अन्तःस्थ कुमारों का, अर्थात् जिन भक्तों का निरोध करवाना है, उन्हीं की इन्द्रियों में उनके अधिष्ठाता रूप से भीतर रहने वाले कृष्ण स्तोक आदि का।

प्रथम अध्याय

श्री शुक उवाच

श्लोक—हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दगोपकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहने लगे हेमन्त ऋतु के प्रथम, मार्गशीर्ष मास में, नन्दगोपकी कुमारिकाओं ने, हविष्य अन्न का भोजन करते हुए, कात्यायनी की पूजा के व्रत का आरम्भ किया ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये स्त्रीणां गोपिकानां भगवत्क्रीडायां परमासक्तिर्निरूपिता, ताश्च द्विविधा अनन्यपूर्वा अन्यपूर्वाश्च, अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्काराः, तासां त्यागोऽङ्ग, तदुत्तरत्र वक्ष्यते, अन्यासा अन्यासामसंस्कृताना संस्कार एव निरूप्यते, विद्यायामयमेव त्यागात्याग-निर्णयः, अत्यागस्त्यागादुत्तम इति ज्ञापयितुं परीक्षा, नन्दगोपो मुख्य इति तत्रैव भोग्याः कन्यका भवन्ति, ता दैवगत्या एकजातीया एव "ऋषयः षोडशसहस्र" मिति-पुराणान्तरादवसीयते, ता अप्यम्बे'तिसम्बोधनात् पूर्वं निरूपिताः, तासामृषित्वादन्यत्र दानमन्यथा भोगं चाशङ्क्य व्रतार्थं प्रवृत्तिः, पूर्वं शरदि तासां चित्तस्थिति-निरूपितेति हेमन्ते व्रतप्रवृत्तिः, तत्रापि "मासानां मार्गशीर्षोऽह" मिति--भगवद्वाक्यात् **प्रथमे मासि व्रतारम्भः**, इदं **व्रतमत्रैव प्रसिद्ध, कात्यायन्याधिदैविकी तामसी** शक्तिः, दुर्गा पार्वती च राजसी, ब्राह्मणाः सात्त्विकाः, तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवति भगवानेव वा गुणातीतः, तदर्थं सेव्यत इति, अतो हेमन्ते **पञ्चमऋतौ पञ्चमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं, प्रथमे** मासि मार्गशीर्षे नन्दगोपस्य **कुमारिकाः** सम्पादिताः संरक्षिता हविष्यान्नमेव **भुञ्जानाः कात्यायनीपूजालक्षणं** मासं समाप्यव्रतं चेरुः, नित्यं कात्यायनी पूजनीयेतिनियमः ॥१॥

व्याख्यार्थः—गत अध्याय में, स्त्रियों-(गोपीजनों) की भगवान् की क्रीड़ा में परम आसक्ति का निरूपण किया है। वे गोपिकाएँ, अनन्यपूर्वा (कुमारिका) और अन्यपूर्वा (विवाहिता) भेद से, दो प्रकार की हैं। इन में परिणीताओं (विवाहितों) का संस्कार अन्य रीति से-अन्य के साथ विवाह से हुआ है उनका तो वह संस्कार हो चुका अनन्तर केवल त्याग ही बाकी रहा है जिसका आगे वर्णन किया जाएगा अन्य गोपिकाओं (कुमारिकाओं) जिनका विवाह संस्कार नहीं हुआ है उनके विवाह संस्कार का ही निरूपण किया जाता है। विद्या में इसी त्याग और अत्याग का निर्णय है। उन में 'त्याग' से 'अत्याग', उत्तम है-यह बतलाने के लिए ही परीक्षा की। नन्द गोप मुख्य हैं अतः उनके यहाँ ही, भोग्यकन्याएँ हैं। दैव गति से वे सारी एक, ही जाति की हैं—ऐसा ऋषयः षोडश सहस्रम्'—इत्यादि अन्य पुराणों से 'सोलह हजार ऋषि निश्चित होता हैं ' प्रायो बताम्ब' इस वेणु गीत के श्लोक में 'अम्ब' इस सम्बोधन से उन कन्याओं का ही पहिले निरूपण किया गया है।

वे कन्याएँ पूर्व जन्म में ऋषि थीं अतः उनको यह शंका होती थी हमें कहीं किसी अन्य के लिए दान में न दे दिया जाए तथा कोई अन्य हमें अपनी भोग्या न बनाले। इस लिए वे व्रत के लिए प्रवृत्त हुईं। पहिले (१७ वें अध्याय में) उनके चित्त की स्थिति का निरूपण किया। अब हेमन्त ऋतु में वे

व्रत करने लगीं-ऐसा समझना । उस हेमन्त ऋतुमें भी, प्रथम, मार्गशीर्ष मास में, मासानां मार्गशीर्षोऽहम् (मासों में मार्गशीर्ष मैं हूँ) गीतोक्त इस भगवद्वाक्यानुसार—व्रत का आरम्भ किया । यह व्रत यहाँ ही प्रसिद्ध है ।

कात्यायनी भगवान् की आधिदैविकी तामसी शक्ति है । दुर्गा और पार्वती राजसी शक्ति है । ब्राह्मण सात्विक हैं उनकी प्रसादरूपा शक्ति स्त्री है अथवा गुणातीत भगवान् ही हैं, उनकी प्रसन्नता के लिए ही सेवा की जाती है । इस लिए पाँचवी, ऋतु हेमन्त में, पंचम पुरूषार्थ (भक्ति) की सिद्धि के लिए प्रथम, मार्गशीर्ष मास में नन्द गोप की कुमारिकाओं ने (जिन को प्राप्त कर के अच्छी तरह सुरक्षित रखा है) हविष्यान्न ही खाकर एक मास में समाप्त होने वाला कात्यायनी की पूजा रूप व्रत किया । प्रति दिन कात्यायनी की पूजा करने का नियम धारण किया ।

'भगवानेव वा'—आधिदैविक स्त्री शरीर धारी भगवान् ही कात्यायनी है । वह रहस्य लीला में उपयोगी स्त्री शरीर वाला भगवान का स्वरूप गुणातीत है ऐसा कहा है इस से तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत व्रज सुन्दरियों की लीला से उपयोगी शरीरों की सिद्धि होना बतलाया है ॥१॥

टिप्पणी—'अन्यपूर्वास्त्वन्यमैव कृतसंस्कारा इति'-यहाँ यह समझना चाहिए कि, स्त्रियों का विवाह ही मुख्य संस्कार है, क्योंकि वह मंत्र सहित होता है । लोक में, संस्कार द्वारा स्वर्गादि फल को देने वाले अग्नि होत्र आदि "वैदिक कर्मों" के करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है । यहाँ इस प्रकरण में, फल की बात नहीं है, यहां तो भगवत् सम्बन्ध ही फलरूप से कहा जाएगा और उस "भगवत्सम्बन्धरूप फल" में संस्कार का कोई प्रयोजन नहीं हैं, फिर तो यहाँ उसका वर्णन निरर्थक ही हो जाएगा । इसलिए जिस फल को यहां कहना चाहते हैं, उस की प्राप्ति कराने वाला कोई धर्म ही, यहां 'संस्कार' शब्द का अर्थ है । वही धर्म, विवाह से उत्पन्न हुए तृतीय पुरुषार्थ "काम" के विशेष रस का अनुभव कराने में कारण है । काम शास्त्र की मर्यादा के अनुसार, वह (रस) सब पति पत्नी में उत्पन्न नहीं हो सकता, इसी से व्याख्या में, 'अन्यथा" अन्य के साथ उनका परिणय संस्कार होना कहा है । भगवदीयों का किसी अन्य के साथ विवाह अनुचित है–इसी से "अन्यथा" शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन पतियों के साथ, उनका सम्बन्ध न होने से और भगवद्रस का पोषक होने से उसको संस्कार कहा है । इस कथन से, पूर्वोक्त संस्कार की निरर्थकता भी दूर हो गई (मिट गई), क्योंकि अनुचित सम्बन्ध को संस्कार नहीं कहा जाता है । इसलिए यह सब निर्दोष है ।

और यहां–'लोकानुसारिणी विद्या'–इत्यादि वाक्य से पहिले, लोक के अनुसार, कर्म का निरूपण किया है, भगवच्छास्त्र "भागवत" के अनुसार नहीं किया है । भगवच्छास्त्र में तो, भगवान् की प्राप्ति के लिए भगवान् की ही सेवा करने की मर्यादा है । लोक में, जैसे अपने प्रिय को मिलने के लिए उसकी दूती से प्रार्थना करनी पड़ती है, वैसे ही यहाँ भी कात्यायनी की प्रार्थना की गई है । उस लोकिक दूती को, जैसे धन आदि देकर सन्तुष्ट किया जाता है, वैसे ही यहां इस अलौकिक दूती (कात्यायनी) को अलौकिक रीति से, सन्तुष्ट किया गया है ।

अतः इसमें, अन्य का भजन रूप "अन्याश्रय" दोष भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, अपने शरीर के मण्डन के तुल्य है और रस का पोषक है।

वे विवाहित गोपीजन तो प्रौढ अवस्था की हैं, उन में तो भाव के अंकुर उत्पन्न हो चुके हैं, उनका तो अनंगवृक्ष, प्रतिदिन, प्रिय भगवान् के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रेम से अत्यन्त गीले नेत्रों के दर्शन से, सुदृढ हो चुका है और उसके रस के प्रवाह के वेग से, अन्य का भान मिट गया है। उन्हें समय प्राप्त होने पर, भगवान् के समागम की ही अपेक्षा है, जिसका वर्णन "निशम्य गीतम्" से आरम्भ करके "न न्यवर्तन्त" श्लोक तक छब्बीसवें अध्याय में करेंगे। इसी को ध्यान में रखकर व्याख्या में 'तासां त्यागोऽङ्गम्' उनका तो त्याग ही करना बाकी है, ऐसा कहा है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि, इन कुमारिकाओं के व्रत के प्रसंग में प्रौढ गोपीजनों का प्रसंग क्यों आया ? उत्तर इस प्रकार से है, मूल श्लोक में "कुमारिकाव्रतंचेरुः' कुमारिकाओं ने व्रत का आरम्भ किया,–इस कथन से कुमारिकाओं से अलग गोपीजनों का व्रत न करना सूचित किया, उन में व्रत न करने वाली, गोपीजनों का स्वरूप कहना और उन "स्वरूप के" न कहने का कारण बतलाना भी आवश्यक है। अतः उन दोनों का कहना प्रसंगानुकूल उचित ही है, इसके पीछे "अन्यासामसंस्कृतानाम्" संस्काररहित (अविवाहित) कुमारिका–गोपीजनों के संस्कार का ही निरूपण करते हैं, उसका यहाँ अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे, प्रथम भगवान् के लिए किए गए व्रत में आए हुए क्लेश से उत्पन्न विशेषभाव रूप संस्कार, क्योंकि विना परिश्रम सहज मिली हुई वस्तु की अपेक्षा, परिश्रम से प्राप्त हुई में, स्नेह अधिक होता है। यह सभी का अनुभव है, फिर "कृष्णचेतसः" पचम श्लोकोक्त इस पद से वर्णित हुआ, भगवान् के निरन्तर और अनेक प्रकार का–भगवान् के साथ-संगम का, मनोरथरूप संस्कार तथा उससे उत्पन्न हुआ भाव, विशेष संस्कार, जिससे आगे-कात्यायनी की प्रार्थना न करके-भगवान् की ही प्रार्थना करेंगी। आगे-उषसि-छठे श्लोक में प्रदर्शित प्रकार का संस्कार। पीछे प्रिय भगवान् के पधार आने पर, अनेक प्रकार के रस और भावों से भरे हुए परस्पर के वार्तालाप से उत्पन्न प्रमोद अथवा आनन्द विशेष, द्वारा होने वाला भाव रूप संस्कार। पीछे–यूयं विवस्त्राः" भगवान् के वाक्यों को सुनकर, अगले वाक्य में बतलाया हुआ विशेष भावरूप संस्कार। तदनन्तर, वस्त्र-वितरण और उस समय में, उत्पन्न भावों को, प्रदर्शित करने वाली दृष्टि, चितवन द्वारा अनेक प्रकार के स्पर्श से उत्पन्न, भावविशेष संस्कार। उसका ही वर्णन श्री शुकदेवजी ने–दृढं प्रलब्धाः–श्लोक से किया है। इसी से, ईर्ष्या के कारण होने पर भी, उन्हें ईर्ष्या न हुई, क्योंकि संस्कार से, दोष उत्पन्न होते ही नहीं, फिर अग्रिम वाक्य में, कहा हुआ भाव विशेष संस्कार। पश्चात् अत्यन्त प्रसन्न प्रिय,–भगवान के दर्शन-अवलोकन-और वरदान के वाक्यों के सुनने से उत्पन्न, अवश्यम्भावी संगम के निश्चय से होने वाला संस्कार। फिर घर जाने की आज्ञा से उत्पन्न, अन्यन्त दुःख और इष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न अत्यन्त सुख से विभिन्न भावरूप संस्कार। पीछे एक एक क्षण का अनेक कल्पों के तुल्य होने का भान होना, सब ओर से गुप्त रख (छिपा) कर, अपने हृदय से अत्यन्त बढते हुवे भाव के रस के वेग से, कभी कभी आपस में, उनकी कथा रूप अमृत की वर्षा से, प्राप्त सुख से, निरंतर अनेक मनोरथ करना और उनके द्वारा, क्षण क्षण में, साक्षात् भगवान् के द्वारा, अपना उपभुक्त होना, मानना इत्यादि। इनके हृदय में, भगवान् का जैसा साक्षात् सम्बन्ध था, वैसा बाहिर नहीं था। भगवत्सम्बन्ध होने पर ही, इनकी आगे होने वाले भगवान् के संगम में, रसको अनुभव

करने की योग्यता हुई, यह भी इनका संस्कार ही समझना । इन सबको ध्यान में रखकर ही व्याख्या में 'संस्कार एव निरूप्यते' संस्कार का ही निरूपण करना लिखा है । यद्यपि भगवान् सर्व शक्तिमान हैं, तब भी, इस रस का स्वरूप, ऐसा ही होने के कारण, ऐसे कहा गया है–यह तात्पर्य है ।

'विद्यायामेव त्यागात्यागनिर्णय' – त्याग और त्यागाभाव का निर्णय विद्या में ही है । इसे त्याग कहते हैं और यह अत्याग है, वह इस तरह करना, ऐसा न हो, तो नहीं करना-इत्यादि का निर्णय ही इस ऊपर कहे संस्कार का निरूपण है । समझ लीजिये "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्"–श्रुति कि जिस दिन, वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन सन्यास ले लिया जाए–इस श्रुति के अनुसार प्रचलित (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) आश्रमों की मर्यादा में केवल अनुराग न करना हो, त्याग बतलाया गया है यहां भक्ति मार्ग में, ऐसा नहीं है इसी भाव से, व्याख्या में,–विद्यायाम्" पद कहा गया है । विद्या से, यहां भक्ति मार्गीय विद्या, समझना चाहिए । भक्तिमार्गीय विद्या ही विद्या है, अन्य स्थलों पर कहीं विद्या, विद्या नहीं है इसीलिए विद्या–यह सामान्य पद कहा है । इन गोपिजनों का विषयों में अनुराग नहीं है, तो भी, फलरूप भगवान् घर में ही विराजते हैं, इसलिए बाहर जाने–गृहत्याग–की आवश्यकता न होने से, उन्होंने बाह्य त्याग नहीं किया, किन्तु घर में रहकर ही, भगवत्प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न किया है । ज्यों ज्यों भगवद्भाव बढ़ता गया, त्यों त्यों बाह्य साधनों का त्याग और अन्तरंग साधनों का आचरण करते गए । भगवान् के संगम की भावना के, सहज होने से, लौकिक ही नहीं, वैदिक क्रियाएं भी, जो स्वतः छूटती गई, छूट गई । उन्होंने, उनका, किसी का जान कर, त्याग नहीं किया । प्रिय भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, यदि देह अन्तःकरण के धर्म (जो छोड़े नहीं जा सकते) भी त्याग देने चाहिए, जो उन गोपीजनों ने छोड़ दिए थे । यहां व्रत, भगवत्प्रार्थना, वस्त्रत्याग, हाथ जोड़ना, घर जाना आदि से यही निर्णय होता है, कि फल की प्राप्ति हो जाने के पीछे भी, भगवान् की जब इच्छा हो, तब ही त्याग करना चाहिए, नहीं तो त्याग नहीं करना चाहिए । इसीलिए आगे त्याग कहा गया है । इसके अतिरिक्त, अन्य रीति से, किया हुआ त्याग, त्याग ही नही है, क्योंकि, वैसे त्याग से फल के रसका अनुभव नहीं होता है । यही 'अत्याग' पद का तात्पर्य है । सारांश यह है कि साधन दशा में तो त्याग उचित ही नहीं है फल की प्राप्ति हो जाने पर भी संस्कार की पूर्वकथित (पहले कही हुई) रीति से इनकी साधन दशा ही है वास्तव में तो अभी फल की प्राप्ति का निश्चय ही हुआ है फल की प्राप्ति तो आगे होगी, इसलिए उनका घर चला जाना उचित ही है ।

शंका–यहां यह शंका होती है कि "नीवीं प्रतिप्रणिहितेतु करे,' अधोवस्त्र की गांठ के ऊपर प्रिय के हाथ रखने पर कुछ भी अनुसन्धान नहीं रहता–इस न्याय से उस समय उनको अपने वस्त्र छुड़ाने का अनुसन्धान रह कैसे गया ? इस का समाधान इस प्रकार है कि संगम के भाव में ही गोपीजन हृदय में भगवान् के प्रति रहे-स्थित-उत्कट अनुराग से अपने अन्तराय को भी नही सह सकने की भावना से उन्हें वस्त्र छुड़ाने का अनुसन्धान बना रहा, इसी से प्रिय भगवान् ने–'मस्तक पर अंजलि बांध कर'–इत्यादि वचन कहकर उनके भाव की परीक्षा की । ऊपर कहे गए भाव से ही, यदि वे (गोपीजन) अंजलि मस्तक पर धर लेंगी, तो दृष्टि का अन्तराय दूर कर लेंगी, परीक्षा करने का यही प्रयोजन था ।

तुमने वरुण देवता की अवहेलना की है, यह कह कर, भगवान् ने वस्त्रत्याग में अपनी अरुचि सूचित की है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि, भगवान् के साक्षात् संगम और अन्तराय के असह्य होने के पीछे ही वस्त्र-त्याग उचित हो सकता है, केवल संगम की भावना में, ही ऐसा करना उचित नहीं है, इसी लक्ष्य से, व्याख्या में 'अत्याग' 'त्याग' से उत्तम है–यह बतलाने के लिए परीक्षा की, ऐसा कहा गया है। इसी से मूल में "तत्पूर्तिकामा:" व्रत की पूर्णता चाहने वाली, ऐसा कहा है। सारे अंग पर दृष्टि पड़ने से ही, व्रत की पूर्णता मानने वाले को भगवान्, जब तक सारा अग नही देख लेते हैं, तब तक, व्रत अपूर्ण है, अतः उक्त विधि से, व्रत पूरा करने की इच्छा से ही उन (गोपीजन) ने ऐसा किया यदि वस्त्रों का त्याग न करती तो, भगवान् के पास शीघ्र ही चली जाती। वस्त्रत्यागने से ही, देरी हुई। इस कारण से भी, 'अत्याग' की 'त्याग' से उत्तमता सिद्ध होती है।

अब ब्राह्मणा: सात्त्विका:—से आरम्भ करके–सेव्यते–तक व्याख्या का तात्पर्य कहते हैं। पद्मपुराण में कहा है, कि दण्डक वन में रहने वाले, सोलह हजार ऋषियों ने उनके आश्रमों के निकट आए हुए, करोड़ों कामदेव जैसे सुन्दर, श्री रामचन्द्रजी के दर्शन करके, मन में, उनके साथ रमण करने की, अत्युत्कट इच्छा की और उनसे, उनकी पत्नियां होने की प्रार्थना की। तब श्री रामचन्द्रजी ने उन पर कृपा कर के, कहा कि, "अभी तो मैं एक पत्नीव्रत धारण करता हूँ, व्रज में तुम्हारा मनोरथ पूरा (सिद्ध) होगा" वे ही, ऋषि ये कुमारिकाएँ हैं, यह ध्यान में रख कर ही, व्याख्या में "ब्राह्मणा:" इत्यादि कहा है। 'आदि वाराह'† पुराण में, कहा है कि कृष्ण के साथ रमण करने की इच्छा से, सोलह हजार ने गोपी रूप धारण किया और कृष्ण के साथ रमण किया। 'महाकूर्म'* पुराण में, लिखा है, कि महात्मा अग्निपुत्रों ने तपस्या करके, स्त्रीभाव प्राप्त किया और जगत्कर्ता, व्यापक वासुदेव भगवान् को, पति प्राप्त किया। इत्यादि अन्य पुराणों के आधार से ही आचार्य चरणों ने उन सोलह हजारों को, एक जाति की बतलाई है। यहां ऐसा समझना चाहिए, कि परस्पर विरोध के कारण, पुरुष शरीर बना रहे, तब तक तो स्त्री भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में इन ऋषियों को अत्यन्त पवित्र और परम पुण्यशाली देख कर, श्री रामचन्द्रजी उन पर इतने प्रसन्न हुए, कि कभी किसी को भी न दिया जाने योग्य साक्षात्स्वरूपानन्द का दान उनके लिए करने की इच्छा उत्पन्न हुई। किसी प्रमाण के न होने से, यह नहीं कह सकते, कि पुरुष रूप में, अथवा केवल स्त्री रूप में स्वरूपानन्द का अनुभव सम्भव नहीं है, क्योंकि स्त्री रूप से शरण में गई हुई ब्राह्मण-पत्नियों को भी, भगवान् ने साक्षात्स्वरूपानन्द का दान नहीं किया और क्षुद्र भीलनियों के लिए दान कर दिया, किन्तु अचिन्तनीय अनन्त शक्तिमान् भगवान् की प्रसादरूप शक्तियां भी बहुत हैं, उनमें भी एक शक्ति अत्यन्त अन्तरंग है, जिसके सम्बन्धी जीव पर (को) भगवान् के स्वरूपानन्द का अनुभव अवश्य होता है, वह अन्तरंग शक्ति बतलाए हुए इस स्त्रीत्वरूप "लक्षण" धर्म रूप ही है, इसी से उसको भगवान् ने इन ऋषियों में स्थापित किया।

---

†कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्रा क्रीडन्त केशवम्।
आदि वाराह पु०।

*अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्। महा कौर्म पु०।

तभी वे साक्षात् स्वरूपानन्द का अनुभव, कर सकने योग्य हुए, परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की इच्छानुसार, स्वरूपानन्द का अनुभव करने योग्य देह भी, अभी हुई, इसी से* व्याख्या में, उनकी प्रसादरूप शक्ति स्त्री है–ऐसा कहा है। वह शक्ति, स्त्री के सारे धर्मों से युक्त स्त्रीरूप, कात्यायनी रूप है और उसी की-फल की प्राप्ति होने तक "सेव्यते" सेवा की जाती है–ऐसा सम्बन्ध (अन्वय) है। उन ऋषियों का यह भाव, निश्चितरूप से, भगवद्‌भाव ही है। क्योंकि नेत्र द्वारा भगवान् के हृदय में आने पर, यह भाव उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या में 'भगवानेव वा'–पक्षान्तर करने का आशय यह है, कि–'रसो वै सः'—इत्यादि श्रुतियों में, भाव रूप से, निरूपण है, धर्मरूप से नहीं, किन्तु धर्मिरूपता है, सेव्य भगवान्, सेवक में, अपना स्वरूप सिद्ध कर देते हैं। हृदय में पधारे हुए, भावरूप भगवान् ने हमारे देह आदि को ऐसा बना दिया, कि भावरूप भगवान् की ही सेवा कर सकें। बाहर हमारे साथ रमण करने के लिए प्रकट होओ, इस लिए नायिकाभाव से, स्त्रीभाव कहा है "इससे, उनमें कोई कमी, या सगुणता होने की शंका को दूर करने के लिए ही, व्याख्या में 'गुणातीतः' गुणातीत कहा है।" इस स्त्री भाव के कथन से. उनमें किसी न्यूनता या सगुणपन की शंका को मिटाने के लिए ही, व्याख्या में गुणातीत पद का प्रयोग किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि जैसे समुद्र से उत्पन्न अमृत का दान करने के लिए, आप—भगवान्—मोहिनीरूप हुए थे, वैसे ही अपने लोभामृत—अधरामृत का दान करने के के लिए यह रूप है, इस कथन से, यह बतलाया कि‡-मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूं, इस गीता वाक्य के अनुसार जैसे दिव्य दृष्टि से ही भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं, वैसे ही भगवद्रूप दिव्य स्त्रीभाव से ही, भगवान् भोग्य हो सकते हैं।

लेख—व्याख्या मे 'आधिदैविकी" अर्थात् आधिदैविक प्रतिबन्ध का नाश करने वाली। इसका स्पष्टीकरण मंत्र की व्याख्या में किया जाएगा। यह तामस—तामस जीवों को भगवान् को प्राप्ती कराने वाली है। दुर्गा राजसी है अतः उसके द्वारा राजस प्रकरण में दुर्गा के द्वारा भगवत्प्राप्ति हुई है। "ब्राह्मणाः" आदि से पक्षान्तर कहते हैं। यहाँ पहले "ये" पद का अध्याहार है तब—ये अत्र—सात्विका ब्राह्मणाः कुमारिकास्तेषां ब्राह्मणानाम्" ऐसा सम्बन्ध है। यहां यह सम्बन्ध कारक विषय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः ब्राह्मणविषयक प्रसाद का निरूपक अर्थ है। यहां व्रत का प्रसंग होने से सात्विकता का वर्णन किया है। गुणातीतः-पद का सम्बन्ध—स्त्री भवति के साथ है। "इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्धं" कुमारिकाओं ने किया, यह कात्यायनी व्रत यहां श्रीमद्भागवत में ही, कर्तव्यरूप से प्रसिद्ध है। "कात्यायनी" यह नाम का निर्देश है। वह आधिदैविकी संहारकारिणी शक्ति है, वह तामस भक्तों को फल की प्राप्ती कराती है, अतः उसका स्वरूप तामसी है। दुर्गा का वर्णन यहां प्रसंगवश किया है, क्योंकि दुर्गा का उपयोग तो आगे राजस प्रकरण में स्फुट होगा, कात्यायनी के स्वरूप के विवेचन में भिन्न दो पक्ष बतलाते हैं १–सात्विक ब्राह्मण अथवा २–गुणातीत भगवान् ही।

---

*तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवतीति—सु०

‡दिव्यं ददामि ते चक्षुः—गीता ११ अ०

यहां "टिप्पणीजी" में "स्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपापिस्त्रीरूपा" स्त्रीत्व में —आकृति और —स्त्री में—स्त्री का शरीर यह भेद है। शरीर के बिना केवल आकृति से ऐसे भाव रूप भगवान् की बाह्य पूजा नहीं हो सकती, इसी से—स्त्री भवति—प्रतिमा में प्रकट होकर दोनों प्रकार की सेवा कराते हैं—ऐसा अर्थ है, आगे यहां यह कहा गया है, कि पुरुषपन में, अथवा केवल स्त्रीभाव में, साक्षात स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं हो सकता—सो यह केवल स्त्रीत्व में केवलत्व क्या है ? यदि इसका अर्थ स्त्रीत्वमात्र कहें, तो स्त्रीत्व तो सभी स्त्रियों में है, तब तो किसी भी स्त्री को स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं हो सकेगा ? उत्तर—स्त्रीत्व के सहकारी का अनुसन्धान न रख कर, की हुई इस शंका का उत्तर तो --यत्सम्बन्धिजीवे— "जिसके सम्बन्धवाले जीव में भगवान् के स्वरूपानन्द का अनुभव अवश्य होगा ही "इत्यादि से स्वय ही दे दिया गया है। "माताभावोत्" प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों के अभाव से। उनमें 'शब्द' और 'प्रत्यक्ष' प्रमाणों के अभाव में तो कोई विवाद नहीं है द्विजपत्नियों को स्वरूपानन्द का दान नहीं किया—इससे—यत्सत्वेयदभाव" अन्वयव्यभिचार बताया। इसका कारण यह है, कि उनमें पुरुष-भावयुक्त स्त्री भाव था इसी से भगवान् की शरण में चले जाने के पीछे भी, उनके लिए स्वरूपानन्द का दान नही किया। भीलनियों को जिनमें द्विजपत्नियों की अपेक्षा बहुत थोड़ा स्त्रीत्व था—तो भी—स्वरूपानन्द का दान कह कर —यदभावे यत्सत्वम्— 'व्यतिरेक व्यभिचार' सूचित किया है। "साएका" ऊपर कही वैसी। "तेषाँ प्रसादरूपा शक्तिः" शक्तिः सामर्थ्यंका मुख्या।" उसका स्वरूप यह है कि उसके सम्बन्धी जीव को अवश्य ही स्व-रूपानन्द का अनुभव होवे—इस कार्य-लक्षण से उसे मुख्य कहा गया है। यह शक्ति भगवान् का धर्मरूप ही है कोई अन्य पदार्थ नहीं है। जिसका स्वरूप ऊपर कहे अनुसार जीव को स्वरूपानन्द का अनुभव कराने वाले अन्तरंगप्रसाद का देने वाला है और वही स्वरूप ऐसे स्त्री भाव से युक्त है। "एव" से यह बतलाया कि वह कोई दूसरा स्वरूप नहीं है। अतः – भगवान् का अनुभव कराने वाली होने से। ताम्– उस कही गयी शक्ति को। तदनुरूपः-स्वरूपानन्द के अनुभव के अनुकूल। अधुना-श्री कृष्णावतार के समय में। तथा—नन्दगोपसुत कृष्ण-रूप से उनके मनोरथ पूर्ण करने की इच्छा जिस कारण से हुई, उससे तात्पर्य यह है, कि स्त्रीत्वलक्षण वाला धर्मरूप हो कर स्त्रीरूप कात्यायनी रूप है ऊपर कहे हुए धर्मवाली भी वह शक्ति। स्त्रीरूपः सारी स्त्रियां जिसका रूप है ऐसी कात्यायनीरूप। इसी को तदनुरूप "उसके अनुकूल देह अब प्राप्त हुई" पद से कहा है। अथवा –तदनुरूप– ऊपर बतलाए गए स्त्रीत्व लक्षणयुक्त धर्म के अनुकूल। ऊपर कहे हुए धर्म वाली, जैसी यह स्त्री, वैसी ही देह, इसमें भगवान् के स्वरूप का अनुभव कराने की क्षमता दोनों—देह और स्त्रीत्व—में है। ऐसी देह अग्निकुमारों को अभी प्राप्त हुई है, यही स्त्री भवति इस वाक्य से कहा है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे शरीर वाली वह शक्ति कात्यायनी पद से कही गई है। अथवा ऊपर कहे हुए धर्म की सहायक देह, लीला के समय में, श्री रामचन्द्रजी की स्वरूपानन्द का दान कराने की इच्छा से–अभी उन्हें प्राप्त हुई। ग्रन्थ के स्वारस्य को लेकर, उपर्युक्त धर्म से ही, अर्थात् अपने अनुकूल देह अपने से ही प्राप्त हुई –यह ऐसा– "स्त्री भवति" का आशय है। स्त्रीरूपा–ऐसी स्त्री देह, जिसे कात्यायनी पद से, कहा है, वह रूप। जैसे जीव, जैसी देह (योनि) को प्राप्त होता है, उस देह के अनुसार ही उस के साथ व्यवहार होता है इसी तरह यहां भी समझना चाहिए।

योजना—कात्यायनी आधिदैविकी–इत्यादि । पूर्वजन्म में, रामावतार में, जिन अग्निकुमारों पर, जो भगवत्प्रसाद हुआ, उसका रूप कात्यायनी शक्ति है, इसी से, उसे आधिदैविकी कहा है । कात्यायनी शिवजी की पत्नी है, इसलिए वह शिवशक्ति रूप से, प्रसिद्ध है भगवत्शक्ति रूप से उसकी प्रसिद्धी कहीं भी नहीं है । अतः वह कात्यायनी भगवत्शक्ति नहीं हो सकती ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि, आधिभौतिक कात्यायनी शिवशक्ति है, तो भी, आधिदैविक कात्यायनी तो भगवत् शक्ति ही है*–श्रुति से ऐसा निर्धार हो चुका है । "ओपलाम्" का पत्थर का सम्बन्ध वाली पार्वती,–यह अर्थ है, ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा है, कि रासमण्डल में शिवजी ने पार्वती को भगवान् के लिए दिया ।† श्रुति में, भगवान् की विविध शक्तियां कही है । अनेक शक्तियां होने से, भगवान् भिन्न भिन्न कार्यो में, अलग अलग शक्तियों का उपयोग करते हैं, इससे तामस व्रजवासियों को भगवान् की प्राप्ति कराने में, कात्यायनी तामसी भगवत्शक्ति हेतु है, ऐसा समझना चाहिए । इसी से—हे सतियों[1] ! जिसके उद्देश्य से, तुमने आर्या की पूजारूप यह व्रत किया ऐसा सत्ताईसवें श्लोक में भगवान् का वाक्य है । राजस भक्तों को, दुर्गा पार्वतीरूप, राजसी और भगवत्शक्ति के द्वारा भगवत्प्राप्ती होती है, इसी से श्री रुक्मिणीजी की प्रार्थना में है । 'हे कल्याणि'[2] मैं तुझे बार बार नमस्कार करती हूं, भगवान् कृष्ण, मेरे पति होवें, ऐसा कहा है, और स्यमन्तक मणि के प्रसंग में भी, कृष्ण[3] की उपलब्धि (प्राप्ति) के लिए, महामाया दुर्गा की उपासना करना (की) यह लिखा है। कात्यायनी, दुर्गा और पार्वती शब्दों से कही जाने वाली तीनों शक्तियाँ, भगवान् की ही है । तीनों परस्पर अभिन्न हैं, इन में केवल अलग अलग गुणों का ही भेद है । तात्पर्य यह है, कि कात्यायनी, दुर्गा और पार्वती के द्वारा क्रम से तामस, राजस और सात्विक भक्तों को भगवत्प्राप्ती होती है । इससे यह भक्ति मार्ग की रीति के योग्य ही है । इस कथन से, कात्यायनी नाम की शिवशक्ति है, वह स्वतन्त्र देवता है और सन्तुष्ट हुई, वह स्वयं अपने सेवकों के लिए श्रीकृष्ण का दान कर सकती है, –इस तरह की शंका करने वालों का, तथा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए कुमारिकाओं ने अन्य देवता का आश्रय–अन्याश्रय किया–, ऐसी शंका करने वालों को भी निरास कर दिया, क्योंकि पूर्वोक्त उपनिषद् और ब्रह्मवैवर्तपुराण के वाक्यों से निश्चय होता है कि कात्यायनी आदि भगवान् की शक्तियां है ।

कात्यायनी भगवान् की शक्ति है—इस पक्ष में कात्यायनी को तामसी कहा है । अब पक्षान्तर कहते है ।

सु—भगवानेववा—आधिदैविक स्त्री शरीर धारी भगवान् ही कात्यायनी है । वह रहस्य लीला में उपयोगी स्त्री शरीरवाला भगवान् का स्वरूप गुणातीत है—ऐसा कहा है । इससे तामस, राजस, सात्विक और गुणातीत व्रजसुन्दरियों लीला में उपयोगी शरीरों की सिद्धि होना बतलाया है ॥१॥

---

*श्रियं लक्ष्मीमोपलामम्बिकाङ्गाम्—श्रुतिः । †परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते ।

१—यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चलं सतीः । भा १०।२२।२७

२—भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तनुमोदताम् । भा १०।५३।४६

३—उपतस्थु महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये । भा १०।५६।३५

आभास—तत्र पूजाप्रकारमाहाप्लुत्याम्भसीति,

आभासार्थ—वहाँ 'आप्लुत्याम्भसि' इस श्लोक से पूजा विधि कहते हैं।

श्लोक—**आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥**

श्लोकार्थ—हे राजन् ! सूर्य के उदय होने पर, (वे) कालिन्दी के जल में स्नान करके, बालू रेत की प्रतिमा बना कर, देवी की पूजा करने लगीं।

सुबोधिनी—**कालिन्द्या अम्भसि** स्नात्वा, सा हि भगवत्पतित्वकामनया तपः करोति तेन चाग्रे फलं भाव्यतः सफलतपःसम्बन्धित्वेनैतदम्भोपि तादृशमिति व्रतानुकूलं सफलं च तत्र स्नानमितिज्ञापनाय कालिन्दीपदं, तस्याश्चिरेण फलं भाव्यत्र तु शीघ्रमितिज्ञापनाय पदन्यासः, **जलान्ते जलसमीपे** चकारादागत्य गृहेपि **देवीं** प्रतिमारूपां **कृत्वा सिकतामयीमरुण उदिते** प्रातःसन्ध्यायां सर्वकामनाप्रदायां देवतां **तामानर्चुः, नृपेतिसम्बोधनमेता**वता क्लेशेन भगवान् प्राप्त इति ज्ञापयितुम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—कालिन्दी के जल में स्नान करके वह कालिन्दी,—भगवान् मेरे पति हों—इस कामना से तप करती है। इस से आगे फल मिलने वाला है। अतः सफल तपस्या का सम्बन्धी होने से यह जल भी वैसा (सफल) है। इस लिए उसमें स्नान करना, व्रत के अनुकूल और सफल है—यह बताने के लिए, कालिन्दी पद का प्रयोग किया है। कालिन्दी को तो फल की प्राप्ती देर से होगी और यहाँ तो शीघ्र ही फल मिलने वाला है—इस बात को बतलाने के लिए कालिन्दी पद की आवृत्ति न करके—जल के समीप—केवल 'जल' पद का प्रयोग किया है। जलान्ते-जल के समीप 'च' पद से घर आकर घर में भी बालुका रेती की प्रतिमा रूप देवी की अरुणोदय होने पर सब कामनाओं को देने वाले प्रातः संध्या के समय में पूजा करना कहा है। 'नृप' यह सम्बोधन इतने क्लेश से भगवत्प्राप्ति हुई—यह बतलाने के लिए दिया है ॥२॥‡

आभास—पूजासाधनान्याह गन्धैरिति,

आभासार्थ....पूजा के साधनों को—गन्धैः—श्लोक से कहते हैं—

‡'लेख'– सफलतपः सम्बन्धित्वेन–इस पद के पहिले–कालिन्द्याः–पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। वह सफल तप के सम्बन्धवाली है।–सफलतपस्विनी–जिसका तप सफल है। जल भी अपने स्नान का जो तप–स्नानादि रूप–सफल करता है वह सफलतपःसम्बन्धी–ऐसा–कर्मधारय–समास है।

श्लोक—**गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।**
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥३॥

श्लोकार्थ—सुन्दर गन्धवाले गन्धों (द्रव्यों) ग्रौर मालाग्रों से ग्रौर बलि, धूप दीपक, उत्तम मध्यम सब प्रकार की सामग्रियों से तथा प्रवाल, फल ग्रौर चावलों से पूजा की ॥३॥

सुबोधिनी—माल्यानि, पुष्पाणि, सुरभिभिरित्युभयेषां विशेषणं, बलिभिरहिंस्रैः, ऋषित्वात् तासां, परिज्ञानं, धूपो दीपावलयश्च पङ्क्तिरूपा दीपा दीपकाः उच्चावचानि सर्वाण्येवानेकरूपाणि, उपहारा नैवेद्यद्रव्याणि प्रवालाः पल्लवाः फलानि तण्डुलाश्च, एव नवविधा निरूपिताः, एव कर्तृदेशद्रव्याणि निरूपितानि ॥३॥

व्याख्यार्थ—माल्य ग्रर्थात् पुष्प । सुरभिभिः–सुगन्ध वाले यह,–'गन्ध' ग्रौर 'माल्य' दोनों का विशेषण है । बलिभिः बिना हिंसा की सामग्रियों से । वे ऋषि हैं, इस लिए उन्हे सब ज्ञान हैं । धूप ग्रौर दीपावलियां—दीपकों से तात्पर्य है दीपों की पङ्क्तियां । ऊँचे नीचे सब—ग्रनेक—प्रकार के उपहार—नैवेद्य की सामग्री । प्रवाल (पल्लव) फल ग्रौर चावलों से (पूजा की) इस तरह नौ प्रकार की सामग्री का निरूपण किया ऐसे—तीन श्लोकों से—क्रम से—कर्ता, देश ग्रौर द्रव्य का निरूपण हुग्रा ॥३॥

ग्राभास—मन्त्रमाह कात्यायनीति,

ग्राभासार्थ—कात्यायनि इस श्लोक से मन्त्र कहते हैः—

श्लोक—**कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि ।**
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥४॥
इतिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥४½॥

श्लोकार्थ—हे कात्यायनी, हे बड़भागिनी, हे महायोगिनी, हे ग्रधीश्वरी, हे देवी ! नन्द गोप के पुत्र को मेरा पति कर तुझे मेरा नमस्कार है ॥४॥ इस मंत्र का जप करती हुई वे प्रसिद्ध कुमारिकाएँ पूजा करने लगो ॥४½॥

'योजना'—ऊँचे ग्रौर नीचे सब–ग्रनेक प्रकार के–उपहार (नैवेद्य के द्रव्य) । इसी से हेमन्त ऋतु में ग्रपने सम्प्रदाय में ग्रनेक प्रकार के द्रव्य भगवान् के समर्पण किए जाते हैं, क्योंकि–'भगवानेव गुणातीत':–इस पक्ष में कात्यायनी भगवद्रूप है ॥३॥

सुबोधिनी—ऋषित्वान् मन्त्रदर्शनं, मन्त्रे :ग्र देवता मन्त्रोपासनया साक्षात्कृता, अर्थस्यापि दृष्टत्वात्, अत: कात्यायनीतिपरिज्ञानसम्बोधनं, कायं दयाजयतीति कात्या संहारिका शक्तिस्तस्या आधिदैविकं रूपं कात्यायनी फलि रूपं, पूर्वं भगवान् न प्राप्तस्तत्रावश्य दुरदृष्टमेव प्रतिबन्धकमिति मन्तव्यं, तपस्तु सिद्धमेव साधनमन्यथाग्रेपि न स्यात्, अत: प्रतिबन्धस्याधिदैविकस्य नाशन इयमेव समर्था, ननु प्रतिबन्धकमाधिदैविकं यदि भगवदिच्छयैव स्यात् तदा कथं निवर्तत इत्याशङ्क्याह महाभाग इति, अल्पभाग्यत्वे भगवान् नाज्ञापयेत्, यशोदायां च जन्म न स्याद् भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात्, त्वया प्रार्थित: प्रिय: स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यत्यतो महाभाग्यं तव, आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनी भवसि ज्येष्ठात उपकारोपि कर्तव्य:, न च मन्तव्यं तादृशदोषो न मया परिहर्तुं शक्यत इति यतस्त्वं महायोगिनी गर्भसङ्कर्षणादिकार्यकरणात्, नन्वाधिदैविक कथ परिहर्तव्यं कालादिभ्यो बलिष्ठा हि सा प्रतिबन्धकशक्ति: ? तत्राहाधीश्वरीति, ईश्वरं भगवन्तमधिकृत्य वर्तसेतोन्तरङ्गा त्वं शक्ति:, कात्यायन्या गुणत्रयं चोक्त पदत्रयेण, अत: सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीया, नन्दगोपसुतं मे पतिं कुरु, प्रत्येकं भर्तारं कुरु, भगवानशक्य इति न मन्तव्यं यथा नन्दगोपस्य पुत्रो जातस्तथास्मत्पतिरपि भविष्यति, किञ्च त्व देवतारूपा, अलौकिकेनापि प्रकारेण भगवन्तं पतिं करिष्यसि, प्रत्युपकारस्तु तुभ्यं नमनं, अहङ्कारस्तुभ्य दत्तस्त्वदीय इति, अन्यत् सर्वं भगवदीयं, प्रतिबन्धके निवृत्ते स एव भविष्यति तथापि वक्तव्योपि स हि मायायवनिकामाच्छाद्य क्वचिदल्पोद्घाटनेन तिष्ठत्यतोस्मदर्थ तत्रतत्रोद्घाटिता भवेत्यर्थ:, अपराधस्तु न भविष्यति यतस्त पतिं करिष्यसि, कन्यावरयोर्विवाहे यवनिका दूरीक्रियत एव, अयमर्थो नित्य:, प्रत्यगाशीर्मन्त्रत्वाज् जप एवास्य, न कर्माङ्गकरणं 'प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् जपत्यकरणा'नितिकल्पात्, अत: परं 'तेषां प्रसादरूपा शक्ति: स्त्री भवति' 'भगवानेव वा गुणातीत' इतिपक्षद्वये मन्त्रार्थ उच्यते, भगवत: स्त्रिय: कतीतिप्रश्नविषया: कात्या:—अत एव परीक्षितो राज्ञ: प्रश्ने 'पत्न्य: कत्यभवन् प्रभो'रितिवचनं—अयनं यस्या: सा कात्यायनी, ङीबत्र छान्दसो ज्ञेय:, नन्वेतस्या भगवद्योग्यतासम्पादकत्वैकस्वभावाया: स्वस्मिन् स्थितिं चेज् जानन्ति तदा भगवत्सम्बन्धस्यावश्यम्भावित्वेन ज्ञानं च भविष्यत्येवेति कथं व्रतारम्भ: ? न च विलम्बाभावार्थ इति वाच्यं, एतस्या: सर्वतोधिकत्वेनान्याप्रतिबध्यसामर्थ्यात्, न च स्वस्य रसयोग्यवय:सम्पत्तौ सा स्वत एव विलम्बासहिष्णुर्यत:, न च तादृग्वय:सम्पत्त्यर्थमेव व्रतारम्भ इति वाच्यं प्रमाणाभावात्, पतित्वकरणस्यैव मन्त्रे श्रूयमाणत्वात् तस्य चैतच्छक्तेरेतद्रूपस्य भगवतो वा प्रवेशेनैव सिद्धत्वादेतत्प्रयोजन न विद्म:, अथ स्वस्मिस्तत्स्थितेरज्ञानाद् व्रतारम्भ इति वाच्यं तथापि वस्तुतस्तत्प्रयोजनं न सिध्यतीति चेत्, उच्यते, मन्त्रे पठ्यमानमेव फलं प्रयोजन, न चोक्तन्यायेन तत् सिद्धमिति वाच्यं, तत्तात्पर्यानवगमात्, तथा हि साक्षात्पुरुषोत्तमरमणे ह्येतासामिच्छा 'मयेमा रंस्यथ क्षपा: यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सती'रितिभगवद्वचनात्, एव च सत्युक्तरूपशक्तेर्भगवतो वा प्रवेशस्य प्रयोजनमावेशरमणेनैवान्यथासिद्धं कदाचिद् भगवान् मन्येत सर्वं सर्वत्र योजयितुं शक्तो यत:, तथा चावेशेनांशावतारेण वा सम्बन्धो मा भूदिति तदर्थं व्रतलक्षणं तदाराधनमारब्ध यथान्यसम्बन्धराहित्येन पुरुषोत्तमसम्बन्धो भवेत्, अत एव भगवता 'सती'त्व विशेषणमुक्तमेतदभिप्रायेणैव नन्दगोपसुतपदमप्यत एव तत्रैव पुरुषोत्तमाविर्भावो यत:, एतच्च यथा तथाद्यप्रकरणे निरूपितं, यथा कंसादिभिया तदज्ञानार्थं गुप्तस्थाने स्थापितो नन्दपुत्रोभवत् तथा त्वयैकान्तस्थलेन्याज्ञाततया प्रापितोस्मद्रमणकर्ता भवत्वित्यप्यस्य पदस्य तात्पर्यं ज्ञेयं, अत एव बलदेवादिव्यावृत्तिरपि, अत एव तथैवाग्रे करिष्यति भगवान्, उद्देश्यपतित्वविधानप्रार्थनावाचकयो: पदयोर्मध्ये देवीतिसम्बोधनेन मध्यस्थतया कदाचिद् दूतीन्यायेनापि तथाकरणं द्योत्यते, एतदेव तव परमानन्दजनकं क्रीडेवेति देवीशब्देन द्योत्यते, गावो हि स्वत: शुभाशुभयो: प्रवृत्तिनिवृत्तिरहिता: किं बहुना ? स्वभक्ष्येपि स्वरक्षकप्रेरणायां प्रवृत्तिनिरोधे तूष्णीम्भाव एव तासां, तथा चैतादृशीनां पालकस्य सुत इत्यस्माकमप्येतादृशफलसम्बन्धे साधकबाधकज्ञानराहित्येन कदाचित् स्वतोन्यथाचिकीर्षायामपि स्वयमेव कृपया ततो निवर्तक इष्टसम्पादकश्च भविष्यतीति गोपपदेन ज्ञाप्यते, अपरञ्च

गोपजातीया हि लोके न महत्त्वेन गण्यन्ते, तथा च ब्रह्मवाक्सत्यत्वार्थं स्वयं तादृशस्य पुत्रत्वमङ्गीकृतवान् यः स स्ववाक्सत्यत्वार्थमस्मत्पतित्वमङ्गीकरिष्यत्येव निमित्तमात्रं त्व भवेतिज्ञापनायापि गोपपदं, तेनात्र तव नाधिकः प्रयासो भवितेति सूचितं स्वस्याभिमानाभावश्च, एतादृक्फलसम्पादिकायास्तव प्रत्युपकारस्तु नास्माभिः कर्तुं शक्यः किन्तु यथा "किमासनं ते गरुडासनाये" तिवाक्यात् "नमो नम इत्येतावत् सदुपशिक्षित" मितिवाक्याच्च भगवति जोवैर्नमनमेव कर्तव्यं भवति कर्तुं शक्यं च तथास्माभिरपि तुभ्यं नमनमेव कर्तुं शक्यमित्याशयेनाहुस्ते नम इति, नमनातिरिक्ताशक्यत्वे तन्महत्त्वं हेतुरिति तदुक्तं महाभाग इत्यादिना, भगवता सह योगोस्यास्तीति योगी, योगे महत्त्वं तु नायिकाभावपूर्वकत्वं, तथा च तादृशे पुरुषेधीश्वरि, अङ्गीकृतस्वामित्व इत्यर्थः, तेन साधारणाप्राप्यत्वेन महत्सम्बन्धित्वेन च महत्त्वमुक्तं भवति, एतादृशस्येश्वरो हि भगवानेव भवति त्वं त्वेतादृशी यदीश्वरोपि त्वदधीनस्तस्मै फलं ददातीत्युपसर्गः, पक्षद्वयेप्येतस्या भगवत्स्वरूपात्मकत्वात् तदधीनत्वेपि नेश्वरे काचिन् न्यूनता शङ्कनीया, महायोगवत्त्वे हेतुभूतं पुरुषे विशेषणमाहुर्महाभाग इति, भक्तिमार्गेङ्गीकार एव भाग्यरूपस्तत्रापि पुष्टिपुष्टात्रङ्गीकारो महत्त्वं अतस्तं मन्त्रं जपन्त्यस्तूष्णीमेव पूजा चक्रुरित्याहेतीति, इममेव मन्त्रं जपन्त्यस्ताः प्रसिद्धास्तूष्णीं पूजां चक्रुर्यतः कुमारिकाः स्त्रीणां विवाहोत्तरमेव मन्त्रसम्बन्धः, अयं तु मन्त्रस्ताभिरेव दृष्ट इति युक्तं तासां जपकरणं, अनेन क्रियोक्ता ॥४२॥

व्याख्यार्थ:—कुमारिकाएँ ऋषि हैं इसलिए उन्हे मंत्र का दर्शन है । मंत्र की उपासना करने से उस–मंत्र–में प्रसिद्ध देवता का उन्हे साक्षात्कार हुआ; क्योंकि अर्थ का भी दर्शन हो गया। इससे–'कात्यायनि'–यह ज्ञान सूचक सम्बोधन है–'काय त्याजयतीति कात्या'–शरीर छुड़ा देने वाली संहारिका शक्ति–उस शक्ति का आधिदैविक स्वरूप कात्यायनी है, तद्धित का यह फल प्रत्ययान्त रूप है । अब तक भगवान् प्राप्त नहीं हुए, इसमें अपना दुर्भाग्य ही निश्चित रूप से प्रतिबन्धक (अवश्य बाधक)–है–ऐसा मानना चाहिए । तप तो (सिद्ध) प्रत्यक्ष ही साधन है, नहीं तो आगे–तप करने पर–भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती इससे आधिदैविक प्रतिबन्ध का भी नाश करने में यह कात्यायनी ही समर्थ है ।

यहां यह प्रश्न होता है कि यदि प्रतिबन्ध आधिदैविक होता और यदि वह भगवान् की इच्छा से होता तो कात्यायनी उसे क्यों कर मिटा–(दूर कर) सकी ? इसका उत्तर 'महाभागे' पद से देते हैं–हे बड़े भाग्य वाली ! यदि यह अल्प भाग्य वाली होती तो भगवान् (अपने अवतार के समय में अवतार लेने की) उसे आज्ञा नहीं देते तो यशोदाजी में (उसका) जन्म नहीं होता । एवं भगवान् की दासता भी प्राप्त न होती । तू प्रार्थना करेगी तो प्रिय भगवान् अपनी इच्छा को भी (बदल कर) तेरे अनुकूल कर देंगे, क्योंकि तेरा बड़ा भाग्य है । और आभिमानिक सम्बन्ध से तू भगवान् की बहिन होती है फिर बहिन भी बड़ी । इससे तुझे आधिदैविक प्रतिबन्ध मिटाना रूप (हम पर) उपकार भी करना चाहिए । तू यह मत मान कि आधिदैविक दोषों को मैं कैसे मिटा सकूँगी; क्योंकि तू महायोगिनी है । देवकीजी से गर्भ को खींच कर रोहिणीजी में आरोपण करना आदि कार्य तूने ही किए हैं ।

आधिदैविक प्रतिबन्ध (कि जिसकी शक्ति, काल, कर्म, स्वभाव से अधिक बलवती है) का परिहार[1] मुझसे कैसे हो ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तुम 'अधीश्वरी' हो भगवान् पर

१—निवारण ।

अधिकार करके तुम ही रहती हो। इससे तुम अन्तरंग शक्ति हो। इस प्रकार (महाभागे, महायोगिनि, अधीश्वरि) इन तीन विशेषणों से कात्यानी के तीन गुण कहे इसलिए सब तरह से तुम भगवदीय है। नन्दगोपसुत को मेरा पति कर, प्रत्येक का भर्ता कर। भगवान् को (प्रत्येक का) पति करना अशक्य नहीं है, क्योंकि जैसे वे (भगवान् होते हुए भी) नन्द गोप के पुत्र हुए उसी तरह से हमारे पति भी होवेंगे। और तू देवता रूप है इसलिए अलौकिक रीति से भी तुम भगवान् को हमारा (प्रत्येक का) पति कर तेरे इस उपकार के बदले में हम तुझे नमन करती हैं। अहंता (मैं पन) का अभिमान तुमने ही दिया है अतः यह तुम्हारा ही है। और सब तो भगवान् का ही है। प्रतिबन्ध–दोष–के हट जाने पर भगवान् स्वयं पति हो जायेंगे तो भी तू (हमारी ओर से) उनसे अवश्य कह। वह भगवान् अपने आपको माया के परदे से ढक कर किसी स्थान पर उस परदे को कुछ हटा कर रहते हैं, इसलिए हम जहाँ जहाँ होवें, वहाँ वहाँ हमारे लिए उस परदे को तू हटाने वाली हो। भगवान् के दर्शन में अन्तरायभूत उस परदे को दूर करने में तेरा कुछ अपराध नहीं होगा, क्योंकि तू तो भगवान् को हमारे पति करेगी, कन्या और वर का विवाह में अन्तः पट दूर कराया ही जाता है। यह अर्थ नित्य है अर्थात् ऐसा सदा ही सब जगह किया जाता है। यह प्रत्यक (प्रत्यक्ष) आशीमन्त्र है। इसलिए इसका जप ही किया है, कर्म का अंग रूप नहीं किया है। कल्पसूत्र में बतलाया है कि 'प्रत्यगाशिषो मंत्रान् जपत्यकरणान्–' कि जो मंत्र कर्म के अंग भूत नही है, उन प्रत्यगाशिष मंत्रो का जप करते है।

अब आगे–'तेषां प्रसादरूपाशक्तिः स्त्री भवति,' 'भगवानेव वा गुणातीतः–' प्रथम श्लोक की व्याख्या में बतलाये गए दोनों पक्षों में मंत्र का अर्थ कहते हैं। भगवान् के स्त्रियाँ कितनी थीं ? ऐसा स्त्री विषयक प्रश्न किया गया है, ये ही–'कात्याः'–पद का अर्थ है। इसीलिए–पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः- राजा परीक्षित के प्रश्न में–भगवान् के कितनी पत्नियाँ थीं ? ऐसा वचन है। वे † कात्या–स्त्रियाँ–अयन (स्थान) जिसका। वह कात्यायनी है। यहाँ स्त्री प्रत्यय (डीष्) वैदिक समझना।

शंकाः–जब कात्यायनी को ये कुमारिकायें स्वयं को भगवान् की भोग्य अवश्य बना देने के स्वभाव वाली जानतीं हैं तो भगवान् का सम्बन्ध अवश्य ही होगा–ऐसा ज्ञान भी उन्हे होगा ही, फिर उन्होंने व्रत का आरम्भ क्यों किया ? विलम्ब को दूर करने के लिए किया, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो सबसे अधिक है इसलिए इसका प्रतिबन्ध दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। वह कात्यायनी तो स्वयं ही विलम्ब सहन नहीं करती, किन्तु अपनी (कुमारिकाओं की) अवस्था को रस के योग्य कराने के लिए व्रत का आरम्भ किया है यह कहना भी उचित नहीं हैं है, क्योंकि ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है। मंत्र में तो भगवान् को पति करना ही सुना है और वह पति करना कार्य तो इस कात्यायनी शक्ति के अथवा कात्यायनी रूप भगवान् के प्रवेश से ही सिद्ध है। फिर व्रत करने का प्रयोजन ज्ञात नहीं होता। इससे तो ऐसा कहना ही उचित है कि उन्हें अपने में कात्यायनी की स्थिति का ज्ञात नहीं था और इस कारण से ही उन कुमारिकाओं ने व्रत का आरम्भ किया। ऐसा कहने पर भी व्रत का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस से व्रतारम्भ करने के हेतु को जानने का प्रश्न बना ही है।

उत्तरः—इन सब शंकाओं का उत्तर देते हैं कि मंत्र में कहा–भगवान् को पति कर–यह फल ही

† कति संख्याकाः कात्या अयनं–स्थान–यस्याः सा। बहु०।

व्रतारम्भ का प्रयोजन है । यह प्रयोजन तो पूर्वकथित-(पहिले बतलाए हुए)-कात्यायनी शक्ति के अथवा कात्यायनी रूप भगवान् के प्रवेश रूप न्याय से ही सिद्ध है ? ऐसा मत कहो क्योंकि उनके तात्पर्य का ज्ञान अपने को नहीं है । वह तात्पर्य इस प्रकार है:—साक्षात् पुरुषोत्तम के साथ रमण करने की कुमारिकाओं की इच्छा थी । भगवान् ने भी कहा है कि हे सतियों ! जिस उद्देश्य से तुमने आर्या-कात्यायनी की पूजारूप यह व्रत किया है, उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन रात्रियों में तुम मेरे साथ रमण करोगी । इस से कात्यायनी शक्ति के अथवा भगवान् के प्रवेश का 'रमण रूप' प्रयोजन है । इस प्रयोजन को भगवान् कदाचित् आवेशरूप बलदेवजी आदि के रमण से सिद्ध हुआ मान ले और सब का, सब जगह, सम्बन्ध जोड़ देने की शक्ति वाले भगवान् हमारा अन्य के साथ योग कर देंगे तो आवेश अथवा अंशावतार के साथ सम्बन्ध हो जाएगा, जिसे ये कुमारिकायें नहीं चाहती थी । इसलिए व्रत-रूप उस कात्यायनी की पूजा की जिस से आवेश अथवा अंश आदि के साथ इनका सम्बन्ध न हो कर पुरुषोत्तम के साथ ही हो । इसी अभिप्राय से भगवान् ने 'हे सतियों !' विशेषण कहा है । और इसी अभिप्राय से ही 'नन्दगोपसुत' पद का प्रयोग किया है क्योंकि पुरुषोत्तम का आविर्भाव --नन्दगोपसुत में ही है । (अन्य किसी आवेश या अंशावतार में नहीं है) इस सब का निरूपण जन्म प्रकरण में कर दिया गया है । नन्दगोपसुत का तात्पर्य यह भी है कि जैसे कंस आदि के भय से-वे न जान सके-इसलिए गुप्त-स्थान में छिपाए हुए भगवान् नन्द पुत्र हुए, वैसे ही तू भगवान् को एकान्त स्थान में जहाँ कोई जान न पाए-ले जा, जहाँ वे हमारे साथ रमण करने वाले होवें । इसीलिए बलदेवजी आदि को इससे अलग किया और भगवान् भी आगे इसीलिए बलदेवजी को दूर रख कर रमण करेंगे ।

मूल में उद्देश्य (नन्दगोपसुत) और विधान (प्रार्थना) वाचक (पति) पदों के बीच में दिए सम्बोधन देवी पद से मध्यस्थ हो कर कदाचित् दूतीरूप से पति कराने का भाव भी सूचित होता है । और जैसे देवी शब्द से क्रीडा तुझे परम आनन्द देने वाली है, इसी तरह तेरी यह-भगवान् को हमारा पति कराना रूप-क्रीड़ा भी तुझे परम आनन्द जनक है-यह भी भाव सूचित होता है । गायों को जैसे अपने हित और अहित के कार्य में लगाने या हटने का स्वत: ज्ञान नहीं है और तो क्या ? उनके खाने की वस्तु घास को खाने से भी-उनके रक्षक की प्रेरणा से उन्हे रोक दिया जाय तो वे केवल चुप ही-खाना बन्द करके-रह जाती हैं; ऐसी-ज्ञान शून्य-गायों के पालक-गोप-नन्दरायजी के पुत्र कहने का तात्पर्य यह है कि गायों की तरह हमें भी उस रमणरूप फल के सम्बन्ध में साधक बाधक का ज्ञान (रमण करने देने या न करने देने के विषय का ज्ञान) नहीं है इससे कदाचित् अपनी इच्छा-उपर्युक्त फल से-विपरीत करने की हो, तो भी स्वयं ही कृपा करके अपनी उस विरुद्ध-फलदान की-इच्छा को बदल कर हमारा हित ही सिद्ध करेंगे ।

गोप पद का यह भी तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्माजी की वाणी को सत्य-करने के लिए भगवान् ने जगत् में हीन दृष्टि से देखी (गिनी) जाने वाली गोप जाति का पुत्र रूप ग्रहण किया है, उसी तरह अपने वाक्यों को सत्य करने के लिए हमारे पति पन को भी अवश्य स्वीकार करेंगे ही । तू तो केवल इसमें निमित्त हो । इस कथन से यहां यह भी सूचित किया कि नन्दगोपसुत को पति कराने में तुझे अधिक परिश्रम नहीं होगा । और अपने अभिमान का त्याग भी बतलाया क्योंकि हमारे साधन के बल से भगवान् हमारे पति नहीं हुए, किन्तु तेरी प्रार्थना करने से हुए हैं । हमारे इस फल को सिद्ध करने वाले तेरे इस उपकार का बदला-(प्रत्युपकार)-तो हम कुछ नहीं कर सकतीं; किन्तु-किमासनं ते

गरुडासनाय–जैसे गरुड़ आसन वाले भगवान् के लिए नमन से अधिक क्या किया जा सकता है, इस से जोव केवल नमन ही कर सकता है इसी तरह हम भी तुझे केवल नमन ही करती हैं। 'ते नमः' नमन के अतिरिक्त हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। हमारी इस असमर्थता का कारण तेरा महत्व-बड़प्पन-है, जिसे 'महाभागे' आदि पदों से कहा है। 'योगोऽस्यास्तीति योगी' भगवान् के साथ इस कात्यायनी का सम्बन्ध है। इस से यह योगिनी है। योग में भी महत्व यह है कि वह योग नायिका भाव सहित है अर्थात् जैसे भगवान् रूप पुरुष पर–'अधीश्वरि'–तेने स्वामित्व स्वीकार कर लिया है। साधारण रीति से जो प्राप्त नहीं हो सके और योग के सम्बन्ध से जो प्राप्त हो सके, उसको महत्व कहते हैं। ऐसे महत्व के ईश्वर भगवान् ही हैं और तू तो ऐसी है कि वह ऐसा ईश्वर भी तेरे अधीन है। तू ही उसे फल देती है-यह बतलाने के लिए–अधि उपसर्ग दिया है।

यह कात्यायनी भगवत्स्वरूप है, इसलिए उसको आधीनता और उसके द्वारा फल की प्राप्ति रूप उक्त दोनों पक्षों से भगवान् में न्यूनता–कात्यायनी की अपेक्षा कुछ कमी–की शंका नहीं करना चाहिए। महायोगपन में हेतु भूत विशेषण को–'महाभागे'–पद से कहते हैं। भक्ति मार्ग में अंगीकार कर लेना–कात्यायनी का–भाग्यरूप है और उसमें भी पुष्टि पुष्टि में अंगीकार करना ही महत्व है। इसलिए उस मंत्र का जप करने वाली वे मौन होकर ही पूजा करने लगीं यह 'इति-मन्त्रम्' इत्यादि आधे श्लोक से कहते है। इस मंत्र को जपती हुई प्रसिद्ध कुमारिकाओं ने मौन होकर ही पूजा की, क्योंकि वे अविवाहित थीं। यद्यपि विवाह के पीछे ही स्त्रियों को मत्र का सम्बन्ध हो सकता हैं तो भी इस मंत्र का दर्शन उनको ही हुआ था, इससे उनका जप करना उचित है। इससे क्रिया का वर्णन किया ।।४½।।

'लेख'—पूर्व के तृतीय श्लोक में कहा है कि इस प्रकार तीन श्लोकों से कर्ता, देश और द्रव्य का निरूपण किया अब इस चौथे श्लोक से मन्त्र का वर्णन करते हैं और पांचवे श्लोक में काल का निरूपण करेंगे। इस प्रकार पांच श्लोकों से पञ्चात्मक कर्म का निरूपण समझना। साक्षात्कार हुआ, क्योंकि श्लोक में मध्यम पुरूष 'तू' पद का प्रयोग किया है। परिज्ञान अर्थात् उस–कात्यायनी–के स्वरूप का ज्ञान हम को हो गया है। इससे–'परिज्ञान सम्बोधन'–अपनी जानकारी का बोध हमें अच्छी तरह हो गया है–यह परिज्ञान सम्बोधन पद का अर्थ है। तत्र-उस भगवत्प्राप्ति में। 'अदृष्टं'–भगवान् को ढक–'छिपा'–देने वाला, आधिदैविक सामग्री का कारण होने से आधिदैविक प्रतिबन्धक है। क्योंकि यह प्रतिबन्धक भगवत्कृत है, इस से इसको दूर करने में दूसरा कोई समर्थ नहीं है। केवल यह कात्यायनी ही समर्थ है, क्योंकि लीला के प्रतिबन्ध को दूर करने (मिटाने) का सामर्थ्य भगवान् ने कात्यायनी को ही दिया हैं। यहाँ यह अदृष्ट कर्मजन्य नहीं है, किन्तु भगवान् के भिन्न भिन्न अंगोंका आच्छादन करने वाली योग माया का अंश ही अदृष्ट समझना चाहिए। ननु–पद से होने वाली शंका का आशय यह है कि यदि प्रतिबन्ध भगवान् की इच्छा से ही हुआ हो तो वह प्रबल प्रतिबन्ध दूर कैसे हो ? महाभाग होने में अर्थापत्ति का प्रमाण देते है कि यदि अल्प भाग्य होता तो भगवान की आज्ञा न होती–इत्यादि। भाग्य का कार्य–जो यहाँ करने का है–उसे कहते हैं कि प्रार्थना करेगी तो भगवान् अपनी इच्छा को भी इसके अनुकूल कर देंगे। 'अतः' पद का सम्बन्ध पूर्व के साथ है। तीन कारणों से तेरे महाभाग्य का निश्चय हुआ है। इससे तू प्रार्थना करेगी तो ऐसा करेंगे–ऐसा–'यतः तव'–के बाद अध्याहार

करना। इस प्रकार प्रतिबन्धक के निवारण की प्रार्थना की और इसी से फल दान की भी प्रार्थना की। इस को-'आभिमानिकसम्बन्धेन'-पद से कहते हैं। भाग्य का साधन रूप कारण जो यशोदाजी में जन्म। इस से भाग्य के कार्य रूप से कहा गया यह जन्म यहाँ उपकारक बहिनपन का कारण रूप कहा जाता है। इसी से-'पुनः'-पद का प्रयोग किया है। दासियाँ-प्रभुपत्नी को माता और उसकी पुत्री को बड़ी बहिन-कहती हैं और यह व्यवहार लोक सिद्ध है। यहाँ-'प्रायो बताम्ब'-(अ १८) इस श्लोक में यशोदाजी को माता कहा है। इस से उनकी पुत्री को बड़ी बहिन कहना उचित ही है। कथं-किस प्रकार से ? उत्तर-तू अन्तरंग है, इसलिए भगवान् की प्रार्थना करके। कात्यायनी के तीन गुणों-ऐश्वर्य, वीर्य, यश को क्रम से अधीश्वरि, महायोगिनी, महाभागे पदों से समझना। सर्व प्रकारेण-भगवान् के धर्मों से भी। 'वक्तव्योपि'-आज्ञा के बिना ऐसा नहीं किया जा सकता। इससे प्रतिबन्ध की निवृतिको "सहि" आदि पदों से स्पष्ट करते हैं। "अयं अर्थः" रमणरूप अर्थ। नित्यः'-'कादाचित्क'-अनिश्चित-नहीं है तात्पर्य यह है कि पति के साथ रमण सर्वदा होता है और जार के साथ कभी कभी होता है।

'प्रत्यगाशी-इति'-निरूक्त में निरूपण किया है कि आशीर्वाद के मंत्र प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार के हैं। और वे क्रम से मध्यम पुरुष 'तू' प्रथम पुरुष 'वह' और उत्तम पुरुष 'मैं' का प्रयोग वाले हैं। इससे यह मंत्र प्रत्यक्षकृत मंत्र रूप है। 'अवश्यं भावित्वेन'—यह तृतीया विभक्ति यहाँ प्रकार के अर्थ में है। अर्थात् यदि इन कुमारिकाओं को अपने में कात्यायनी की स्थिति का ज्ञान है, तो उस प्रकार का ही भगवत्सम्बन्ध का ज्ञान होना निश्चित् है। 'अन्यथासिद्धं' के पीछे 'भवतु' पद का अध्याहार है। प्रयोजन अर्थात् रमण भगवान् के आवेश का रमण जैसा ही हो—ऐसा अर्थ है। अंशावतार—वामन आदि। तत्रैव—वहाँ यशोदा में ही, अदिति रोहिणी आदि नहीं। इसी लिए 'एव' का प्रयोग दिया है। तत्र—वहाँ प्रकट हुए। बलदेवजी में तो पुरुषोत्तम नाम का आवेश है, इस लिए उनके साथ रमण न होवे—यह इसका आशय है। 'उद्देश्य'—आदि—नन्दगोपसुत का उद्देश्य करके पतित्व का विधान किया गया है, इस से उद्देश्य का वाचक 'नन्दगोपसुत' पद और पतित्व के विधान का अथवा पतित्व की प्रार्थना का बोधक 'पति' पद—इन दोनों के बीच में कहा है। 'तेन अत्र तव'—आदि—गोपसुत को पति कराने की प्रार्थना से। स्वस्य—आदि—प्रार्थना से भगवान् ही पति हुए हैं, अपने साधन बल से नहीं, इससे अभिमान का अभाव कहा है। अधीश्वरी—अर्थात् भगवान् की अपेक्षा अधिक अथवा भगवान् पर ईश्वरता रखने वाली।

योजना—तेरे लिए नमस्कार करतीं हैं। इस तरह 'ते' पद के प्रयोग से साक्षात्कार होने का बोध होता है। बड़ी बहिन होती है क्योंकि यशोदाजी में उत्पन्न होने से अभिमानिक सम्बन्ध से बहिन होती है। "विष्णु के पीछे उत्पन्न हुई तथा आयुध युक्त आठ भूजा वाली दिखाई दी"—इस वाक्य के अनुसार ज्येष्ठा' गुणों के कारण बड़ी—ऐसा अर्थ करना। अर्थात् तेरे में बहुत गुण हैं इससे तू सब से बड़ी है।

'लेख'—अतः-आदि-इसे कर्म का अगरूप न करने से। स्वतन्त्र लेख के पहिले इसका सम्बन्ध है। बीच में स्वतन्त्र लेख का व्याख्यान है। 'यतः कुमारिकाः' इत्यादि-वे कुमारिकायें थीं इसलिए चुपचाप पूजा की। यहाँ यह शंका होती है कि इस मंत्र का जप ही नहीं हो सकता ? इसका उत्तर देते हैं कि यह प्रत्यगाशी मन्त्र है, उस कारण से इससे पूजा न हो-यह उचित ही है। 'क्रियोक्ता'-अर्थात् व्रत का अंगभूत पूजा रूप कर्म कहा है।

श्लोक—एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान् नन्दसुतः पतिः ॥५½॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कुमारिकाओं ने एक मास तक व्रत किया और कृष्णमया चित्तरूप हुई। फिर भद्रकाली देवता की–'नन्द सुत पति होवे'–इस मंत्र से पूजा की ॥५½॥

सुबोधिनी—**एवमप्रत्यक्षप्रकारेण मासपर्यन्तं व्रतं कुमार्यश्चेरुः**, अनेन कालोप्युक्त उपसंहृतश्च, एवं षडङ्ग-सहिता व्रतरूपा क्रिया निरूपिता, एतस्य व्रतस्य फलं जातमित्याह कृष्णचेतस इति, कृष्ण एव चेतो यासां तादृश्यो जाताः, तदा नान्या प्रार्थिता, अतोग्रे भगवन्तमेव प्रार्थयिष्यन्ति चित्तदोषस्य गतत्वात्, आरब्धस्यावान्तर-फले जातेपि परमफलं न जातमिति पुनर्मासान्तरेपि व्रतं कृतवत्य इत्याह भद्रकालीमिति, कात्यायन्यामेवावस्था-विशेषो देवताविशेषो वा वर्तते यतो भगवत्–सम्बन्ध-लक्षणो भद्रःकालो भवत्यतस्तामेव भद्रकालीरूपां समान-र्चुस्तत्रान्यो मन्त्रः पश्चाद् दृष्टो **भूयान् नन्दसुतः पति**रिति, **नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भूयात्**, निमित्तं काल इति कालाभिमानिनी पूज्यते कादाचित्कत्वात्, अतः कदाचित् सम्बन्धो न सर्वदा जातः, नन्दस्य पुत्रः कृपालुरिति भूयादितिप्रार्थना, भगवन्तमेव प्रार्थयन्ति, अत्र प्रत्येकं प्रार्थनाभावात् समुदायेनापि रमणं, अतोग्रेपि वक्ष्यत **"एकैकशः प्रतीच्छन्तु सहैवो"तेति, फलवाचकत्वात्** पूजायामशेषत्वादस्याङ्गत्वाभावाय स्वरूपेणैव कीर्तनं कृतं, इतिशब्दप्रयोगे गौणता स्यात् **प्रार्थनया भगवान्** स्वतो वृत इत्यन्तः-करणधर्मत्वाद् भगवान् पतिर्जातः, परमन्तरेव "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इतिवाक्यात् तदान्तः स्थितभगवद्रूपा निःशङ्का जाताः ॥५½॥

व्याख्यार्थः—इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से (कात्यायनी के द्वारा) एक महीने तक कुमारिकाओं ने व्रत किया। इस से काल (कितने समय तक) का वर्णन किया और व्रत का उपसंहार भी कह दिया। इस तरह छः अंग सहित व्रतरूप कर्म का निरूपण किया । इस व्रत का फल उन्हें मिल गया–यह-'कृष्ण चेतसः' पद से कहते हैं । कृष्ण ही जिनका चित्त रूप है–ऐसी हो गई । तब कृष्ण के सिवाय अन्य की प्रार्थना नहीं की। इस से चित्त का दोष दूर हो जाने से आगे चल कर कृष्ण की ही प्रार्थना करेंगी। आरम्भ किये हुए व्रत के गौण फल की प्राप्ति हो जाने पर भी परम फल अभी नहीं मिला , इस से एक मास तक फिर भी व्रत करना कहते हैं–भद्रकाली–कात्यायनी में ही अवस्था विशेष अथवा देवता विशेष–भद्रकाली–रहती है । (भद्र) भगवत्सम्बन्ध को प्राप्त कराने वाला काल ही भद्रकाली रूप है इस लिए उसकी अच्छी प्रकार पूजा की। वहाँ पीछे–'भूयान्नन्दसुतः पतिः'–दूसरे मंत्र का दर्शन हुआ। नन्दसुत स्वयं ही पति होवें–इस पति होने में काल निमित्त–कारण–है,–इस लिए काल की अभिमानिनी देवता की पूजा की। पति होने में काल के निमित्त होने से उनको भगवत्सम्बन्ध कादाचित्क हुआ, सर्वदा नहीं हुआ। नन्द के पुत्र आप कृपालुता से हुए हो कृपालुता से ही हमारे पति भी होओ–ऐसी प्रार्थना की। वह भी भगवान् की ही की, दूसरे की नहीं की। यहां प्रत्येक की भिन्न भिन्न प्रार्थना का निरूपण नहीं है तो भी समुदाय से भी भगवान् ने ही रमण किया और, इसी से आगे कहेंगे–'एकैकशः प्रतिच्छन्तु सहैव'–कि एक एक आकर अथवा इकठ्ठी ही आकर वस्त्र ले जाओ।

यह मंत्र फलवाचक है (पतिरूपफल)। पूजा का अंगरूप नहीं है। इस से पहिले के मंत्र की तरह यह भी पूजा का अंग न हो जाय-इस लिए स्वरूप से ही कीर्तन किया। अन्त में-इति-शब्द का प्रयोग नहीं किया

यदि–इति–शब्द का प्रयोग किया होता तो इस मंत्र के किर्त्तन में गौणता आ जाती । प्रार्थना करने से भगवान् ने स्वयं वरण किया और प्रार्थना अन्तःकरण का धर्म है, इस से भगवान् अन्तःकरण में ही पति रूप हुए क्योंकि भगवान् का वचन है कि 'जो जिस रीति से मेरी शरण आता है, उसे उसी प्रकार से मैं भजता हूँ ।' तब वे अन्तःकरण में भगवान् को धारण करने वाली और शंका रहित हो गई ।।५३।।

'टिप्पणी'—यहाँ ही आगे–चित्तदोषस्य गतत्वात्–भ्रम उत्पन्न दोष से होता है अर्थात् जिससे भ्रम उत्पन्न होता है, उसे दोष कहते हैं । ये कुमारिकायें तो व्रत करने से पहिले भी भगवदीय ही थीं । इससे व्रत करने का हेतु संशय है और वह द्वितीय कोटि के भ्रम की स्फूर्तिरूप ज्ञात होता है । उनका चित्त कृष्ण में ही लगा होने से उन्हे–भगवान् पति होंगे–ऐसा निश्चय हो गया था इस से उनकी दूसरी कोटिरूप भ्रम की स्फूर्ति नष्ट हो गई थी–इस अर्थ (बात) को ध्यान में रख कर–"चित्तदोषस्य गतत्वात्"–कहा है । भगवान् हमारे पति होंगे या नहीं–ऐसा अनिश्चय ही उनके चित्त का दोष समझना चाहिए और इसका कारण भगवान् पर उनका स्नेहाधिक्य ही है, क्योंकि संशय पैदाकर देना स्नेह का स्वभाव है । स्नेह के साथ ही उनका चित्त कृष्ण में ही था, इससे उनके चित्त में भ्रम का विरोधी निश्चय उत्पन्न हो जाने से उपर्युक्त भ्रमरूप अनिश्चय का मिट जाना उचित ही है उनका चित्त सदा कृष्ण में था ही, फिर भी–'कृष्णचेतस्त्व' पद से उनमें कुछ विशेष अथवा आधिक्य कहना चाहिए और यह कृष्णचेतस्त्व व्रत के पीछे कहा है । इस लिए फलरूप होना ही इस कथन में विशेषता है और इसी आशय से फलरूप कहा है। किन्तु आगे चलकर फिर साधनरूप कहने से इसे अवान्तर–गौण–फल समझना । इस से इन्हें पहिले की अपेक्षा इतनी विलक्षणता प्राप्त हो चुकी है । ऐसा समझ में आता है ।

व्याख्या में–'फलवाचकत्वात्'–से 'कृतम्' तक का तात्पर्य कहते हैं कि पहिले एक मास में समाप्त होने वाले व्रत का उपसंहार करके फिर पूजा और पूज्य देवता के नामों के भेद से भिन्न मंत्र और काल का भेद बतलाया है–इससे और 'वृतव्रता' (श्लोक १६) भगवान् के इस वाक्य से यह कोई दूसरा ही व्रत ज्ञात होता है । और यह भी है कि–भगवान् पति हो–केवल इसीलिए व्रत किया था उनके चित्त में कृष्ण थे इससे उन्हें अपने हृदय में कृष्ण के पति होने का निश्चय था ही और वह-पति होना-केवल भगवान् स्वय से ही हो सकता है यह भी वे जानती थीं । अतः पहिला व्रत करना भी संभव नही है । किन्तु वे अब फिर बाहर भी भगवान् रूप पति चाहती हैं इस में वैसा काल ही कारण है और यह काल की अभिमानिनी देवता हैं–ऐसा समझकर कर यहाँ इसकी ही पूजा करना कहा गया है । इसी से भगवान् ने उसके चौदह नामों में भद्रकाली नाम कहा है । मंत्र में भी बाहिर प्रकट रूप से पति होने की ही प्रार्थना है नहीं तो प्रार्थना करना ही व्यर्थ है क्योंकि हृदय में भगवान् पति हैं–ऐसा इन्हें निश्चय था ही । इसी से-इसका विषय भिन्न होने से-यह प्रार्थना पूजा का अंग रूप नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि पहिले दूसरे की प्रार्थना की थी तो उसके आग्रह से पति होने से और स्वतः पति न होने से नीरसता हो (आ) जाती है । उसको दूर करने के लिए ही प्रार्थना की । इसी से भगवान् की अलग पूजा नहीं की, क्योंकि इनकी भगवान् में पतिरूप की भावना है । यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि–यदि इस प्रकार पूर्वोक्त मंत्र पूजा का अंग है, तो निष्प्रयोजन होने से, वह मंत्र, मंत्र ही नहीं कहा जाएगा, क्योंकि भाव का क्रम ही ऐसा है–जो प्र

भाव दूसरे भाव को उत्पन्न कर देने का कारण है। इसी से कृष्ण चेतस्त्व को व्रत का फलरूप कहा है। इस विषय का प्रतिपादन पहले हो चुका है। इस मंत्र में अर्थ की भावना ही प्रधान है, जप मुख्य नहीं है। इसी से इसका जप करना नहीं कहा है। यहाँ यह पूजा भी अपने वाञ्छित प्रकार से प्रिय भगवान् की भावना रूप ही है। इसी बात को भगवान् ने–मदर्चनात्–(मेरी पूजा से) २५ वें श्लोक में कहा है। और–भगवानेव गुणातीतः–इस क्ष में तो सब ठीक है, क्योंकि इसमें दोनों ही मंत्र एक है, तो भी पहिली पूजा की अपेक्षा पीछे की हुई पूजा में, अधिक गुण होने से (दोनों का) भेद सिद्ध होता है और पूजा भेद के कारण व्रत भेद भी सिद्ध है।

शंकाः—जब एक कार्य में ही अवान्तर फल और परमफल कहे जा सकते हैं तो यहाँ व्रत के भेद को लेकर व्याख्या में अवान्तर फल और परमफल–आचार्य चरणों का कथन संगत नहीं होगा–ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँ केवल स्वामिनी कुमारिकाओं के उद्देश्य से ही फल की परमता–उत्कृष्टता और अवान्तरता-गौणता अपेक्षित है। इस कारण से एक ही कर्म से उक्त दोनों फलों की सिद्धि हो सकने का कोई कारण नहीं है–ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् एक कर्म के ही दो फल कहे जा सकते हैं तब फिर व्याख्या में गौण और परम फल भेद का कारण व्रत भेद को बतलाना असंगत सा प्रतीत होता है ? इस का समाधान करते हैं कि यहाँ फल की गौणता अथवा मुख्यता में स्वामिनी–उन कुमारिकाओं का उद्देश्य ही हेतु है–उनके उद्देश्यानुसार ही फल भेद कहना संगत ही है,' इसी से एक ही फल पुरूष के भेद से एक के प्रति गौण–फल ही दूसरे के लिये परम फल भी हो सकता है। इस तरह--ज्ञान मार्ग के अनुसार मोक्ष चाहने वाले के–योग से--दोष दूर होते हैं और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है–यह बात भी संगत हो सकती है।

"लेख"—एवं इदं चेरू : ततः कृष्णचेतसः सत्यः अग्रिमं कृतवत्यः ऐसा सम्बन्ध है। (इस प्रकार यह व्रत किया, पीछे कृष्ण में चित्त वाली हो कर आगे का कार्य किया–ऐसा सम्बन्ध है) भगवत्सम्बन्ध–इत्यादि–जिस काल में भगवान् का सम्बन्ध अवश्य हो–ऐसा काल। 'निमित्तम्'--के पहिले 'पतित्वे' का अध्याहार समझना अर्थात् पति होने में कारण। क्योंकि–कादाचित्कत्वात्–लक्ष्मीजी की तरह सदा पति पत्नी भाव स्थापन कराने की इच्छा न होने से। अतः–पति भाव में काल हेतु होने से प्रार्थयन्ति–अर्थात्--'पति में कुरू'--में पति करा देना कात्यायनी के हाथ है और यहाँ पति बनना भगवान् के ही आधीन है (कात्यायनी अथवा दूसरे की अपेक्षा बिना) ऐसा भाव है। 'फलवाचकत्वात्'--इत्यादि–पहिले के मंत्र में--'पति मे कुरू'–से कात्यायनी से पतिरूप फल की प्रार्थना की है, इस से वह प्रार्थना पूजा का अंग है, और यहाँ–'स्वयं पति होओ'--ऐसा केवल फल का स्वरूप ही कहा है, इस से पूजा का अंगभूत नहीं होने से यह मंत्र ही नहीं है। 'मंत्रवत् इति' इस से–'तच्चोदकेषु मंत्राख्या'–मंत्र के लक्षण के अनुसार यह मंत्र ही नही है। 'अन्तः करणधर्मत्वात् के पहिले--'प्रार्थनायाः'–का अध्याहार समझना अर्थात् प्रार्थना अन्तः करण का धर्म होने से।

योजना—फलवाचकत्वात्–इत्यादि–इस से (होओ) इस तरह यह मंत्र फलवाचक है। पति होना यह फल है और यह फल पूजा का अंग नहीं है, इस कारण से--भूयान्नन्दसुतः पतिः–इस वाक्य में देवता की प्रार्थना

श्लोक—उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—वे बड़े सबेरे उठकर एक एक को नाम लेकर पुकारती थी और फिर एक एक का हाथ पकड़ कर यमुना में नित्य स्नान करने जाती हुई ऊँचे स्वर से कृष्ण की लीलाओं का गान करती थीं ॥६॥

सुबोधिनी—ततः प्रकटतया पूजां परित्यज्य भगवद्गानं कुर्वन्त्यः कालिन्द्यां कामनास्नानार्थं गता इत्याहो-षस्युत्थायेति, अधुना निःशङ्कतयारुणोदयात् पूर्वमेवोत्थाय स्वैर्गोत्रैः कृत्वा कृष्णमुच्चैर्जुगुः, अत्र गोत्रशब्देन नामाप्युच्यते, ततः स्वस्वनामग्रहणेन बोधन प्रथमतः प्रबुद्धा अन्यास्तद्गोत्रैः प्रबोधयन्तीति व्यावहारिकोर्थः, ते हि सर्वे गोत्रप्रवर्तका ऋषयो यज्ञे प्रवृत्ता अत आर्षज्ञानेन स्वगोत्रैः कृत्वा निर्भयाः सत्यः कृष्णं सदानन्द स्वतः पुरुषार्थरूपं जगुः, मध्ये भगवन्तं परि-कल्प्यान्योन्याबद्धबाहवोभवन् यथा रासे, अतः प्रकटमेव तासां तथात्वं जातमतो जलक्रीडार्थं गोपिकाभिः परिवेष्टितं कृष्णं गायन्त्य एव कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यो जाताः, गानं मुख्यं स्नानगमने गौणे, अन्वहमेवं, अनेन हेमन्तनियमो गतः, अन्यान्यपि व्रतानि निवृत्तानि, सर्वमेव गाने प्रतिष्ठित, कलि यतीति कलिन्दस्तस्य पर्वतस्य कन्यकापि तद्विधा, अनेन दोषत्रयं परिहृत भविष्यतीत्युक्तं, अन्योन्यं कलहो भगवता सह कलहः कलिकालदोषश्च, एतदर्थमेव कालिन्द्यां स्नान पुनः शुद्धभावाय, उषः सर्वकार्येषु प्रशस्तमिति भगवत्क्रीडार्थं "मुषः प्रशंसते गर्ग" इतिवाक्याद् गमनं, अन्वहमिति नात्र कालोपरिच्छिन्नः, अतोव्यक्ततया भगवत्स्थितिर्गानमन्योन्यस्पर्धाभावोसङ्घाताभावो दोषाभावाश्च सर्वदैव जातो न कदाचिदपि कोप्यंशो निवृत्तः ॥६३॥

व्याख्यार्थः—फिर बाहरी–प्रत्यक्ष–पूजा को छोड़कर भगवान् का गान करती हुई वे कामना-'काम्य'–स्नान के लिये यमुनातट पर गईं–यह--उषस्युत्थाय–इस श्लोक से कहते हैं। अब निःशंक हो कर सूर्योदय से पहले ही उठ कर अपने अपने नाम से औरों को उठा कर कृष्ण का ऊँचे स्वर से गान करने लगी। यहाँ गोत्र शब्द का अर्थ नाम भी है । इस लिए अपना अपना नाम लेकर पहिले जगी हुई औरों को उनका नाम ले लेकर जगाती हैं ऐसा व्यावहारिक अर्थ है। वे सब गोत्र के प्रवर्तक

न करके–नन्दसुत पति होवे इस आशा से भद्रकाली की पूजा की। इस से यह पूजा का अंग नहीं है । (मंत्र वत् इति'–कात्यायनी के मंत्र की तरह यह मंत्र पूजा का अंग नहीं है। इस से–'स्वरूपेणैव कीर्तनम्'–भगवान् पति हो इस प्रकार स्वरूप से ही भगवान् का कीर्तन किया, किसी अन्य देवता के प्रति भगवान् को पति कराने की प्रार्थना नहीं की। 'इति' शब्द प्रयोगे गौणता स्यात्–इस से–भूयान्नन्दसुतः पतिः–इस के पीछे–इति उच्चार्य–ऐसा उच्चारण करके, अथवा, इति जपच–आदि के साथ इति शब्द का प्रयोग करें, तो मंत्र द्वारा देवता की प्रार्थना हो जाए और यदि देवता की कृपा से, भगवान् की प्राप्ति होवे, तो अपनी स्नेहरूप भक्ति गौण हो जाएगी, इसी आशय को–'प्रार्थनया–से आरम्भ करके–पतिर्जातः–(भगवान् का स्वयं ही वरण किया, इस लिए प्रार्थना के अन्तः करण का धर्म होने से भगवान् पति हुए) इस वाक्य से कहा है ।

ऋषि हैं और यज्ञ करने में लगे हैं । इस कारण वे आर्षज्ञान के द्वारा अपने गोत्र से निर्भय हो कर सदानन्द तथा स्वयं पुरुषार्थरूप कृष्ण का गान करने लगीं। अपने बीच में भगवान् की कल्पना करके रासमण्डल की तरह आपस में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए वे प्रत्यक्ष (में) भगवान् की पत्नियाँ (पतिपन वाली) लगीं। इस से जल क्रीड़ा करने के लिए गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण का गान करती हुई वे कालिन्दी पर स्नान करने गईं। इन में गान करना मुख्य है और यमुना पर जाना तथा स्नान करना गौण है। प्रति दिन का यही नियम था। इस प्रकार हेमन्त ऋतु का नियम पूर्ण हुआ तथा अन्य--'दूसरे' व्रतों का विधान भी नहीं रहा। गान में ही सबका समावेश हो गया। (कलिं-द्यतीति) कलह अथवा कलिकालका खण्डन करने वाले कलिन्द पर्वत हैं अतः उन की कन्या कालिन्दी भी कलि का खण्डन करने वाली है। अतः कालिन्दी पद से यह सूचित हुआ कि इनके तीनों--१ परस्पर सौतपने का--२ भगवान् के साथ मानादिका और ३ कलिकाल से चित्त की अशुद्धि के दोष दूर हो जावेंगे। इसी से, फिर शुद्ध भाव के लिए, कालिन्दी में स्नान करती थीं। प्रातः काल, सब कामों के लिए प्रशंसनीय है * और गर्गाचार्य भी भगवत्क्रीड़ा के लिये प्रातः काल की प्रशंसा करते हैं इस लिए वे प्रातः काल--'बड़े सवेरे'--गई। प्रति दिन पद से--इतने समय से इतने समय तक-इत्यादि काल का परिमाण नहीं है। इस से अपने में अप्रकटरूप से भगवान् की सदा स्थिति का ज्ञान, सदा गुणगान, आपस में सदा ईर्ष्या का अभाव, भगवान् के साथ सदा स्थिति और दोषों की निवृति सदा के लिए हो गई। कभी भी इन दोषों का कुछ भी अंश उनमें फिर नहीं आने पाया ॥६॥

श्लोक—नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुः सलिले मुदा ॥ ७[१] ॥

श्लोकार्थ—किसी एक दिन वे कुमारिकाएँ यमुना पर आकर और नित्य की

लेख—'तथात्वम्'-भगवान् हैं पति जिन के ऐसा भाव। अतः-इसके पीछे प्रातःकाल में। मूल में-'एवं जगुः ततः उषसि स्नातुं यान्त्यः जाताः--' ऐसे सम्बन्ध के अभिप्राय से कहते हैं-गायन्त्य एव गानं मुख्यम्-काल से परिच्छिन्न नहीं है नित्य है। 'स्नानगमने गौणे'-काल से परिच्छिन्न हैं अर्थात् अमुक काल तक स्नान और गमन। अनेन-अर्थात् 'अन्वह'-इस मूलोक्त पद से। यदि ऐसा नहीं होता तो पहिले की तरह एक मास का व्रत करना कहते। अन्योन्यं कलहः—अन्य गोपिका को सौत-सपत्नी-समझ कर कलह। भगवता सह कलहः—मानादिक से होने वाला। कलिकालजनितः-हम तो इतना कष्ट उठा रहीं हैं, भगवान् आ नहीं रहे हैं-इत्यादिक क्रूरतादि दोषों का भगवान् पर अपने चित्त की अशुद्धि से-आरोपण रूप। "नात्र इति अन्वहम् इत्यस्य यान्त्य इति अनेन अन्वयात् गमने अपरिच्छिन्नः कालो न, किन्तु दिनैः परिच्छिन्न एव" प्रति दिन जाती हुई-ऐसा कहने से जाने में काल अपरिमित नहीं है, किन्तु अमुक-इतने-दिन तक का है। अतः—जाना अमुक दिन तक का-परिमित-होने से भगवान् की स्थिति, गान, स्पर्धा का अभाव, दोष का अभाव-आदि-नित्य सदा ही-उनमें थे। इसी से गमन को काल से परिच्छिन्न कहना वाक्यार्थ है। 'संघाताभावः' का भगवान् के साथ स्थिति और भगवान् के साथ कलह का अभाव-ऐसा तात्पर्य है।

---

*उषः प्रशंसते गर्गः।

तरह किनारे पर वस्त्रों को रख कर कृष्ण के गुणों को गाती हुई जल में आनन्दपूर्वक विहार करने लगीं ॥७ १/२ ॥

एवं जाते स्वयमपि भगवान् प्रकटो जात इति वक्तुमुपाख्यानमारभते नद्यामिति, कदाचिदिति, यदा पुनर्भद्रः कालः, कालिन्द्याः प्रयोजनं वृत्तमिति नदी निरूपिता, पूर्ववदेव गानं कृत्वा तेन गानेन मत्ता विस्मृतात्मानः स्वपरिहितानि वासांसि तीरे निक्षिप्य भगवता सह जलक्रीडार्थमेव प्रविष्टा मुदा सलिले विजह्रुः, स्नाने मौनवस्त्रपरित्यागौ दोषद्वयं क्रीडा च नियमस्थानां देहविस्मरणं च मुदेत्यनेन सूचितम् ॥७ १/२॥

व्याख्यार्थः—ऐसा होने पर, भगवान् स्वयं ही वहाँ प्रकट हुए,-इस बात को कहने के लिए- 'नद्यां'-श्लोक से उपाख्यान का आरम्भ करते हैं । कदाचित्-जब फिर, शुभ समय के आने पर कालिन्दी का कलिमलनिवर्तन रूप, प्रयोजन सिद्ध हो जाने से, कालिन्दी शब्द का प्रयोग न करके-नदी शब्द कहा है। पहिले की तरह ही, गुण गान करके, उस से मस्त होकर वे अपने आपको भूल गई। और अपने पहिने हुए वस्त्रों को किनारे पर उतार कर-भगवान् के साथ में जल क्रीड़ा करने के लिए जल में घुस कर आनन्द पूर्वक जल में विहार करने लगीं। स्नान करते समय मौन का परित्याग और वस्त्रों का परित्याग, जल में क्रीड़ा तथा नियम धारण करने वाली कुमारियों का देहविस्मरण—इस प्रकार उनके इन चार दोषों को-'मुदा'-आनन्द शब्द से बतलाया । अर्थात् कर्म मार्ग के अनुसार ये दोष हैं। भक्ति मार्ग में तो ये दोष नहीं, किन्तु गुण हैं ॥७ १/२॥

'**लेख**'—मत्तः-वस्त्र का परित्याग उन्मत ही करता है, यह भाव है । आभास में बीच के प्रकरण का अर्थ कहा है । 'स्नाने'-से-आरम्भ करके गुणाः' तक का वाक्यार्थ कहा ।

'**योजना**'—भगवान् का कीर्तन करने के लिए मौन का परित्याग करना उचित ही है । इसी स्कन्ध में गर्भ स्तुति के वाक्य में कहा है कि—क्रियाओं * में भगवान् के मंगलमय नामों और स्वरूपों का श्रवण, उच्चारण, स्मरण और चिन्तन करता हुवा जो पुरुष आप के चरणारविन्द में अपने चित्त को लगा देता है, वह फिर संसार में जन्म मरण में नहीं पड़ता है । इस से प्रत्येक कार्य में भगवान् का कीर्तन आवश्यक है । इसलिए भक्ति मार्ग में मौन का त्याग करना गुण है । वस्त्रों का परित्याग भक्ति से (उत्पन्न) होने वाले मद का सूचक है, इस से यह भी गुण है । "आपस ‡ में आपके गुणगान रूपी अमृत से जिनके देह धर्म दूर हो गए है"—इस वाक्य से परम भक्ति में देह धर्म दूर हो जाते हैं । यहां भी मद से देह धर्म की निवृत्ति और वस्त्र के परित्याग से मद को सूचित किया। इस लिए भक्ति जन्य मद के कारण वस्त्र त्याग भी गुण ही है । 'विजहुः'—पद से कही हुई क्रीड़ा भी

---

* शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मंगलानि ते ।
क्रियासुयस्त्वच्चरणारविंदयोराविष्ट चेतान भवाय कल्पते ॥ भा० १० ।

‡ परस्परं ते गुणावादसीधु—

श्लोक—भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तद्व्रतसिद्धये ॥८॥

श्लोकार्थ—योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् कृष्ण उनके दोषों को जानकर उनका निवारण करने और उन्हें व्रत का फल देने के लिए अपने सखाओ के साथ वहाँ स्वयं पधारे ॥८॥

सुबोधिनी—एवं चत्वारो दोषा जाताः कर्ममार्गे भक्तौ तु गुणा अतस्तद्दोषपरिहारार्थं कर्मण्यपगते भगवान् स्वयमागत इत्याह भगवांस्तदभिप्रेत्येति, तासामपराधं ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं समागतः, किञ्च कृष्णः स्त्रीणां हितकारी, आनन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति, परं सदानन्द इति दोषो निवर्तनीयः, अन्तःस्थितदोषनिवृत्तौ सामर्थ्यमाह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वरा हि योगबलेनान्तः प्रविश्य तत्र तत्र स्थितं दोषं दूरीकुर्वन्ति तस्याप्ययमीश्वर इति नास्य प्रवेशोपेक्ष्यते, एते हि बालकाः पूतनायां प्रविष्टाः पुनः स्वस्मिन्नागता एतासामाधिदैविकरूपाः, अत एव पुरुषरूपा एव, अनधिष्ठिताः पुनः स्वच्छन्दभोगयोग्या न भविष्यन्तीति दृष्टिद्वारा तेषामपि प्रवेशनं, तद्भोगार्थं च तैरपि वृतः प्रार्थितः, तत्रैव स्थाने ताभिरपि वृतो 'भूयान् नन्दसुत' इति, एतदपि सर्वमभिप्रेत्य वयस्यैः सहागतस्तत्रैव वृतश्च, अतस्तस्य व्रतस्य सिद्धिः फलं तदर्थम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कर्ममार्ग के अनुसार उन में चार दोष उत्पन्न हो गए थे यद्यपि भक्ति मार्ग में तो वे गुण ही कहे जाते हैं तथापि कर्म मार्ग के अनुसार उनका दोष दूर करने के लिए उनके व्रत के पूरे हो जाने पर भगवान् स्वयं पधारे–इस अर्थ को–'भगवांस्तदभिप्रेत्य'–श्लोक से कहते हैं। उनके अपराध को जान कर उसको निवृत्त-दूर-करने के लिए पधारे। कृष्ण-स्त्रियों का हित करने वाले हैं। आनन्द स्त्रियों में स्थित होकर रहता है। इससे पधारे ! कृष्ण स्वयं सदानन्द रूप हैं, इस लिए दोषों की निवृत्ति करना ही चाहिए। अन्तःस्थित–भीतर के–दोषों को भी दूर कर देने की सामर्थ्य भगवान् में है-इस अर्थ को 'योगेश्वरेश्वरः' पद सूचित करता है योगेश्वर तो योग बल से भीतर प्रवेश करके उस उसस्थल के दोषों को दूर करते हैं उन योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् को तो दोष दूर करने के लिए भीतर प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं होती।

गुण है, क्योंकि–प्रसन्न होते हैं, रमण करते हैं–इस प्रमाण से भक्ति का उत्कर्ष होने पर ही क्रीड़ा होती है। इसी प्रकार देह–विस्मरण गुण ही है, क्योंकि † "भगवान् में चित्त वाले भगवान् का गुण गान करने वाले, भगवान् की चेष्टा करने वाले, भगवद्रूप हुए और भगवान् का गुणगान करने वाले व्रज भक्त अपने शरीर और घरों को भूल गए थे"। इस प्रकार देह का विस्मरण भी गुण रूप कहा है। इस तरह ये चारों दोष भक्ति मार्ग में गुण रूप हैं।

---

† तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥ भा १०॥

ये बालक पूतना में स्थित थे भगवान् ने जब पूतना के प्राणों का पान किया था तब वे भगवान् में–पूतना के प्राणों के साथ–आ गए थे। ये कुमारिकाओं के आधिदैविक रूप होने से उनके पुरुष भाव रूप थे, यदि ये कुमारिकाओं में पुरुष रूप से अधिष्ठित नहीं होते, तो वे स्वच्छन्दता पूर्वक भोग करने योग्य नहीं होती। (विपरीत रस क्रीड़ा के योग्य नहीं होती) इसलिए, भगवान् ने दृष्टि के द्वारा उनका प्रवेश कुमारिकाओं में किया, उन्होंने भी भगवान् के साथ भोग करने की प्रार्थना की थी और उसी स्थान पर कुमारिकाओं ने भी-भूयान्नन्द-सुतः पतिः-ऐसी प्रार्थना की थी इस विषय को ध्यान में रख कर, वयस्यों के साथ स्वयं वहाँ पधारे। वरण भी वहाँ ही किया था। इसलिए उस व्रत का फल देने के लिए वहाँ पधारे।

टिप्पणी—व्याख्या में यहाँ हो–'वयस्यैरागतः' इस श्लोक के विवरण में–एते हि बालका–से लेकर-'तद्भोगार्थ'-का तात्पर्य इस प्रकार बतलाया है:–सृष्टि को रचने वाले भगवान् ने कितने ही जीवों को तो पुरुष की प्रकृति वाले और कितने ही को स्त्री के स्वभाव वाले उत्पन्न किए। पुरुष के शरीर में स्त्री प्रकृतिक जीव का स्वभाव स्त्री जैसा और स्त्री की देह में पुरुष की प्रकृति वाले जीव का स्वभाव पुरुष जैसा होता है। पुरुष प्रकृति वाले जीवों में पुरुष के अंश का प्रवेश होता है, इस से वे हरि का भजन करते हैं। अन्य जीव भजन नहीं करते हैं, क्योंकि उनमें केवल प्रकृति का ही अंश होता है। इसी से, जहाँ जहाँ, भगवान् का भजन करना लिखा है, वहाँ–'को नु राजन्निन्द्रियवान्'–इत्यादि स्थलों में 'कः' आदि पदों से पुरुष को भगवान् के भजन का अधिकारी कहा है। यदि ऐसा न हो तो फिर स्त्रियों का तो भगवद्भजन करने में-कहीं भी उनका विधान न होने से-अधिकार ही नहीं रहेगा तात्पर्य है कि पुरुष शरीर अथवा स्त्री शरीर भजन करने में उपयोगी नहीं है किन्तु यह पुरुष प्रकृति अथवा स्त्री प्रकृति ही–शास्त्रानुसार–भजन करने में अपेक्षित है। इस से–देह के बिना–केवल जीवों में पुरुष भाव अथवा स्त्री भाव का रहना सूचित होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषि भी पुरुष प्रकृति वाले थे और वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय–थे इस लिए उनकी सम्बन्धी सब वस्तु भगवान् को प्रिय थी इस तरह उन पर अत्यन्त कृपा करके उनके धर्मों का भी अंगीकार–ग्रहण–किया और उनका सम्बन्धी कुछ भी व्यर्थ न हो, इस लिए उनके पुरुष धर्म का इन कुमारिकाओं में स्थापन करने के लिए, उस उस स्थल पर उनका अवतार किया। यह ही इन की आधिदैविकता है। इसी से भगवान् ने इन की ऋषि दशा में, अपने कहे हुए वचन सत्य किए। 'तदिमेविदुः'–उसको ये पुरुष जानते है"–और इसी से उन्हे साक्षी रूप (११ श्लोक में) कहेंगे। स्त्री का अवलोकन आदि होने पर, विकार होना; उन में सहज दोष है। दोष होने पर भगवान् का अपराध हो और उस से अनर्थ का सम्बन्ध हो जावे, इस से, जैसे क्षार से मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार उनका–दोष दूर करने के लिए–क्षाररूप अत्यन्त क्रूर पूतना में पहले सम्बन्ध कराया। वे स्वयं भी महापुरुष थे और उस समय पूतना ने भी–यह भगवान् है। कि यह भगवान् है–इस प्रकार भगवद्भाव वाली हो कर ही उनको निगला था। इसी से पूतना के भीतर (उनकी) स्थिति होने पर भी (पूतना में भगवद्भाव के होने से) उन में आसुर भाव का प्रवेश नहीं हुआ। उन में आसुर भाव के न आने पर तप की तरह पूतना के सम्बन्ध से उत्पन्न क्लेश रूप तप से दोष दूर हो गए। मेरे लिए ही पूतना ने इन्हें खाया है–भगवान् ने इस विचार से उन्हे अपने आनन्द का दान करने के लिए

श्लोक—तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरम् ।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥९२॥

श्लोकार्थ—भगवान् उनके वस्त्रों को-अपने पास लेकर उठा कर झट एक कदम्ब के वृक्ष पर जा चढ़े और हँसने वाले बालकों के साथ स्वयं भी हँसते हुए यों हँसी के वचन बोले ॥९२॥

पूतना के प्राणों के साथ उनका प्रवेश भी अपने में कराया । कुमारिकाओं में उक्त रीति से अपनी प्रसाद रूप शक्ति का अथवा स्वयं अपना (भगवान् का) प्रवेश कर के अपने भोग की योग्यता का सम्पादन किया–उन्हें अपने भोगकरने योग्य बनाया । सहज पुरुष भाव का तो उनमें स्थापन किया ही। यदि पुरुष भाव का स्थापन न करते तो उनमें काम भाव ही उत्पन्न होता, क्योंकि "जहाँ कुछ भी विशेषता * दिखाई पड़ती है, वह स्वार्थ का विचार करके ही होती है"-इस न्याय से स्त्री भाव के कारण और स्त्रियों का ऐसा ही स्वभाव होने से उन में काम भाव ही उत्पन्न होता है सर्वात्मभाव उत्पन्न नहीं होता किन्तु सहज पुरुष भाव का स्थापन करने से उन में प्रौढ भाव की उत्पत्ति हुई और उसीसे उन्होंने लोक वेद की अपेक्षा न रख कर सर्वात्म भाव से भगवान् का भजन किया । भगवान् ने भी स्वच्छन्द भोग इनमें ही किया और इनका ही किया । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगवान् किसी साधन के बिना ही सब कुछ कर सकते हैं तो भी उस वस्तु की मर्यादा में रह कर ही भोग करने से अधिक रस प्राप्त होता है । इस लिए सारे रसों का भोग करने वाले भगवान् ने भी, उक्त मर्यादा पूर्वक ही भोग किया । नहीं तो भगवान् स्त्री भाव के बिना ही, अपने आनन्द का दान कर देते । परन्तु रस की मर्यादा की रक्षा के लिए वात्स्यायन के काम शास्त्र के अनुसार ही (भगवान्) रमण करते हैं। "भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे"–भगवान् ने स्वयं भगवान् होते हुए भी रमण करने का मन किया–इस फल प्रकरण के वाक्यानुसार सब उचित ही है ।

लेख—कर्मणि–हेमन्त ऋतु के नियम आदि रूप कर्म में, उस कर्म के करते रहने पर, इन चार दोषों के होने से, वह कर्म केवल कर्म मार्ग में सर्वथा दोष रूप ही होता तो, भगवान् उसकी उपेक्षा ही कर देते, 'स्वयम्'-अब तक जिनकी भावना कर रही थीं, वे अब स्वयं प्रकट पधारे । 'आनन्दस्तत्र रमादीनां'–अत्र आदि की तरह उपस्थेन्द्रिय विषयक आनन्द स्त्रियों के भीतर स्थित हो रहा है । "भगवत्वात् समागतः कृष्णत्वाच्च इति मूल--वासनया किञ्च इति उक्तम"--स्वयं भगवान् होने और कृष्ण होने से मूल वासना के द्वारा भी पधारे--ऐसा अर्थ किञ्च–पद से सूचित होता है । 'पुनः' इत्यादि नायिकारूप से भोग सिद्ध हो जाने के पीछे नायकरूप से फिर भोग करने के लिये । दृष्टि द्वारा अर्थात्–'तास्तथावनता दृष्ट्वा'--इस इक्कीसवें श्लोक में कही जाने वाली सर्वाङ्ग विषयिणी दृष्टि के द्वारा ।

योजना—आधिदैविकरूपाः–इन कुमारिकाओं का पुरुषभावरूप । इस की युक्ति में प्रमाण प्रकरण की योजना में निरूपण किया जा चुका है । अनधिष्ठिताः–इत्यादि का--यदि ये कुमारिकाएँ इस पुरुष भाव से अधिष्ठित नहीं होता तो ये विपरीत रस क्रीडा में होने वाले स्वच्छन्द भोग के योग्य नहीं होती । इस से विपरीत रस के अनुभव के लिए इन में इस पुरुष भाव की स्थापना की--ऐसा अर्थ है ।

---

* यत्राप्यातिशयो दृष्टः स स्वार्थनतिलंघनात् ।

अर्थ ग्रहण की हुई वस्तु का ग्रहीता के पास आना ही तो है, फिर यहाँ सामीप्य अर्थ को बताने वाले 'उप' उपसर्ग के प्रयोग का कोई विशेष अभिप्राय होना चाहिए व्याख्यामें उसी अभिप्राय का–'स्वान्तः स्थित'–इत्यादि के द्वारा निरूपण किया गया है।

इस विषय में शका होती है कि–"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" जो पृथिवी में रहता है–इत्यादि श्रुति के अनुसार स्वाभाविक ब्रह्म के धर्म वाले जगत् का वस्त्रों से ढकना कहना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि भगवान् के साथ व्यवधान अथवा आच्छादन नहीं हो सकता। और इसी कारण से दैत्य का प्रवेश होना भी असम्भव है। आच्छादन करने का प्रयोजन भी समझ में नहीं आता तो फिर उस आच्छादन या दैत्य के प्रवेश को रोकने के लिए नीप–(कदम्ब)–पर चढ़ने का कथन भी अनुचित ही प्रतीत होता है। और जब भगवान् स्वयं कदम्ब पर चढे हैं। तो उनके साथ उनके भीतर रहने वाले जगत् का भी कदम्ब के साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है ही। ऐसी दशा में साक्षात् भगवान् में रहने वाले जगत् मे भगवत्सम्बन्ध के कारण दैत्य का प्रवेश (करना) ही नहीं हो सकता है तो उस–(दैत्य प्रवेश)–को रोकने के लिए कदम्ब पर क्यों चढे ?

इस शंका का समाधान करते हैं कि- कई पुरुष तो शास्त्र के द्वारा भगवान् तथा उनके माहात्म्य को जान कर उनका भजन करते हैं। वह भजन भी साक्षात् भजन नहीं है, क्योंकि वह श्रवण आदि धर्म के द्वारा भजन है। वास्तव में तो वे धर्मों को ही भजते हैं और इस कारण वे लोग वैदिक कहलाते है, और कुछ लोग पुत्र भाव आदि धर्म को लेकर, लौकिक धर्म के द्वारा भजन करते हैं। इस लिए भगवान् उनके लिए लोकानुसार ही फल देते हैं। इन कुमारिकाओं की केवल भगवान् के धर्मो में ही बुद्धि नहीं है, किन्तु भगवान्–भगवान् के स्वरूप–में भी है और वह भी नारदजी आदि तथा यशोदाजी आदि की तरह धर्म के द्वारा नहीं है। इसी से* "मेरे लिए ही तुमने लोक, वेद और अपने परिवार का त्याग किया है"–भगवान् आगे ऐसा कहेंगे। स्त्री का स्वाभाविक धर्म 'लज्जा' का त्याग भी उन्होंने भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही किया था। जब इन्होंने लोक वेद की सारी मर्यादा त्याग कर भगवान् का भजन किया था तो भगवान् ने भी इनके लिए अपने स्वरूप की मर्यादा को त्याग दिया था, क्योंकि ‡ भगवान् ने गीता में भक्तों के भजन के अनुसार ही उनका स्वयं भजन करना कहा हैं। इसी से आगे आत्माराम भी भगवान् ने रमण किया–ऐसा कहेंगे। और इसी से भगवान् ने स्वयं कहा है कि † भक्तों का हृदय मैं हूँ और मेरा हृदय भक्त हैं, भक्त केवल मुझे जानते हैं, और मैं भी भक्तों के सिवाय किसी और को नहीं पहचानता हूँ। यदि ऐसा न करते, अर्थात् सारी मर्यादाओं को त्याग कर भजने वाले भक्तों को भजन वाले भगवान् अपने स्वरूप की मर्यादा का त्याग नहीं करते तो अकुण्ठित ज्ञान शक्ति वाले भगवान् का साधुओं के अतिरिक्त का न जानना कहना उचित नहीं होता। यह तो पुष्टि–(अनुग्रह)–लीला है। इस में मर्यादा मार्ग से विपरीतता दोष नहीं है, प्रत्युत गुण है, क्योंकि पुष्टिमार्ग ही इस तरह का है। तब मर्यादात्याग पूर्वक ऐसे (इतने से) स्वरूप का दर्शन अपने पुष्टि भक्तों के सिवाय दूसरों को न होने देने के लिए अपने में रहने वाले जगत् का आच्छादन किया। यह आच्छादन करने का मर्म है।

---

* एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्।

‡ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गी०।
आत्मारामोऽप्यरमत्। भा० १०।

† साधवो हृदयं--मदन्यत्तेन जानन्ति नाहंतेभ्यो मनागपि ॥ भा०।

उनके अतिरिक्त मैं भी किसी को नहीं जानता, इस वाक्य के अनुसार, जैसे दूसरा कोई भी भगवान् को नहीं जानता है, वैसे ही अपना स्वरूप भी भगवान् ने उनके लिए ही प्रकट किया है, इस लिए उन पुष्टिमार्गीय भक्तों के सिवाय (कोई दूसरे उस स्वरूप को न देख सके) किसी दूसरे के साथ उस स्वरूप का सम्बन्ध नही है। इसी से भगवान् के साथ व्यवधान तथा आच्छादन भी सम्भावित है। यह अलौकिक अर्थ भगवान् के वचन बल और श्रद्धाशक्ति से भरे हुए हृदय से ही जानने योग्य है। भगवान् व्यापक हैं, इससे पूर्वोक्त आच्छादन की असम्भवताकी शंका नही करना चाहिए। नहीं तो फिर व्यापक का हृदय में धारण करना और भक्त के हृदय को क्षणभर भी न छोड़ना कहना असंगत हो जाएगा। वह दूर भी है वह पास भी है–इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। इस से भगवान् रूप वस्तु के, विरूद्ध धर्माश्रय होने से और भगवान् का ग्रहण कराने वाले प्रमाणों से, उस वस्तु के वैसे ही सिद्ध होने से, इस में कोई कथन असंगत नहीं है, सभी उचित है।

कदम्ब पर चढने के विषय में, उठाई हुई आपत्ति का समाधान इस तरह हैं, कि भगवान् लीला करते करते, शास्त्रार्थ का बोध भी कराते हैं। भगवान् में इन कुमारिकाओं का सा भाव, रखने वाले भक्तों को ही साक्षात् पुरुषोत्तम का सम्बन्ध होता है, औरों को कभी नहीं होता। उनमें आसुर धर्म का प्रवेश आवश्यक है। उनका वह आसुरावेश, भगवान् से अधिष्ठित वैष्णव, अथवा श्रवण कीर्तन आदि, वैष्णव धर्मों के द्वारा शीघ्र ही दूर किया–इस बात को वतलाने के लिए आच्छादन और कदम्ब पर चढ़ना आदि कहते है। इस लिए यहां कुछ भी असंगत कथन नहीं है।

सेवकों के रहते हुए भी स्वय ईश्वर (भगवान्) ने ही वस्त्र क्यों लिए ? वस्त्रों को लिए बिना ही उन्हे अपने पास क्यों नहीं बुला लिया ? इत्यादि शंका का समाधान यह है कि–'तासामावरणम्'–यहाँ केवल वस्त्र ग्रहण करना ही तात्पर्य नहीं है, किन्तु इनका साक्षात् भगवतसम्बन्ध में अन्तराय–(जो किसी अन्य प्रकार से दूर करने योग्य नहीं था)–को वस्त्रों को हरने के बहाने से दूर करके दूसरे स्थान पर रख दिया–ऐसा है। भगवान् के कार्य लौकिक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वे वास्तव में अलौकिक हैं। उनकी अलौकिकता क ज्ञान भगवद् दृष्टि से ही होता है, अन्य किसी रीति से नहीं हो सकता है।

इसके आगे–'हसद्भिः प्रहसन बालैः–की व्याख्या में–'तेषामपि मायाधिदैविकी'–इत्यादि का भाव कहते हैं। यदि ये कुमारिकायें, इन बालकों को, आधिदैविक सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी ही जान लेती तो, भगवान् के एक बार–(प्रथम)–बुलाने पर ही चली जातीं, क्योंकि उनमें पराए पुरुष का ज्ञान न रहने से, उनकी इन पर दृष्टि पड़जाने पर भी, कुछ भय तो था नहीं, किन्तु उन बालकों ने हँस कर उन्हे अपने सम्बन्ध का ज्ञान न करा कर विपरीत–(अन्यपने का)–ही ज्ञान करा दिया। यह बालकों का कपट किंवा माया है। इस से उन बालकों में पराये पुरुष के और अपने आप में भगवान् से अनन्य–अभिन्न--होने के ज्ञान से, उनके देख लेने की शंका से, वे बाहर नहीं आईं। वे आधिदैविक थे और भगवान् की इच्छा के अनुसार बर्ताव करने वाले थे, यही उन में आधिदैविकता थी। भगवान् की ऐसी इच्छा तो, उन्हें विशेष आनन्द उत्पन्न कराने और उनकी परीक्षा कराने के लिए थी।

श्लोक—अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ।
सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः ॥ १०½ ॥

श्लोकार्थ—हे अबलाओं ! तुम यहाँ मेरे पास आकर अपने अपने वस्त्र ले जाओ । मैं तुम से सच ही कह रहा हूँ, हँसी नहीं करता, क्योंकि तुम व्रत करने के कारण निर्बल और कृश हो रही हो ॥ १०½ ॥

सुबोधिनी—भगवती वाक्यमाहात्रागत्येति, अस्मदीयः कामस्तत्र न गच्छत्यतोऽत्रैवागत्यं **कामं वास** आच्छादकं वस्त्ररूपं काममयत्वाद् यथेच्छमिति लोकप्रसिद्धिः, सर्वस्यैव कामस्याधिदैविकमत्र तिष्ठतीति अतो वस्त्रसम्बन्धात् पूर्वं निष्कामा एव ताः, पुनरपि पूर्वकामवत् वस्त्रवद् वा हरणे ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह प्रकर्षेण **गृह्यतामिति**, दाने प्रयोजनमबला इति, बलमस्मादेव भवतीति, अत एव निरिन्द्रियाः **स्त्रियोबला** इत्युच्यन्ते, बहुव्रीहावपि निमित्ततायां स्वार्थं कामदानं वस्त्रदानं च, अन्यथा मर्यादाभङ्गः स्यात्, वासोपि मयि स्थितं **प्रगृह्यता**मितिध्वनिः, अस्मदीयाभिरेव वापूर्वपरिग्रहः कर्तव्य इति, अन्यथानिष्टः स्यात्, बालकानां मायया च व्याप्ता इति स्ववाक्येप्रामाण्यं ज्ञास्यन्तीत्यत आह **सत्यं** ब्रुवाणीति, **सत्यं** वदामीत्यर्थः, अनेन स्त्रीष्वनृतं वक्तव्यमित्यपि निराकृत, नन्वनृतं न भवति दास्यसि परं नग्नदर्शनेनोपहासार्थं वदसीत्याशङ्क्याह **नो नर्मेति, नर्म नो** न भवति, यद्यपि लोकदृष्ट्या **नर्म**वद् भाति तथापि वस्तुतो न नर्म, युक्तिमप्याहानर्मत्वे यद् यस्माद् यूयं व्रतेन **कर्शिताः**, न हि व्रतिभिः सह **नर्मो**चितं नापि क्लिष्टैः, अन्यथा **नर्म** वैरजनकं भवेत् ॥१०½॥

'लेख'—'अन्तरास्थितम्–इति'–प्रतिबन्ध की निवृत्ति की प्रार्थना कर चुकी थी, विवाह में वर कन्या का अन्तरपट, दूर कराया जाता ही है और वरण कर लिया गया था, इन कारणों से वस्त्रों का हरण किया—इस आशय से, आभास शब्द का व्याख्या में प्रयोग है । 'किञ्च'–इत्यादि–कदम्ब के ऊपर चढ़ने से निष्कामपन की शंका दूर करदी और–'प्रहसन'–पद से हँसना रूप काम की उनमें स्थापना करने से भी निष्कामपन का न होना बतलाया । 'बलकार्यर्थमेव'–बल के कार्य के लिए अर्थात् उनमें पुरुष भाव से, रस का अनुभव कराने के लिए। 'अतएव' इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि दृष्टि के द्वारा स्थापन करने से यथोचित भोग के अनुकूल ज्ञान शक्ति का दान इन बालकों के लिए करेंगे ।

योजना—'नीप'–'नितरां ई कामं पिबति' इति नीप इति–हमेशा काम देव का पान करने वाला नीप = कदम्ब । मंत्र शास्त्र के अनुसार 'ई' काम बीज प्रसिद्ध है । इससे कार्य को सफल कराने के लिए वहाँ वस्त्र ग्रहण करने के स्थान पर उनको ले गए । इस प्रकार टिप्पणी में कहे हुए 'स्वान्तः स्थितैः' आदि पदों के अर्थ में युक्ति बताई है । (इस अध्याय में श्रीसुबोधिनी की पंक्तियों का अर्थ अत्यन्त गूढ है । उनका व्याख्यान करना आवश्यक है, किन्तु श्रीमत्प्रभुचरणों ने टिप्पणी में उनका विस्तार पूर्वक व्याख्यान कर दिया है, वहाँ देख लेना चाहिएं) ९½

व्याख्यार्थः—हमारा काम वहाँ नहीं जाता है । इससे यहाँ ही आकर काम रूपी वस्त्र अर्थात् वस्त्ररूप आच्छादक को (ग्रहण करो और) काम मय होने से अपनी अपनी इच्छा अनुसार लेजाओ-ऐसा लोक-रीति से अर्थ है । सारे ही काम का आधिदैविक स्वरूप इन वस्त्रों में ही रह रहा है । इस कारण भगवान् के द्वारा दिए गए काम रूपी वस्त्रों का सम्बन्ध होने के पहिले वे निष्काम हो थीं । अब फिर भी, पहिले के काम की तरह अथवा वस्त्र की तरह, हरण कर लेने पर, तो ग्रहण करना ही निष्फल होता है ? ऐसी आशंका करके कहते हैं, 'प्रगृह्यताम'-कि भली भाँति ले लो (कोई जान न सके, ऐसी रीति से पकड़ लो) काम को देने में प्रयोजन यह है कि तुम अबला हो, इस वस्त्र से ही तुम को बल मिलेगा, इसी लिए इन्द्रिय रहित-(सामर्थ्यरहित)-स्त्रियों को अबला कहते हैं । अबलाः-पद में बहुव्रीहि समास करने-(मानने)-में निमित्त स्वार्थ ही है अर्थात् भगवान् ने अपने लिए ही उन्हें काम अथवा वस्त्र दिए, जिस से वे, भगवान् के साथ रमण करने का बल प्राप्त कर सकीं । ऐसा नहीं किया जाता तो, रस शास्त्र की मर्यादा का भंग हो जाता । वस्त्र भी मेरे भीतर रहने वाले बल से ले लो-ऐसा ध्वनित होता है । जो हमारी हैं, वे ही पहिले छोड़ी हुई वस्तु को ले लो नहीं तो अनिष्ट हो जाएगा ।

ये बालकों की हास्यरूप माया से व्याप्त हो रही है, इस लिए मेरे वचन को सच्चा नहीं 'मानेगी'-यह समझ कर भगवान् उनसे कहते हैं कि-'सत्यंब्रवाणि'-मैं सत्य कहता हूँ । इस कथन से-स्त्रियों के साथ असत्य व्यवहार निन्दित नहीं होता-इस सिद्धान्त, का * निराकरण कर दिया । आप का कथन झूठ तो नहीं है, किन्तु हमें नग्न-(नगी) देख कर हमारी हँसी करने के लिए ऐसा कह रहे हो ? तुम ऐसी शंका भी मत करो, क्योंकि-'नो नर्म-यह हँसी-भी नहीं है । यद्यपि साधारण दृष्टि से तो हँसी सी ज्ञात होती है, वास्तव में हँसी नहीं है इस में युक्ति देते हैं कि-'यद् यूयं व्रत-कर्शिताः'-तुम व्रत के करने से दुबली पड़ गई हो और व्रत करने वालों और थके हुओं के साथ हँसी करना उचित-नहीं है । नहीं तो वह हँसी वैर उत्पन्न कर देती है ॥१०½॥

---

*स्त्रीषु नर्मविवाहे च नानृतंस्याज्जुगुप्सितम्-भा-८ ।

टिप्पणी—व्याख्या में-'अस्मदीयः कामः (हमारा काम इत्यादि) कथन का तात्पर्य कहते हैं । लोक में कोई बुलाने वाला अपने पास बुलाने में आना और अपने से दूर भेजने में 'जाना' शब्द का उपयोग करता है । इस लोक सिद्ध नियम के अनुसार इस श्लोक में-आकर-'आगत्य' शब्द से ही पास के स्थान का बोध हो जाएगा, तो फिर-'अत्र'-यहाँ-पद का प्रयोग क्यों किया ? और कदाचित् यह कहा जाए कि-'आङ्'-उपसर्ग का तो केवल सम्मुख अर्थ है । इस लिए किसी विशेष स्थान की आकांक्षा को पूरा करने के लिए-'अत्र'-पद का प्रयोग आवश्यक है-तो यह कहना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि-"स्व स्वं वासः प्रगृह्यताम्" "अपने अपने वस्त्र ले लो" इस वाक्य से वस्त्र लेने के लिए ही आगमन (आना) है और वह वस्त्र लाभ अन्य स्थान पर जाने से हो नहीं सकता था । इस लिए वस्त्र लेने योग्य स्थान का बोध स्वतः हो जाने से-'अत्र'-यह पद निरर्थक ही है ? जैसे-'दण्डेन घट कुरु'-दण्ड से घड़ा बनाने के लिए कहने से घड़े की मजबूती का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है ।

और यदि–अत्र–इस का अभिमुख अर्थ है तो अभिमुख पद के अर्थ का विचार करना आवश्यक है। केवल सम्मुख कहना अभिमुख पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि सम्मुख होने में ही अभिमुख अर्थ हो जाता हो तो सामने ठहर कर पीछे पैरों से लौट जाने पर भी–आता है–आना ही कहा जाता आता नहीं किन्तु वह तो सम्मुख होकर भी जा रहा है। इस लिए यहाँ बुलाने वाले के पास के स्थान पर आना ही अभिमुख पद का अर्थ होने से मूल में–'अत्र' पद निरर्थक ही है । लोक में जैसे वहाँ आया–'तत्रागता'–का वहाँ गया के अर्थ में भी प्रयोग होना दिखाई देता है, इसी तरह से 'अत्र'–पद के प्रयोग को सार्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पास आने का अभिप्राय वाला, बुलाने वाला तो अवश्य ही 'आङ्' का प्रयोग करता ही है। इस लिए पास बुलाने के अर्थ में 'आङ्' की शक्ति है । और वहाँ आया–इत्यादि प्रयोग में तो–किसी स्थान पर आया–इस तरह स्थान को बतलाने वाले और उस स्थान पर अपनी उपस्थिति मानने वाले बुलाने वाले का 'अत्र' प्रयोग तुम्हें भी औपचारिक–गौण–ही मानना पड़ेगा। इस शंका का समाधान इस तरह करते है–'उच्यते' साक्षात भगवान् प्रकट न हों तब तक भक्त सब कुछ भावनासे ही करते हैं। और साक्षात् प्रकट हो जाने पर भावना उचित नहीं है, क्योंकि ये दोनों साक्षात् और भावना एक सा नहीं हैं। इस नियम से, अब तक भगवान् प्रकट नहीं हुए थे, अतः इन कुमारिकाओं ने भावना से ही सब कुछ किया था और प्रकट के पीछे होने भी पहले की भावना की स्थिति उचित नहीं है। इस से भावना और उसके कार्य का त्याग करके-'अत्र'-यहाँ प्रकट हुए मेरे पास आकर वस्त्र ले जाओ 'यह' 'अत्र'--पद का तात्पर्य है। अब तक इन की भावना से ही इनका काम सिद्ध हो रहा था, जो मुख्य काम नहीं, किन्तु उसका आभास--कामाभास–मात्र था इस लिए मैं तुम्हे मुख्य काम देता हूँ यद्यपि यह लोक दृष्टि से वस्त्र थे किन्तु वास्तव में, यह काम रूप हैं,–ऐसा कहकर भगवान् ने उन्हे वस्त्र के बहाने से, अपने मुख्य काम का दान किया । इसी लिए 'कामं' 'वासः' दोनों पदों का सामानाधिकरण्य--(समान विभक्ति)–है । अब आगे उनकी काम पूर्ति साक्षात्सम्बन्ध के बिना केवल भावनामात्र से नहीं होगी इसी आशय को लेकर व्याख्या में–'अस्मदीयः कामः' मेरा मुख्य काम'–इत्यादि कहा है। भावना से किया हुआ काम मुख्य काम भाव नहीं होता है।

अन्यथा–इत्यादि–का नहीं तो--ईश्वर होकर भी उनके साथ रस का अनुभव कराने की सामर्थ्य न हो तो रस की मर्यादा का भंग हो जाए यह तात्पर्य है । दी हुई वस्तु को ले लेना–ग्रहण शब्द का अर्थ है । यहाँ प्रकर्षवाची 'प्र' उपसर्ग से यह ध्वनित होता है, कि रस से वशीभूत हुए प्रिय भगवान् के, उनके आधीन हो जाने पर, उनके न दिए हुए वस्त्र को भी रस की अधिकता अथवा बल से लिया जा सकता है । इसी अभिप्राय से व्याख्या में--'वासोऽपि'--इत्यादि कहा है। यहाँ 'स्वं' मेरे वस्त्र को–स्वं--तुम्हारे–अपने हुए की तरह ले लो--यह भी अर्थ है। इस से यह भी सूचित किया "मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं, जिसे मै तुम्हे न दे सकूँ" अबलाः-इस सम्बोधन से यह बतलाया है, कि पहिले निर्बल भी तुम मेरे निकट आकर, उक्त बलवाली हो जाओ।

शंका—उपर्युक्त वाच्य अर्थ में यह बिना कहे ही सिद्ध है कि वे वस्त्र कुमारिकाओं के ही थे फिर मूल के–'स्वं स्वं--कहे हुए पदों की व्यर्थता को दूर करने के लिए व्याख्या में 'अस्मदीयाभिः'–इत्यादि से पक्षान्तर करके

ध्वनित अर्थ को बतलाते हैं, कि अब तक, ये वस्त्र की तरह, काम भाव का भी त्याग करके ही विहार कर रही हैं और 'मुदा'–पद से ज्ञात होता है, कि भावनामात्र से ही पूर्ण मनोरथ वाली थीं । 'अबलाः–सम्बोधन से वे स्वतंत्र नहीं, किन्तु भगवान् के आधीन–भगवदीय (स्वकीय) थीं । इसी से उन्हें, वस्त्र ले लेने का अधिकार, प्राप्त हो चुका था । 'स्वं स्वं –पदों से पूर्वसिद्ध स्वत्व का अनुवाद किया गया है । इस से ऋषिदशा मे प्रार्थना करने का कारणभूत प्रथम काम अथवा इसी समय का पूर्व कालिक काम (की ध्वनी निकलती है) ध्वनित होता है । यही व्याख्या में 'अस्मदीयाभिरेव पूर्व परि ग्रह; कर्तव्यः' जो मेरे है वे हो पूर्ण परिग्रह करें अर्थात् जिसका पहिले त्याग किया, उसी पदार्थ को फिर से ले लो ।

अन्यथा–यदि वे ऐसा मान लें, कि–हमें अब तक जो मिला है, वह हमारे व्रत के बल से मिला है और व्रत के बल से ही और भी प्राप्त कर लेंगी, तो उनमें भगवान् की अधीनता का भाव न रहने से, भगवान् के द्वारा दिए जाने वाले, वस्त्र को ले लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा और व्रतरूपी कर्म का फल थोड़ा होने से, व्रत के फल रूप से मिले हुए वस्त्र, अथवा काम के ग्रहण का परिणाम अनिष्ट होगा । सर्वात्म भाव और शरणागति के द्वारा प्राप्त हुआ रस इष्ट है और इससे भिन्न स्वबल अथवा व्रतबल से मिला हुआ अनिष्ट है । इस से–स्वं–पहले जो तुम्हारा स्वकीय था, उसे अभी त्याग कर–'स्वं'–फिर से वह तुम्हारा हो जावे–इस रीति (प्रकार) मुझ से ले जाओ–यह अर्थ भी ध्वनित होता है । तात्पर्य यह है, कि तुम अत्यधिक 'सर्वतोधिक' भाव वाली बनो । वही भाव भगवान् को इष्ट है, क्योंकि ऐसा नही होगा तो रसाभास हो जाएगा । इसी अभिप्राय को व्याख्या में 'अन्यथानिष्टः स्यात्'–इस वाक्य से कहा है । अथवा 'स्वं स्वं' दो बार कहने से यह भी ज्ञात होता है–कि नायिका के भेद से जिस कुमारिका का जैसा भाव हो वह अपने अपने भाव के अनुकूल ही वस्त्र ले जाय अपने भाव के प्रतिकूल वस्त्र को मत ले यदि ऐसा करोगी तो रस का पोषण नहीं होगा । यही 'अन्यथा'–इत्यादि पदों से कहा है । रसके उच्छलित होकर अत्यन्त बढ जाने पर तो व्यवस्था दूसरी ही हो जाती है इस लिए तब तो कुछ भी असंगत नहीं है, क्योंकि रस की वृद्धि के लिए ही यह सब लीला है । अथवा इस प्रकरण में त्याग कब करना, कब न करना, इत्यादि का निर्णय किया जा रहा है । इस लिए--'अस्मदीयाभिः'--इत्यादि पदों से उस निर्णय की ध्वनि भी निकलती है । यहाँ आशय यह है, कि इस समय उन्हे आगे होने वाली अवस्था विशेष की स्फूर्ति होती, तो अपनपे–(देह)–के अनुसन्धान पूर्वक, तीर पर वस्त्र उतारती, किन्तु कदाचित्, ये प्रत्येक यह चाहे, कि रस की अधिकता से हुई, मेरी यह दशा सदा ही बनी रहे, तो मैं प्रिय भगवान् का उत्तरीय वस्त्र–(उपरना)–को ले लूंगी । ऐसे भाव के–(प्रत्येक गोपीजन के मनमें)--उत्पन्न होने के कारण, वस्त्रों का उन्होने त्याग ही किया, केवल किनारे पर धरे ही नहीं । तब तो त्यागी हुई वस्तु का फिर ले लेना तो अनुचित होगा ? ऐसी शंका का तो यहाँ अवसर ही नहीं है, क्योंकि छोड़ी हुई वस्तु का पुनः ग्रहण करने में निषेध तो मर्यादा मार्ग में हैं और ये केवल धर्मी–(भगवान्)--में ही तत्पर हैं वेद वाक्य के आधीन नहीं है, किन्तु केवल भगवान् के वशी भूत हैं । इस लिए पहिले त्यागी हुई वस्तु को भी यदि भगवान् दे रहे है, तो ले लेना उचित ही है । अन्यथा--न लेने पर तो मर्यादा--मार्गीयता हो जाएगी । इस लिए वापस ले लिए, और बात तो यह है, कि उन्होंने केवल वस्त्रों का त्याग

किया था और भगवान् इन्हें अपने काम रूप वस्त्र दे रहे हैं, इसलिए यहां यह त्याग की हुई वस्तु (वस्त्र) का ग्रहण भी नहीं रहा। आचार्य चरणों ने ऐसा समाधान लोक दृष्टि की अपेक्षा रख कर और त्याग के निर्णय को कहने के लिए किया है।

अथवाः—पूर्वपरिग्रह पद में नञ् का प्रश्लेष योग्य करके अपूर्वपरिग्रह-ऐसा पढ़ो और यह अर्थ करो कि अपूर्व अनन्य पूर्वा अर्थात् जो हमारी है, उन्हें ही वस्त्र देता हूँ वे ही यहां आकर लें।

अथवा—पूर्वपरिग्रह पद में पूर्व शब्द से पहला पुरुष भाव रूप धर्म- ऐसा अर्थ है। यदि पुरुष भाव न हो तो सर्वात्म भाव और शरणागति न हो—ऐसा कार्य—कारणभाव पहिले कहा जा चुका है। इस कारण से पहिले दण्डकारण्य में जो पुरुष थे, वे ही गोकुल में आकर स्त्रियां हुई है-इससे अपना उनके साथ प्रथम सम्बन्ध का स्मरण कराया है। 'अत्रागत्याबलाः–' यहां आकर हे अबलाओ!– इस तरह सम्बोधन करके उनका कर्तव्य बतलाया है। यहा–वासः–पद में योगविभाग से, 'वा' ऐसा छेद है। तब 'सः' यह पूर्वपरामर्शी होने से प्रथम के पुरुष भाव रूप धर्म का बोधक है, अर्थात् उस पहिले जन्म के पुरुष भाव रूप धर्म को ले जाओ–ऐसा भी अर्थ है। और–स्वं स्व–यह अव्यय पद होकर–ध्वनित अर्थ से लिंग आदि की विवक्षा न रहने से–'सः'–छेद पद का विशेषण माना जा सकता है। अथवा, 'स्व स्व' को क्रिया विशेषण मान लो। सर्वात्मभाव से शरण में आई हुई कुमारिकाओं को ही अपने आनन्द का दान श्रृंगाररस की रीति से ही करेंगे। और वह श्रृंगाररस मान, खण्डिता आदि भावों के द्वारा ही पूरा होता है। सर्वात्मभाव की स्फूर्ति होने पर तो मान, खण्डिता आदि भाव निरन्तर हो नहीं सकते। इस लिए ये भाव कभी होंगे, कभी नही होंगे–इस विकल्प से गृहण रूप अर्थ का बोध वा सः– के 'वा' इस प्रथम च्छेद से होता है। 'स' यहां विसर्ग का लोप छान्दस–वैदिक–प्रयोग रूप में नहीं हुआ। इससे मूल में यह अर्थ ध्वनित हुआ समझना चाहिए।

लेख—व्याख्या में "काममयत्वात्' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि–"सोमायवासः–" सोम के लिए वस्त्र–यहां–"क इदं कस्मा अददात् कामः कामाय–" किसने इसको किसके लिए दिया, काम ने काम के लिए दिया–इस श्रुति के अनुसार वस्त्र काम रूप है, आधिदैविकम्–आधिदैविक स्वरूप वस्त्रों में। निरिन्द्रियाः इन्द्रिय–सामर्थ्य के बिना अर्थात् असमर्थ। यदि बहुब्रीहि समास माने तो भी असमर्थ भोग नहीं कर सकते, इस लिए मै बल का दान करूंगा और वह भी अपने ही वास्ते। इससे यह वस्त्र दान अपने–(भगवान् के) लिए ही यह सिद्ध होता है। षष्ठयन्त बहुब्रीहि समास में भी'–न बलं याभ्यः, यन्निमित्तकं बलं मम नास्ति, अहं भवदधीनः, अतो ददामि–"जिनके निमित्त का बल मेरे पास नहीं है, मैं तुम्हारे आधीन हूँ, इस से देता हूँ–ऐसा अर्थ है। इस प्रकार निमित्त में बहुब्रीहि करें तो निमित्त बोधक चतुर्थ्यन्त बहुब्रीहि में भी सिद्ध होता है। माययाच– यहां 'चकार' से परिहास का वचन भी कहा–ऐसा समझना चाहिए १०२॥

योजना—'अत्रागत्याबाला' इस श्लोक की सुबोधिनी में 'बहुब्रीहावपि निमित्ततायां' पंक्ति है, जिसका अन्वय 'निमित्ततायां बहुब्रीहौ' होगा जिसका आशय है कि बहुब्रीहि समास निमित्तता जनाता है। भगवान्

कह दिया, वह कभी भी झूठ नहीं होता है। उदितम्–कहा हुआ। पहिले कहा हुआ 'उदितपूर्व'–पद का अर्थ है। अथवा मैं जगत् कर्ता हूँ। इस लिए मैंने मेरे जैसा जगत् उत्पन्न किया है। मुजसे कभी असत्य वस्तु उत्पन्न नहीं हुई होती। यह "वै" निश्चय है। इसके ये आधिदैविक ऋषि साक्षी हैं, और ये जानते हैं। तुमने आधिदैविक स्वरूप को त्याग दिया है और उन बालकों की माया से मोहित हो रही हो, इसलिए तुम्हें सन्देह हो रहा है। वस्त्रों को लेने आने की विधि बताते है–एकैकशः प्रतीच्छध्वम्'–एक एक आकर, अपने अपने वस्त्र को ले लो, अलग अलग आने पर प्रत्येक का भोग हो सकेगा अथवा यदि तुम मत्सर दोषरहित और परम भक्त हो तो एक साथ इकठ्ठी आकर भी ले लो। इकठ्ठी आने का यह पक्ष ज्यादा अच्छा है।

शंका—भगवान् ऐसी न करने योग्य बात का उपदेश क्यों करते हैं ? उत्तर – सुमध्यमाः। उनका मध्यमस्थान सुन्दर है अर्थात् वे शुद्ध अन्तःकरण वाली हैं और (वात्स्यायनोक्त) सारे बन्धनों की सिद्धि के लिए भगवान् ने उन्हें पूर्ण ज्ञान दृष्टि से देखा (था) है। इस से वे सारी रीति से शोभा रूप हो गई हैं ॥ ११½ ॥

श्लोक—तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥१२½॥

श्लोकार्थ—भगवान् के उस हँसी भरे कार्य को देखकर गोपियाँ प्रेम में डूब गईं और लज्जित हो गईं। फिर वे एक दूसरी की ओर देखकर मुसकराने लगीं और जल से बाहर नहीं निकली ॥१२½॥

सुबोधिनी—एवं भगवतोक्ता अपि नागता इत्याह तस्येति, तस्य निरोधकर्तु र्भगवतस्तद् प्रसिद्धं क्ष्वेलितं दृष्ट्वा, अनेन वाक्यार्थो न विचारितः, किञ्च तस्य तमवसरं दृष्ट्वा तस्य क्ष्वेलितत्वं निश्चित्य रसमध्ये स्वप्रवेशं मत्वा गोप्यो विशेषविचाररहिताः केवलं प्रेम्णा परिप्लुता जाताः, प्रथमतः स्नेहेनैव निमग्नाः, ततो जातान्तःसम्बन्धा बहिःसंवेदने जाते व्रीडिता जाताः, तदा प्रत्यक्षतो भुक्ता इवात्मानं मन्यमानाः संवादार्थमन्योन्यप्रेक्षणं कृतवत्यः, तदान्योन्यसम्बन्धसंवेदनाभावात् कौतुकं तद्रसं विदित्वा जातहासा जाताः, लोकरीत्यापि जातहासाः, तदा न निर्ययुर्न निर्गता जलाद् बहिः ॥१२½॥

व्याख्यार्थः—भगवान् के इस प्रकार कहने पर भी, वे नहीं आई, यह– तस्यतत्'–इस श्लोक से कहते हैं:—उन निरोध करने वाले भगवान् के उस प्रसिद्ध हँसी के कार्य को देख कर, वे नहीं आई। यों हँसी समझकर उन्होंने भगवान् के वाक्य के अर्थ का विचार नहीं किया और उनके उस समय को देख कर, उनके उस हास्य का निश्चय करके और उस हास्य रस में अपने आपको प्रविष्ट हुई

लेख—'मया वा इति' मेरा उत्पन्न किया जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य ही है। यह अर्थ है।

मान कर, वे गोपियाँ–विशेष विचार करने की शक्ति से शून्य–केवल–भगवान् के–प्रेम में डूब गईं। पहले तो स्नेह से ही डूबी थीं, फिर भावना से भगवान् के साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ था और जब बाहर ज्ञान हुवा तब लज्जित हुईं। तब प्रत्यक्ष रीति, से, भगवान् के द्वारा अपने आपको भोगी हुई सी समझ कर, सम्मति के लिए वे एक दूसरी को देखने लगीं। उस समय, परस्पर के सम्बन्ध का ज्ञान न होने से, उसे कौतुक हास्यरस जानकर, हँसने लगीं। लोक रीति से भी उन्हे हँसी आ गई और वे जल से बाहर नहीं आईं ॥ १२½ ॥

श्लोक—एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३½॥

श्लोकार्थ—भगवान् के फिर भी इसी प्रकार कहने पर, परिहास (हँसी) के वचन से मोहित हुई, कण्ठ तक ठंडे जल में डुबी हुई और काँपती हुई वे भगवान् से यों कहने लगीं ॥१३½॥

सुबोधिनी—भगवांस्तासामन्तर्भावं दृष्ट्वा पुनः पूर्ववदेवाह, तदा पुनरेवं ब्रुवति भगवति सति नर्मणा परिहासवचनेनापातत एव प्रतीतेन हास्यरसजनकेनाक्षिप्तचेतस एव भूत्वार्थमविचार्य बहिर्निर्गते भगवान् कोपं करिष्यति निर्लज्जा इति वा ज्ञास्यतीत्याकण्ठमग्ना जाता यथा न कोप्यवयवो दृष्टो भवतीति, ततो लौकिकरसभयाभ्यामाविष्टचित्ता जाता जातबहिःसंवेदनत्वाच्छीतोदे **वेपमाना** जाताः, ततो देहभावस्य दृढत्वे विस्मृतपूर्वभावाः साक्षिभिश्च व्यामोहितास्त भगवन्तं प्रति किञ्चिदब्रुवन् ॥१३½॥

व्याख्यार्थः—उनके हृदय के भाव को देख करके, भगवान् फिर भी पहले की तरह ही बोले, यह–'एवं ब्रुवति'–इस श्लोक से कहते हैं। जब भगवान् ने, फिर भी वैसा ही कहा, तब बाहर से, हँसी के वचन जैसे लगने वाले, हास्यरस को उत्पन्न कर देने वाले भगवान् के वचन से उनका चित्त मोहित हो गया और अर्थ का विचार न करके यों समझीं; कि बाहर निकल जाने पर भगवान् क्रोध करेंगे अथवा हमें निर्लज्ज जानेंगे। इस लिए कण्ठ तक जल में इस प्रकार डूबी रहीं कि जिससे, उनके शरीर का कोई भी भाग नहीं दिखाई दे रहा था। फिर उनका चित्त लौकिक रस तथा भय से भर गया और बाहरी ज्ञान–(देहानुसन्धान)–हो जाने से ठण्डे जल में काँपने लगीं। तदनन्तर उस देह भाव

'लेख'—'अनेन'–हास्य वचन समझने से। वे विचार शक्ति से रहित अर्थात् उनमें विचार शक्ति के न होने से, उन्हे हँसी पन का ही ज्ञान हुआ। हास्य वचन समझने में "किञ्च" से दुसरा कारण कहते है 'अन्योन्य सम्बन्धाभावात्'–एक दूसरे को भगवान् के साथ सम्बन्ध का ज्ञान न होने से, 'कौतुकं', अपना ही भगवान् के साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ, दूसरी का नहीं हुआ–ऐसे समझने से कौतुक उत्पन्न हुआ ॥ १२½ ॥

के दृढ हो जाने पर, अपने प्रथम भाव को भूल गई और साक्षियों से व्यामोहित हो कर यथार्थ ज्ञान के न रहने से, वे भगवान् से कुछ कहने लगीं ।।१३[१] ।।

श्लोक—माऽनयं भो कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ।।१४[१]।।

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण ! आप अनीति न करो । हम आपको जानती हैं । आप नन्द गोप के पुत्र और हमारे प्रिय हो । हे अंग ! सारे व्रज में आपकी कीर्ति फैल रही है । हमारे वस्त्र दे दो । हम ठण्ड के मारे काँप रही है ।।१४[१]।।

सुबोधिनी—तासां वाक्यमाह **माऽनयं भो कृथा** इति, भर्तृत्वान् न नामग्रहणं, भो इतिसम्बोधनं बालकव्यावृत्त्यर्थं च, **नयो** न्यायोन्यायं **मा कार्षीः**, वयमद्यापि कुलस्त्रियः पुरुषान्तरदृष्ट्या न दृष्टाङ्गा अतः साम्प्रतं बालानां दृष्ट्या न द्रष्टव्यास्त्वद्वाक्येन चागन्तव्यं तथा सति यद्यपीश्वरवाक्यकरणे नाधर्मस्तथाप्यन्यायो भवति नीतिलोकविरुद्धमित्यर्थः, नैवं मन्तव्यं मामेता न जानन्तीति तथा सत्यविचार्यकरणादेता एव दुष्टा इति तत्राहुस्त्वा तु **जानीम** इति, परमार्थतो ज्ञानमस्माकं हितकारि न भवतीति तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति किन्तु **नन्दगोपस्य सुत जानीमः**, तेन प्रभुपुत्रत्वमुक्तं, न हि प्रभुपुत्रोनीतिं करोति किञ्चास्माकं **प्रियो भवान्** परमप्रीतिविषयः, अनेन त्वद्दृष्ट्या न द्रष्टव्या **इति** नास्माकमभिप्रायः, अङ्गेतिसम्बोधनं च स्वस्याङ्गतां ज्ञापयति, नन्वस्त्वन्याय इति चेत् तत्राहुर्व्रजश्लाघ्यमिति, **व्रजे** सर्वत्र भवानेव **श्लाघ्य** एव सत्यपकीर्तिः स्यात् केषाञ्चिच् चित्ते स्त्रियो धर्षयतीति केषाञ्चित् त्वयुक्तं प्रदर्शयतीति, अतःकारणात् निर्गमनात् पूर्वमेव **वासांसि** देहि, दयार्थमाहुर्वेपिता इति ।।१४[१]।।

व्याख्यार्थः—'माऽनयं भो कृथा'–इस श्लोक से उनके वाक्य का वर्णन करते हैं । भगवान् भर्ता–(पति)–हैं, इस से नाम नहीं लिया । 'भोः'–इस सम्बोधन से यह बतलाया कि ये इन बालकों को सम्बोधित नहीं करती हैं । नय=न्याय । अनय=अन्याय । अन्याय मत करो । हम अभी तक कुलीनस्त्रियाँ हैं । हमारे अंग का दर्शन अन्य पुरुष की दृष्टि से अब तक नहीं हुआ है । इस लिए इस समय बालकों की दृष्टि हम पर नहीं पड़नी चाहिए । यद्यपि आपके वचन का आदर करके हमें बाहर आजाना चाहिए, क्योंकि भगवान् की आज्ञानुसार कार्य करने में अधर्म नहीं है । तो भी नीति तथा लोक विरूद्ध करने में अन्याय तो होता है । आप यह भी न मान लें, कि ये–कुमारिकाएँ–मुझे

लेख—'साक्षिभिः व्यामोहिता':–साक्षियों के द्वारा व्यामोहित हुई । साक्षी, जो उनके पुरुषभाव रूप थे, जिन्हें कुमारिकाओं की कुछ भी अपेक्षा नहीं थी, जो भगवान् की ही स्वच्छन्दता सम्पादन करके, उनके ही कार्य को सिद्ध करते थे और भगवान् के साथ हास्य करते थे, उन साक्षियों से व्यामोहित हुई । भगवान् और बालक हमें हँसते है–ऐसा समझ कर यथार्थ ज्ञान से रहित हो गई थी ।। १३[१] ।।
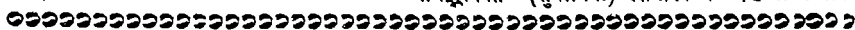
नहीं जानती हैं और विना विचारे आचरण करने पर इन को ही दोष लगेगा, क्योंकि हम आपको साक्षात् भगवान् जानती हैं, किन्तु ऐसा ज्ञान हमारा हितकारक नहीं है। इस लिए 'तु' शब्द से इस पक्ष का निवारण किया है। हम तो आपको नन्द गोप के पुत्र जानती हैं। आप हमारे स्वामी के पुत्र हैं। प्रभु--पुत्र कभी अनीति नहीं करते हैं, फिर आप हमारे अत्यन्त प्रिय हो परम प्रीति के विषय हो। इस कथन से यह सूचित किया कि (एकाकी) आपकी दृष्टि हमारे अंग पर न पड़े--यह हमारा अभिप्राय नहीं है। हे अंग--इस सम्बोधन से यह बतलाती हैं, कि हम स्वयं भगवान् के अंग रूप हैं। अथवा--नन्दगोप का प्यारा पुत्र जानती हैं--ऐसा विशेषणविशेष्य सम्बन्ध है। प्रभु का प्यारा पुत्र अत्यन्त लाड़ला होने से किसी को कुछ नहीं गिनता है और कभी अन्याय भी करना चाहता है। इस लिए आप उसे--अन्याय को-मत करो।

शंका--अन्याय हो तो हो, क्या हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप व्रजश्लाघ्य, है, सारे व्रज में आप ही प्रशंसा के पात्र हो। इस लिए अन्याय करने से, आपकी अपकीर्ति होगी। कई व्यक्तियों के मन में यों आवेगा कि ये स्त्रियों को दबा रहे हैं और कई यों सोचेंगे कि अनुचित बात का प्रदर्शन करा रहे हैं। इस कारण से जल से बाहर निकलने के पहिले ही हमारे वस्त्र दे दो। दया करने के लिए कहती हैं- हम काँप रही हैं ॥ १४३ ॥

श्लोक—श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ॥१५३॥

श्लोकार्थ—हे श्याम सुन्दर ! हम तो आपकी दासी हैं, आपकी आज्ञा का पालन करने को हम तैयार हैं। हे धर्म के जानकर ! हमारे वस्त्र दे दो। यदि नहीं दोगे, तो हम राजा के पास जाकर कहेंगी ॥१५३॥

सुबोधिनी—दण्डमप्यङ्गीकुर्वन्ति **श्यामसुन्दर ते दास्य** इति, सुन्दरेतिसम्बोधनान् न प्रतारणा, अतुल्यत्वात् स्त्रीत्वं परित्यज्य दासीत्वमाहुस्ते न तु त्वत्सम्बन्धिन एतेषां वा, ननु दर्शनाकांक्षा दास्येन निवर्तत इति चेत् तत्राहुः **करवाम तवोदितमिति**, दास्य एव यद् वक्ष्यसि केवलस्तत् करिष्याम इत्यर्थः, अतस्तवेत्येकवचनमिदानीमुक्तं तु बहूनां वाक्यमित्यभिप्रायः, तर्हि दास्योपि भवतेति चेत् तत्राहुर्देहि वासांसीति, दासीत्वसिद्ध्यर्थं वा वासांसि देहि दास्यसिद्ध्यर्थं वा, किञ्च धर्मशास्त्रे "कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीं उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेत्" दिति नग्नाया दर्शननिषेधादत आहुर्धर्मज्ञेति, एवमप्यदानेतिक्लेशे सति निर्गता अप्यनिर्गता वा बहुकालमपि कष्टमनुभूय पश्चाद् **राज्ञे ब्रुवामहे** नन्दं ज्ञापयिष्यामः, नवविधा वा नवपदैरुक्ताः, राजसराजस्या वचनं मानयं मो कृथा इति, राजसतामस्या वा, राजसराजस्या नन्दगोपसुतमिति, प्रियमिति राजससात्त्विक्याः, व्रजश्लाघ्यमिति सात्त्विकराजस्याः, वेपिता इति सात्त्विकसात्त्विक्याः, **श्यामसुन्दर ते दास्य** इति सात्त्विकतामस्याः, **करवाम तवोदितमिति** तामससात्त्विक्याः, **धर्मज्ञेति** तामसराजस्याः, अतिरिक्तं शिष्टाया इति ॥१५३॥

व्याख्यार्थः—'श्यामसुन्दर'-इस श्लोक से दण्ड को भी स्वीकार करती हैं। 'सुन्दर'-इस सम्बोधन से यह बताया कि यह ठगना-(धोका देना)-नहीं है, क्योंकि जो बराबर हो, उसे ही ठगा जाता है और हम तो आपके समान नहीं है। स्त्री भाव को छोड़ कर, दासी भाव को कहती हैं, कि हम आपकी दासी हैं, आपके सम्बन्धियों तथा इन बालकों की दासी नहीं हैं।

शंका-दास्य कहने से क्या दर्शन की इच्छा दूर हो जाती है ? उत्तर देती हैं कि तुम्हारी आज्ञा पालन करने को हम तयार हैं। दास्य भाव में ही, केवल आप जो कुछ कहोगे, उसे हम करेंगी इसी अभिप्राय से मूल में-'तव'-एक वचन का प्रयोग है, और अभी कहा हुआ तो बहुतों का वाक्य है। जब तुम मेरी दासी हो तो मेरे सम्बन्धियों की भी दासी बनो ? इसका उत्तर देती हैं कि हमारे वस्त्र दे दो, अर्थात् हमें आप सब की दासी होना स्वीकार है। अथवा दासी भाव-(भोग्य दासी भाव)-की सिद्धि के लिए वस्त्र दे दो। और धर्म शास्त्र में कहा है कि * कन्यायोनि, पशुक्रीड़ा नग्न स्त्री, खुले स्तन वाली, उन्मत्त, पतित, क्रोधी और सम्भोग करते मनुष्य को नहीं देखे। इस प्रमाण से नंगी स्त्री के देखने का निषेध होने से कहती हैं-हे धर्मज्ञ-(आप धर्म जानते हो)-इस लिए ऐसा करना उचित नहीं है। इतना कहने पर भी जब वस्त्र नहीं दिए तब दुःखी हो कर, बहुत समय तक--बाहर निकलें अथवा न निकलें, ऐसा सोचती रहीं और फिर कष्ट पूर्वक बोलीं कि हम राजा (नन्दरामजी) से कहेंगी--(विज्ञापन करेंगी)।

अथवा यहाँ १४--१५ इन दो श्लोकों में कहे हुए नो पदों के द्वारा गोपीजनों के नो भेदों का वर्णन किया है वह इस प्रकार है:—"माऽनयं भोः कृथाः, [१] नन्द गोप सुतं [२] प्रियं, [३] व्रजश्लाघ्यं, [४] वेपिताः, [५] श्यामसुन्दर ते दास्यः, [६] करवाम तवोदितं [७] धर्मज्ञ, [८] नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे"[९] से क्रम से राजस--राजसी अथवा राजस-तामसी, [१] राजस--राजसी, [२] राजससात्विकी, [३] सात्विक राजसी, [४] सात्विकसात्विकी, [५] सात्विक तामसी, [६] तामस सात्विकी, [७] तामस राजसी, [८] तामसतामसी, [९] के वचन हैं॥ १५३ ॥

---

* कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्री प्रकटस्तनीम्।
उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेत्॥ (धर्मशास्त्र)

टिप्पणी—'माऽनयं भो. कृथाः' इस की व्याख्या में जिन गुणों का वर्णन आया है, वे गुण स्वामिनियों के परस्पर भिन्न भिन्न भावों को बताने के लिए दृष्टान्त रूप से कहे गए हैं, न कि, इस से इन के इन भावों को प्राकृत बताने के अभिप्राय से। यदि कोई हठी वादी--"प्रकृति के * इन गुणों से रहित कोई वस्तु त्रिलोकी में नहीं है"-भगवान् के वचनानुसार इन भावों को भी प्राकृत ही कहे तो इसका उत्तर यह है कि यहां ये भाव ही गुण रूप है, प्राकृत-प्रकृति-के-गुण यहां नहीं हैं। इस से यह समझना चाहिए कि यहाँ यह प्रकृति भी सामान्य प्रकृति नहीं है, किन्तु भिन्न जाति की विशेष-प्रकृति है, और वह रसरूप भगवान् की स्थाई भावरूप ही है। इसीलिए गीता में भगवान् ने-पृथिवी आदि-ऐसा विशेष रूप से कहा है, सामान्य रीति से नहीं कहा है। लीलासृष्टि तो अलौकिक और नित्य है। पृथिवी आदि में उसका स्थान नहीं है, वह तो ब्रह्म के समान है। लीलासृष्टि की अलौकिकता और नित्यता का हमने विद्वन्मण्डन में विस्तार से प्रतिपादन कर दिया है॥ १५३ ॥

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा-गीता १८/४०।

॥ श्रीभगवनुवाच ॥

श्लोक—भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥ १६½॥

श्लोक—भगवान् ने कहा, यदि तुम मेरी दासी हो अथवा मेरा कहा करोगी, तो हे पवित्र मुस्कराहट वाली कुमारियों ! यहां आकर अपने वस्त्र ले जाओ॥ १६½॥

सुबोधिनी—एवं तासां वचनानि श्रुत्वा दैविकमोहिता इति तदवगणय्य स्वेच्छया तथा जातेति लौकिकयुक्त्या ताः प्रबोधयति भवत्य इति, यद्यस्मद्वाक्यानुसारेण न प्रवृत्तिस्तदा स्ववाक्यानुसारेण वा प्रवृत्तिरस्तु भवतीनामपि स्वात्मानं प्रति वाक्यद्वयं 'श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदित' मिति दासीत्वे दास्ये वा न लोकानौचित्यं भावनीयं, तत्रैव चेद् वाक्यं कर्तव्यं तर्ह्यागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु, उभयोरपि वाक्याकरणेऽसत्याभिनिवेशान् नाश एव, दासीत्व ईश्वरसुखमेव कर्तव्यं न तासां काचिन् मर्यादातोऽन्यदर्शनमपि न दोषाय, मनसि निष्ठैषा वाक्यकरणे तु वाङ्निष्ठान्यथा देहनिष्ठा तथा सति नाशः, 'पतिं मे कुर्विति प्रभो पतित्वस्य प्रार्थितत्वात् स्वस्य भार्यात्वमभिमतं पूर्वमित्यधुना यदीत्युक्तम्॥१६½॥

व्याख्यार्थः—उनके इस प्रकार के वचनों को सुन कर और उन्हे आधिदैविक स्वरूप से मोहित होने के कारण भगवान् की अपेक्षा[1] न रख कर अपनी इच्छा से ही इस तरह हुई जान कर भगवान् ने लौकिक युक्ति पूर्वक–'भवत्यः'--श्लोक से उन से कहा। भगवान् उन्हें बोध कराते हैं कि यदि तुम मेरे कहने के अनुसार नहीं चलती हो तो स्वयं तुमने कहा वह तो करो। तुमने अपने लिए 'श्याम-

---

लेख—व्याख्या में 'तर्हि'–जो तुम मेरा कहना करती हो तो। 'दास्योपि'–यहाँ--'मत्सम्बन्धिनाम्'--इस पद का अध्याहार समझ लेना। मेरे सम्बन्धियों की भी दासियाँ होओ--ऐसा अर्थ है। हम ऐसा नहीं करेंगी, हमारे, वस्त्र दे दो–इस कथन से तो भगवान् के कथानुसार करनारूप अर्थ नहीं निकलता। तब इस अरूचि से दूसरा पक्ष करते हैं कि–दासीत्व सिद्धयर्थम्–दासी भाव की सिद्धि के लिए। यदि हम वस्त्र पहिन लेंगी तो आपकी आज्ञा का पालन और दासी भाव दोनों सिद्ध हो जाएगे--यह भाव है।

योजना—'दासीत्वसिद्धयर्थं वा'--भोग्य दासी भाव की सिद्धि के लिए। वस्त्र भूषण आदि से सुसज्जित दासी ही भोग करने लायक होती है यह तो परम अनुग्रह का कार्य है। यदि अभी ऐसा अनुग्रह न करो तो सामान्य अनुग्रह तो करो--इस अभिप्राय को लेकर कहती हैं : कि–दास्य सिद्धयर्थं वा--परिचर्या अथवा सेवा लेने के लिए हमें वस्त्र दे दो, क्योंकि वस्त्र रहित--नग्न--परिचारिकाओं की शोभा नहीं होती है इस लिए वस्त्र का दे देना उचित है–यह भाव है॥ १६½॥

१—परवाह।

सुन्दर ते दास्य:', 'करवाम तवोदितम्'–हम तुम्हारी दासी हैं, आप कहो सो करेंगी–ये दो वाक्य कहें हैं। इन में दासी भाव अथवा दास्य भाव यदि लौकिक रीति से अनुचित प्रतीत होता है, तो उसका विचार नहीं करना चाहिए और यदि अपने वाक्य के अनुसार करना हो, तो यहाँ आकर अपने वस्त्र ले लो। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में कहने के अनुसार नहीं करोगी तो तुम्हारा असत्य बोलने वालों में प्रवेश हो जाएगा और तब तो नाश ही है। दासीभाव में तो केवल स्वामी का सुख ही कर्त्तव्य है। इसके सिवाय दासियों के लिए कोई मर्यादा नहीं है–किसी मर्यादा का पालन आवश्यक नहीं है। इस लिए कोई तुम्हारे नग्न शरीर को देख भी ले तो कोई दोष नहीं हैं। यह मन की निष्ठा–(स्थिरता)-और अपने कहे अनुसार करने में वाणी की निष्ठा (सत्यता) है। इन दोनों के अनुसार नहीं तो देह निष्ठा होने पर, नाश हो जाएगा। "पतिं मे" कुरु--इस प्रार्थना से यह सूचित किया कि भगवान् में पति भाव और अपने में पत्नी भाव पहिले सम्मत है। इसी से अभी भगवान् ने--यदि--मेरी दासी हो तो मेरा कहा करो–ऐसा कहा है ।। १६३ ।।

श्लोक—ततो जलाशयात् सर्वा दारिका: शीतवेपिता: ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ।।१७१।।

श्लोकार्थ—तब तो असह्य शीत से पीड़ित और ठण्ड के मारे काँप रही सब कुमारिकायें हाथों से गुप्त अंग को ढक कर जलाशय से बाहर निकली ।।१७१।।

सुबोधिनी—ईश्वरभावेन भगवतोक्तमिति वाक्यार्था-परिज्ञानेपि समागता इत्याह तत इति, जलानामाशयाज् **जडानामाशयाज्** जलानामभिप्रायो न गन्तव्यमित्यज्ञानां मर्यादायां यतो शुद्धिसम्भावना तदपेक्षया भगवद्वाक्यनिष्ठा श्रेष्ठा:. **सर्वा** इतीश्वरवाक्येन सर्वगुणतिरोभाव:, **दारिका** इति शुको बालत्वं ज्ञापयितुं, अन्यथा सदसो राज्ञश्च भावोन्यथा भवेदिति, नन्वत्यन्ततामस्य: कथं वाक्यनिष्ठा जातास्तत्राह **शीतवेपिता** इति, बहि:कम्पोन्त:शीतेन कर्शिताश्च स्वभावाधीना एवोत्थिता:, अतो जातिर्वर्णिता परीक्षार्थं प्रमेयं निरूप्यमिति, अकथने शुकस्य मूर्धा विपतेत् ।।१७१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के इस ईश्वर भाव से कहे गए वाक्य के अर्थ को न समझकर भी, वे आ गई, यह 'तत:'–इत्यादि श्लोक से कहते हैं। जल के स्थान से-जल जड़- के स्थान से वे बाहर आई। जल शब्द का अभिप्राय यह है कि नहीं जाना चाहिए, क्योंकि अज्ञानियों की तो मर्यादा का पालन करने में ही शुद्धि की सम्भावना है। (पाठ भेद-क्योंकि अज्ञानी जन मर्यादा में रहकर अशुद्ध हो सकते हैं)। उस-मर्यादा-की अपेक्षा भगवान् के वाक्य में निष्ठा रखना अधिक श्रेष्ठ है। 'सर्वा:'–सब शब्द का तात्पर्य यह है, कि भगवान् के वाक्य से उनमें रहने वाले भिन्न-भिन्न सब गुणों का तिरोभाव हो गया था। मूल में दारिका शब्द का प्रयोग उनके बाल भाव को बतलाता है। यदि श्री शुकदेवजी 'दारिका' शब्द नहीं कहते तो सभा और राजा परीक्षित का उन पर दुष्ट भाव हो जाता। प्रश्न होता है, कि वे तो अत्यन्त तामसी-तमोगुण वाली-थीं, उनकी भगवान् के वचन पर निष्ठा कैसे हुई ? उत्तर में कहते हैं कि—'शीतवेपिता:'—वे ठण्ड से काँप रही थीं। इसलिए बाहर काँपने और भीतर ठण्ड से

दुःखी होकर स्वभाव के वशीभूत ही हुई, वे बाहर निकली। इससे परीक्षा के लिए उनकी जाति-स्वरूप-का वर्णन किया है। नहीं तो ब्रह्म को लौकिक मानने से शुकदेवजी का मस्तक गिर जाता ॥१७३॥

टिप्पणी—ततो जलाशयात्-की व्याख्या में। मूल में 'ततः' पद का केवल आनन्तर्य अर्थ है, न कि सुन कर समझ पड़ने पर आई। इसी लिए व्याख्या में–वाक्यार्थापरिज्ञानेपि–वाक्यार्थ समझ में न आने पर भी वे बाहर आ गईं। वह–ईश्वर–स्वामी–के वाक्यानुसार ही करना चाहिए–इत्यादि से कहा गया है। 'ईश्वर वाक्येन'–इत्यादि का अर्थ यह है कि गत श्लोक की व्याख्या में कहे हुए राजसराजस आदि भाव वाले गुणों के कारण उन्होंने केवल वैसे ही वचन कहे थे, आई नहीं थीं। तब भगवान् ने–'तुम दासी हो इस लिए आओ'–ऐसा न कह कर–यदि तुम दासी हो तो आजाओ–ऐसा कहा है। इस से यह बताया, कि न आने पर, तुम्हारा दासी भाव भी सिद्ध नहीं होगा। यह तो बहुत ही अनिष्ट होता, ऐसा भय उत्पन्न हुआ। उत्पन्न हुए भय के द्वारा–ही उनके सारे भाव तिरोहित हो गए। भगवान् के वाक्य के द्वारा उन भावों के तिरोभूत होने से वे सब एक रूप हो कर एक ही रूप से आ गईं।

अत्यन्त तामसी कहने का तात्पर्य यह है, कि भगवान् चाहे कितना ही कहे, परन्तु हम तो पराए पुरुष होने से, इन बालकों को अपने नग्न शरीर के दर्शन नहीं कराएंगी उनके इस आग्रह को ही 'तमः' शब्द से कहा है। बालक तो कुमारिकाओं के ही धर्म रूप–आधिदैविक स्वरूप थे, कोई पर पुरुष नही थे, किन्तु इस का ज्ञान न होने के कारण वे नहीं आईं अर्थात् ऐसा आग्रह किया।

ऐसा आग्रह होने पर, भगवान् का वचन मानकर, अपना बाहर निकलना उचित नही हो सकता–ऐसा समझने वाली वे फिर बाहर क्यों आईं? इस शंका के उत्तर में यह आशय है, कि उन्हें अपने पास बुलाना है और सब रीति से, परीक्षा करने के लिए, बालकों का–आधिदैविक–स्वरूप नहीं बताना है। इन दोनों कार्य को करने के लिए लीला में उपयोगी और भगवान् के मुख्य सेवक आधिदैविक काल ने अपने शीत धर्म को, भीतर और बाहर प्रकट कर दिया, जिस से, ये अधिक समय तक, जल में न रह सकीं। इससे पहले, जल विहार में तो इन्हें ठण्ड नहीं लगी थी और अब शीत धर्म के प्रकट होने से, जल में अधिक ठहर न सकीं। 'शितकर्शिताः'-ठण्ड से दुःखी हो जाने के कारण, पूर्वोक्त आग्रह का भी तिरोभाव होने से बाहर आईं। इसी आशय को व्याख्या में–स्वभावाधीना एव–पदों से कहा है।

शंका–ऐसा मानने पर तो, उनकी कालाधीनता हो जाएगी। वे भगवान् के आधीन न रहेंगीं? उत्तर-यदि वे भगवान् की आज्ञा से नहीं आई होती तो कालाधीनता हो जाती। ऐसा तो नहीं हुआ। वे तो प्रथम अपने-स्वयं-कहे हुए, फिर भगवान् के द्वारा अनुवाद किए हुए दासी भाव और आज्ञा पालन रूप धर्मों की सिद्धि के लिए आई थीं, क्योंकि भगवान् ने वैसा ही कहा है और 'यदि' पद से अभी न आने पर पूर्व कथित दोनों धर्मों का सिद्ध

श्लोक—भगवानाहृ ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥१८३॥

श्लोकार्थ—भगवान् उन्हें सब भाँति दोष रहित देखकर, उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न हो गए और वृक्ष की शाखा पर वस्त्रों को रख कर प्रसन्नता पूर्वक मुस्कराते हुए यों कहने लगे ॥१८३॥

न होना बतलाया है। इससे आगे भी भगवान् जो कहें, वही हमें करना चाहिए—इस विचार से ही और अभी भी, भगवान् का कथन ही किया। इससे भगवान् के वचनानुसार आने से, पूर्वोक्त शंका नहीं टिकती है। शीत का कथन उनके आग्रह की दृढ़ता को बतलाने के लिए किया है। अर्थात् अत्यन्त ठण्ड से काँपती हुई भी, आग्रह वश पहले बाहर नहीं आई। फिर भगवान् के ऐसे वाक्य सुन कर, तो आ ही गई। यदि-इत्यादि 'भगवान्' पद को सुन कर भगवान् के आग्रह को अपने आग्रह से विपरीत जान कर और अपने अनिष्ट को जानकर, जल से बाहर निकलीं, तो भी अपने गुह्य (गुप्त) अंग को ढक कर ही निकलीं। तात्पर्य यह है, कि उन्होंने अपने कुछ आग्रह का त्याग तो नहीं किया, इसी अभिप्राय से व्याख्या में,--"स्वभावाधीना एव"-श्री आचार्य चरणों ने उन्हे स्वभाव के आधीन कहा है। भगवान् की आज्ञानुसार कार्य न करने पर, काल के धर्म बाधा करते हैं। इस बात को बतलाने के लिए ठण्ड का लगना-(बाधा करना)--कहा। इस से, बालकों को परपुरुष, अंग न दिखाने की शंका के समाधान में कहा हुआ, हमारा आशय पूर्णतया निर्दोष ही है।

लेख-- परीक्षार्थम्-सब प्रकार से विचार करने के लिए। 'प्रमेयं निरूप्यम्'-स्वरूप का निरूपण करना चाहिए। इस कारण से योनि को ढक कर,--इत्यादि से जाति का वर्णन किया। शका--ऐसा होने पर भी, स्वभाव की आधीनता किसी दूसरी तरह से करना चाहिए था। सभा में ऐसे शब्दों का प्रयोग उचित नहीं था? समाधान-यदि लीलास्थ भगवद्रूप सब जीवों को लौकिक मान कर संकोचवश सभा में उनके स्वरूप का कथन न होता तो, ब्रह्म को लौकिक मानने से शाकल्य के मस्तक पतन की तरह, शुकदेवजी का भी मस्तक पतन हो जाता।

योजना—व्याख्या में 'अकथने शुकस्य इति'—यदि शुकदेवजी उनमें लौकिक भाव को मान कर, रहस्य का वर्णन नहीं करते, तो उनके मस्तक का पतन सम्भव था। उन्होंने तो उन्हें साक्षात् पुरुषोत्तम स्वरूप समझ कर, पुरुषोत्तम के सभी अंगों के वर्णन में जैसे कोई दोष नहीं है, उसी तरह इनके गूढ अंग का वर्णन किया है—इसलिए इस वर्णन में कोई दोष नहीं है। वास्तव में तो यह साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं। भृगुजी से ब्रह्माजी के *हे पुत्र ! व्रज सुन्दरियाँ स्त्रियाँ नहीं हैं, वे तो श्रुतियाँ हैं-इस कथन का अनुसन्धान रख कर श्री शुकदेवजी ने रहस्य वर्णन किया है। यदि ऐसा वर्णन नहीं करते तो तेरा† मस्तक गिर जाएगा श्रुति के अनुसार उनका मस्तक गिर जाता ॥१७३॥

---

* न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ता· श्रुतयः किल-ब्रह्मवै०

† मुर्धाते विपतिष्यति श्रु०

सुबोधिनी—ततो भगवाना सर्वत ग्राह ता न केनाप्यशेन दुष्टा वीक्ष्य, ग्रभिविधौ सन्धिरार्षः, ग्रन्यार्थ संगृहीता इतीषद्धता वा ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्य-तस्त्याज्या इति मत्वापि शुद्धभावेन तासां शुद्धान्तःकरणेन प्रसादितो जातः, ततः पुनर्ज्ञानशक्तिमाविर्भाव्य वृक्षस्य स्कन्धे वासांसि स्थापयित्वा तासामावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वाल्पमोह कृत्वा स्मित-सहितोऽन्यथा मुक्ता एव भविष्यन्तीति प्रकर्षेणोवाच यथा वाक्यमङ्गीकुर्युः ॥१८½॥

व्याख्यार्थ—भगवान् उन्हें सब प्रकार से निर्दुष्ट (निर्दोष) देखकर, अथवा बालकों की दृष्टि को न पड़ने देने के लिए कुछ संग्रह करने के कारण कुछ दोष वाली देखकर अपनी ज्ञान दृष्टि सब स्थानों में व्याप्त न होने देने से, उन पर क्रुद्ध तो हुए, और उन्हें त्याज्य मानकर भी उनके शुद्ध भाव से, शुद्ध अन्तःकरण से, प्रसन्न हो गए। और फिर ज्ञान शक्ति को प्रकट करके, वृक्ष के स्कन्ध (डाली) पर वस्त्रों को रख कर, उनके आवरणों को वैष्णव बना, उनके कारण को सुनकर और थोड़ा सा मोह करके मन्द हास्य पूर्वक इस तरह बोले, कि वे उनके वचन स्वीकार कर लें। यदि भगवान् मन्द मुस्कराहट पूर्वक नहीं बोलते तो वे मुक्त हो जातीं ॥१८½॥

टिप्पणी—व्याख्या में 'ज्ञान दृष्टि सर्वत्र न व्याप्ता'–ज्ञान दृष्टि सब ठौर व्याप्त नहीं हुई–इत्यादि का तात्पर्य यह है कि भगवान् उन के सारे अंगों को देखना प्रचुरता से चाहते थे। भगवान् की इच्छा के रुक जाने से क्रोध हो आया। इससे,–'अतस्त्याज्याः'–त्याग देने का भाव उत्पन्न हुआ। बीच में पसन्द हो जाने के कथन से, यह अर्थ होता है। भगवान् जब हाथ के व्यवधान[1] को भी नहीं सहन कर सकते हैं तो फिर वस्त्र क्यों दिए ? इस शंका को दूर करने के लिए वृक्ष के स्कन्ध[2]–पर वस्त्रों को रखने का तात्पर्य–'तासामावरणानि'-(उनके आवरणों[3] को) इत्यादि से कहते हैं। इसका आशय यह है कि पहले भगवान् के साथ अन्तराय होने से दूसरे स्थान पर धरे थे फिर जैसे वैष्णव का संग भगवान् की प्राप्ति कराने वाला है, वैसे ही, इन वस्त्रों को वृक्ष[4] के स्कन्ध पर रखने से वैष्णव धर्म युक्त किया, क्योंकि वस्त्रों के–भगवान् को प्राप्त करा देना रूप–परोपकार को भगवान् अभी हाल ही में कहेंगे। वस्त्र रस के उद्बोधक होने के कारण, भगवान् की प्राप्ति कराने वाले हैं। इसी लिए ऐसा विशेष स्थान–वैष्णव वृक्ष के स्कन्ध–पर रखना लक्षित होता है। उस समय भगवान् के विशेष प्रसन्न होने के कारण की अपेक्षा में कहते हैं, कि–'तासां निदानं श्रुत्वा'–(उनके निदान[5] को सुनकर) आप वयस्यसहित हो, आपके कहने से हमें आना चाहिए या नहीं आना चाहिए और हमारा आना उचित है या अनुचित है इत्यादि हम जानती हैं, हम तो केवल–एक मात्र–आप के आधीन हैं। हमारे क्या करने पर आप क्या मानते हैं–इस तरह शंकित हृदय वाली हम कुमारिकाओं की यथोचित रक्षा आप ही करें–इत्यादि रूप वचन सुनकर और उनके अनन्य भाव को जानकर भगवान् अति प्रसन्न हो गए।

१—अन्तराय। २—शाखा। ३—वस्त्रों। ४—वैष्णव। ५—कथन।

श्लोक—यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—व्रत धारण करने वाली तुमने निपट नंगी होकर जल के भीतर घुस कर स्नान किया है । तुम्हारा यह कृत्य[1] जल के देवता वरुण का अपमान जनक है । इसलिए इस पाप को दूर करने के लिए मस्तक पर हाथ जोड़ कर प्रणाम करो और प्रत्येक अपना वस्त्र ले जाओ ॥१६॥

अथवा–'निदानं-अपने स्वरूप को । पद्मिनी स्त्रियों की नीवी (अधोवस्त्र[2], की ग्रन्थि[3]) में पद्म की सुगन्ध होती है । तो जब वृक्ष के स्कन्ध पर वस्त्रों को धरा तब भंवरों का झुण्ड आकर गुञ्जार करने लगा । उनके गुञ्जार का सुनना ही निदान-श्रवण है । इससे उन्हें अपने अनुकूल उत्तम नायिका जानकर रसभाव के उद्बोध होने के कारण विशेष प्रसन्न हुए ।

लेख—अन्यार्थ-इत्यादि । बालकों की दृष्टि न पड़ने देने के लिए इतना संग्रह किया हुआ जान कर अपनी ज्ञान दृष्टि सब स्थान पर व्याप्त न होने से उन्हें कुछ दोष युक्त माना । 'ततः पुनः'-और फिर पहले देखते हुए भी भगवान् गुप्त अंग छिपाया हुआ देख कर नहीं देख रहे से हो गए किन्तु सुन्दर मध्य भाग को देख कर प्रसन्न हो गए और प्रसन्नता पूर्वक फिर देखने लग गए ।

योजना—आ-सब प्रकार से । 'अहताः-किसी भी अंश से दुष्ट नहीं । यहाँ (आ)* अभिविधि (उसको भी साथ लेकर) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस लिए-'आ—अहताः'-में सन्धि-आङ् के ङित् के कारण-महा भाष्यकार ऋषि पतञ्जलि ने सिद्ध की है इस से-आर्ष है, क्योंकि ङित् होने के कारण प्रकृति भाव न होने से दीर्घ संधि सुखेन हो गई । 'ज्ञान दृष्टि : सर्वत्र न व्याप्ता'-व्याख्या के इन पदों का अर्थ टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया है और-'तदावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात्तासां निदानं श्रुत्वा'-(उनके वस्त्रों को वैष्णव करके फिर उनके कथन को सुन कर) इत्यादि व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणीजी में विस्तारपूर्वक कह दिया है ॥१८॥

---

* विना तेनेति मर्यादा सहतेनेत्यभिविधिः-कोषः ।

१—काम २—नीचे का वस्त्र ३—गांठ

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमाह यूयमिति, "अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठन्त्यतो नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यान् न निष्ठीवेन् न विवसनः स्नायाद् गुह्यो वा एषोग्निरेतस्याग्नेग्नतिदाहाये" तिश्रुतेर्विवस्त्रस्नाने तत्र स्थिताग्नेर्देवताभ्यो वा व्रतादिसर्वनाशो भवेदिति तत् प्रतिविधातव्यं, भगवान् हि तत्कर्मसिद्धये समागत इति स्वतन्त्रतया फलदानात् कर्मसाद्गुण्यार्थमाह यतो यूयं धृतव्रतास्तथाभूता अपि विवस्त्रा यदपो व्यवगाहत विशेषेण विलोडितवत्यः क्षोभमुत्पादितवत्यः क्रीडया वस्त्राभावेन च दृष्टादृष्टाभ्यामेतदालोडनं तत् प्रसिद्धमेव देवहेलनं, उ इति निश्चये, एवं दोषं निरूप्य प्रायश्चित्तं निरूपयत्यञ्जलिं बद्धा मूर्ध्नि स्थापयित्वांहसोपनुत्तये पापनाशाय नम कृत्वा वो युष्माकमेतद् वसनं प्रगृह्यतामिति या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता सापराधनिवृत्तये योजनीया तत्रापि ज्ञानसहिता, एतावतैव देवता तुष्यति क्रियामूलस्यापि ज्ञानशक्तिव्याप्तेः, एषैव प्रोघरूपा शक्तिरिति तद्विदः, सा चेज् ज्ञानेन व्याप्ता फलं सिद्धं कृतार्थोपि भवति ॥१६३॥

व्याख्यार्थ—'यूयं' इत्यादि श्लोक से भगवान् का वाक्य कहते हैं–जल[‡] में अग्नि और देवता निवास करते हैं। इससे जल में मूत्र और शौच न करे, न थूकें, नग्न होकर स्नान न करे। यह ढकी आग है जो जलाती नही है–इत्यादि श्रुति के अनुसार नग्न स्नान करने से जल के भीतर रहने वाली अग्नि और देवता व्रत आदि सारे शुभ कर्मो का नाश कर देते हैं। इसलिए इसका प्रायश्चित[1]-करना चाहिए। भगवान् उस कर्म की सिद्धि के लिए आए थे। इसलिए स्वतन्त्रता पूर्वक फल देनार्थ उसकी पवित्रता के लिए कहने लगे-तुमने व्रत धारण कर रक्खा है, फिर नग्न होकर जल में स्नान किया है स्नान ही नहीं, किन्तु क्रीड़ा करके जल में विशेष क्षोभ[2] किया है। क्रीड़ा और वस्त्र के अभाव से दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार से जल का आलोडन–क्षोभ–किया है। यह देव की प्रसिद्ध अवहेलना[3] है। 'उ' अव्यय का निश्चय अर्थ है।

इस प्रकार दोष का निरूपण करके उसके प्रायश्चित का निरूपण करते हैं–अञ्जलि बान्ध कर–हाथ जोड़ कर माथे पर रख कर पाप का नाश करने के लिए नमस्कार करके तुम्हारे इस वस्त्र को ले जाओ। जो क्रिया शक्ति–हाथ, अभिमान की रक्षा के लिए स्थापित की थी, उस क्रिया शक्ति–हाथ को, अपराध को नाश करने के लिए जोड़ो और उसको भी ज्ञान शक्ति (मस्तक) सहित जोड़ो। ऐसा करने से ही देवता प्रसन्न होंगे, क्योंकि दोनो हाथों का (क्रिया शक्ति का) मूल (मस्तक) की ज्ञानशक्ति से व्याप्त होगा। शास्त्र को जानने वाले कहते हैं कि यह ही प्रवाहरूप क्रियाशक्ति है, वह यदि ज्ञान से व्याप्त हो, तो फल सिद्ध हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है ॥१६३॥

[‡] अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठान्त्यतोनाप्सु विवसनः स्नायात्-श्रुतिः

१—उपाय। २—उछालनादि। ३—अपमान, लापरवाही।

श्लोक—इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात् कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ।।२०½।।

श्लोकार्थ—अच्युत भगवान् के द्वारा इस प्रकार कही गई उन व्रज की अबलाओं ने नग्न स्नान को व्रत भंग का करने वाला मानकर भगवान् की इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्रत तथा सारे सत्कर्मों के साक्षात् फलरूप भगवान् को नमस्कार किया, क्योंकि नमस्कार करने से सब पापों का नाश हो जाता है ।।२०½।।

लेख—'यूयम्'–इत्यादि श्लोक की व्याख्या में–'तत्रापि ज्ञान सहिता–का अर्थ यह है, कि उस क्रियाशक्ति का योग, मेरी ज्ञान शक्ति के साथ करो । हाथों को शिर के ऊपर तक लाने से, ऐसा हो जाता है–यह भाव है । "एषैव प्रोधरूपा शक्तिः"–यह क्रिया शक्ति ही प्रकृष्ट ओघप्रवाहरूप प्रावाहिक शक्ति है । 'तद्विदः'–शास्त्र से सिद्ध है कि कर्मों का बहुत अधिक फल होता है । ज्ञान शक्ति केवल ब्रह्मरूपी फल को देने वाली है । ऐसी ज्ञान शक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है–यह बतलाने के लिए 'एव' पद का प्रयोग किया है । वह शक्ति यदि ज्ञान से व्याप्त हो, तो मोक्षरूपी मुख्य फल की सिद्धि होती है । क्योंकि ज्ञानी को उस शक्ति की अभिव्यक्ति[1] होने पर क्रम से मोक्ष सिद्ध होता है–ऐसा सिद्धान्त है । इस पर भी वह प्रावाहिक अभिमान की रक्षा करने वाली क्रियाशक्ति यदि मेरी शक्ति से व्याप्त हो जाय तो प्रावाहिकपन का त्याग हो जाता है और अनन्य भाव सिद्ध हो जाता है । तब भगवत्सम्बन्धरूपी फल सिद्ध हो जाता है कर्म भी उत्तम गुण वाला हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है (कृत–साध लिया है व्रत रूपी अर्थ जिसने–ऐसा हो जाता है) । सामान्य रीति से कहेजाने के अभिप्राय से पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया है ।

योजना—"या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता"–जो क्रिया शक्ति अभिमान की रक्षा के लिए स्थापन की–इत्यादि–हाथ क्रिया शक्ति रूप है । लज्जा की रक्षा के लिए स्थापित किए हुए दोनों हाथों को मस्तक के ऊपर रख कर, अपराध की निवृति कराना उचित है । मस्तक के ऊपर हाथ जोड़ने से, मेरी ज्ञान शक्ति के साथ उनका योग हो जाता है । 'क्रियामूलस्यापी–हाथों को मस्तक पर रखने से, क्रियामूल–भुजाओं का मूल भी, भगवान् की ज्ञानशक्ति से व्याप्त हो जाएगा । तब अच्छी प्रकार निरीक्षण करने से, भगवान् में विशेष भाव जागृत होगा । 'एषैव'–(एषा)–लज्जा की रक्षा के लिए, धरी हुई हाथ रूपी क्रियाशक्ति–प्रकृष्ठ ओघ (प्रवाहरूप) भगवान् की इच्छा के विरुद्ध करने से–प्रवाहसम्बन्धिनी होकर अहंता ममता रूप संसार को ही उत्पन्न करेगी–यह अर्थ है । वह क्रियाशक्ति भगवान् की सेवा में लगा दी जानी चाहिए–इस प्रकार के ज्ञान से युक्त हो जाय, तो वह प्रवाह की गति को दूर करके भगवत्सम्बन्ध से अलौकिक होकर, पुष्टिमार्ग के फल को सिद्ध कर देती है ।।१९½।।

१—प्राप्ति ।

सुबोधिनी—ताः पुनर्भगवदभिप्रायमपि ज्ञात्वोक्ताद्प्यधिकं कृतवत्य इत्याहेत्यच्युतेनाभिहिता इति, केनाप्यशेन च्युतिरहितेन पूर्णशक्तिमताभिहिता उक्ता वचनद्वारा प्राप्तज्ञाना व्रजाबलाः स्वभावतश्चातुर्यादिदोषरहिता विवस्त्राप्लवन व्रतच्युतिं मत्वा हृदयेपि संवादं प्राप्य तत्पूर्तिकामा न तु देवतापराधनिवृत्तिमात्रपरास्तादृशेर्थे तस्य वा व्रतस्याशेषकर्मणां च साक्षात् कृतं कर्मभिरयं साक्षात् फलरूपेण सम्पादितः, फले जाते साधनन्यूनता व्यर्थेति फलदृष्टयस्तादृशं भगवन्त नेमुर्भगवते नमस्कारं कृतवत्यः, साष्टाङ्गप्रणाममिति केचित्, तथा करणे हेतुर्यतोवद्यमृगवद्यमार्जनं यतो नमस्काराद् भवति, देवतापराधे शान्तेपि कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात् फलं न भविष्यतीत्युभयमेकेन यथा भवेत् तथा कृतवत्यः, यद्वा तस्य भगवतः पूर्तिकामा इत्यर्थः, न च व्रतच्युतिमितिपूर्वोक्तत्वेन तत्परामर्श एव तत्पदेनाकारीति वाच्यं, व्रततदन्याशेषकर्मफलत्वेन भगवान्निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च 'दृढं प्रलब्धा' इत्याद्यसूयाहेतूक्त्यनुपपत्तिः, व्रतपूर्तिपक्षे तदर्थमेव सर्वमुक्तं भगवता कारितं चेत्यसूयाहेतुत्वाभावात् तेषा, न हि स्वहितवाचा कृत्या वा तदारोपः सम्भवति प्रत्युत तद्वैपरीत्यमिति, ननु व्रतच्युतिं मत्वा कथं तदुपेक्षां कृत्वा प्रियमेव नेमुः ? तत्राह तदशेषेति पूर्ववत्, न चैवं व्रतच्युतिं मत्वेतिकथनवैयर्थ्यमिति वाच्यं, तत्कालीनभावप्रौढिनिरूपणार्थत्वात्, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरित्युक्तमेव ॥२०½॥

व्याख्यार्थ—उन कुमारिकाओं ने भगवान् के अभिप्राय को जान कर उनके कथन से भी और अधिक किया-यह 'इत्यच्युतेन-श्लोक से कहते हैं। अच्युत (किसी भी अंश से च्युति[1] रहित) (अस्खलित) पूर्ण शक्तिमान् भगवान् के द्वारा इस प्रकार कही गई-वचन द्वारा ज्ञान को प्राप्त हुई और स्वभाव से चतुराई, छल आदि दोषों से रहित वे व्रज की अबलाएँ नग्न स्नान को व्रत के भंग का कारण मान और अपने हृदय में भी इस बात को सत्य मान कर, इसकी पूर्ति अथवा व्रत को पूर्ण करने वाले भगवान् की इच्छा से भगवान् को नमस्कार करने लगीं। केवल देवता के अपराध की निवृत्ति के लिए नहीं, किन्तु इस व्रत तथा सारे कर्मों का साक्षात्कार रूप (साक्षात् फल रूप) भगवान् को नमस्कार किया। फल की प्राप्ति हो जाने पर, साधन की कमी व्यर्थ है, अर्थात् भगवान् को पति कराने में, प्रतिबन्धक कुछ नहीं रहा। इस प्रकार फल की दृष्टि वाली, उन्होंने फल को सम्पादन कराने वाले फलरूप भगवान् को नमस्कार किया। कोई टीकाकार नमस्कार का अर्थ साष्टांग प्रणाम करते हैं। वह भी उचित ही है, क्योंकि नमस्कार करने से पापों का नाश होता है। देवता का अपराध शान्त[2] हो जाने पर भी जल क्रीड़ा करने से, कर्म अपूर्ण हो जाएगा तो फल की प्राप्ति नहीं होगी। इस लिए दोनों एक के ही करने से निवृत्त हो जाए वैसा किया (नमस्कार किया) अथवा उन भगवान् की इच्छा को पूरी कराने की इच्छा से प्रणाम किया।

पहिले व्रत भंग का भय कहा है, इस लिए-'तत्' पद उस व्रत भंग का सूचक है-ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करेंगे तो व्रत और सारे कर्मों का-भगवान् को-फलरूप कहना ही अर्थ हो जाएगा और-दृढं प्रलब्धाः !-इत्यादि असूया आदि के कारणों का कहना अनुचित हो जाएगा। व्रत के पूर्ण होने के पक्ष में-उसके लिए ही कहा हुआ सब भगवान् ने करा लिया-इस लिए असूया[3] आदि का कुछ कारण रहा ही नहीं। उनके हित के वचन अथवा हित की कृति से असूया का आरोप असम्भव है, किन्तु उससे विपरीत भाव की ही सम्भावना है।

१—भंग, गिरा हुआ, टूटा हुआ। २—दूर। ३—निन्दा, द्वेष, क्रोध।

शंका—व्रत की च्युति मान कर फिर उन्होंने उसकी उपेक्षा[1] करके प्रिय भगवान् को ही नमस्कार क्यों किया ? इस का उत्तर यह है कि व्रत आदि सारे शुभ कर्मों का फल भगवान् हैं, इस लिए उन्हें ही नमस्कार किया। इस से व्रत च्युति के कथन की व्यर्थता की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उस समय के भावों की उत्कृष्टता[2] का यह निरूपण है। नहीं तो-'अवद्यमृग्'-'पापों का नाशक' विशेषण व्यर्थ हो जायगा।।२०३॥

श्लोक—तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ॥२१३॥

श्लोकार्थ—भगवान् देवकीनन्दन ने उन कुमारिकाओं को अपनी आज्ञानुसार प्रणाम करती हुई देखकर और उससे सन्तुष्ट होकर, उन्हें (अपूर्व) वस्त्रों का दान किया ॥२१३॥

सुबोधिनी—तदा भगवान् सन्तुष्टः प्रादादित्याह **तास्तथेति**, यदि चातुर्येणावनताः स्युस्तदा सन्तुष्ट एव भवेत् परं **तथावनता** न तु चातुर्यार्थमतस्तथा **दृष्ट्वा** तथा ज्ञाने हेतुर्भगवानिति, प्रसादे हेतुर्देवकीसुत इति, तदा **वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्**, चतुर्थ्या सम्प्रदानादपूर्वदान सूचितं, [अत एवार्थविशेषेपि 'दाञ्दाणो'रत्र दाण एव प्रयोगः कृतो यतोस्य पूर्वनिवृत्तिरपूर्वंयच्छादेशेनापूर्वरूपवत्त्वमेवमत्रापि देवेषु केवलवस्त्रत्वनिवृत्तिमपूर्वभगवद्भावात्मककामरूपतां च सम्पाद्य तानि दत्तवानिति ज्ञाप्यतेत एव 'प्रेष्ठसङ्गम' सज्जने वस्त्रदानमेव हेतुत्वे-

---

'लेख'—व्याख्या में-'अभिप्रायमपि'-वाक्य को सुनकर और उसके अभिप्राय को भी समझकर। 'उक्तादप्यधिकम्'—भगवान् ने जो कुछ कहा था, उनने उससे भी अधिक ही किया, अर्थात् भगवान् की आज्ञा का पालन तो कुछ संकोच रख कर भी हो सकता था, किन्तु तब उनका सर्वांग दर्शन-जिसको भगवान् चाहते थे-भगवान् को नहीं होता। इसलिए भगवान् की वैसी इच्छा को जानकर और उसे पूरी करने के लिए निशंक होकर भगवदिच्छानुसार ही किया। थोड़ा भी संकोच नहीं किया। साष्टांग प्रणाम के पक्ष में-प्रणाम ही नमस्कार से अधिक किया-अर्थ है। 'तदशेषकर्मणाम्'—उस विषय में पूर्णता करने की इच्छा से। यहाँ-तत्-यह शब्द सप्तमी विभक्ति बोधक अव्यय है और यदि-'तत् इस पद का-तस्य-षष्ठी अर्थ करें तो आगे के 'अशेष कर्मणां' पद के साथ द्वन्द्व समास करना चाहिए। 'फले जाते'-भगवान् के आ जाने पर। इन पदों का-नेमुः'-के साथ अन्वय है अर्थात् भगवान् के पधार आने पर फलरूप उनको नमस्कार किया। 'व्यर्था'-अर्थात् विरुद्ध (पतिरूप फल में प्रतिबन्ध करने वाली)। 'तादृशं'-वैसे पति रूप फल का सम्पादन करके देने वाले। 'कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात्'-क्रीड़ा करने से कर्म में अन्तराय के उत्पन्न हो जाने से नमन किया ॥२०३॥

१—अनादर, त्याग। २—उत्तमता, श्रेष्ठता।

नोक्तं 'परिधाय स्ववासांसी'ति, अत एव 'स्व'पदमप्युक्तं नायिकानां प्रियविषयकोत्कटभावस्यैव स्वकीयत्वादन्यथा न वदेत् प्रयोजनाभावात्,] अर्थात् तासामेव प्रकर्षेण दत्तवान् यथा तासु पूर्वोक्तः कामः सिद्धो भवत्यत एव जलक्रीडादिषु वस्त्रोत्तारणपरिधाने नापेक्षिते, नन्वेवविधवस्त्रदाने को हेतुः ? तत्राह करुण इति, परमकरुणया दुःखप्रहाणेच्छानन्दाविर्भावनरूपा तासूत्पन्ना, ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात् कुतो वस्त्राणि दत्तवान् ? तत्राह तेन तोषित इति, तेन मुग्धभावेन साष्टाङ्गनमस्कारेण तोष प्रापितः, अतस्तोषः सञ्जातः, ततो ब्रह्मभूतानामेव तासां भगवता सह रमणमपि भविष्यति, रसरक्षार्थमेव वस्त्रदानं, अनेनान्यादर्शनमपि सेत्स्यति ॥२१½॥

व्याख्यार्थ—तब भगवान् ने प्रसन्न हो वस्त्र दे दिए। यह 'तास्तथावनताः'–इस श्लोक से कहते हैं– यदि वे नमस्कार करने में चतुराई (छल) करती, तो भगवान् असन्तुष्ट ही होते, किन्तु उस तरह– भगवान् के कथन से भी अधिक रीति से–नम्र देख कर सन्तुष्ट हुए। केवल चतुराई के लिए इनने नमस्कार नहीं किया है, किन्तु मेरी इच्छा को जानकर और उसे पूरी करने के लिए ही नमस्कार किया है, यह जानकर सन्तुष्ट हुए, क्योंकि आप भगवान् हैं। प्रसन्न होने में यह कारण है कि आप देवकीसुत हैं अर्थात् देवकीजी पर कृपा करके जैसे उनके पुत्र हुए, वैसे ही इन कुमारिकाओं पर कृपा करके, इनके पति हुए। तब उनके लिए वस्त्र प्रकर्षतापूर्वक दिए। 'ताभ्यः'–यह चतुर्थी विभक्ति अपूर्व दान की सूचना करती है। इसलिए अपूर्वदान रूप विशेष अर्थ होने से 'दात्र्' और 'दाण्' धातुओं में से यहां 'दाण्' धातु का–जिसे-'यच्छ'-आदेश हो जाता है-ही प्रयोग किया है। तात्पर्य है, कि जैसे 'दाण्' धातु के 'दा' पूर्वरूप की निवृत्ति होकर–'यच्छ'–नया अपूर्व रूप आदेश हो जाता है, वैसे ही यहाँ दिए जाने योग्य वस्त्रों में केवल पहिले वस्त्रपने की निवृत्ति करके, अपूर्व-नवीन भगवद्भावात्मक कामरूप-वस्त्र सम्पादन करके वे भगवान् ने उनके लिए दिए। इसीलिए-'प्रेष्ठसंगमसज्जिताः'–२३वें श्लोक में यह नवीन वस्त्रदान ही हेतु रूप से कहा गया है, क्योंकि 'परिधाय स्ववासांसि'–यहाँ अपने अपने वस्त्रों का पहिनना कहा है। 'स्व' पद का प्रयोग भी इसीलिए किया है कि नायिकाओं का भगवान् में प्रिय अत्यन्त उत्कट भाव उत्पन्न हो और 'स्व' भगवान् का वस्त्रों में अपने द्वारा ही दान किए का भाव उत्पन्न हो यदि यहाँ यह तात्पर्य नही होता, तो व्यर्थ स्वपद का प्रयोग क्यों करते। अर्थात् उन्हें वस्त्र इस प्रकर्षता से दिए कि जिससे, उनमें पूर्व कथित काम सिद्ध हो। इसी से, जल क्रीड़ा आदि में, वस्त्रों को दिव्य करने के लिए, वस्त्रों को उतारने और फिर पहिनने की अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार वस्त्र देने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं-'करुणः'- कि उन पर अत्यन्त करुणा से, दुःख दूर करने और आनन्द का आविर्भाव करने की भगवान् की इच्छा उत्पन्न हुई तब वस्त्र दिए। फिर शंका होती है, कि मुक्ति का दान न करके वस्त्र ही क्यों दिए। मुक्ति देते ? इसका उत्तर यह है कि–'तेन तोषितः'–उनके उस नमस्कार से, भोलेभालेपन से, साष्टांग प्रणाम से, भगवान् सन्तुष्ट हो गए थे (यदि ऐसा नहीं होता तो केवल ब्रह्मभाव का सम्पादन करके मुक्ति ही देते) इस से ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाने के अनन्तर भगवान् के साथ उनका रमण कराने की इच्छा से, रमण के उपयोगी अवयव आदि सामग्री का सम्पादन करने के लिए काम रूपी वस्त्र का दान किया, जिस (वस्त्र दान) से इन्हें कोई दूसरा देख भी नहीं सकेगा ॥२१½॥

टिप्पणी—लोक और वेद में मुक्ति का दान परम फल रूप से प्रसिद्ध है किन्तु भक्ति मार्ग में तो मुक्ति अल्प फल है और वस्त्र दान परम फल है–इस बात को बतलाने के लिए व्याख्या में-'ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात्'–

श्लोक—दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥२२½॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने उनके साथ वंचना[1] की, उनको लज्जा छोड़ने के लिए विवश किया, उनका अपमान किया, उनके वस्त्र हर लिए और कठपुतली की तरह भाँति भाँति के नाच (उनको) नचाए, तो भी उन गोपिकाओं के मन में भगवान् के प्रति ईर्ष्या[2] उत्पन्न नहीं हुई किन्तु प्रिय भगवान् के संग से वे अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥२२½॥

सुबोधिनी—ननु ता अनेकविधा वस्त्रपरिधानानन्तरं पूर्ववासनयाक्षिप्तो दोषः कथं नोत्पन्न इत्याशङ्क्याह दृढं प्रलब्धा इति, लौकिकदृष्टिस्तासां जाता न वेति विचार्यते भगवद्वचने च विश्वासो भगवति च स्नेहस्तस्य च परमाप्तत्वं स्वस्य च दोषस्फूर्तिस्तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वं चान्यथा सर्वथा निरभिमानानां पुनर्जिज्ञासा नोपपद्येत,

---

तो फिर मुक्ति ही देते ? इत्यादि शंका करके समाधान किया है । सारे दुःखों का अभाव ही मुक्ति है और परम करुणा का अर्थ केवल दुःखों का अभाव करना ही नहीं है, किन्तु आनन्द का आविर्भाव भी जब होवे तब परम पद की सार्थकता है । जिन पर भगवान् इस तरह प्रसन्न नहीं होते हैं उनको ही मुक्ति देते हैं । इस वस्त्रों के दान में परम करुणा कारण है । इससे इन व्रज भक्तों को मुक्ति न देकर वस्त्र दिए । इस कथन से यह स्पष्ट है कि इस काम भाव की अपेक्षा मुक्ति अल्प वस्तु है ।

'लेख'—'तथा ज्ञाने'–भगवान् ने ऐसा जाना । अर्थात् भगवान् ने–स्वय आन्तर भाव ज्ञान सहित भगवान् होने के कारण–यह जान लिया, कि ये गोपीजन मेरा अभिप्राय जान गई हैं और मेरी इच्छा को पूरी करने के लिए ही यह सब कुछ किया है और तत्र देवकीसुत होने के कारण, सन्तुष्ट होकर वस्त्रों का दान किया । मूल में 'करुणः' पद अतिशय बोधक 'मत्वर्थीय' प्रत्ययान्त होने के अभिप्राय से, परम करुणा से, भगवान् की उन पर दुःख के अत्यन्त नाशपूर्वक आनन्द को प्रकट करने की इच्छा हुई । केवल दुःख दूर करने पर तो, आनन्द का तिरोभाव ही बना रहता है और आनन्द का उनमें आविर्भाव करना ही उन पर परम कृपा है । उनमें आनन्द को प्रकट करने की इच्छा परम कृपा है । 'ब्रह्म भूतानां'–का अर्थ यह है कि ब्रह्म भाव के प्राप्त होने के पीछे जिनमें आनन्द प्रकट हो गया है ऐसे । इस प्रकार यदि भगवान् को सन्तोष नहीं होता, तो केवल ब्रह्म भाव का ही सम्पादन करते और जिससे, उनकी मुक्ति ही होती । यहाँ तो भगवान् सन्तुष्ट हुए हैं । इससे उनके साथ आगे रमण भी होगा । इसलिए रमण के योग्य अवयव आदि सामग्री सिद्ध करने वाला वस्त्रदान रूप ब्रह्मभाव सिद्ध कर दिया ॥२१½॥

१—ठगाई । २—डाह, जलन ।

दृढमत्यन्तं प्रलब्धा 'यूयं विवस्त्रा यदप' इति, 'अत्रागत्य स्ववासांसी'तिवाक्यात्, अपया च हापितास्त्याजिता लज्जा हि तासां सर्वस्वं, दोषारोपो गुणाभावश्चोक्तः, चकारादपत्रपया च हापितास्त्याजिताः, 'भवत्यो यदि मे दास्य' इति तद्वाक्यमेव पुरस्कृत्य ता निर्जिता इति प्रस्तोभिताः, स्तोभवाक्यं वृथावाक्यं, प्रकर्षस्तस्यापकार-हेतुत्वं, अतः प्रस्तोभिता 'मूर्ध्नि बद्ध्वाञ्जलि' मिति क्रीडनवच्च कारिता यथा बालो यथैव कार्यंते तथा कारिताः, तासां च पुनर्वस्त्राण्यपहृतान्येव, एवं पञ्च-विधदोषैरपि ता भगवन्तं नाभ्यसूयन्, अभ्यसूया ह्यन्तर्दुःखे भवति, तानि च वाक्यानि महाग्नौ जलमिव, भगवता स्वरूपेणैवानन्दं प्रापितासु न तैर्दुःखमुत्पादयितु शक्तं स्वानन्देनैव निर्वृताः, भगवदीयैरप्याधिदैविकैर्वा-क्यैर्नापकारः कर्तुं शक्यः, तत्र हेतुः प्रियस्य भगवतः सङ्गेन वस्त्रद्वारा प्रियस्य सङ्गस्तेन निर्वृताः, प्रमेयबलेन प्रमाणं दुर्बलं जातमित्यर्थः. अनेन 'प्रायच्छदि'ति 'प्र'शब्देन परिधापनमप्युक्तं 'करुणा' पदेन च तदानीन्त-नोन्यो योग्योप्युपचारः सूचितोतो निर्वृता भगवति स्वस्मिन् दोषाभावाद् दोषं नारोपितवत्यः ॥२२½॥

व्याख्यार्थ—शंका-ये गोपीजन अनेक प्रकार की थी 'भवत्यो यदि में दास्यः'—भगवान् के इस वाक्य को सुनने से पहिले उनके अनेक भाव कहे जा चुके हैं। फिर वस्त्र पहिन लेने के अनन्तर पहले की भिन्न भिन्न भाव वाली, उस वासना के द्वारा होने वाला दोष, उनके मनमें उत्पन्न क्यों नही हुआ ? इस शंका के समाधान में—दृढं प्रलब्धाः'—यह श्लोक कहते हैं-यहाँ यह विचार किया जाता है, कि उनकी लौकिक दृष्टि हुई या नहीं हुई ? भगवान् के वचन पर इन्हें विश्वास आया, भगवान् में स्नेह उत्पन्न हुआ, भगवान् की अक्षरशः सत्यवक्तृता पर विश्वास हुआ, और अपने दोष की स्फूर्ति हुई। उस दोष के दूर करने का एक मात्र उपाय, नमस्कार ही उन्हे सूझा, नहीं तो अभिमान को सर्वथा त्याग देने वाली उनकी फिर जिज्ञासा-भगवत्संङ्गम की इच्छा-नहीं होती। 'तुम ने नग्न हो कर जल में विहार किया ? इत्यादि वचनों से भगवान् ने उन्हें ठगा, 'यहां आकर अपने वस्त्र ले जाओ'-कह कर, उनकी लज्जा छुड़ादी, जो कि उनका सर्वस्व थी। इस प्रकार. प्रथम वाक्य से, उन पर दोष लगाया, दूसरे से उन में गुण का अभाव कहा और—'च' से उन्हे निर्लज्ज कर दिया । 'यदि तुम मेरी दासी हो'-इत्यादि उनके ही वाक्यों को लेकर उन्हें निरूत्तर किया-यही उनका अपमान किया, क्योंकि स्तोभवाक्य-बुरे वाक्य के प्रकर्ष [1] से अपकार [2] करना ही अपमान है । 'शिर पर हाथ जोड़ो,—कह कर, उनके साथ कठपुतली का सा खिलवाड किया, बालक के साथ जैसा व्यवहार किया और यह सब कुछ करा लेने पर भी वस्त्र तो उनके हर ही लिए थे। इस तरह से उन पर ये पाँच दोष लगाए जाने पर भी, उनको भगवान् पर इर्ष्या नहीं हुई। इर्ष्या तो, हृदय में दुःख होने पर होती है। भगवान् के ये वचन तो उन्हे, धधकती हुई अग्नि पर जल की तरह ठण्डक करने वाले लगे। जिन्हें भगवान् ने अपने स्वरूप का ही आनन्द प्राप्त कराया है, उन्हें इन वाक्यों से दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है। वे तो भगवान् के आनन्द से सुर्खी (हैं) थीं । इस लिए भगवान् के आधिदैविक वाक्यों से भी उनका कुछ अपकार नहीं हो सका, क्योंकि, वे तो प्रिय भगवान् के—वस्त्र द्वारा--संग से परम सुखी थीं। यहां प्रमेय बल से प्रमाण बल दुर्बल हो गया । (प्रमेय बल—भगवान् के स्वरूप का बल--के आगे—प्रमाण बल भगवान् के वचनों का बल--दुर्बल हो गया) । इस से 'प्रायच्छत्'—उन्हें भगवान् ने वस्त्र केवल दिए ही नहीं, किन्तु देते देते, पहना भी दिए। करूणा पद से यह भाव है कि उस समय के होने वाले दूसरे—आँसू पोंछना, मस्तक पर हाथ रखना आदि उपचार भी किए। इससे वे प्रसन्न हुई और उन स्वयं में दोष न रहने से भगवान् पर भी दोषारोप नहीं किया ॥२२½॥

१—उत्तमता, श्रेष्ठता, २—हानि, बुरा, अनुपकारता

टिप्पणी—उनकी लौकिक दृष्टि न होना नहीं समझें, तो दोष आता है–उसे व्याख्या में–'अन्यथा'–पद से कहते है। लोक में, जो धर्म, असूया[1] ईर्ष्या[2] के कारण रूप से प्रसिद्ध है उनका अनुभव करते हुए भी गोपीजनों के मन में इर्ष्या के न होने से सिद्ध है कि उनका भाव अलौकिक था इसी आशय से मूल में उन असूया के कारणों को बतलाया है। भगवान् में केवल स्नेह होना ही, ईर्ष्या न होने का कारण नहीं है, क्योंकि, यदि स्नेह के कारण ही इर्ष्या आदि न होते तो, फिर स्नेह वाली खण्डिता, कलहान्तरिता आदि नायिकाओं में भी इर्ष्या नहीं होनी चाहिए। परन्तु स्नेह होने पर भी उनमें उक्त ईर्ष्यादि रहते ही हैं और भगवान् में ईर्ष्या करने से, अनिष्ट फल होता है, ऐसा शास्त्र का ज्ञान रखने वाले स्नेह शून्यों में भी ईर्ष्यादि दोष नहीं पाए जाते। इस अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार दोष से, स्नेह-असूयादि न होने का कारण नहीं कहा जा सकता।

और यह भी कहना अनुचित है, कि खण्डितादि को प्रिय भगवान् का संग न होने से, उनमें उक्त दोष होते हैं, ये तो-प्रिय संगनिर्वृताः–प्रिय भगवान् के संग से सुखी थीं, इस से, इन में असूयादि दोष उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि, खण्डिता का भगवान् को उपालम्भ[3] देना आगामी संगम के अभाव के लिए होता है और वह इसी से, भगवान् को उपालम्भ देती हैं परन्तु उपालम्भ देने के समय में, तो उसे भी भगवान् का संग ही है, संग का अभाव नहीं है। खण्डिता का भगवान् से ईर्ष्या करना पहले हुए संग के अभाव से हुआ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपालम्भ देते समय भगवान् का संग हो जाने पर पहले संग का अभाव बाधित-दूर-हो गया।

फिर शङ्का करते है कि उपालम्भ देते समय, संग होने पर भी, पूर्वकाल में हो चुका संग का अभाव (जो अत्यन्त अभावरूप है) तो दूर नहीं होता है। यद्यपि वह अभाव (अत्यन्ताभावरूप) नहीं दीख पड़ता, तो भी, किसी अंश में तो अभावरूप से दृष्टि में आता ही है। उत्तर देते हैं कि आगे हुए संग के अतिरिक्त कोई दूसरा संग उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी[4] स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है, और कोई प्रतियोगी मान लेने पर गौरव[5] दोष आजाने से, अत्यन्ता भाव का अभाव हो जाएगा। इससे गोपीजनों की अलौकिक दृष्टि होने के कारण ही ईर्ष्यादि नहीं हुए।

इनकी अलौकिक दृष्टि तो नहीं थी किन्तु केवल दोष का अभाव ही था–ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, दोष के मूल कारण अभिमान का तो–हाथों की अंजलि बान्ध कर मस्तक पर धरने तक भगवान् के वाक्यों के स्वीकार कर लेने से–नाश होना कहा जा चुका है। इसी बात को व्याख्या में–"सर्वथा निरभिमानानाम्"–"सर्वथा निरभिमान हुई" इत्यादि पद से कहा है।

इस प्रकार लोक में ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले सब कारणों का उन्हें अनुभव होने पर भी ईर्ष्या के न होने से उनके भाव और उनकी दृष्टि के अलौकिक होने में कोई सन्देह नहीं है। और वह भाव रुखा[6]–नहीं, किन्तु

१—निन्दा, द्वेष। २—डाह या जलन। ३—उलाहना। ४—विरोधी, प्रतिपक्ष। ५—भारी। ६—शुष्क।

श्लोक—परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिंल्लज्जायितेक्षणाः ॥२३½॥

श्लोकार्थ—वे गोपिकाएँ अपने अपने वस्त्र पहिनकर प्रेष्ठ (परम प्रिय) भगवान् के संगम के लिए तय्यार हो गई और प्रिय के परम प्रिय समागम में उनका मन ऐसा लग गया था कि, वे आगे नहीं बढ सकीं, वहीं खड़ी होकर, लज्जापूर्ण दृष्टि से भगवान् की ओर निहारने लगीं ॥२३½॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह **परिधायेति**, **स्वस्ववासांसि परिधाय प्रेष्ठस्य सङ्गमे तृतीयपुरुषार्थे सज्जिता** जाता रसाकरा जाता इत्यर्थः, अन्यथाश्रयभङ्गः क्षीणरसता वा स्यात्, एवं देहव्यवस्था निरूपिता, अन्तःकरणव्यवस्थामाह **गृहीतचित्ता** इति, **गृहीतं चित्तं** याभिर्यासामिति वा, सम्बन्धिनः कर्तु आपेक्षितत्वाद् भगवच्चित्तं ताभिर्गृहीतमभिप्रायो ज्ञातो वस्त्रपरिधानेनैव भगवता च तासां चित्तमपहृतं 'तोषित' इति, एवं चित्तव्यतिषङ्गे ऽङ्कुर उत्पन्ने ततः क्रियाशक्तिः कुण्ठिता जातेत्याह **नो चेलु**रिति, अन्यत्र ज्ञानशक्तिरपि कुण्ठितेति वक्तुं तस्मिन् रस एव तस्या विनियोगमाह, **लज्जायितेक्षणा लज्जां प्राप्तानीक्षणानि यासां भगवति लज्जयार्पितानि वा, पूर्वस्वदोषानुसन्धानादिति केचित्**, वस्तुतस्तु तदेयं भावदृष्टिः, एव तासां शरीरान्तःकरणेन्द्रियवृत्तय उक्ताः ॥२३½॥

व्याख्यार्थ—इसके पीछे जो हुआ उसे-'परिधाय'-इस श्लोक से कहते हैं । अपने अपने वस्त्रों को पहिनकर प्रेष्ठ भगवान् के संगम के लिए–तृतीय पुरुषार्थ–काम–की सिद्धि के लिए वे तैयार हुई–वे रस को निधिरूप हुई । अन्यथा–यदि उन्हें रस की निधि न मानें तो शृंगार रस के आश्रय-आलम्बन-का भंग

महान् रस रूप या उस भाव की महारस रूपता–भगवान् में विश्वास, स्नेह, आप्तता और स्वयं के दोष की स्फूर्ति आदि विशेषणों से स्पष्ट ज्ञात होती है जिसे व्याख्यामें–'भगवद्वचने च'–इत्यादि पदों से बतलाया है । इनके ऐसे विशुद्ध भाव के कारण ही इन्हें वस्त्रदान के साथ ही–वस्त्र द्वारा ही-भगवान् के साथ साक्षात् सम्बन्ध का अनुभव हुआ । इसी को, 'प्रियसंगनिर्वृताः' पद से कहा है । उस प्रियसंग जनित आनन्द के कारण, असूयादि उत्पन्न नहीं हुए, यदि ऐसा न माने, तो असूया के 'दृढं प्रलब्धाः' कारण कहे पीछे शीघ्र असूया के होने के प्रतिबन्धक-दोष को रोकने का-किसी भी कारण के न होने पर, ईर्ष्या के उत्पन्न न होने का कोई अन्य कारण नहीं दीखता ।

लेख—व्याख्या में–'पूर्ववासनया'–'जो तुम मेरी दासी हो'–इस वाक्य को सुनने के पहिले, उनके भिन्न भिन्न भावों की वासना के द्वारा । 'वस्त्राणि अपहृतानि'–परीक्षा के लिए उन्हें खिलौना सा किया और वस्त्र भी नमस्कार कराए बिना नहीं दिए और इसी से इस विशेषण का यह अर्थ कहा है, कि उसकी निवृत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥२२½॥

हो जाएगा, अथवा क्षीण रस की उत्पत्ति होगी। इस कथन से, उनके देह की व्यवस्था का निरूपण करके, अब–'गृहीतचित्ता:'–पद से, अन्त:करण की व्यवस्था को कहते हैं। कुमारिकाओं ने भगवान् का चित्त ग्रहण किया, अथवा भगवान् ने उनके चित्त को ग्रहण किया। सम्बन्धी और कर्ता के ज्ञान की-किस का (चित्त) किस ने ग्रहण किया–अपेक्षा में भगवान् (सम्बन्धकारक) का चित्त गोपीजनों (कर्तृ कारक) ने वस्त्र पहनने से ग्रहण किया अथवा (सम्बन्ध कारक) गोपीजनों का चित्त (कर्तृ कारक) भगवान् ने 'तोषित:' पद से ग्रहण किया। (इस प्रकार दोनों के चित्त ग्रहण में परस्पर दोनों ही कारण हुए)। इस तरह चित्त के संकल्प विकल्प से अंकुर-काम-की उत्पत्ति हुई, फिर क्रिया शक्ति के कुण्ठित हो जाने से, वे वहां से चल न सकीं। और ज्ञान शक्ति भी कुण्ठित हुई कहने के लिए उसका भी, उस रस में ही विनियोग 'लज्जायितेक्षणा:'–पद से कहते हैं कि उनके नेत्र भगवान् की तरफ लज्जा से देख रहे थे, अथवा जिनके नेत्रों का अर्पण लज्जा से, भगवान् में हो गया है। कितनेक टीकाकार कहते हैं कि अपने पहिले दोष के अनुसन्धान के कारण ऐसा हुआ। (पहले बुलाने पर न आना रूप दोष)। वस्तु स्थिति तो यह है, कि उस समय, ऐसी भाव वाली हुई। इस तरह, उनके शरीर, अन्त:करण और इन्द्रियों की वृत्ति का निरूपण किया गया है ॥२३½॥

टिप्पणी—'परिधायेत्यादि' श्लोक की व्याख्या में–'रसाकरा जाता:'—का अर्थ यह है, कि रस की खान रूप हुईं। रस शृंगार–रस शृंगार के योग्य अवयवों में ही, प्रकट होता है, यह रसशास्त्र का नियम है। यदि अंग रस के योग्य न होवें तो वे रस के आश्रय रूप नहीं हो सकते हैं। इस लिए यहाँ वे रस के योग्य हुए। इस बात को बताने के लिए ही, धनुष, कवच आदि से रण के लिए सज्जित हुए वीर की तरह, वे कुमारिकाएँ प्रेष्ठ[1] भगवान् के संगम के लिए तैयार हुईं। काम रूपी वस्त्रों को देने के पीछे ही वे इस योग्य हुईं।

कुमारिकाओं का उसी समय इस तरह शृंगार रस के योग्य हो जाना युक्ति विरुद्ध है? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि, यदि वैसी अवस्था, अंग आदि प्राप्त नहीं होते तो, काम शास्त्र में कहे हुए नखक्षत, दन्तक्षत, ताड़न आदि व्यापार द्वारा उद्बोध होने योग्य रस का वे अंग आश्रय नहीं बन सकते और तब मूल में कहे गए संगम पद के बाध का प्रसंग (हो) आ जाएगा। यदि रसानुकूल अवस्था, अवयव आदि के न होने पर भी, जैसे तैसे संगम होने पर, पूर्ण रस प्रकट न होने से, रसाभास अथवा क्षीणरसता हो जाएगी। इन के लिए पहिले 'दारिका', 'कुमारी' आदि शब्दों का प्रयोग करके, अभी रस की खान कहने का तात्पर्य यह है, कि पूर्व कथित गुणातीत भगवान् ने ही, उनमें प्रवेश करके, उनके देह इन्द्रिय, अन्त:करण, आदि को भगवत्स्वरूप कर दिया। इसी से काल के क्रम के बिना ही, कुमारिका अवस्था में ही सब सिद्ध हो गया।

'लज्जायितेक्षणा:'–की व्याख्या में 'पूर्व स्वदोषेति' पहिले बुलाने पर नहीं आना रूप दोष। वस्तु स्थिति तो यह है कि इस समय उनकी ऐसी भाववाली दृष्टि हुई, अर्थात् वे भगवान् के द्वारा इस समय प्रकट किए हुए रस

१—अत्यन्त प्रिय।

श्लोक—**तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।**
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोबलाः ॥२४३॥

श्लोकार्थ—अपने चरणों का स्पर्श करने की कामना से व्रत को धारण करने वाली उन गोपीजनों के विशेष सङ्कल्प को जानकर दामोदर भगवान् ने उन से कहा ॥२४३॥

सुबोधिनी—तदा यदुचितं तद् भगवान् कृतवानित्याह **तासां विज्ञायेति, तासां सङ्कल्पं विज्ञायाहेतिसम्बन्धः,** भगवानिति सर्वसामर्थ्यमुक्तं, तेन ज्ञात्वा यथोचितं तत् करिष्यतीति सिद्धं, उत्पत्त्या चोपपत्त्या च ज्ञातवानिति विशब्दार्थः, तत्र विषयनिर्धारमाह, न हि ता लौकिका इव विवाहार्थमागता नापि भोगार्थं नापि लोकविरोधेन नापि ज्ञानार्थं किन्तु सर्वथा विचारेण भक्त्यर्थमेवागतास्तदाह **स्वपादस्पर्शकाम्ययेति स्वस्य** भगवत एव तत्रापि भक्तिरेव भक्तावपि स्पर्श एव न तु श्रवणादिसख्यपर्यन्ता तस्या एव कामना, न केवलं कामनामात्रं तदर्थं देहेन्द्रियादीनामपि विनियोगं कृतवत्य इत्याह **धृतव्रतानामिति, धृतं** कात्यायन्यर्चनव्रतं याभिः, धारणेन व्रतनिवृत्तिर्निराक्रियतेन्यथा कृतव्रतानामित्येवोक्तं स्यात्, सङ्कल्पो मानसो नियमः, अनेन सर्वोपि सङ्घात एतासामुत्तमभक्त्यर्थमेवेति निश्चित्य पश्चादाह यथा भक्तिर्भवति तथोपाय, नन्वेवं निर्बन्धकथने को हेतुः ? तत्राह **दामोदर** इति, अनेन गोपिकावश्यता निरूपिता यत्र तथा वश्यो जातस्तत्रैवमपि वश्यो भविष्यतीति, प्रथमतस्तासां सम्बोधनमाहाबला इति, रससम्बोधनमेतदुभयोरन्योन्यवशत्वज्ञापकं भगवान् दामोदरस्तास्त्वबला इति ॥२४३॥

के भार से भरी हो जाने के कारण, उनको भगवान् के सिवाय कोई दूसरा (किसी दूसरे का) अनुसन्धान ही नहीं रहा । उनकी ऐसी भाव दृष्टि को ही, व्याख्यामें–'तदा इयं भावदृष्टिः' इन पदों से कहा है ।

लेख—'अंकुर उत्पन्ने'-स्मर-काम की दूसरी दशा उत्पन्न हुई तब । आगे की संकल्प आदि दशाओं में क्रिया की निवृत्ति हो गई । इसको बताने के लिए क्रिया शक्ति का कुण्ठित होना कहा है ।

योजना—'गृहीत चित्ता'-की व्याख्या में–सम्बन्धिनः कर्तु आपेक्षितत्वाद्–का अर्थ यह है कि किसका-चित्त ग्रहण किया–इस सम्बन्ध की जिज्ञासा में–'गृहीतं चित्तं यासां' से सम्बन्धी गोपकुमारियों का निरूपण किया और चित्त किसने ग्रहण किया–इस कर्ता की जिज्ञासा में गृहीतं चित्तं याभिः—इस विग्रह से चित्त को ग्रहण वाली उनको बताया । इस प्रकार भगवान् और कुमारिकाओं–दोनों के चित्त का ग्रहण करने में परस्पर दोनों ही कारण हैं ।

तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः-की व्याख्या में–भगवति लज्जया अर्पितानि वा–इस पक्ष में–'लज्जार्पितेक्षणाः' ऐसा पाठ जानना चाहिए । शरिरेन्द्रियान्तः करण वृत्तय उक्ताः–अर्थात् परिधाय स्ववासांसि'-पद से शरीर की 'गृहीत चित्ताः' पद से अन्तः करण की और लज्जायितेक्षणाः पद से इन्द्रियों की वृत्तियां कही हैं ॥२३३॥

व्याख्यार्थ—तब भगवान् ने जो करना उचित था, वह किया-यह-'तासां विज्ञाय'-श्लोक से कहते हैं। उनके संकल्प को जान कर, बोले-ऐसा सम्बन्ध है (भगवान् शब्द से सर्व सामर्थ्य कही है, जिससे जानकर यथोचित करेंगे-यह सिद्ध है।) भगवान्-सर्व सामर्थ्य युक्त-होने से जान कर जो उचित है उसी को करेंगे-यह सिद्ध है। उत्पत्ति और युक्ति दोनों प्रकार से जान लिया,-यह 'विज्ञाय' में 'वि' उपसर्ग का अर्थ है। उन दोनों प्रकार के ज्ञान में, विषय का निर्धार कहते हैं, कि वे लौकिक स्त्रियों की तरह विवाह के लिए नहीं आई थीं, लोक से विरुद्ध हो कर भी नहीं आई थीं और न ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, किन्तु सब प्रकार से विचार करके भक्ति के लिए ही आई थीं-यह-'स्वपाद-स्पर्शकाम्यया'-पद से कहते है। 'स्वस्य'-भगवान् का ही (अन्य का नहीं) उस में भी भक्ति से ही और भक्ति में भी केवल चरणस्पर्श की इच्छा से ही, न कि श्रवण भक्ति से सख्य भक्ति तक की भी कामना से आई थीं। केवल कामना ही नहीं थी, किन्तु उनके लिए उन्होंने देह इन्द्रिय आदि का विनियोग भी कर दिया था। यह 'धृतव्रतानां' इस पद से कहा है। धारण किया है कात्यायनी की पूजा का व्रत जिन्होंने-वे ऐसी थीं। 'धृत'-शब्द से-व्रत चालू है, समाप्त नहीं किया-ऐसा अर्थ सूचित होता है और यदि व्रत की निवृत्ति का अर्थ अपेक्षित होता तो 'कृतव्रतानां' ऐसा कहा जाता। इससे उनका अभी व्रत समाप्त करना सिद्ध नहीं है। संकल्प का अर्थ मानसिक नियम है। इससे इनका देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात सारा उत्तम भक्ति के लिए ही है। भगवान् ऐसा निश्चय करके, फिर जिस के करने से ऐसी भक्ति सिद्ध हो, उस उपाय को कहते हैं।

शंका—इस प्रकार विचार (आग्रह) करके कहने का क्या प्रयोजन है? 'दामोदर' पद से इसका समाधान करते हैं। भगवान् दामोदर है। दामोदर पद से गोपिका (यशोदाजी) के वश में होने का निरूपण है। इस से-भगवान् यदि यशोदाजी की इच्छा से उनके वश में हुए थे तो यहां इन गोपीजनों की इच्छा से इनके वश में होंगे-यह सूचित किया। पहिले जिस पद से, उनके स्वरूप का बोध हो उस पद को सम्बोधन रूप से कहते है। हे अबलाः-वे अबला हो गई थी। यह पद रस का बोधक है। रस के कारण, सब अंगों में काम व्याप्त हो जाने से, वे अबला हो गई थीं और भगवान् दामोदर-गोपीकाओं के वशीभूत हो गए थे। इस तरह दोनों का परस्पर वशीभूत होना सूचित किया है ॥२४½॥

श्लोक—सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनात्।
मयानुमोदितः सोसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥२५½॥

श्लोकार्थ—हे साध्वियों! तुम्हारे द्वारा की हुई मेरी पूजा से तुम्हारा मनोरथ मैंने जान लिया है। मैं भी उसका अनुमोदन करता हूँ, इसलिए वह पूर्ण होने योग्य है ॥२५½॥

लेख—'तासां' की व्याख्या में-'तत्र'-उत्पत्ति और उपपत्ति के द्वारा ज्ञान हो जाने पर, लोक विरोधेन-स्त्रियों का अपने पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष के साथ सख्य करना तो लोक विरुद्ध है किन्तु चरण स्पर्श करने में कुछ लोक विरोध नहीं है। चरण स्पर्श की कामना आना कहने से ज्ञान के लिए नहीं आई थी यह सूचित किया। 'सम्बोधनम्' उनके स्वरूप का अच्छी तरह बोध कराने वाला-'अबलाः'-यह पद भगवान् के कहे वचनों के पहले कहा है-यह अर्थ है ॥२४½॥

सुबोधिनी—तासां हृदये स्वाभिप्रायो ज्ञापनीय इति यदासीत् तत्राह **सङ्कल्पो विदित** इति, **भवतीनामभिप्रायो विदितः, अनेन** न वक्तव्य इति ज्ञापितं, अन्यथा रसस्त्वपुष्टः स्यादत एव भगवानपि नोच्चारयति तत्रायुक्तः **सङ्कल्प** इतिशङ्कां वारयति **साध्व्य** इति, साध्वी सर्वदोषविवर्जिता पतिव्रतेति यावत्, अतोधिकारिणा कृतः **सङ्कल्पः** सफलो भवति, अनेनान्यस्मै देयाः केनाप्यंशेन विनियोगान्तरं च निवारितं, **भवतीनां** च सर्वासामेव ज्ञातस्वरूपाणां, यद्यपि कात्यायन्यर्चनेनायमर्थः सिद्धस्तथापि मदर्चनाद् द्वितीयवारमहमेवार्चितः, प्रबुद्धा हि देवतार्च्यत इति तदैव ज्ञानं परमर्चनं मत्स्पर्शि न भवतीत्यसत्यो भवति देवताज्ञाव्यतिरेकेण च कृतेति फलदोपि न भवति, तदिदानी सन्तोषाद् द्वयं पूर्यते, **मयानुमोदित** इति, तत्र **मयानुमोदित** इति **स** सङ्कल्पोनु पश्चान् **मोदित** इति मोदं प्रापितः **स** प्रसिद्धः पूजायामभिव्यक्तो भावपूर्वकदृष्टिपूर्वकपुष्पादिपदार्थानां भाविते भगवति समर्पणरूपः स त्ववस्तुसमुदायरूप इत्यसत्य एव स्वरूपतो ज्ञापकः परं जातः, तज्ज्ञापितमाहासाविति, इदानीमह प्रत्यक्षोन्तःकामश्च दत्तो भावोद्गारिणी दृष्टिश्चेयं, निवेद्य तु सर्वमेवात पूर्वाकृतितुल्यमेतत् साम्प्रतं जायमानं सर्वमेवासावित्युच्यते, **स** स्वरूपतः सत्योपि फलतोपि **सत्यो भवितुमर्हति,** सत्यात् सत्यं फलमुचितमिति, अतो योग्यत्वादेव फल भविष्यति न चिन्ता कर्तव्येतिभावः, अनेन कार्याधीनत्वाद् गोपिकाधीनमेव फलमिति वाचनिकोपि सन्देहो निवारितः ॥२५½॥

व्याख्यार्थ—उन व्रज भक्तों के मन में यह था, कि अपना अभिप्राय भगवान् को बतलावें, इसलिए कहते हैं कि तुम्हारा संकल्प मैंने जान लिया–'संकल्पो विदितः'–श्लोक से यह कहते हैं। तुम्हारे अभिप्राय को मैंने जान लिया, ऐसा कह कर, यह बतलाया कि अब तुम्हारे कहने की आवश्यकया नहीं है। कहने से, रस पुष्ट नहीं होता। इसी से, भगवान् स्वयं भी, उस को नहीं कह रहे हैं। इनका संकल्प अयोग्य होगा? इस शंका के समाधान में 'साध्व्यः'–पद दिया है। सब दोषों से रहित अर्थात् पतिव्रता होने के कारण, उनका ऐसा संकल्प करने का अधिकार था और वही सफल होना है। इस कथन से भगवान् के द्वारा उन गोपिकाओं का किसी अन्य के लिए दिया जाना अथवा किसी अंश में, उनका उपयोग करके, फिर अन्य किसी के लिए दिया जाने का निषेध सूचित किया है। 'भवतीनाम्'–तुम सबों का, कि जिनका स्वरूप जान लिया गया है (अथवा नहीं जाना गया है पाठ भेद से) यद्यपि कात्यायनी की पूजा से यह अर्थ सिद्ध हो गया था, तो भी दूसरी वार, तुमने मेरी ही पूजा की। प्रबुद्ध (जागृत) हुई देवता को ही पूजक के संकल्प का ज्ञान उसी समय होता है। परन्तु भावना पूर्वक किए गए उस पूजन का साक्षात् मेरा स्पर्श नहीं होता। इसलिए वह संकल्प मिथ्या होता है और देवता की आज्ञा के बिना की हुई होने से, वह पूजा फलदायक भी नहीं होती है। इससे अभी सन्तोष से उक्त दोनों न्यूनता[1] को पूरा करते हैं–'मयानुमोदित' अर्थात् स्वरूप से और फल से उस संकल्प को पूरा करते हैं–मयानुमोदितः–कि वह संकल्प मेरे द्वारा अनुमोदित हुआ है और-'अनु'- पीछे में मेरे मोद को प्राप्त हुआ है। 'स' अर्थात् वह प्रसिद्ध संकल्प पूजा में प्रकट हुवा भावपूर्वक दृष्टि से पुष्प आदि पदार्थों की भावना से भावित हुए भगवान् के लिए समर्पण रूप संकल्प भावना से सिद्ध होने के कारण, भावनामय उस पूजा सामग्री का साक्षात् भगवान् के स्वरूप में समर्पण न होने से, असत्य था, किन्तु अभी तो वह स्वरूप से सत्य होकर फल का बोधक हो गया। वह 'असौ'- पद से कहा गया है। अभी मैं प्रत्यक्ष हूँ मैंने तुम्हें अन्तःकाम का दान किया है, यह दृष्टि भी भावों

१—कमी।

को प्रकट करने वाली है और तुम्हारा सर्वस्व ही निवेदन की वस्तु है। इससे पूर्व आकृति-पूजा-के तुल्य यह सब जो अभी हुआ है वह–'असौ'–पद से कहा है। वह संकल्प स्वरूप से सत्य है और सत्य संकल्प से सत्य फल भी उचित ही है। इससे तुम्हारे और तुम्हारे संकल्प के सब प्रकार से योग्य होने के कारण फल अवश्य प्राप्त होगा चिन्ता नहीं करनी चाहिए–ऐसा भाव है। इस कथन से–इस संकल्प के गोपिकाओं के कार्य के आधीन होने से फल भी गोपिकाओं के आधीन है–यह बतला कर वचन का सन्देह भी दूर कर दिया ॥२५३॥

श्लोक—**न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।**
भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते ॥२६३॥

श्लोकार्थ—जिनकी बुद्धि मेरे में लगी हुई है, उनकी कामना अन्य कामना को उत्पन्न नहीं कर सकती है। भुनी हुई अथवा पकी हुई धाणी फिर बीज को उत्पन्न नहीं कर सकती ॥२६३॥

टिप्पणी—व्याख्या में–'भवतीनां–का तात्पर्य यह है, कि ज्ञान दो प्रकार से होता है–वस्तु के स्वरूप से और वस्तु के गुणों से यहां 'भवतीनां संकल्पः' इन दो पदों के अलग देने से अभी संकल्प का ही ज्ञान होना और स्वरूप का ज्ञान अभी न होना सूचित होता है। इनका स्वरूप रसात्मक है, केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है इसलिए उनके उस स्वरूप का ज्ञान अभी आगे होने वाला है। अभी तो मैने तुम्हारा स्वरूप ही जाना है–यहाँ यह रसोक्ति समझना चाहिए "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" (ब्र. सू. २।१।३३) इस सूत्र में कथनानुसार भगवान् रसमर्यादा में रह कर ही इनके स्वरूप का अनुभव करेंगे इस अभिप्राय से ऐसा कहा है।

लेख—'संकल्पः'–श्लोक की व्याख्या में "तदैव ज्ञानम्" तब ही ज्ञान होता है। देवता जब जागृत हो, उस समय पूजा की हो, तब ही पूजक के संकल्प का देवता को ज्ञान होता है। परं अर्चनम्-भावनापूर्वक की हुई पूजा का साक्षात् स्पर्श न होने के कारण, वह संकल्प स्वरूप से असत्य होगा और देवता की आज्ञा के बिना की हुई पूजा के कारण वह फल से भी मिथ्या ही होगा। 'द्वयं पूर्यते'-इन दोनों प्रकार की (स्वरूप और फल से) न्यूनता को 'असौ सत्यः'–इन दो पदों से पूर्ण किया है। उक्त दोनों पदों से यह सूचित होता है कि वह संकल्प स्वरूप और फल से सत्य ही है। 'तत्र'–श्लोक के उत्तरार्ध में। पहले कही हुई प्रतीक को उत्तरार्ध की समझनी चाहिए। व्याख्या में–स संकल्पः'–से आरम्भ करके–इति भावः–तक के कथन से संकल्प को फल देने वाला कहा है। स तु अस्तु–वह संकल्प तो केवल भावना रूप है, इससे उसमें पूजा की कोई वस्तु होती ही नहीं, इस कारण, वह असत्य है, किन्तु अभी वह स्वरूप से सत्य होकर फल को बताने वाला हो गया है। तज्ज्ञापितम्–फल को उत्पन्न करा देने वाला। 'असौ' यह–"अर्हति"–यहाँ तक का प्रतीक है केवल एक पद का नहीं है। फल कार्य के आधीन होता है, कार्य गोपिकाओं के आधीन है इसलिए फल भी उनके ही आधीन सिद्ध है ॥२५३॥

सुबोधिनी—ननु कालान्तरेन्यां सामग्रीं प्राप्येयं सामग्री विशकलिता पूर्वावस्थामेव प्राप्स्यति न त्वेवम्रू पा स्थास्यतीत्याशङ्कय सामान्यन्यायेन परिहरति न मयीति, अयं सामग्र्याः संस्कारो यथा संस्कृतो ब्राह्मणोसंस्कृतैरपि सहितो नासंस्कृतो भवति नापि पुनः संस्कारो भवत्यतो भगवति समर्पिता सर्वा सामग्री भगवदीया जाता, कोटिसूर्याधिकज्ञानाग्निरूपो भगवांस्तत्र सर्व बुद्धयधीनमिति बुद्धिश्चेत् समर्पिता तदा सर्वमेव समर्पितमिति बुद्धिसमर्पणमेवाह मय्यावेशितधियामिति, न केवल समर्पिता किन्त्वावेशिता तदुपर्येव स्थापिता बुद्धयधीनः काम इच्छा हि ज्ञानाधीनेति "कामः सङ्कल्प" इत्यादिश्रुतौ "सर्वं मन एवे" तिनिरूपण मनोधर्मत्वात् "मनसस्तु परा बुद्धि" रतो बुद्धयधीन सर्वं, यथा राजनि निगृहीते राज्यमेव तदधीन भवत्येव बुद्धौ निवेदितायां सर्वमेव निवेदितमतः पूर्वावस्थायां यद् रूप तत् तेषां न भवति, कामो हि पुरुषात्मकः "काममय एवाय पुरुष" इतिश्रुतेः, यदि कामः कामाय न कल्पतस्ततोग्रे तस्माद् सङ्घातात् न सङ्घातान्तरमुत्पत्स्यते किन्तु स एवान्तिमः सङ्घातो भवति धिया सह कामस्यापि दग्धत्वात्, काममयश्च सङ्घातः, तत्र दृष्टान्तेनावेशनमात्रेण तस्याकार्यत्व साधयति भर्जिता इति, यवादयो हि भर्जिता धाना भवन्ति धानास्तु भ्रष्टयवा इति, घनं हि घनोत्पादक तथा यवा यवोत्पादका न तु धानावस्थायां, अतः पूर्वावस्थां परित्यज्य ये सम्बन्धमात्रेण तदीया भवन्ति ते न तत्कार्यं कुर्वन्ति, केषाञ्चिद् बीजानां केवलाग्निना बीजशक्तिर्न गच्छति तेषां जलाग्निसंयोगेन गच्छतीति क्वथिता इत्युक्तं, उपलक्षणमेतद् यावता यस्य बीजशक्तिर्गच्छति ततस्तदनन्तरं तत् कार्यक्षमं न भवतीत्यतो धाना जाता भूयो बीजाय नेशते न समर्था भवन्ति, "अथ वाग्न धानासु लीयते धाना भूमौ प्रलीयन्त" इत्यत्र 'धाना'शब्देन बीजान्युक्तानीत्यत्रापि तथैवेति ज्ञेयं, तेन 'भर्जिता' इत्युक्तियुक्ता, अतो मयि समर्पितः कामः पुनः कामान्तरं न जनयिष्यति, सुतरां पूर्वावस्थां न प्राप्स्यति, तथा सति जनयेदेवा'धिक तत्रानुप्रविष्ट'मिति ।।२६।।

व्याख्यार्थ—शंका करते हैं कि समर्पित की हुई सामग्री भी असमर्पित सामग्री के साथ मिलने से फिर कभी कालान्तर में पहली अवस्था–असमर्पितावस्था को प्राप्त हो जाएगी। तदवस्थ–वैसी की वसी नहीं रहेगी ? इसका सामान्यन्याय से–न मयि–इस श्लोक द्वारा समाधान करते हैं। यह सामग्री का संस्कार है। अर्थात्, भगवान् में बुद्धि का आवेश संघात–देहेन्द्रियादि का संस्कार है। इस कारण से, जैसे एक बार संस्कार पाया हुआ ब्राह्मण संस्कार रहित पुरुषों के साथ रहने से बिना संस्कार का नहीं होता और न फिर उसका दुबारा संस्कार ही होता है, उसी तरह यहां भी बुद्धि का आवेश संस्कार रूप होने से, भगवान् में अर्पण की हुई सामग्री भगवदीय हो जाती है और वह फिर कभी असंस्कृत नहीं होती। भगवान् करोड़ों सूर्य से भी अधिक ज्ञानाग्निरूप हैं, और सब बुद्धि के आधीन है। बुद्धि समर्पित करदी, तब तो सब का ही समर्पण हो गया। इसलिए बुद्धि समर्पण ही, 'मय्यावेशितधियां-' पदों से कहा है। बुद्धि का केवल समर्पण ही नहीं किया किन्तु उसका आवेश-भगवान् के ऊपर स्थापित करना कहा है।

बुद्धि के आधीन काम है और इच्छा ज्ञान के आधीन है 'कामः संकल्पः'–इत्यादि श्रुति में–' 'सर्वं मन एव' सब मन ही है–सब मनका धर्म होने से–मनसस्तु पराबुद्धिः–मन से बुद्धि परे है–सब बुद्धि के आधीन ही है। जैसे राजा के पकड़ लिए जाने पर सारा राज्य ही पकड़ने वाले के आधीन हो जाता है, ऐसे ही बुद्धि का निवेदन कर देने पर, सबका ही भगवान् में निवेदन हो जाता है। इससे पहली अवस्था में, जो रूप था वह उनका नहीं होता है। (पर भगवदीय हो गया)। 'काममय एवायं पुरुष'–इस श्रुति के अनुसार काम पुरुषात्मक है। यदि काम के लिए काम का सृजन नहीं होता तो

आगे उस संघात[1] से दूसरा संघात उत्पन्न नहीं होता, किन्तु बुद्धि के साथ काम के भी जल जाने के कारण, वही अन्तिम संघात होता है। संघात काममय है। इस बात को-कि भगवान् पर बुद्धि (कामरूप) का आवेश कर देने पर काम फिर अन्य कामों को उत्पन्न नहीं करता-दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते है.- भर्जिता-भुने हुए जौ आदि को (धानास्तु भ्रष्टयवाः) धाना कहते है। जैसे धन से धन उत्पन्न होता है इसी तरह जौ जौ को उत्पन्न करते हैं, किन्तु भाड़ मे भुन जाने पर, (धाना हो जाने पर) वे फिर अन्य जौ को उत्पन्न नहीं कर सकते। इस लिए पहली अवस्था का त्याग करके, सम्बन्ध मात्र से भी, जो-तदीय भगवदीय-हो जाते है, वे फिर उनका-दूसरे को उत्पन्न करना रूप-कार्य नहीं करते हैं। कई बीज ऐसे भी होते हैं, कि जिन की बीज शक्ति (उत्पादक शक्ति) केवल अग्नि से नष्ट नहीं होती है। उनके लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं, कि-कथिता-जल और अग्नि के सहयोग से उनकी भी बीज शक्ति नष्ट जो जाती है। यह-'भर्जिता कथिता'-भूना हुआ और पकाया हुवा धान्य का तो केवल दृष्टान्त मात्र है। इस से यह सिद्ध है, कि जिससे जिसकी बीज शक्ति नष्ट हो जाती है, फिर वह उस कार्य-अन्य स्वसदृश्य की उत्पत्ति-को नही कर सकता है। जैसे धाना फिर बीज के लिए समर्थ नही हो सकती।

अथवा "अन्नं धानासु लीयते", धाना भूमौ प्रलीयन्ते-इस श्रुति में धाना शब्द से बीज में तण्डुल कहे हैं तो यहाँ भी वैसा ही समझ लेना चाहिए। इसलिए-भर्जिता-भुने हुए कहा है। इस कारण से, जब मेरे लिए अर्पण किया गया काम, दूसरे काम को उत्पन्न नहीं करेगा, तो फिर कभी भी अपनी पहली स्थिति पर नहीं आ सकेगा। इस में तो कहना ही क्या? 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्' -अर्थात् यह तो स्वतः सिद्ध ही है ।।२६।।

लेख—व्याख्या में-'ननु'-आदि से शंका करते है, कि भगवान् को निवेदन किया हुआ संघात[2]-निवेदन नही किए हुए के साथ संग प्राप्त होने से, अनिवेदित हो जाएगा? 'अयम्'-यह सामग्री भगवान् में किया हुआ बुद्धि आदि का आवेश है। 'अतः'-बुद्धि का आवेश संस्कार रूप होने से 'जाता'-इस पद के पीछे-'तथा असंस्कृता न भवति, इतने पदों का अध्याहार जानना चाहिए। 'अकार्यत्वम्'-वह जिससे फिर दूसरा कार्य-कामादि-नहीं हो सकता। 'धाना' धनकी अवस्था विशेष धन की अवस्था में जौ जौ को उत्पन्न कर सकते है। भुने (हुए) पीछे, धाना अवस्था में नहीं कर सकते, क्योंकि धाना अवस्था में, वे धन के केवल सम्बन्धी है, धन[3] रूप नहीं है। इसी अभिप्राय से व्याख्या में 'अतः'-पद का प्रयोग किया है। सुतराम्-यदि दूसरे काम को उत्पन्न करेगा भी तो मेरे सम्बन्धी काम को ही उत्पन्न करेगा। पूर्व सिद्ध काम को उत्पन्न नहीं करेगा ।।२६।।

१—देह। २—शरीर। ३—यव या जौ

श्लोक—याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥२७½॥

श्लोकार्थ—हे अबलाओं ! तुम व्रज में जाओ । तुम्हारा संकल्प सिद्ध हो गया । हे सतियों ! जिस (रमण) के उद्देश्य से तुमने कात्यायनी का पूजन रूप यह व्रत किया है वह रमण तुम मेरे साथ इन रात्रियों–(जिनका मैं तुम्हें दर्शन करा रहा हूँ)–में करोगी ॥२७½॥

सुबोधिनी—यत्र क्वापि तिष्ठन्तु न प्राकृतत्व भविष्यत्यतो गच्छतेत्याह **याताबला** इति, पुनः स्वकीयत्वेन सम्बोधनं स्नेहं सूचयति सह पर्यटन तु बलकार्यं यथा **भूमिर्नान्यत्र** नीयते भौमा एव च नीयन्ते तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इति भवानेव वा स्थित्वा तथा करोत्वित्याशङ्क्याह **सिद्धा** इति, न भवतीषु किञ्चत् साध्यमस्ति किन्तु सिद्धा एव भवत्यः, अतो **व्रजं यात** गच्छत, अलौकिकीं च दृष्टिं दत्वाह **मयेमा** रंस्यथ क्षपा इति, **इमाः** परिदृश्यमाना क्षपा मय्येव विद्यमानाः **क्षपा** रात्रीर्**मया** सह **रंस्यथ** रमणं करिष्यथ, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, रमणसहितास्ताः प्रदर्शिता इति न सन्देहः, नन्वेतदेव कथं फलं नित्यसम्बन्धोन्यो वाहोरात्रसम्बन्धः कथं नोच्यते इत्याशङ्क्याह **यदुद्दिश्येति**, **रमणमेवोद्दिश्येदं व्रत चेरुरार्यायाः** कात्यायन्या **अर्चन**लक्षणं, स्वार्चनस्य तु सत्यत्वे विनियोगो रमणं तु तद्व्रतफलं तत्र तु मास एव नियामको रात्र्यन्ते च पूजनमतो रात्रावेव परिमितकाले रमण न दिवसे नाप्यपरिमितकाले, किञ्च सतीर्हि सतीरूपाः, पूर्वसवर्णोत्र, सतीनां न दिवसे रमणं नापि सर्वदा यथेष्टमिति, अतो विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यतीतिभावः, प्रथमवाक्यसमागमने तु भगवदाज्ञाकरणादक्षयमेव फलं भवेत् कर्मफलं तु क्षयिष्णु ॥२७½॥

व्याख्यार्थ—जहां कहीं भी रहो, अब तुम्हारी फिर प्राकृत अवस्था नहीं होएगी । इस लिए तुम जाओ–यह–'याताबला'–इस श्लोक से कहते हैं । स्वकीय[1] मान कर फिर–अबलाः–किया हुआ सम्बोधन स्नेह को सूचित करता है । भाव यह है, कि मेरे साथ साथ घूमना, बल (शक्ति) का काम है और तुम तो अबला हो । जैसे पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, किन्तु उसके निरर्थक घास फूस आदि अंकुरों को ही दूर किया जा सकता है, इसी तरह तुम्हें भी दूर ले जाने की आवश्यकता नहीं है । शंका—यद्यपि पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, तो भी, उस पर संस्कार के लिए खोदना आदि व्यापार तो होता है, इसी तरह आप ही विराज कर हमारी योग्यता सिद्ध करने के लिए कोई व्यापार करें ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि–'सिद्धा'–तुम सिद्ध हो चुकी हो । तुम में अब, कुछ सिद्ध करना बाकी नहीं है, तुम सिद्ध ही हो । इस लिए तुम व्रज को जाओ । उन्हें अलौकिक दृष्टि देकर कहते हैं कि,–मयेमा रंस्यथ क्षपाः'–इन रात्रियो में तुम मेरे साथ रमण करोगी । 'इमाः'–जिन रात्रियों को मैं तुम्हें दिखा रहा हूँ, जो मेरे भीतर ही स्थित हैं, इन रात्रियों

१—अपना ।

में मेरे साथ रमण करोगी ।–(रात्रीः) क्षपाः–यहाँ अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति है। रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया इससे रमण में सन्देह नहीं है।

शंका—भगवान् ने उन्हें अपना नित्यसंबन्ध अथवा (कभी रात कभी दिन) रात दिन का सम्बन्ध न देकर यह रमण रूप फल ही क्यों दिया ? उत्तर में कहते हैं कि–यदुद्दिश्य–रमण को ही उद्देश्य करके आर्या (कात्यायनी) का अर्चन रूप व्रत किया था।

भगवान् की पूजा करने का तो उनकी भावना के मनोरथ का सत्य होना फल है (भगवान् की पूजा से तो संकल्प सत्य हुआ) और रमण तो कात्यायनी के व्रत का फल है। उसमें भी, एक मास ही नियामक था और रात्रि के अन्त में पूजन किया था। इससे रात्रि में–परिमित अथवा निश्चित किए हुए समय में ही रमण हुआ दिन में अथवा अपरिमित समय में नहीं हुआ। 'सतीः' तुम सतीरूप हो सतियों का रमण दिन में अथवा इच्छानुसार सदा नहीं होता है। इस से विवाहिता के न्याय से रमण होगा–ऐसा भाव है। भगवान् के पहिले वाक्य को सुन कर ही, यदि ये आ जाती तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने से इन्हें अक्षय फल की प्राप्ति होती। कर्म का फल तो क्षयवाला है ॥२७½॥

टिप्पणी—'यातावलाः' की व्याख्या में –'यथा भूमि ?-जैसे भूमि इत्यादि। भगवान् के विषय का काम अन्य काम को उत्पन्न नहीं करता–इस में–धाना–(धाणी) का दृष्टान्त दिया है। जैसे जौ पूर्वावस्था–(यव)[1] की अवस्था में पृथ्वी में बोए जाएँ तो अंकुर उत्पन्न करते हैं। उसमें विजातीय अंकुर की उत्पत्ति को रोकने और (भूमि) उसकी रक्षा करने के लिए पृथ्वी को किसी दूसरे स्थान में नहीं ले जाया जाता, किन्तु उसके उपर्युक्त दोष ही दूर किए जाते हैं।

यहां इस प्रकृत (चालू) प्रसंग में इन स्वामिनी (गोपीजनों) के हृदय में यह इच्छा थी, कि अब से भगवान् जहां कहीं भी, हमें अपने साथ ही ले पधारें। किन्तु रस की पुष्टि के लिए और लोक से विरुद्ध होने के कारण रसाभास हो जाने की सम्भावना से अभी, सदा संग रखना उचित न समझ कर, भगवान् ने उन्हें आज्ञा दी, कि हे अबलाओं ! तुम व्रज को जाओ।

अथवा भूमि सम्बन्धी हल कूली आदिक ही भूमि के पास ले जाए जाते हैं पृथ्वी को दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जाता–ऐसा अर्थ है। इस से जब जब आवश्यकता होगी, तब तब सन्ध्या आदि के समय में, मैं तुम्हारे लिए व्रज में आऊंगा–यह भाव सूचित होता है। 'रमण सहितास्ताः'–रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया। ये रात्रियाँ केवल रमण के लिए ही प्रकट हुई हैं–इस अर्थ को बतलाने वाला धर्म उन मे स्थित है। ऐसी उन रात्रियों के दर्शन से उन्हें अपने रमण का निश्चय भी हो गया।

१—जौ अनाज।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान् निर्विविशुर्व्रजम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार भगवान् के कहने से अपने मनोरथ को सिद्ध हुआ मानने वाली वे कुमारिकाएं भगवान् के चरणों का ध्यान करती हुई बड़े कष्ट से व्रज को लौट कर गई ॥२८॥

लेख—'यातावलाः'—की व्याख्या में रात्रि और रमण का अत्यन्त संयोग अर्थ है 'रमण सहितास्ताः प्रदर्शिताः'-(रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया) इन पदों से रमण सहित उन भावी आने वाली रात्रियों का दर्शन करा देने से भविष्य का कोई सन्देह नहीं रहा। इसको अक्षरार्थ समझो। नित्यसम्बन्ध–अन्तर्गृहता की तरह सर्वदा नित्य सम्बन्ध। यदि ऐसा नहीं हो तो इनको अन्तर्गृहता की तरह विप्रयोग का अनुभव न हो। इस अरुचि से दूसरा अर्थ–'अहोरात्र'–पद मे कहते हैं कि, कभी दिन रात में, कभी दिन दिन में,–इस तरह प्रति दिन।

योजना—'यातावला'–की व्याख्या में–तथापि संस्कारार्थ कर्षणवत्–(तो भी संस्कार के लिए खोदते हैं जैसे)। यद्यपि भूमि के दोष ही दूसरे स्थान पर ले जाए-हटाए-जाते हैं भूमि को नहीं ले जाया जाता, तो भी उसके ऊपर का कूड़ा आदि तो हल कूली आदि चला कर दूर किया जाता है, इसी तरह हमारे लिए भी आपका भजन करने में उपयोगी संस्कार करना उचित है। 'इमाः क्षपाः—ये रात्रियाँ मेरे में ही रही हुई रात्रियाँ।

शंका—यह वस्त्र-हरण-लीला हेमन्त ऋतु में और दिन में हुई थी, तब-इमाः क्षपाः-ये रात्रियां ऐसा क्यों कहा गया और यदि रात्रि के विषय में कहा है, तव रात्रियों की समानता को लेकर कहा गया है तो शरद् ऋतु की रात्रियां-ऐसा अर्थ हो सकता है। किन्तु यहाँ तो शरद् ऋतु नहीं किन्तु हेमन्त है और रात्रि नहीं किन्तु दिन है। इस कारण से-ये रात्रियां-कहना उचित नहीं है, क्योंकि रमण तो-'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'—इस पद के अनुसार शरद् ऋतु में हुआ है ? समाधान-ये रात्रियां अलौकिक है, भगवद्रमण की आधार भूत हैं, नित्य रमण सहित हैं तथा जगत् की इन लौकिक रात्रियों से भिन्न है। अलौकिक शरद् ऋतु सम्बन्धी है और भगवान् में नित्य स्थित है। इससे भगवान् ने हेमन्त ऋतु और दिन में भी, उन रात्रियों का दर्शन गोपीजनों को कराया यह सब इमाः' शब्द से सिद्ध होता है क्योंकि-इदम्* शब्द का प्रयोग समीप रहने वालों के लिए किया जाता है ॥२७॥

---

*इद मस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तुविप्रकृष्टं तदतिपरोक्षे जानीयात्।

सुबोधिनी—ततो भगवताज्ञप्ता आज्ञोल्लङ्घनभीता व्रज गता इत्याह इत्यादिष्टा इति, यद्यपि कामो महांस्तथापि भगवदिच्छया बाध्यते मनोरथश्च प्राप्तः परं साक्षाद्विवाहाभावात् कुमारिका एव, तासां रसान्तरव्यावृत्त्यर्थं भक्तिमाह ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजमिति, हृदि भगवच्चरणकमलं ध्यायन्त्यः, कृच्छ्रादिति कष्टं प्राप्य मध्ये गन्तुमशक्ताः कथञ्चिद् व्रजं निर्विविशुर्गृहगमनाज्ञया तादृशस्तापो वृत्तो येन जीवनमपि तत्कालीनं न सम्पद्येत यदि पदाम्भोजध्यानं न स्यात् तस्मिन् सति तद्विषयस्याम्भोजत्वेन तापहरणाज् जीवनसम्पत्तिरभूत् तथापि कृच्छ्रादित्युक्तेस्तद्ध्यानं तापकार्यप्रतिबन्ध एवोपक्षीणं न तु तद्धरणेपीति ज्ञाप्यते, एवं साधिकैस्तत्त्वैस्तासामर्धभक्तिर्निरूपिता तत्त्वातिक्रमश्च ।।२८½।।

व्याख्यार्थ—आज्ञा के उल्लंघन से डरी हुई वे भगवान् की आज्ञा पाकर व्रज में गई-यह-'इत्यादिष्टा'-श्लोक से कहते हैं। यद्यपि उनका काम रमण का था, वह रमण तो अभी हुआ नहीं,-तब-"लब्धकामाः"-क्यों कहा गया? इस शंका के उत्तर में कहते हैं, कि यद्यपि उनका काम अथवा मनोरथ तो वहुत बड़ा था जो भगवान् की इच्छा से [illegible]त (रुक) हो गया था, तो भी, पति होना रूप मनोरथ तो प्राप्त हो गया था, किन्तु साक्षात् [illegible] के न होने से, वे अभी कुमारिका ही रहीं। उनको अन्य रस-(रसान्तर)-नहीं हुआ-इसको बताने के लिए-'ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं'-से उनकी भक्ति का वर्णन करते हैं। वे अपने हृदय में भगवान् के चरण कमल का ध्यान करती थीं। 'कृच्छ्रात्'-दुःख पाकर जाने में असमर्थ हुई भी वे ज्यों त्यों करके व्रज को गईं। घर जाने की आज्ञा से उन्हें इतना सन्ताप हुआ कि, जिस से, जीवन रहना भी उस समय असम्भव हो जाता। यदि उन्हें चरण कमल का ध्यान न होता। चरण कमलों का ध्यान करने पर, कमल में सन्ताप दूर करने का गुण होने के कारण, जीवन तो रहा, किन्तु वह केवल जीवन को ही रख सका, ताप को दूर नहीं कर सका-यह ज्ञात होता है। इस प्रकार साढे अट्ठाईस श्लोकों से उनकी अर्धभक्ति का और तत्वों के अतिक्रम का भी निरूपण किया है ।।२८½।।

श्लोक—अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः ।
वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ।।२९½।।

श्लोकार्थ—इसके पीछे नया प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं कि गोपगण सहित देवकी नन्दन भगवान् बड़े भाई बलदेवजी के साथ गाएँ चराते हुए वृन्दावन से दूर निकल गए ।।२९½।।

टिप्पणी—तासामर्धभक्तिः—अंग संग न होने के कारण अर्ध भक्ति कही है।

लेख—इत्यादिष्टाः—की व्याख्या में शंका करते हैं, कि उनका काम तो रमण का था और वह अब तक तो हुआ नहीं था, तो फिर-'लब्धकामाः-(सिद्ध काम वाली) कैसे कहा गया? इसका उत्तर गए श्लोक 'याताबलाः-में 'सिद्धाः' पद से कहा गया है, कि मनोरथ और भगवान् का पतिभाव इन्हें प्राप्त हो चुका है।

योजना—साधिकैस्तत्त्वैः-साढे अट्ठाईस तत्वरूप श्लोकों से ।।२८½।।

सुबोधिनी—अथ ज्ञान निरूप्यतेऽन्यथा गोपालाना-मनर्थपर्यवसानं स्यात् तैर्यद्यन्यार्थता बुध्येत तदा क्रमेण भगवदर्थमेव सर्वमिति ज्ञातं भवेदतस्तेभ्यः परार्थतां विद्यां प्रथमपर्वरूपां भगवान् भगवान् बोधयितुंस्थानान्तरे जगामेत्याहाथेतिदशभिः, अथ भिन्नप्रक्रमेण गोपैर्वृतो भगवान् भक्तोद्धारार्थ प्रवृत्तो वृन्दावनाद् दूर गतो वृन्दावन परित्यज्याग्रे गतो वृन्दावनस्य तु स्त्रीप्राधान्याज् ज्ञानं न भविष्यतीति, तत्र गतानां ज्ञानार्थं प्रथमतो धर्ममाह चारयन् गा इति, पूर्वं तु न गोभिः सहितो नापि गोपालसहितो नापि बलभद्रसहितः पश्चादेव च ते मिलितास्तस्मिन्नेवावसरे तदुक्त्वा ज्ञापितमथ गोपैरिति ॥२६३॥

व्याख्यार्थः—अब-भगवान् ने गोपों को ज्ञान दिया-इस का निरूपण करते हैं। ज्ञान-अर्थात् अपना सारा संघात[1] परोपकार के लिए ही होना चाहिए ऐसा ज्ञान दिया। यदि उनको ऐसा ज्ञान दिया। यदि उनको ऐसा ज्ञान नहीं होता, तो उनके लिए परिणाम अच्छा नहीं होता (अनर्थमय होता)। यदि वे ऐसा जानलें कि शरीर इन्द्रियादि सब संघात परोपकार के लिए है तो, धीरे धीरे यह भी जान जाएंगे, कि व्रज की सारी वस्तुएँ भगवान् के लिए ही हैं। इस कारण से, उन्हे परोपकार रूप विद्या (विद्याका) के प्रथम पर्व का ज्ञान देने के लिए भगवान् दूसरे स्थान पर गए-यह-"अथ गोपैः" इस श्लोक से आरम्भ करके दश श्लोकों से कहते हैं।

'अथ' कहने से यहाँ से नए प्रकरण का आरम्भ होता है। भक्तों का उद्धार करने के लिए ही सारी लीला-प्रवृत्ति-करने वाले भगवान् वृन्दावन से दूर पधारे। (वृन्दावन को छोड़ कर आगे गए) वृन्दावन में स्त्रियों की प्रधानता के कारण यहाँ गोपों को ज्ञान न होगा-ऐसा विचार करके, वृदावन को छोड़ कर आगे चले गए। वहाँ साथ में गए हुए गोपों को ज्ञान देने के लिए पहले "चार-यन्गाः"-पदों से धर्म का निरूपण करते हैं। 'अथ गोपैः—इत्यादि पदों से ऐसा जाना जाता है कि भगवान् के साथ पहिले तो गायें, गोप और बलभद्रजी कोई भी नहीं थे उसी समय आकर पीछे ही मिले थे ॥२६३॥

टिप्पणी—"अथ गोपैः"-इस श्लोक में कहे गए गोप पहले के साथी वयस्य नहीं थे। ये तो उन से भिन्न ही थे, क्योंकि भगवान् के "वयस्य" कोई गोपाल नहीं थे। इसी से उनके लिए 'वयस्य' न कह कर 'गोप' कहा गया है। यदि स्तोक आदि को यह ज्ञान नहीं होता, कि व्रज की सारी वस्तुऐं भगवान् के लिए ही है, तो कुमारिकाओं का वृत्तान्त सुन कर, भगवान् पर दोषारोप करते। यह दोषारोप ही अनर्थ रूप है और यदि सब पदार्थ भगवान् के लिए ही हैं-ऐसा जाना जाए तो दोषारोप की सम्भावना ही न हो।

"वृन्दावनस्य स्त्रीप्राधान्यात्"-(वृन्दावन के स्त्रीजन प्रधान होने से) इत्यादि। यहाँ ज्ञान शब्द का (अन्य के लिए) व्रज के पदार्थों को दूसरों के लिए जानना-ऐसा अर्थ है। भगवदीय व्रज की स्त्रियों को तो यह दृढ ज्ञान

१—शरीर, देह।

श्लोक—निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥३०॥

श्लोकार्थ—उष्ण काल के सूर्य की घोर घाम में अपनी छाया के द्वारा अपने ऊपर छत्ररूप हुए वृक्षों को देखकर, भगवान् ने व्रजवासियों से कहा ॥३०॥

सुबोधिनी—तदा कियद् दूरे गत्वा श्रान्तेषु सर्वेषु क्वचित् छायामुपविष्टेषूपदेशार्थं किञ्चिदाहेत्याह निदाघेति, निदाघकाले योऽर्कस्तस्यातपे तिग्मेपि स्वाभिश्छायाभिरात्मनः स्वस्यातपत्रायितान् श्वेतच्छत्राकारेण समागच्छतः पूर्ववर्णितान् वृक्षान् वीक्ष्य व्रजौकसो गोपान् प्रत्याह व्रजजातापेक्षया वनजाता एव वृक्षाः समीचीना इति, पञ्चपर्वां विद्यां बोधयिष्यति वृक्षदृष्टान्तेन, वृक्षेषु चतस्रो विद्याभेदो गोपेष्वेका, यथा ता अपि चतस्रो भवन्ति तदर्थमुपदेशः, यद्यपीदानीं न निदाघकालो नाप्येत आतपत्रायिताः किन्तु तेषां पूर्वावस्थामेव स्मृत्वा साम्प्रतं तान् द्रुमान् दृष्ट्वाह ॥३०॥

व्याख्यार्थ—फिर कुछ दूर जाकर, उन सब के थक कर किसी छाया के स्थान में बैठ जाने पर, भगवान् ने उपदेश के लिए, उनसे कुछ कहा । यह–'निदाघार्कातपे'–इस श्लोक से कहते हैं । उष्णकाल

है, कि भगवान् का प्राकट्य केवल हमारे लिए ही है और इसका कारण, रसभावना की प्रचुरता ही था । इसी से वे आगे कहेंगे कि व्रजजन ‡ की आर्ति दूर करने के लिए ही आप प्रकट हुए हो, यह स्पष्ट है । ऐसी स्थिति में व्रज की स्त्रियों को वृन्दावन में यही ज्ञान दृढ है कि भगवान् के लिए ही अपना सर्वस्व है । इसके विपरीत–अपना सर्वस्व किसी और (दूसरे) के लिए है–ज्ञान उनमें सम्भव नहीं है । भगवान् से अतिरिक्त वस्तुओं में तो, उनकी उपेक्षा ही है । इस लिए वृन्दावन में, सभी भगवान् के लिए होने के कारण–दूसरा और दूसरे के लिए–ऐसे ज्ञान की वहाँ सम्भावना नहीं है ।

लेख—प्रथम पर्वरूपाम्–प्रथम पर्व है । टिप्पणी में इस अध्याय के प्रारम्भ में ही–'विद्यापंचकम्'–ऐसा कहा गया है । उसके अर्थ में कहा हुआ प्रथम पर्वरूप ।

योजना—'प्रथमपर्वरूपाम्'–जो प्रथम पर्व है । वैराग्य, सांख्य, योग, तप, और केशव में भक्ति–ये पांच विद्या के पर्व है जिस विद्या से, विद्वान हरि में प्रवेश करता है । इस वाक्य में 'वैराग्य' का नाम प्रथम कहा है । इस से प्रथम पर्वरूपा का अर्थ वैराग्य रूप विद्या समझना चाहिए । वैराग्य के होने पर ही, परोपकार के लिए ही अपना सर्वस्व है ऐसा ज्ञान होता है ॥२९॥

---

‡ व्यक्तं भगवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजातः—भा०/गोपी गीत

में सूर्य की तीक्ष्ण घाम में भी (भगवान् के ऊपर श्वेत छत्र के रूप) अपनी छाया के द्वारा भगवान् पर श्वेत छत्र के रूप में छाए हुए पूर्व वर्णित वृक्षों को देख कर, भगवान् ने गोपों से कहा–व्रज में उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा वन में उत्पन्न होने वाले वृक्ष ही अधिक अच्छे हैं। वृक्षों के दृष्टान्त से, पञ्चपर्वा विद्या का ज्ञान, भगवान् गोपों को करावेंगे। वृक्षों में, विद्या के चार भेद हैं और गोपों में एक भेद है। जिस प्रकार से, गोपों में भी विद्या के एक भेद के चार भेद हों, उसी प्रकार, भगवान् उपदेश देते हैं। यद्यपि अभी न तो उष्ण काल ही है और न ये वृक्ष ही छत्ररूप हो रहे हैं, किन्तु, उनकी पहली अवस्था का स्मरण करके इस समय वृक्षों को देख कर बोले ॥३०३॥

श्लोक—हे कृष्ण स्तोक हे अंसो श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥३१३॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण, स्तोक, हे अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, हे विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरुथप मित्रों ॥३१३॥

सुबोधिनी—अत्रैकादशमुख्याधिकारिणो गोपा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृरूपास्ते चेत् परार्थास्तदा सर्वं सिद्धमिति तान् सम्बोधयति हे कृष्णेति, भगवतो नामकरणे अन्या अपि गोपिकाः स्वपुत्रनाम तथा कृतवत्यः, **स्तोको** द्वितीयः, **अंसुरपरः**, **श्रीदामा सुबलोर्जुनो** विशाल ऋषभस्तेजस्वी देवप्रस्थो **वरूथपश्च**, वरूथपो मनसस्तन्निकटस्थानि निकटस्थस्यैव, **कृष्णो** वाचः, **स्तोको** रसस्य, एकत्रोभयसत्त्वात्, पुनरन्येषां भिन्नतया सम्बोधनं, **अंसुर्घ्राणस्य**, श्रीदामा चक्षुषः, **सुबलो** बाह्वोः, **अर्जुनः** श्रोत्रयोः, विशालस्त्वचः, **ऋषभः** पादयोः, अवशिष्टस्**तेजस्वी** पाकज्ञापकत्वात्, एतेषां भगवता सह संव्यवहार इति महत् पर्व सिद्धं तत् सम्बोधनेन निरूपितम् ॥३१३॥

व्याख्यार्थ—यहाँ ग्यारह मुख्य अधिकारी गोप ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। यदि वे परोपकार परायण हो जाते हैं, तो सब ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए–'हे कृष्ण'—इस श्लोक से उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं।

हे कृष्ण ! भगवान् का नाम करण हुआ, तब किसी और गोपियों ने भी अपने पुत्रों का नाम यही रखा था। स्तोक दूसरा, तीसरा अंसु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप। वरूथप मन का अधिष्ठाता है। जो जिसके पास हो, वही उसका अधिष्ठाता

टिप्पणी—'निदाघार्कातपे'–की व्याख्या में–'व्रजजातापेक्षया'–(व्रज में उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा) इत्यादि व्रज में उत्पन्न होने वाले तो भगवान् के पास जाने से ही रोकते है और ये वन जात वृक्ष तो भगवान् के रमण के अनुकूल हैं। इस कारण से व्रजवासियों की अपेक्षा, ये वृक्ष अधिक उत्तम हैं। अथवा यहां वृक्षों के लिए ही कहा गया है। व्रज के वृक्षों का लीला विशेष में, उपयोग नहीं है और वनजात वृक्षों का तो है। इसी लिए उनसे ये उत्तम है ॥३०३॥

है। कृष्ण वाणी का, स्तोक रस का, अधिष्ठाता है। वाणी और रस दोनों एक स्थान पर रहते हैं इस से दोनों–कृष्ण, स्तोक–का साथ ही सम्बोधन है, और फिर औरों का भिन्न भिन्न सम्बोधन किया है। अंसु घ्राण[1] का अधिष्ठाता है। श्रीदामा नेत्र का, सुबल भुजाओं का, अर्जुन कानों का, विशाल त्वचा का ऋषभ पैरों का, और बाकी रहा तेजस्वी पचाने का कार्य करने वाला होने से, पायु[2] का अधिष्ठाता, देव प्रस्थ उपस्थ[3] का अधिष्ठाता है, इन सब का भगवान् के साथ ठीक व्यवहार होना एक बड़े भारी पर्व का सिद्ध होना है। इस बात का-उनको सम्बोधन करके-निरूपण किया है ॥३१½॥

श्लोक—**पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवनान् ।**
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२½॥

श्लोकार्थ—इन महाभाग्यशाली वृक्षों को देखो, इनका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है। ये स्वयं आँधी, वर्षा, धूप और पाला सहकर उनसे हम को बचाते हैं ॥३२½॥

सुबोधिनी—द्वितीयमाह पश्यतेति, धर्मः प्रथमं सर्वपरित्यागेन परार्थता द्वितीयं सर्वत्र भगवद्बुद्धिस्तृतीयं तस्य ज्ञापिका सर्वसेवा, अकामश्चतुर्थो भगवदीयानां चेदेतच्चतुष्टयं तदा कृतार्थता भवतीति, प्रथमो यादृशो धर्मोपेक्ष्यते तादृशमाह पश्यतेति, आदौ धर्मसन्देहे धर्मात्मानो द्रष्टव्या धर्मो हि भाग्यवतामेव फलति, अन्यथा विघ्नः स्यात्, भाग्यं च महतः, तस्य ज्ञापकं यशः, सर्वरुच्यमानं, तदाह महाभागानिति, धर्मस्वरूपमाह परार्थेति, जीवनं तदुपकरणं च स्वस्य तत्र परार्थमेव चेज् जीवितं तदान्ते धर्मो निरूपितः स हि मुख्योऽन्ते

लेख—'हे कृष्ण'–की व्याख्या में 'इन्द्रियाधिष्ठातृ रूपाः'–जिन के रूपों में इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं वे। 'पाकज्ञापकत्वात्' अश्रु आदि पायु इन्द्रियों का कार्य है। उनके द्वारा अन्तः स्वेद[4] और पाक होता है तेज से ही चाँवल आदि का पाक होता है–यह भाव है।

योजना—हे कृष्ण स्तोक–की व्याख्या में–'अत्रैकादश मुख्याधिकारिणो गोपाः'–कृष्ण नाम वाले गोप से प्रारम्भ करके वरूथप नाम के गोप तक एकादश हैं। 'इन्द्रियाधिष्ठातृ-रूपाः'–जिन भक्तों का निरोध कराना है उनकी एकादश इन्द्रियों के अधिष्ठाता ये गोप हैं। सारे वैकुण्ठ को पृथ्वी पर उतार लाए कृष्णोपनिषद् के कथानुसार कृष्णावतार का सारा परिकर वैकुण्ठवासी है इस कारण से ये सखा भी वैकुण्ठवासी हैं और व्रज में जिन भक्तों का निरोध कराना है, उनकी एकादश इन्द्रियों के अधिष्ठाता (रूप से) भगवान् के साथ ही यहाँ अवतरित हुए हैं–ऐसा समझना चाहिए। व्रजवासी सब अलौकिक हैं इसलिए उनकी इन्द्रियों के अधिष्ठाताओं का भी प्रपञ्च से अतीत वैकुण्ठ का परिकर रूप होना उचित ही है ॥३१½॥

१—नाक। २—गुदा। ३—गुप्त स्थान। ४—पसीना।

या मतिः सा गति'रितिसामान्यपक्षं व्यावर्तयति, परार्थमेवैकान्ततो जीवनं वर्तते येषामिति, एकान्तजीवनत्वात् न स्वार्थपरार्थत्वरूपमध्यमत्वं, स्वार्थं त्वधमं. एवं स्वरूपतोन्ततो धर्मं निरूप्य बाह्यधर्ममाह वातवर्षेति, जीवनेने हि वर्धते शरीरं सा वृद्धिः परेच्छयैव, यदि च परो वृद्धिं न मन्यते तावतैव दारुणा कार्यमिच्छति, एवं जीवनं चेत् परार्थता भवति तथा धर्मोपि यदि परार्थं एव भवेत्, केवलश्चेदधमः, उभयार्थश्चेत् काम्यो मध्यमो यथोपवासाः, विद्यमानमन्नमन्येभ्यो दत्वा तदभावे रन्तिदेवस्येव ते मोक्षहेतवः, स्वतोप्यभावेन्यतः पोषणे तेषां दुःखाभावाय मध्यमः, तदुभयाभावे क्लेशात्मकः, निर्हेतुश्चेदधमोपि महान्, सकामश्चेन् मध्यमः, अन्यापकारी त्वधमाधमः, तत्रोत्तममाह, वातवर्षा आतपो हिमश्च त्रयः कालगुणाः, आद्यश्चतुर्णां सहकारी, एतान् सहन्तोन्येषामेतान् वारयन्ति तत्रापि नोस्माकं, अनेन प्रमाणं प्रत्युपकाराभावश्चोक्तः, बाह्यमेतदेव तपः, अनशनादिकं तु प्रायश्चित्तमिति न धर्मत्वेन परिगणितं, अन्ये सर्वे भेदा हीनाः ॥३२½॥

व्याख्यार्थ—विद्या के दूसरे पर्व को–'पश्यतैतान्'–इस श्लोक से कहते हैं। धर्म-उन बाकी चार में से प्रथम पर्व है। सब का परित्याग करके परोपकार-परायण होना-दूसरा पर्व है। सत्र स्थानों में भगवद्बुद्धि रखना-तृतीय पर्व है, जो सबकी सेवा से जाना जाता है। अकाम-निष्काम होना चौथा पर्व है। इन चारों की प्राप्ति होने पर, भगवदीय कृतार्थ होते हैं। पहिले, जिस प्रकार के धर्म की आवश्यकता है, उस धर्म का वर्णन–'पश्यत'–श्लोक से करते हैं। धर्म में सन्देह हो तो धर्मात्मा पुरुषों को देखो। धर्म भाग्यशाली पुरुषों को ही फल देता है। बिना भाग्य के धर्म का आचरण करने में विघ्न होता है। भाग्य भी महापुरुषों का देखना चाहिए। भाग्य का ज्ञान यश से होता है। यश वह है, जिसका सब गुण गान करें। उस यश को–'महाभागान्'–पद से कहा है 'परार्थ' इत्यादि पद से धर्म का स्वरूप कहते हैं जीवन और जीवन का उपकरण–सब सामग्री–। इनमें भी यदि जीवन परोपकार के लिए हो जाए, तो अन्त में धर्म सिद्ध हो गया–यह निरूपण किया। वही मुख्य धर्म है क्योंकि‡ अन्त में जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है–इस सामान्य पक्ष का निवारण करते हैं, अर्थात् सामान्य रीति से, सब धर्म ऐसा नहीं है, किन्तु जो अन्त में सिद्ध हो, वही धर्म है।

परोपकार ही जिनका वास्तविक जीवन है यह–'एकान्तजीवनात्'–पद का तात्पर्य है। जिनका जीवन कुछ अपने लिए और कुछ परोपकार के लिए होता है, वे मध्यम हैं। और जिनका जीवन केवल अपने लिए ही हो, वे तो अधम हैं। इस प्रकार स्वरूप से अन्त में धर्म का निरूपण करके बाह्य धर्म वर्णन करते हैं–'वातवर्षेत्यादि'–के द्वारा जीवन से शरीर बढ़ता है। वह वृद्धि भी पराए की इच्छा से ही होती है। यदि पराया पुरुष उन वृक्षों के बढने देने की इच्छा न करे और उतनी सी ही लकड़ी से अपना कार्य करना चाह लेता है तो वृक्ष को काट कर उसकी वृद्धि को रोक देता है–इस से सिद्ध है कि वृद्धि का आधार दूसरों की इच्छा ही है। इस प्रकार जीवन हो तो, परार्थता सिद्ध होती है। इसी तरह धर्म भी परार्थ हो तब ही सिद्ध हो। यदि केवल स्वार्थ ही हो तो अधम है और जो स्वार्थ और परार्थ दोनों के लिए होता है वह काम्य होने के कारण मध्यम है। इस में उपवासों का दृष्टान्त देते हैं। अपने पास के अन्न को दूसरों के लिए देकर स्वयं रन्तिदेव की तरह उपवास से रह जाना ऐसा उपवास मोक्ष देने वाला है और उत्तम है। अपने पास भी अन्न न हो और देने में दाताओं की

‡अन्ते मतिः सा गतिः। यं यं वापि स्मरन् भावं–गीता

पीड़ा होने का विचार करके ओरों से भी अन्न न मांग कर किया हुआ उपवास मध्यम है और दोनों के अभाव में–अपने पास भी अन्न न हो और ओरों से भी अन्न न मिलने के कारण-किया हुआ उपवास क्लेशात्मक होने से, अधम है। वह अधम उपवास भी यदि अपना अथवा दूसरों का हित करने के संकल्प के बिना- 'निर्हैतुक'–हो तो उत्तम है। अपने या पराए के हित के संकल्प से किया हो तो मध्यम और पराए का अपकार[1] करने के लिए किया हुआ उपवास तो, अधमाधम (अधम में अधम) है।

इन में उत्तम धर्म का निरूपण–'वातवर्षातपेत्यादि' पद से करते हैं। वात, वर्षा, आतप और हिम–इनमें तीन–वर्षा, धूप और शीत–तो-वर्षा काल, उष्णकाल और शीतकाल-काल के गुण हैं और पहला वायु–इन तीनों का सहकारी[2] है, क्योंकि वायु के साथ रहने पर, ये तीनों असह्य[3] तथा घोर पीड़ाजनक हो जाते हैं। ये (वृक्ष) स्वयं इन सब को सह करके भी दूसरों के लिए वर्षा, आतप हिम को दूर करते हैं, 'न:'–हमारा स्वयं के वर्षादि को दूर करते हैं, न केवल ओरों के ही, किन्तु हमारे भी, वर्षादिजनित क्लेश को दूर करते हैं। इस कथन से प्रमाण भी सूचित किया और प्रत्युपकार का अभाव भी निरूपित किया। बाह्य[4] तप यह ही है अनशन[5] आदि तो प्रायश्चित होने से, धर्म में उनकी गणना नहीं है। अन्य सब भेद, हीन[6] हैं ॥३२½॥

टिप्पणी—'पश्यतैतान्'—की व्याख्या में 'तदा अन्ते धर्मः' इत्यादि। 'परार्थजीवनान्'–दूसरों के लिए जिन का जीवन है–इतना कहने से ही, यहां अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है फिर भी–एकान्त–इन दोनों पदों के कहने का तात्पर्य कहते हैं:—जीवन परोपकार करने का साधन है। इस कारण से, उसके पहिले के जीवन को भी, परोपकार का साधन ही कहना चाहिए इससे यह सिद्ध हुआ कि पीछे से सिद्ध हुआ परोपकार–पदार्थ–पूर्व काल के जीवन के अन्त में होता है। यह परार्थ किसी प्रसंग को लेकर होने वाला परार्थ नहीं है, किन्तु समझकर परार्थ के उद्देश्य से ही किया हुआ होने के कारण वह मुख्य परार्थ है। इसी लिए 'एक' पद का प्रयोग किया है। 'अन्ते या मतिः सा गतिः'–इत्यादि से, व्याख्या में, यही बात कही है। इस प्रकार परार्थ ही है एक मुख्य जिसके अन्त में, यह मूल का अर्थ सिद्ध होता है। इसी पक्ष में दूसरी रीति से भी हो सकने वाली योजना को–एकान्ततः –इत्यादि से कहते हैं। यथोपवासाः–इत्यादि। उसी का विवरण 'विद्यमानं'–इत्यादि से किया है। वह यों है, कि अपने पास जो अन्न था, उसे दूसरों को देकर उस अन्नाभाव से जो उपवास रन्तिदेव के हुए थे वे मोक्ष के कारण हुए। इस से उसकी तरह हुए उपवास उत्तम हैं। 'स्वतः इति'–अपने पास अन्न न होने से (अपने पास के अन्न को दूसरों के लिए दान में दे देने से नहीं) और दूसरों से अन्न मिलना सम्भव होने पर भी और स्वयं को अन्न की अपेक्षा होने पर भी, दूसरों को पीड़ा न हो-इसलिए ओरों के द्वारा दिए जाने वाले अन्न को न लेकर

१—बुरा, अनिष्ट। २—सहायक। ३—नहीं सह सकने जैसे। ४—बाहर का। ५—भोजन न करना। ६—नीचे दर्जे का।

सुबोधिनी—एवं धर्मं निरूप्य परोपकारलक्षणमर्थरूपं निरूपयत्यहो इति, एषामेव **वरं जन्म** देहग्रहणानन्तरजीवितं येषां न स्वार्थापेक्षा, तदुपपादयति **सुजनस्येवे**तिदृष्टान्तेन, **अहो** इत्याश्चर्यं, एतादृशमपि **जन्म** जायत इति, यत्र स्वकार्यं नास्त्येव भगवतोऽप्यवतारे लीला भवति यद्यपि सा परार्था तथापि लोकप्रसिद्धया स्वार्थापि भवत्यतो भगवतोऽप्याश्चर्यं, केवलं कर्मफलभोगे मण्डूकानामिव परार्थता न स्यादत **एषामेव जन्म वरं**, तत्र हेतुः **सर्वप्राणिनामुपजीवन** यस्मिन्निति, ये हि सर्वान् जीवयन्ति ते सफलजीवनाः तद् येन भवति तद् सुजनेषु प्रसिद्ध यथा सतां गृहे समागतोऽर्थी याचको विद्यमानेऽर्थे विमुखो न गच्छति तादृशो दुर्लभ इत्येकवचनं, येषामिति सर्वनाम्ना वृक्षाः सर्वे तद्विधा एवेत्याधिक्यं निरूपितं, **वै** निश्चयेनैव ग्रहीतुं योग्याः, तत्रार्थित्वे सम्पन्ने विमुखा न भवन्ति, अग्रेपि वीनां मुखे न प्रविशन्ति यदि दारूणि भवन्ति नापि कालमुखे पतन्ति यदि वृक्षभिक्षुका एव भवन्ति ॥३३½॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार धर्म का निरूपण करके परोपकार लक्षण अर्थरूप पर्व का वर्णन–'अहो एषां'-श्लोक से करते हैं। इन का ही जन्म धन्य है, कि जिन्हें देह धारण करने के पीछे कोई भी स्वार्थ की अपेक्षा नहीं है। इस को 'सुजनस्येव'–इस दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं। अहो ! आश्चर्य है, कि ऐसा भी जन्म होता है, जिस में अपना कार्य कुछ नहीं होता है। भगवान् के अवतार में भी, लीला होती है। यद्यपि वह औरों के लिए–परार्थ–होती है, तो भी लोक प्रसिद्धि से वह स्वार्थ –(भगवान्) के लिए भी होती है। इस लिए भगवान् को भी आश्चर्य होता है। केवल कर्म फल भोगने में मेंढकों की तरह स्थिति में कोई परोपकार नहीं होता। इस लिए इनका ही जन्म उत्तम है, क्योंकि इन से सब प्राणियों का उपजीवन है। ये सारे प्राणियों को जिवाते हैं। ये सफल जीवन वाले हैं। वह सफल जीवन जिस कारण से होता है, वह कारण सज्जनों में प्रसिद्ध है, सज्जनों के घर पर आया हुआ याचक, घर में द्रव्य रहते हुए जैसे विमुख नहीं जाता। ऐसे सुजन का होना दुर्लभ है–इस लिए मूल में–सुजनस्य–एक वचन दिया है। येषां–इस सर्वनाम से–सारे वृक्ष इसी प्रकार के होते हैं–यह कह कर उनका अतिशय सूचित किया है। 'वै'–निश्चय ही ग्रहण करने योग्य हैं। उनके पास याचक भाव से जाया जाए,–याचना की जाए तो याचक विमुख नहीं होते। आगे भी देह त्याग करने के पीछे–वीनां–पक्षियों के मुख में नहीं पड़ते हैं, किन्तु वृक्षों के काष्ठ हों तो उनकी देह को भस्म करने में सहायक होते हैं। और 'वि' शब्द का 'काल' अर्थ करें तो वे याचक–वृक्षभिक्षुक–परम हंस हों तो काल के मुख में पड़ते ही नहीं ॥३३½॥

टिप्पणी—'अहो एषां' की व्याख्या में–अग्रेपि–आगे भी देह त्याग करने के पीछे। वीनां–पक्षियों गीध आदि के (मुख) खाने के लिए होते हैं जिन में विमुख वे अर्थी नहीं होते हैं किन्तु काष्ठ होने के कारण, देह जल कर भस्म हो जाती है। –'वि'–शब्द का अर्थ 'काल' करें तो काल के मुख में नहीं पड़ते। केवल वृक्षों से ही भिक्षा मांगने वाले परम हंस कहे जाते हैं।

लेख—अहो एषां–की व्याख्या में–'तद्येनेति'–वह सफल जीवन जिस के द्वारा। जिससे सब का उपजीवन होता है। सर्वनाम्ना–सर्वनाम से। महा संज्ञा करण के योग्य आशय को स्वीकार करने से। गृहीतुं–के पीछे–स्वसाधर्म्येण–पद का अध्याहार–अपने समान धर्मपन से–समझना चाहिए ॥३३½॥

श्लोक—**पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।**
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ।।३४३।।

श्लोकार्थ—ये वृक्ष पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोन्द, कोयला, भस्म और शाखाओं से लोगों के-काम में आते हैं–मनोरथ पूरा करते हैं ।।३४३।।

सुबोधिनी—एवमर्थोत्तमतां निरूप्य कामोत्तमतां निरूपयन्नेतेषां कामजनितमपि सर्व परार्थमेवेत्याह पत्रेति. पत्राणि संयोगिद्रव्याणि यथा केशा दन्ताश्च तत्र पत्राणां सर्वोपयोगो न केशानां कथञ्चन, पुष्पाणि रजोरूपाणि तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि स्त्रीणां तु ताशामप्यपकारजनकानि, फलानि पुत्रा इव, तेपामर्थे परमन्यान् घातयन्ति न तु तान् प्रयच्छन्ति, छाया गृहमिव न तत्र सर्वः प्रविशति प्रविष्टोपि तापयुक्तो भवति शीतवद् भयं च प्राप्नोति व्यसनानि च वृष्टिवत्, मूलं तेषां धर्म एव प्राणिनां धर्मे पशवो हन्यन्तेत्र तु मूलमन्येभ्यः प्रयच्छन्त्यौषधार्थं, तथा वल्कलानि च परिच्छदा घटपटादय इव दारूणि काष्ठानि शुष्काणि, उपभुक्तशेषमपि नान्यस्मा उपकरोति स्त्रीशरीरादिषु तथा प्रसिद्धिः, गन्धश्चन्दनादिषु कीर्तिवत् प्रसिद्धनामानोपि नाम्नापि नोपकुर्वन्ति, निर्यासस्तदन्तःसारो वाक्यरूपः, भस्म तदभाववन् मृतोपि प्रेतवच् श्राद्धादिकारणाद् वापकरोत्येव, इदं तु क्षालनादावुपयुज्यते, अस्थीन्ङ्गालास्ते सर्वत्र तैजसेषूपकुर्वन्ति, एतेषां त्वस्थि न कस्याप्युपकरोति प्रत्युत दोषे निमित्ततामापाद्यते 'नारं स्पृष्ट्वे'त्यादौ, तोक्माः सूक्ष्मवृक्षाः शाखारूपा दासादिवत्, एवं सर्वैरेव सर्वेषां कामान् वितन्वते ।।३४३।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अर्थ की उत्तमता का निरूपण करके काम की उत्तमता को निरूपण करते हुए उनका काम से उत्पन्न हुआ भी सब परोपकार के लिए ही है–यह–'पत्रपुष्पेत्यादि श्लोक से कहते हैं। पत्र-वृक्ष में लगे हुए पदार्थ–शरीर में केश, दाँत आदि की तरह। उनमें पत्तों का उपयोग सब के लिए होता है। मनुष्य के केशों का उपयोग तो किसी भी भाँति नहीं हो सकता। पुष्प रजोरूप हैं। वे पुष्प सब पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले हैं। स्त्रियों का रज तो उन स्त्रियों का अपकार करने वाला है। फल पुत्रों के समान हैं। परन्तु मनुष्य तो पुत्रों के लिए दूसरों को मरवा देते हैं, पुत्रों को दूसरों के लिए नहीं देते हैं। छाया घर के समान है। घर में तो सब को प्रवेश नहीं मिलता और यदि प्रवेश मिल भी जाए तो वह तापयुक्त होता है, शीत आदि का भय और वर्षा आदि का भय दुःख वाला है। (वृक्ष तो छाया से ताप, शीत और वर्षा तीनों का निवारण करते हैं) मूल ही (जड़) वृक्षों का धर्म है। प्राणियों के धर्म में पशुओं की हिंसा होती है। यहाँ तो वृक्ष अपने मूल को औषध के लिए औरों को देते हैं यह धर्म है, वल्कल–घट पट आदि की तरह सामग्री। 'दारूणिः'–सूखी लकड़ियाँ वृक्ष दूसरों को देते हैं और मनुष्य तो उपभोग करने के पीछे बचे हुए ईंधन से भी औरों का उपकार नहीं करता। स्त्री शरीर आदि में वैसी (ही) प्रसिद्धि है। गन्ध–चन्दन आदि में गन्ध, कीर्ति रूप है। मनुष्य तो कीर्ति से प्रसिद्ध नाम वाले भी, नाम से भी उपकार नहीं करते हैं। निर्यास–भीतर का सार वाक्य रूप है। भस्म–वृक्षों की भस्म उपयोग में आती है। मनुष्य की भस्म तो उपयोग में आती ही नहीं हैं, किन्तु मनुष्य तो मर जाने के पीछे भी प्रेत होता है. इसलिए उसके श्राद्धादि करना आवश्यक होने से अपकार ही करता है। वृक्ष की भस्म तो धोना, माँजना आदि के काम में आती

है। अस्थि-वृक्ष के अंगारे सब जगह तेज के कामों में उपकार करते हैं। मनुष्य की अस्थि तो किसी के उपयोग में नहीं आती किन्तु और दोष का-(नारस्पृष्ट्वा)-निमित्त होती है। तोक्माः-सूक्ष्म वृक्ष शाखा रूप दास दासियों के समान उपयोग में आते हैं। इस प्रकार वृक्ष अपनी सब वस्तुओं से सब के मनोरथ पूरे करते हैं ॥३४३॥

श्लोक—एतावज् जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥३५३॥

श्लोकार्थ—देह धारियों में उन ही-देह धारियों-की यही जन्म की सफलता है कि प्राण, धन, बुद्धि और वाणी से सदा दूसरों का कल्याण करते रहें ॥३५३॥

सुबोधिनी—किञ्च न केवलं परार्थं कुर्वन्ति स्वार्थमपि किन्तु परार्थमेवातो मोक्षरूपा विरक्ता ज्ञानिनः पूर्णस्वार्था इति वक्तुमाहैतावदिति, **एतावद्धर्मवज् जन्म** तत् सफलगत **एतावदेव** वक्ष्यमाणरूपमेव **जन्मसाफल्यं, देहिनां** गृहीतदेहानां **देहिषु** गृहीतदेहेषु **देहग्रहणं** भगवदिच्छया स्वस्यान्येषामपि तत्र न स्वक्रिया काचित्, अतः संस्कारैः सिद्धे ज्ञाने यदि सर्वतुल्यता तदा न कोपि पुरुषार्थः, भगवान् पुनः सर्वार्थं सर्वं सृष्टवांस्ततः स्वयमपि सर्वं स्वकीयं सर्वार्थं कुर्यात् तदा भगवानिव भवेदित्यवतारतुल्यतया जन्म सफलं भवति नो चेत् प्रवाहतुल्य एव, परार्थमेव स्वमिति स्वार्थता न सम्भवत्येव, तदाह **प्राणैरर्थैरिति, एते** चत्वारः प्राणादयः **सर्वपुरुषार्थोप**योगिनोपि धर्मादिषु प्रत्येकं स्वातन्त्र्येण बलक्षा ः, अतः प्राणैः साध्यो धर्मस्तं परार्थमेव कुर्यात्, **अर्थाः स्पष्टा** एव, बुद्धिः कामरूपा सविषयत्वात्, वागुपदेशरूपा मोक्षदायिनी, एवं सर्वेषां चतुर्भिः सर्वपुरुषार्थाः साधनीयाः, एतदपि सदा, इतीति समाप्तिः, एवमुपदिश्येति नोक्तं पूर्ववत्, अन्यथेयं लीला न स्यात्, यथा भगवतः क्रिया वर्णितैवं वाक्यान्यप्युक्तानि ॥३५३॥

व्याख्यार्थः—और केवल परार्थ और स्वार्थ दोनों के लिए ही उपयोग नहीं करते हैं, किन्तु परोपकार के ही लिए वृक्ष अपने पत्रादिक उपयोग करते हैं। इस से ये मोक्ष स्वरूप हैं, विरक्त हैं, ज्ञानी हैं, और पूर्ण स्वार्थ को पा चुके हैं-यह बतलाने के लिए-'एतावद्'-इत्यादि श्लोक को कहते हैं। 'एतावत्'-धर्मयुक्त जीवन ही सफल जीवन है। इसलिए यही एक कहे जाने वाली जन्म की सफलता है। 'देहिनां'-देह ग्रहण करने वालों का। 'देहिषु'-उन देहधारियों में भी अपना और पुत्रादि का देह ग्रहण केवल भगवान् की इच्छा से ही हुआ मानने वालों अपनी कुछ क्रिया अथवा प्रारब्ध आदि के द्वारा हुआ न मानने वालों का तो यही जन्म साफल्य है। फिर भगवदिच्छा से देहधारण करने के पीछे संस्कारों के द्वारा ज्ञान सिद्ध होने पर यदि स्वयं सब जगत् की तरह स्वार्थपरायण हो

लेख—'पत्रेत्यादि' श्लोक की व्याख्या में-'शीतवदिति'-छाया ताप शीत और वृष्टि का निवारण करती है। और घर में तो ये तीन उत्पन्न होते हैं। शीत के स्थान पर भय और वृष्टि (वर्षा) के स्थान पर दुःखों को समझना चाहिए ॥३४३॥

जाता है तो उससे कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता । भगवान् ने तो सब के लिए सब को उत्पन्न किया है । इससे अपने आपको और अपने सर्वस्व को सब के उपयोग में लगावे तो भगवान् के समान हो जाता है । अर्थात् जैसे भगवान् का अवतार परोपकार के लिए होता है, वैसे ही देही भी स्वयं को और अपने सब कुछ को परोपकार में लगा कर जन्म को सफल करता है । यदि ऐसा नहीं करता तो प्रवाह के समान ही होता है । परोपकार के लिए ही अपना सर्वस्व समझने में स्वार्थता की सम्भावना हो ही नहीं सकती इसको–'प्राणैरर्थैः'–कहते हैं । यद्यपि इन प्राण आदि चारों का सभी पुरुषार्थों में उपयोग है, तो भी धर्म आदि में एक एक का इनका स्वतन्त्रता से योग है । इससे प्राणों से सिद्ध होने वाले धर्म को परोपकार के लिए करे । अर्थ का व्यय परोपकारार्थ ही करे । बुद्धि काम रूप है, क्योंकि विषयों में उसका उपयोग होता है । इस लिए बुद्धि का उपयोग भी दूसरो के कार्यो को सिद्ध करने में ही करे । उपदेशमयी वाणी से मोक्ष प्राप्त होती हैं । इस प्रकार इन चारों के द्वारा सब को सदा सारे पुरुषार्थ सिद्ध कर लेने चाहिए । इति–यह पद समाप्ति का सूचक है । यद्यपि ऐसा उपदेश करके इस प्रकार नहीं कहा, तो भी पहिले की तरह ही समझना चाहिए । 'भगवान् के इन वचनों को भी लीलामध्यपाती समझो' नहीं तो यह लीला नहीं रहेगी । भगवान् की क्रियाओं के वरणन की तरह भगवान् के वाक्यों का वर्णन भी किया गया ॥३५½॥

श्लोक—इतिप्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ।

तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६½॥

श्लोकार्थ—नवीन पल्लवों के गुच्छों, फल पुष्प और पत्तों के बोझ से जिन की डालें झुक रही हैं, उन परोपकारी वृक्षों के नीचे नीचे चल कर भगवान् यमुना तट पर पहुँचे ॥३६½॥

टिप्पणी—'एतावन्'–श्लोक की व्याख्या में–'यदि सर्वतुल्यता'–यदि सब जगत् की तरह स्वार्थ परायण इत्यादि । ज्ञान प्राप्त होने के पीछे भी यदि स्वार्थ परायणता हो तो, किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती । जैसे कुण्डल वाले पुरुष को कुण्डली कहते हैं । कुण्डल के अतिरिक्त अन्य कुछ कुण्डलीपन नहीं हैं । इसी तरह यहां भी–एतावत्–का अर्थ समझना चाहिए ।

लेख—देहिनाम्–सामान्य रीति से 'देहियों में और विशेष करके देह धारण करने वालों में' विशेष को–देहग्रहणं–से कहते हैं । अपना और पुत्र आदि का देह ग्रहण जिनका भागवान् की इच्छा से ही है । अपनी किसी क्रिया या प्रारब्ध वश नहीं हुआ है । ऐसे उन विशेष देहधारियों का देहधारण ही जन्म की सफलता है । 'ततः' भगवान् की इच्छा से देह ग्रहण करने से, ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी, कहे जाने वाले धर्म से ही, जन्म की सफलता होती है–यह अर्थ है ।

सुबोधिनी—ततो यत् कृतवांस्तदाह **इति प्रवालेति**, **तेषां** परार्थत्वं यत् प्रसिद्धं तत् प्रदर्शयंस्तेषां **मध्येन मार्गेण यमुनां गत** इतिसम्बन्धः, येषु वृक्षेषु पञ्चाङ्गानामुत्करा वर्तन्ते राशयः **प्रवालाः** कोमलपत्राणि **स्तबका** पुष्पाणां पत्राणां वा फलानि पुष्पाणि च दलानि च केवलानि तैः पञ्चविधैरपि समूहैर्नम्राः **शाखा** येषां, एतावदपि दत्वा विनीतास्तेषां **मध्ये** गमनं **तद्धर्म**-सम्बन्धाय यमुनापि पुनरेतादृशधर्मवतीति **तत्र गतः** ॥३६१॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् ने जो किया, उसका वर्णन 'इति' इस श्लोक से करते हैं। उनकी प्रसिद्ध परोपकार परायणता को प्रदर्शित करते हुए उनके बीच में हो कर, यमुनातट पर चले गए—ऐसा सम्बन्ध है। जिन वृक्षों में इन पाँच अंगों का समूह है (१) प्रवाल (कोमल पत्र) (२) स्तबक (पुष्पों अथवा पत्तों के गुच्छे) (३) फल, (४) पुष्प और (५) केवल पत्ते—इन पाँच प्रकार के अंगों के समूहों से झुकी हुई शाखा वाले वृक्षों के। दूसरों के लिए अपने को और अपने सर्वस्व को देकर भी जो अत्यन्त नम्र हैं, उन वृक्षों के बीच में हो कर जाना उनके गुणों के सम्बन्ध के लिए था। यमुनाजी भी फिर ऐसे ही परोपकार धर्म वाली हैं। इससे यमुना पर गए ॥३६१॥

श्लोक—तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः ।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वहाँ जाकर गौओं को स्वच्छ, ठण्डा और कल्याणकारी जल पिलाया और स्वयं ने भी मधुर जल पिया ॥३७१॥

सुबोधिनी—तत्र गतस्य कृत्यमाह **तत्रेति**, **तत्र** यमुनायां गा अपः **पाययित्वा ततो गोपाः स्वयमपि** भगवान् **कामं** यथेच्छं **जलं** पपुः प्रातरेव गृहान् निःसृता भोजनाभावात् क्षुधिता भगवदिच्छया च लब्धभक्षा अपि गृहगमनप्रत्याशारहिताश्च जलमेव पपुः, **आपः** स्त्रीप्रकृतिका अतः स्वजातीयाः पायिताः **सुमृष्टा** उज्ज्वलाः पङ्कादिदोषरहिताः **शीतला** गुणवत्यः **शिवाः** परिणामत आरोग्यकराः, **जलं** नपुंसकमपि **कामरूपं स्वादु** स्वादिष्ठमनेनाधिकमपि पातुं शक्यत **इत्युक्तम्** ॥३७१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वहाँ जाकर जो कार्य किया, उसका वर्णन 'तत्र गाः'—श्लोक से करते हैं। तत्र—यमुना पर गौओं को जल पिला कर, फिर गोपों ने तथा स्वयं भगवान् ने भी, यथेच्छ जल पिया। दिन निकलते ही घर से निकले हुए, भोजन के न मिलने से, भूख से व्याकुल हुए और भगवान् की इच्छा से भक्ष्य पदार्थों को पाकर भी, घर जाने की इच्छा नहीं रखने वाले गोपों ने, जल का ही पान किया। आपः—यह—'अप्'—शब्द स्त्री प्रकृति—नित्य स्त्रीलिंग—वाला है। इस से अपनी जैसी प्रकृति वाली गायों को ही अप् का पान कराया। समृष्टाः—उज्ज्वल पंक आदि दोषों से रहित। शीतलाः—ठण्डे गुण वाला। शिवाः-परिणाम में आरोग्य करने वाला। जल शब्द यद्यपि नपुंसक लिङ्ग है। तथापि काम रूप स्वादिष्ट होने के कारण अधिक पिया जा सकता है। यह कहा है ॥३७१॥

योजना:—'पंचांगानाम्'—प्रवाल, स्तवक, फल, पुष्प, और दल इन पांच अंगों के ॥३६१॥

योजना—'तत्र गा: पाययित्वाप:'-की व्याख्या में-स्त्री प्रकृतिका:—(स्त्रीणां प्रकृति: याभि:-" स्त्रियों की प्रकृति जिनसे) में व्यधिकरण पद बहुव्रीहि समास है। स्त्री शब्द व्रजसुन्दरी वाचक है और प्रकृति शब्द का 'स्वभाव' अर्थ है। भाव यह है, कि व्रजरत्नरूप गोपिकाओं के हृदय में भगवद्विषयक परम स्नेह रूप भाव को सिद्ध करने वाला श्रीयमुनाजी का जल गायों को पिलाने से गायों का भी भगवान् में विशेष भाव उत्पन्न हुआ। और श्री यमुना का नपुंसक प्रकृति वाला जल गोपों को पिलाने का तात्पर्य यह है कि उस जल के पीने से गोपों को भगवान् की अन्तरंग लीला के दर्शन आदि में पुंभावरूप दोष नहीं हुआ। इस प्रकार-आप: स्त्रीलिंग-जल नपुंसक लिंग शब्द से यह तारतम्य सूचित किया गया है। यहां यदि ऐसा अभिप्राय नही होता तो गायों और गोपों को पान कराने में 'आप:'-और 'जल' भिन्न भिन्न पदो का प्रयोग नही किया जाता ।।३७।।

—: श्री हरिरायजी कृत स्वतन्त्रलेखानुवाद :—

श्री हरिरायजी महाराज-'तत्र गा:'-श्लोक पर एक स्वतन्त्र लेख में इस प्रकार कहते हैं।

श्री यमुनाजी में वृक्षों की तरह परार्थता-केवल परोपकार रूप धर्म है-यह निरूपण किया गया है। उसके सम्बन्ध मात्र से गायों को परार्थता का ज्ञान उत्पन्न होना अनुचित है, क्योंकि उन गायों का भाव भगवान् में स्वामिनियों का भाव सा है-यह भाव-गावश्चकृष्णमुख-इस श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कहा है। वहां यह कहा गया है कि प्रभु ने स्वामिनीजी के भाव के सी सामग्री प्रकट करके स्वबल से उपर्युक्त भाव उत्पन्न किया। वह भाव प्रभु के योग्य है। इससे विपरीत भाव वाले के सम्बन्धी रस का भगवान् भोग नहीं करते हैं। जन्मोत्सव के अध्याय की-गन्धरूपम्-इस कारिका में स्वामिनियों में भगवद्भोग के योग्य पांच विषयों का निरूपण किया है। इसी से, श्री आचार्य चरणों ने-रसो नवीनतस्य-रस नवनीत का-आदि कहा है। परार्थ ज्ञान तो उनको हो सकता है, जिनका भाव स्वामिनीजी के भाव से विजातीय हो। प्रभु का प्राकट्य हमारे लिए ही है-स्वामिनियों को यह दृढ ज्ञान था इस से, अपनी वस्तुओं में भी भगवदीयपन का ज्ञान दृढ था। इसी से पान करने के जल के एक होते हुए भी उसके वाचक 'आप:' और 'जलं' का तात्पर्य श्री आचार्य चरण-'स्त्री प्रकृति का।'-इत्यादि पदों से करते हैं।

श्री यमुनाजी में दो प्रकार हैं-उनमें स्वामिनी सहित क्रीड़ा का सम्बन्ध होने के कारण, स्वामिनी भाव को उत्पन्न करना रूप है। इसी से यमुनाजी की स्तुति में आचार्य चरणों ने 'इयं तव कथा अधिका' (यह तेरी कथा अधिक है) ऐसा कहा है। और दोष मात्र को निवृत्त करने के लिए समानता से स्वरूप द्वारा भगवद्भाव उत्पन्न कराना रूप भी उनमें है। इसी से 'स्मरपितु: श्रियं बिभ्रतीम्'-(भगवान् की शोभा को धारण करने वाली को) ऐसा स्तुति में ही कहा है। और प्रभु चरण श्री गुंसाई जी ने उसका ऐसा विवरण किया है। इस कारण से जो जल स्त्री स्वभाव वाला है और अपने प्रवेश से स्त्रीस्वभाव सम्पादन करने वाला है उस-'आप:'-जल का पान स्वसजातीय भाव वाली गायों को कराया। जिससे गायों का वह भाव (स्वीयत्व अभिमान भाव हमारी ये सब वस्तुएँ भगवान् के उपयोग की हैं ऐसा) दृढ हो। और गोपों को तो केवल जल पिलाया। वह कामरूप होने से, भगवद्भाव को उत्पन्न करने वाला और नपुंसक होने के कारण, भगवान् में दोषारोप का मूल कारण पुंभावरूप दुष्ट स्वभाव का जय करने वाला है। ऐसे जल का पान कराया। इसलिए श्री महाप्रभुजी के विवरण में कोई भी बाधा नहीं आती है। संक्षेप में सार यह है कि सज्जन पुरुष अपने चित्त में कोई शंका न करें।।

श्लोक—**तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप ।**
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ।।३८१।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! यमुना के उपवन में गायों को चराते चराते गोप लोग भूख से व्याकुल हुए, और कृष्ण और बलरामजी के पास आकर इस प्रकार कहने लगे ।।३८१।।

सुबोधिनी—एवं जात आपातत एव क्षुन् निवृत्तेति विशेषं प्रार्थयितुं भगवन्त विज्ञापयामासुरित्याह **तस्या** इति, कालिन्द्या **उपवने पशूंश्चारयन्त** एव **कृष्णरामा**-वुपागम्य तालफलन्यायेन किञ्चिद् वचनमब्रुवन्, गोपा इत्यविवेकिनः, सर्वत्र **राजन्निति सम्बोधनं** स्नेहेन कथायां रसोत्पादनार्थं, **राजन्नितिसम्बोधनेन** महत्वं सूचयत इति **सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य** इतिविद्याफलमन्ते सूचितम् ।।३८१।।

व्याख्यार्थ—ऐसा होने से केवल ऊपर से ही भूख निवृत्त हुई । इस कारण से विशेष प्रार्थना करने के लिए भगवान् से इस प्रकार विज्ञापना की, यह 'तस्या उपवने' इस श्लोक से कहते हैं । वे गोप कालिन्दी के उपवन में पशुओं को चराते चराते कृष्ण और बलराम के पास आकर ताल के फल के न्याय (ताल फल के विषय में किया वैसे ही) से कुछ वचन बोले । गोप-विवेक रहित । राजन् यह सम्बोधन स्नेह से कथा में रस उत्पन्न करने के लिए सब स्थान में प्रयुक्त हुआ । और –'राजन्'–यह सम्बोधन महत्व का सूचक भी है । इससे सभी अर्थ की प्राप्ति के लिए भगवान् से ही प्रार्थना करना चाहिए । यही विद्या का फल इस प्रकार अन्त में सूचित किया गया है ।।३८१।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध तामस साधन के एकोनविंश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" तामस साधन अवान्तर प्रकरण, एश्वर्य निरूपक प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित 'चीर हरण' लीलादि के निम्न पदों का अध्ययन करें—

।। राग रामकली ।।

हरियश गावत चली व्रजसुंदरी, नदी यमुना के तीर ।
लोचन लोल बांह जोटीकर, श्रवणन झलकत बीर ।।१।।
वेनि शिथिल चारु कांधे पर, कटिपर अंबर लाल ।
हाथन लिये फूलन की डलियां, उर मुक्तामणि माल ।।२।।

लेख—'तस्या उपवने'–की व्याख्या में गोपों को अविवेकी कहने का कारण यह है, कि 'विवेक-धैर्याश्रय' ग्रन्थ में कहा है कि दैहिक वस्तुओं के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करना, परन्तु प्रभु अन्तःकरण गोचर हैं दैहिक विषय से अन्य भिन्न विषय की प्रार्थना करना ।।३८१।।

जल प्रवेश कर मज्जन लागी, प्रथम हेम के मास ।
जेसें प्रीतम होय नंदसुत, व्रत ठान्यो यह आस ॥३॥
तबलें चीर हरे नंद नंदन, चढ़े कदंब की डारि ।
परमानंद प्रभु वर देवे को, उद्यम कियो है मुरारि ॥४॥

वसन हरे सब कदंब चढाये ।
सोले सहस्र गोपकन्यन के, अंग आभूषण सहित चुराये ॥१॥
अति बिस्तार नीप, तरु, तामें, ले, ले, जहां तहां लटकाये
मणि आभूषण डार, डारन प्रति, देखत छबि मनही अटकाये ॥२॥
नीलांबर, पाटंबर, सारी, श्वेत पीत चुनरी अरुणाये ।
सूर श्याम युवतिन व्रत पूरण की, कदंब डार फल पाये ॥३॥

मोहन देहो वसन हमारे ।
जाय कहों व्रजपतिजू के आगें, करत अनीत ललारे ॥१॥
तुम व्रजराज कुमार लाडिले, और सवहिन के प्राण पियारे ।
गोविंद प्रभु प्रिय दासी तिहारी, सुंदर वर सुकुमारे ॥२॥

जलतें निकस तीर सब आवहु ।
जैसे सविता सों कर जोरे, तेसेहूँ जोर दिखावहु ॥१॥
नव बाल हम, तरुण कान्ह तुम, कैसे अंग दिखावहु ।
जलतें सब बांह टेक के, देखहुं श्याम रिझावहु ॥२॥
ऐसे नहीं रीझों में तुम कूं, उंचे बांह उठावहु ।
सूरदास प्रभु कहेत हरि, चोली वस्तर तब पावहु ॥३॥

दृढ व्रत कीनो मेरे हेत । धन्य धनि कहि नंदनदन जाऊ सबै निकेत ॥१॥
करो पूरन काम तुम्हरो शरद रास रमाय । हरष भई यहे सुनत गोपी रही सीस नवाय ॥२॥
सबनि को अंग परस कीनो, व्रत कीयो तनुगारि । सूर प्रभु सुख दियो मिलिके व्रज चली सुकुमारि ॥३॥

॥ राग विहाग ॥

मन रे तू वृक्षन को मत ले ।
काटे तापर क्रोध करे नहीं सींचे नाहीं सनेह ॥१॥
जो कोई वा पर पत्थर चलावे ताहि को फल दे ।
आप शिर पर धूप सहत है, औरन कुं छाया सुख दे ॥२॥
धन धन जड़ ए परम पदारथ वृथा मनुष्य की देह ।
सूरदास मन कर्म वचन करि, भक्तन को मत एह ॥३॥

——

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार २३वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २०वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'द्वितीय अध्याय'

यज्ञ पत्नियों पर कृपा

कारिका—**कर्मज्ञाने वैदिके तु विंशत्यध्याय उक्तवान् ।**
उभयोर्निर्णयो यादृक् सोप्यत्र विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस बीसवें अध्याय में वैदिक कर्म तथा वैदिक ज्ञान का वर्णन है और उन कर्म, ज्ञान का जैसा निर्णय है, उस निर्णय का भी निरूपण इसी अध्याय में किया जाता है ।

टिप्पणी—उभयोर्निर्णयो यादृक् इति–(उभयोः)–कर्म, ज्ञान दोनों का भगवत्सम्बन्ध के बिना किया हुआ कर्म सत्व की शुद्धि नहीं कर सकता । जिस कर्म का भगवान् के साथ सम्बन्ध कर दिया गया हो, वही कर्म सत्व का शोधक होता है । यदि भगवत्सम्बन्ध से रहित कर्म से भी सत्व की शुद्धि हो सकती होती तो गोपों के वाक्यों से ही ब्राह्मणों के हृदय में भगवद्भाव हो जाता ।

कारिका—साक्षाद्भगवतोक्तं हि यथापूर्वं न भासते ।
परम्परोक्तमप्येवं स्त्रिया भावस्तथापरः ॥२॥

कारिकार्थ—साक्षात् भगवान का कथन भी, तात्पर्य ज्ञान सहित समझने में नहीं आता (नहीं तो विप्र पत्नियां घर लौट जाना स्वीकार नहीं करती) परम्परा से कहा हुआ, अर्थात् गोपों द्वारा ब्राह्मणों के लिए कहलाया हुआ भी उन ब्राह्मणों के-जो उत्तमाधिकारी नहीं थे—समझ में नहीं आया, इसी तरह यज्ञ पत्नी के भगवान् में परम भाव को, अन्य विप्र पत्नियां नहीं जान सकीं । इसका कारण भी यही है ॥२॥

(पृष्ठ ८५ से आगे)

यद्यपि उन ब्राह्मणों का वह कर्मानुष्ठान भगवत्सम्बन्धी नहीं था, तो भी वह वैदिक कर्म था और उसका तात्पर्य भगवान् में ही होने से (उनके उस कर्म का) परिणाम भक्ति में ही हुआ है । और वह भी उन ब्राह्मणों के कर्तव्य से नहीं, किन्तु उनकी भगवद्भक्त पत्नियों के संग से ही हुआ है । भक्ति नहीं होती तो कर्म व्यर्थ हो जाता । द्वितीय (१०।२०।२) श्लोक में भक्तायाः—इस पद से एक पत्नी के प्रसंग से अन्य पत्नियों का अंगीकार हुआ है और उनके संग से ही पुरुषों (उनके पतियों) की भक्ति हुई है ।

गृह्णन्ति नो न पतयः (१०-२०-३०) हमको हमारे पति स्वीकार नहीं करेंगे । इस वाक्य को सुनकर भगवान् ने उसका समाधान करके उन्हें पीछा घर चले जाने की आज्ञा दी और वे चली भी गईं । इस से यह सिद्ध हुआ, कि किसी दूसरे को मुख्य मान कर, प्रभु का भजन करे, तो प्रभु उस भजन को स्वीकार नहीं करते है । इस से तो भगवदन्तराय ही होता है । पुरुषार्थ की सिद्धी नहीं होती । अन्य पत्नियों का भी भगवान् में स्नेह तो था ही, किन्तु यह तो प्रसाद का विषय था । जिसका कारण उसका भक्त होना कहा है और जो अन्य भाव की अपेक्षा इस एक विप्र पत्नि के भाव में विलक्षणता बताता है । उसका वह भाव ही सर्वात्मभाव है । पुष्टि मार्ग में, अंगीकार ही यहां प्रसाद है । इसी से, उसकी सद्योमुक्ति नहीं हुई । यदि पूतना आदि पर हुआ प्रसाद जैसा ही प्रसाद यहां कहा गया होता, तो इस को प्रसाद विशेष कहना विरुद्ध होता । शरीर मर्यादा मार्गीय है । उसका नाश करके जो देने योग्य था, भगवान् ने वह दिया—यह मर्म है । इस प्रकार यहां कर्म और ज्ञान का निर्णय कहा है ।

लेख—कर्मज्ञाने इति—विप्र और विप्र पत्नियों के मर्यादा तथा पुष्टि रूप भेदों से दो प्रकार के कर्म और ज्ञान का निरूपण इस बीसवें अध्याय में किया है ।

योजना—इत्युक्ता (१०।२०।३३) श्लोक में कहा गया वैदिक कर्म और—देशः कालः (१०-२०-१०) श्लोक में कहा हुआ वैदिक—ज्ञान—इन दोनों का इस अध्याय में वर्णन होगा ॥१॥

टिप्पणी—शंका-नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति-(१०।२०।१६) तथा-प्राण बुद्धि मनः स्वात्मा (१०-२०-२७) इत्यादि वाक्यों के द्वारा भगवान् ने भगवान् में सहज प्रियत्व और अपने से भिन्न स्त्री पुत्रादि लौकिक में, उपाधि से-कृत्रिम-प्रियत्व बतला कर, उस उपाधि कृत प्रियत्व को पुरुषार्थ रूप नहीं कहा है—इस बात को सुनकर भी, यज्ञ पत्नियां घर कैसे चली गईं ? उत्तर—भगवान् का कथन भी, पहले से तात्पर्य ज्ञान पूर्वक समझ में नहीं आता और गोपों

के द्वारा ब्राह्मणों से जो कहलाया, वह–परम्परोक्तम्–परम्परा से कहा गया था, क्योंकि, वे ब्राह्मण उत्तमाधिकारी नहीं थे, यह बात– प्रायः श्रुतः (१०।२०।२३) श्लोक के विवरण में स्पष्ट होगी।

शंका–उत्कट भाव से उस यज्ञ पत्नी का देह त्याग करना अन्य यज्ञपत्नियों ने पहले से ही जान लिया होगा। फिर उन्होंने उस को क्यों नहीं रोका? इसका उत्तर यह है, अन्य सब पत्नियों की अपेक्षा उत्तम, उस नायिका का वह उत्कृष्ट सर्वात्मभाव उनकी समझ में पहिले नहीं आया था, क्योंकि यह सर्वात्मभाव रूप वस्तु ही इस प्रकार की है।

अथवा फिर शंका करते हैं, कि जब परम्परा से अर्थात् गोपों के द्वारा कहलाने पर ब्राह्मणों को भान नहीं हो सका तो स्त्रियों को उस भाव का ज्ञान क्यों कर हुआ? इसका उत्तर कारिका में–स्त्रिया भावः–इन पदों से दिया है अर्थात् जैसे भगवान् के वचन दुर्बोध हैं, वैसे ही स्त्रियों का भाव भी उत्कृष्ट था इसलिए प्रिय भगवान् सम्बन्धी वार्ता के श्रवण करने से, वह उत्कट भाव उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा ही, वे भगवान् के पास आई थीं, भगवान् के वचनों का तात्पर्य समझ कर नहीं आई थीं। कारिका में स्त्रियाः–यह एक वचन जाति के अभिप्राय से सारी स्त्रियों का वाचक है।

अथवा–प्रसीदन्–(१०-२०-२) इस वाक्य से यज्ञ पत्नियों पर भगवान् की प्रसन्नता अवश्य कहना चाहिए उन पर भगवान् के उस प्रसाद को शरीर त्याग, अथवा सद्यो मुक्ति तो नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकार का प्रसाद तो पूतना आदि पर भी किया है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसाद स्पष्ट नहीं कहा गया; तो फिर वह प्रसाद क्या है? ऐसी शंका के उत्तर में–स्त्रिया भावः–कहते हैं, कि व्रजसीमन्तिनियों के सर्वोत्कृष्ट भाव के समान ही, इस यज्ञ पत्नी का भाव परम उत्कट सर्वात्मभाव रूप था, इसी से उन व्रजसीमन्तिनियों के साथ भगवान् ने जैसी लीला की थी, वैसी ही इस यज्ञपत्नी के साथ भी की। इसका शरीर मर्यादामार्गीय था अतः उसका नाश कर दिया। यदि यह यज्ञ पत्नी भी, भगवान् के पास आ जाती, तो सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाने के कारण यह अन्य पत्नियों की तरह, फिर वापस लौट कर नहीं जाती। इसलिए, उसके प्रतिबन्ध रूप मर्यादा शरीर का नाश करके भगवान् उसको ले गए। यही उस यज्ञ पत्नी पर भगवान् का प्रसाद समझना चाहिए। नहीं तो– 'ये यथा मां'–जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं वैसे ही मिलता हूं–इस प्रतिज्ञा का भंग हो जाएगा।

अन्य यज्ञपत्नियों पर ऐसी कृपा न करके, इस एक पर ही उत्कट[1] कृपा करने का कारण यह था, कि जैसा उत्कृष्ट[2] भाव भगवान् पर इस एक का था वैसा भाव औरों का नहीं था। इसलिए उन दूसरियों पर वैसी कृपा नहीं हुई ॥२॥

१—विशेष। २—उत्तम।

द्वितीय अध्याय

।। गोपा ऊचुः ।।

श्लोक—राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्ति कर्तुमर्हथ ।।१।।

श्लोकार्थ—गोपलोग बोले, कि हे महाबली बलभद्र ! हे दुष्टों के दमन कर्ता कृष्णचन्द्र ! हमको इस समय बडी भूख लगी है। कृपा करके इस भूख की शान्ति का कुछ उपाय कीजिये ।।१।।

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये विद्या पञ्चपर्वोपदिष्टा तेन मोहः सर्वोप्यपगतो दैहिका धर्मास्तु नापगतास्तेपि चेदपगता भवेयुस्तदा कृतार्था भवन्तीति तद् विनिश्चित्य सर्वे गोपालाः परमाधिकारिणो विज्ञापयन्ति **राम रामेति**, आदरे वीप्सा, नाम्ना "रमन्ते योगिनोनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि इति **रामपदेनासौ** परं ब्रह्माभिधीयते" तो यथात्मनि रतिर्भवति तथा कर्तव्यमितिप्रार्थना, तत्र सामर्थ्यमाह **महावीर्येति**, अयं हि **ज्ञानात्मकः श्रुतिरूप आवेशी च**, भगवन्तं च प्रार्थयन्ति **कृष्ण दुष्टनिबर्हणेति**, 'क्षुद् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य' इतिश्रुतेः सदानन्दतिरोभावरूपा सदानन्दादेव गच्छतीति कृष्णेतिसम्बोधनं, यदीयं क्षुद् बाधिका मृत्युरूपापि भवति तथापि निवारणीयेति ज्ञापयितुमाहुर्दुष्टनिबर्हणेति, सर्वे एव दुष्टास्त्वया निवार्यन्त इति, स्त्रीनिवारणे नास्माकं सामर्थ्यं, न हि विद्यया स्त्रिया क्षुद्रूपा स्त्री निवर्तते, तदाहुरेषा वै **बाधते क्षुन् न** इति, ननु तदभावे सद्यः शरीरपातः स्याद् ततो लीला भगवता सह न स्यादित्याशङ्क्याहुस्तच्छान्ति **कर्तुमर्हथेति**, तस्याः शम एव कर्तव्यो यथा **न बाधते** यथाज्ञानादिदोषनिवृत्तौ शास्त्रमुपायस्तथा क्षुन्निवृत्तावपि ज्ञानरूप एव कश्चनोपायो वक्तव्य इतिभावः ।।१।।

व्याख्यार्थ—पहले अध्याय में किये गए पंचपर्वा विद्या के उपदेश से सारा मोह तो मिट गया, किन्तु भूख प्यास आदि-देह के धर्म नहीं गए। इनके मिटने पर ही हम गोपों की कृतार्थता है-ऐसा निश्चय करके सब गोप-जो उत्तम अधिकारी थे-प्रार्थना करते हैं।

राम ! राम ! यह आदर के लिए दो बार कहा है। "योगी" लोग अनन्त, सत्यानन्द, चिदात्मा में रमण करते हैं, अतः राम पद से यह परब्रह्म कहा जाता है। इससे आत्मा में जैसी रति होती है वैसा स्नेह करने की प्रार्थना इस नाम से की गई है। 'महावीर्य' पद से उनकी सामर्थ्य का बोध होता है। ये ज्ञानात्मक श्रुतिरूप और आवेशी हैं। कृष्ण दुष्ट निबर्हण पदों से भगवान् से प्रार्थना करते हैं, 'क्षुधा' मनुष्य की सहज शत्रु है। इस श्रुति के अनुसार सदानन्द का तिरोभाव करने वाली भूख, सदानन्द से ही दूर हो सकती है इस अभिप्राय से 'कृष्ण' यह सम्बोधन कहा है। यद्यपि यह क्षुधा बाधक और मृत्यु रूप है तथापि निवारण करने योग्य है-इस अभिप्राय से मूल में दुष्ट निबर्हण-सम्बोधन दिया है। सब दुष्टों को आप निवारण करते हैं। क्षुधा-स्त्री के निवारण करने में हमारी शक्ति नहीं है। स्त्री रूप विद्या से स्त्री रूप क्षुधा दूर नहीं की जा सकती। यह क्षुधा हम गोपों को पीड़ा दे रही है।

क्षुधा की निवृत्ति-क्षुधा के अभाव में-तो शीघ्र शरीर का पात हो जाएगा तो भगवान् के साथ लीला नहीं होगी-इस शंका का समाधान-तच्छान्ति कर्तुमर्हथ:-इस वाक्य से किया है। आप उस क्षुधा की शान्ति ही करें, जिस से वह बाधा न करे। अर्थात् अज्ञानादि दोषों की निवृत्ति के जैसे ज्ञानादिक उपाय शास्त्र के बतलाए हैं, उसी प्रकार इस क्षुधा की शान्ति का भी कोई ज्ञान रूप उपाय कहिए ॥१॥

॥ श्री शुक उवाच ॥

**श्लोक—इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुत:।
भक्ताया विप्रभार्याया: प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥२॥**

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि गोपों के यों प्रार्थना करने पर, देवकीनन्दन भगवान् ने अपनी भक्त, ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करने के लिए इस प्रकार कहा ॥२॥

सुबोधिनी—भगवांस्तु संसारस्याग्रपश्चाद्भावेन गमन स्यादिति विचिन्त्य सुतरां स्त्रीणामुपकारार्थं तत्रापि ब्राह्मणस्त्रीणां पुरुषाविकाररहितानां धर्ममार्गमपि स्थापयितुं प्रामज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति विचिन्त्य प्रथमं पुरुषभिक्षामुक्तवान् द्रव्ये हि तेषां स्वाम्यमिति, अलौकिकैरुपायै: स्त्रीमुक्तिर्न स्यात् सर्वेषां च सत्सङ्गो न स्यात् तत: सम्प्रदायोच्छेदश्च स्यादभिमानाभावाद् दीनता तु नास्त्येव भगवत्कृपया नापि लोकेतो भगवान् याचनमेवोपदेष्टुकाम उत्तरं दत्तवानित्याहेतीति, एवं गोपैर्विज्ञापितोपि भगवान् सर्वसमर्थोपि देवकीसुत: परमकृपालु: सुतरां स्त्रीषु कृपावान् भक्तिमार्गप्रवर्तको भक्ताया विप्रभार्याया: प्रसीदंस्तस्या: प्रसादं करिष्यन्निदं वक्ष्यमाणं याचनरूपमब्रवीत् ॥२॥

लेख—कृतार्था भवन्ति—अर्थात्—'सर्वं परार्थं कुर्यात्',—भगवान् के इस उपदेश को सिद्ध करने वाले हो। अयं-हि-इस पद से प्रथम तीन चरणों के तीन अर्थ कहे गए हैं--प्रथम राम पद से योगियों के रमण करने का स्थान कहकर, ज्ञान रूपता कही, द्वितीय राम पद से, संकर्षण कह कर, श्रुति रूपता बतलाई और महावीर्य पद से, आवेशि रूपता का वर्णन किया; महान् बलवान् होना आवेश का कार्य है। दुष्ट होने से सत् का तिरोभाव तथा दु:ख रूप होने के कारण क्षुधा, आनन्द का तिरोभाव करने वाली है। अभाव का नाश प्रतियोगी के द्वारा ही होता है-यह 'एव' पद का अर्थ है। क्षुधा की दुष्टता में यह श्रुति प्रमाण है। मूल में-एषा-स्त्री रूप अक्षरार्थ है। इसकी व्याख्या में-स्त्री निवारणे, विद्यया स्त्रिया-स्त्री रूप विद्या स्त्री रूप क्षुधा की शांति नहीं कर सकती। सब भगवदीय हैं-भगवान् के इस ज्ञानोपदेश से यह सिद्ध होता है कि भगवान् से अतिरिक्त परतन्त्र हैं, इसलिए ज्ञान में भी, भगवदधीनता रूप स्त्रीत्व है। अत: विषयाकार होने से ज्ञान भी स्त्री रूप है।

योजना—व्याख्या में श्रुति से, राम शब्द का निर्वाचन किया है। यद्यपि श्री रामतापिनी उपनिषद् की यह श्रुति, श्री रामचन्द्र विषयक है तो भी, बलदेवजी में भी, पुरुषोत्तम का आवेश होने से, बलदेवजी परब्रह्म हैं। इसलिए उन पर इस श्रुति की योजना उचित ही है। पांचवे स्कन्ध के भागवतार्थ प्रकरण निबन्ध में-राम कदाचित् पुरुषोत्तम है-इत्यादि कथन से, रामचन्द्रजी को भी पुरुषोत्तम रूप निर्णीत किया है। और नवम स्कन्ध में भी--रघुनाथजी, पुरुषोत्तम कहे जाते हैं—ऐसा वर्णन है।

व्याख्यार्थ—गोपों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने विचार किया कि इनका वर्तमान संसार (अहंता ममता) नष्ट करके फिर उसे (संसार को) उत्पन्न न होने देना, स्त्रियों पर और उनमें भी ब्राह्मण स्त्रियों पर-जो कि पुरुषों के अधिकार से सर्वथा वञ्चित हैं-उपकार अवश्य करना, धर्म (भक्ति) मार्ग की स्थापना करना और ज्ञानियो का भिक्षा मांगना ही मुख्य है-ऐसा सोचकर, उनको पहिले पुरुषों के पास भिक्षा मांगने भेजा; क्योंकि पुरुष ही धन के स्वामी होते हैं।

अलौकिक उपायों के द्वारा स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती और न सबको सत्संग ही होता है। सत्संग के अभाव में तो, सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाता, इससे, भिक्षा मांगना रूप लौकिक उत्तर दिया। इन्हें स्वाभिमान नहीं था। इसलिए दीनता नहीं थी। भगवान् की कृपा से, लोक में उन्हें किसी से कोई भिक्षा मांगने की आवश्यकता भी नहीं थी। उन्हें केवल उपदेश देने की इच्छा से, (भिक्षा मांगना) यही उत्तर देते हुए बोले। भगवान् सर्व शक्तिमान् तथा देवकी सुत परम दयालु हैं। स्त्रियों पर अत्यन्त कृपा करने वाले और भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं। इसलिए अपनी भक्त ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करना सोचकर भिक्षा रूप उत्तर देने लगे ॥२॥

श्लोक—**प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।**
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥३॥

श्लोकार्थ—वेद पाठी ब्राह्मण लोग स्वर्ग की कामना से, आङ्गिरस नाम का यज्ञ कर रहे हैं। तुम उस देवयजन स्थान पर जाओ ॥३॥

लेख—गोपों ने तो ज्ञान आदि उपाय के द्वारा क्षुधा शान्ति करने की प्रार्थना की थी, उसके विपरीत और भगवान् की अपनी सामर्थ्य के विपरीत भिक्षा मांगने का उपदेश देने का कारण यह, है कि भगवान् देवकी सुत हैं। इसलिए भक्त विप्र पत्नि पर कृपा करने की इच्छा से ही, भिक्षा मांगने का उपदेश करते थे-इत्यादि व्याख्या में विज्ञापितोपि-कहे गए 'अपि' शब्द का तात्पर्य है।

योजना—ज्ञान के उपदेश के द्वारा गोपों का संसार निवृत्त करना है और वह आगे पीछे क्रम से होगा एक साथ संभव नही है। इस लिए क्रम से, संसार के धर्मों की निवृत्ति करने की इच्छा से ज्ञान का उपदेश न करके, पुरुषों से भिक्षा मांगने का ही उपदेश दिया। सत्संग के अभाव में, भक्ति मार्ग सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाएगा; क्योंकि स्वयं भगवान् ने एकादश स्कंध में उद्धवजी के प्रति सत्संग को अत्यावश्यक बतलाया है। अभिमान से भिक्षा मांगने में दीनता होती है। गोपों में तो, अभिमान था ही नहीं, अतः दीनता भी नहीं आई। दूसरी बात यह भी है कि बराबरी वाले से मांगने में अभिमान रहने से, दीनता हो सकती है। ये तो दीक्षित पूज्य ब्राह्मण है। पूज्यों के आगे अभिमान न रहने से, दीनता का होना भी सम्भव नहीं था। भगवान् की कृपा से मांगने से आनेवाली लोक में प्रसिद्ध दीनता भी गोपों में नहीं आ पाई ॥२॥

सुबोधिनी—ज्ञान हि ब्रह्मात्मकं बीजरूपं तद् ब्रह्मणैव चेत् परिपुष्यते तदा ब्रह्मयोग्यं भवति यथा बीजं ब्राह्मण्यामेव पुष्टं ब्राह्मणान्नेनैव वृद्धिं गतं ब्रह्मसंस्कारैर्ब्रह्मणा वेदेन च व्याप्तं ब्रह्मभावाय कल्पते तथेदानीमपि जातं ज्ञानं ब्राह्मणान्नेनैव चेत् पुष्टिमेति तदा कार्यक्षमं भवति तत्रापि ब्राह्मणाः पूर्णज्ञानकर्मनिष्ठा न तु यादृशास्तादृशाः, अन्नमूलकमेव हि ज्ञान'मन्नेन प्राणा' इत्यादिपरम्पराश्रुतो 'विज्ञानेनात्मानं वेदयती' त्यन्तभूतायां तथैव निरूपणात् "तस्मादन्नं ददत् सर्वाण्येतानि ददाती"ति च ब्राह्मणदत्तमेवान्नं भुक्तं सत् ज्ञानं जनयाति तद्द्वारा सर्वदानात् ज्ञानं ब्राह्मण एव प्रतिष्ठितमिति, अन्यान्ने तु ज्ञानादिकमन्योक्तमेव स्यात् ततश्च न तद् ब्रह्मज्ञानं भवेदतो भगवान् प्रथमं ब्राह्मणस्वरूपमाह पश्चाद् याचनं वक्ष्यति **प्रयातेति**, देवा इज्यन्तेस्मिन्निति **देवयजनं यज्ञभूमिस्तेषां** भेदाः श्रुतावनेके, अन्यथाभूते देशे यज्ञो न कर्तव्य इतिज्ञापनार्थाः, **ब्राह्मणा** एव सर्वे न तु याज्यः कश्चित् क्षत्रियस्ते च स्वधर्मैरवदाताः, तदाह **ब्रह्मवादिन** इति ब्रह्मवदनशीलाः, **ब्रह्म** वेदो वेदार्थश्च, तादृशा मुख्याधिकारिण **आङ्गिरसं सत्रं** चतुर्विंशतिरात्रं चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धं, **स्वर्गकाम्यये**-"त्यङ्गिरसो वै सत्रमासत ते सुवर्गं लोकमाय" न्निति श्रुतेः **स्वर्गो भगवत आनन्दांशो भगवदवतारो** 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभव'दित्यत्र निर्णीतोतस्ते सर्वोत्तमाः सत्रिणः ॥३॥

व्याख्यार्थ—बीजरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान की परिपुष्टि यदि ब्रह्म के द्वारा ही होवे तो वह ज्ञान ब्रह्म योग्य हो सकता है। जैसे ब्राह्मणी में परिपुष्ट हुआ बीज, ब्राह्मण के अन्न से ही बढा हुआ, ब्रह्म संस्कारों तथा ब्रह्म (वेद) से व्याप्त होकर ब्रह्मभाव के योग्य होता है, वैसे ही, अभी उत्पन्न हुआ ज्ञान, यदि ब्राह्मणों के अन्न से ही पुष्ट होवे तो फलदायक हो। ब्राह्मण भी साधारण नहीं; किन्तु पूर्ण ज्ञान कर्मनिष्ठ हैं। ज्ञान का मूल अन्न ही है। 'अन्नेन प्राणाः' इत्यादि और 'विज्ञानेनात्मानं' वेदयति–इति पर्यन्त की परम्परा से श्रुति में यही निरूपण किया गया है।

अन्न का दान करने वाला इन सारी वस्तुओं का दान करता है। वह ब्राह्मण का दिया हुआ ही अन्न खाया जाए तो ज्ञान को उत्पन्न करता है। अन्नदान से सब के दान का फल प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह ज्ञान ब्राह्मण में ही सुस्थिर रहता है। अन्य के अन्न से उत्पन्न हुआ ज्ञान तो, ब्राह्मण के द्वारा कहा हुआ न होने से वह ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए भगवान् पहले ब्राह्मण का स्वरूप कहते हैं और फिर याचना कहेंगे। देवयजन देवों की पूजा का स्थान (यज्ञभूमि) अयोग्य स्थान में यज्ञ करने का निषेध बतलाने के लिए वेद में उनके कई भेद कहे हैं। वे सभी ब्राह्मण थे, उनमें कोई क्षत्रिय यजमान नहीं था। वे सब अपने धर्म से पवित्र, ब्रह्म वेद तथा वेदार्थ के ज्ञाता थे। ऐसे मुख्य अधिकारी वे ब्राह्मण आङ्गिरस‡ चौबीस रात्रि में समाप्त होने वाले यज्ञ को* स्वर्ग की प्राप्ति की कामना से कर रहे थे।† स्वर्ग भगवान् का आनन्दांश किंवा भगवान् का अवतार रूप है। अतः सर्वोत्तम याज्ञिक ब्राह्मण थे ॥३॥

---

‡ चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धं।

* अंगिरसौ वै सत्रमासतते सुवर्गं लोकमायन्।

† देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरो भवत्–इति श्रुति

टिप्पणी—व्याख्या में कहे गए–ज्ञानं ही ब्रह्मात्मकं–से लेकर कार्मक्षमं भवति–तक वाक्य का अभिप्राय यह है–पहले अध्याय में–यहां की सभी वस्तुएँ भगवदर्थ हैं अपने उपयोग में लेने की नहीं है, ऐसा ज्ञानोपदेश किया

श्लोक—तत्र गत्वोदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे गोपों ! हमारे द्वारा भेजे हुए तुम वहाँ जाकर भगवान् आर्य बलदेवजी का और मेरा नाम लेकर उनसे ओदन-(भोजन)-माँगो ।

सुबोधिनी—तत्र गत्वा याचनं कर्तव्यमित्याह तत्र गत्वेति, **अस्मद्विसर्जिता** अस्मत्प्रेषिता न तु स्वतन्त्रतयान्यथा गमनेप्यपराधः स्यात्, स्वनाम्ना न याचनीयं, तदाहार्यस्य बलभद्रस्य मम चाभिधां नाम कीर्तयन्तो याचत ॥४॥

व्याख्यार्थ—वहां जाकर याचना करने के लिए-इस श्लोक में कहते हैं । स्वतन्त्रता से-अपने आप-जाने में, अपराध होगा, इसलिए हमारे भेजे हुए जाओ । हमारे नाम से मांगो अर्थात् आर्य बलभद्रजी के और मेरे नाम का कीर्तन करते हुए मांगना ॥४॥

श्लोक—इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञा के अनुसार वे वहां गए और हाथ जोड़कर पृथिवी पर दण्डवत प्रणाम करके विप्रों से भोजन मांगने लगे ।

है–तब तो भगवदर्थ उन वस्तुओं को अपने काम में लेने पर व्यवहार का और लीला का भी विरोध होगा । क्षुधा की निवृत्ति भी अत्यावश्यक है और भगवदीय वस्तु का उपयोग न हो जाए–ऐसा भय भी है । इसी से नई वस्तु की प्रार्थना की । नहीं तो फल आदि से भी भूख की (निवारण) शान्ति हो सकती थी; फिर प्रार्थना करना व्यर्थ होता । अतः जिस वस्तु का उपयोग करने में भगवान् की इच्छा है, उसका उपयोग करना और जिसके उपयोग करने में उनका संकेत न हो, उसका उपयोग न करना–इस प्रकार के (भगवान् के संकेत के ज्ञान की भी आवश्यकता है । इतने पर भी–इस वस्तु का भोग मैं ही करूंगा–यदि भगवान् का ऐसा आग्रह होवे, तब ही बाल लीला में रस आवे । नहीं तो–आग्रह बिना–शांत रस के मध्यपाती होने से, रसाभास हो जाएगा । और जब तक पहले दिया हुआ ज्ञानोपदेश जागृत रहेगा, तब तक ऐसा होना संभव नहीं है । इसलिए प्रारम्भ में, लोक के अनुकूल और अन्त में, भगवत्सम्बन्धी ज्ञान जिसके द्वारा होगा–वह यह अन्न है–ऐसा कहते थे । अन्न के स्वामी–ब्राह्मण-बहिर्मुख और अन्न को अर्पण करने वाली स्त्रियां भक्त थीं । इस प्रकार अन्न के दो भेद हैं । श्रुतियों में अन्न को ज्ञान का पोषक बतलाया है ।

लेख—स्वर्ग, भगवान् के आनन्द का अंश है–इसलिए स्वर्ग की कामना से किया हुआ भी वह कर्म–सत्र–विकृत नहीं था ॥३॥

सुबोधिनी—तथैव कृतवन्त इत्याहेत्यादिष्टा इति, भगवतादिष्टा नान्यथा कर्तुं शक्ता अतस्तत्र गत्वा तथैव ते याचितवन्तः, तेषां याचने प्रकारमाह कृताञ्जलिपुटा इति, कृतोऽञ्जलिपुटो यैः, अगर्वार्थमेतत्, दण्डवत् पतिता भुवि ब्राह्मणानयाचन्तेतिसम्बन्धः ।।५।।

व्याख्यार्थ—गोपों ने वैसा ही किया-यह 'इत्यादिष्टा' इस श्लोक में कहते हैं। उन्हें भगवान् ने भेजा था, वे उनकी आज्ञा के विपरीत करने में समर्थ नहीं थे। इसलिए उन्होंने गर्व के नाश के लिए हाथ जोड़े और पृथ्वी पर दण्डवत् गिरकर ब्राह्मणों से अन्न मांगा ।।५।।

श्लोक—हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।
आप्ताञ् जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान् ।।६।।

श्लोकार्थ—हे पूजनीय ब्राह्मणों ! सुनिए आपका कल्याण हो, हम लोग कृष्ण और बलरामजी की आज्ञा से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।

सुबोधिनी—तेषां याचनवाक्यान्याह भूमिदेवा इति, भूमौ प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः, शृणुतेति श्रवणार्थं प्रार्थयन्ते, के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः कृष्णस्यादेशकारिण इति सदानन्दस्य भगवतः फलरूपस्य वयमाज्ञाकारिणः, तथापि किं प्रमाणं भगवद्वाक्य इत्याकाङ्क्षायामाहुराप्तान् जानीतेति, आप्तवाक्यं शब्दः प्रमाणं, यथादृष्टार्थवादिन आप्ताः, किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुर्भद्रं व इति, प्रथमत आशिषो याचकैर्वक्तव्या इति, अथ वा यदुच्यते तद् भवतां भद्रमेव वयं च जात्या गोपा रामेण बलभद्रेण च प्रस्थापिताः, भगवान् सदानन्दो न हि भक्तान् याचने प्रवर्तयते, यदपि भगवतोक्त 'मस्मद्विसर्जिता' इति तदपि वाक्यत्वाद् वेदमध्ये प्रविष्टं बलभद्र एव प्रविशत्यतो रामचोदितानिति युक्तम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—हे भूमिदेवाः-इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा गोपों के अन्न मांगने के वचन कहते हैं। भूमि पर प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मण हैं। सुनने की प्रार्थना करने वाले वे गोप, अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि कृष्ण-सदानन्द फल रूप भगवान्-के आज्ञापालक हैं। हम लोग आप्त हैं अर्थात् शब्द को प्रमाण मानने वाले यथादृष्ट कहने वाले हैं (मिथ्यावादी नहीं है)। याचकों को याचना के पहिले आशीर्वाद देना उचित है। इस से आशीर्वाद देते हैं-आपका कल्याण हो। अथवा हमारे वचन आपके कल्याण के लिए ही हैं। हम गोप हैं और बलभद्रजी ने हमें भेजा है। क्योंकि सदानन्द भगवान् तो अपने भक्तों को याचना कार्य में प्रवृत नहीं करते है अर्थात् भक्तों से भिक्षा नहीं मँगवाते हैं।

यद्यपि भगवान् ने इन से-हमारे भेजे हुए-ऐसा कहा था, तो भी, भगवान् के वेदरूप उस वाक्य का बलभद्रजी से ही सम्बन्ध है। इस से बलभद्रजी के कहने से, गोपों का आना बतलाना ही उचित है (था) ।।६।।

श्लोक—**गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।**
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ।।७।।

श्लोकार्थ—यहाँ पास में ही गोचारण करने वाले राम कृष्ण दोनों भाईयों को भूख लगी है । वे आप से भोजन मांगते हैं । इसलिए–हे ब्राह्मणों ! यदि उन प्राथियों पर तुम्हारी श्रद्धा हो और तुम्हारा ही अन्न हो तो दीजिए । आप लोग धर्म के जानने वालों में श्रेष्ठ हैं ।।७।।

सुबोधिनी—एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा याचनमाहु-**र्गाश्चारयन्ताविति, गाश्चारयन्तौ** धर्मप्रवर्तकाव**विदूरे** निकट एव स्थितौ **रामाच्युतौ** ब्रह्मपरमानन्दौ **वो** युष्माकमन्नं **लषतः**, तत्र हेतुर्**बुभुक्षिताविति** अन्यथा न याचेयातां, न हि कश्चिद् याचकं याचते, **बुभुक्षिताविति** भगवद्वाक्यात् **'कीर्तयन्तो** भगवत' इतिभगवद्वचनात्, अभिप्रायमज्ञात्वा क्षुधामेव ज्ञातवन्तः, अभिप्रायस्तु तैर्भगवानेव याचत इति ज्ञातो यथा महान् प्रभुः सेवकं याचयित्वा ददाति तथा ब्राह्मणयाचनं कृत्वा देयमिति, अत उक्तं **बुभुक्षिताविति, द्विजा** इतिसम्बोधनमज्ञानाद् रूढ्या वा **तयो** रामकृष्णयोरोदनं **यच्छत** क्षुधैव पात्रता निरूपिता, **अर्थित्वमपि** द्वितीय मङ्गं, अन्यथैकादश्यामपि क्षुधितायान्नं देयं स्यात्, तत्रापि **यदि** श्रद्धास्तिक्य-बुद्धिस्तदा देयं, एतयोर्दाने वयं कृतार्था भविष्याम इति, चकाराद् **यद्योदनोस्ति** यदि वा **वो** युष्माकमेव न त्वन्यस्य प्रसङ्गादागतः, अत्र सर्वत्र विधिनिषेधपरिज्ञानं भवतामेव वर्तत इत्याहुर्हे **धर्मवित्तमा धर्मविदां** मध्येतिशयिताः ।।७।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूर्व पीठिका कह कर गाश्चारयन्तौ–इस श्लोक से याचना करते हैं । गोचारण रूप धर्म के प्रवर्तक हैं । (रामकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा) पास में ही स्थित हैं । भूखे हैं–इससे आपका अन्न चाहते हैं । भूख न लगी होती, तो आपके अन्न की याचना नहीं करते क्योंकि भिखारी से कोई कुछ याचना नहीं करता । वे भगवान् के–'कीर्तयन्तो भगवतः–' वचनों का अभिप्राय न समझ कर–'बुभूक्षितौ'–भूखे हैं ऐसा ही समझें । उनके द्वारा भगवान् याचना करते हैं–यह अभि-प्राय जाना । जैसे कोई बड़ा स्वामी, सेवक से कुछ मांगकर फिर उसे देता है, इसी तरह ब्राह्मणों से मांग कर देना है । इसी से भूखे हैं–ऐसा कहा है । द्विजाः ! यह सम्बोधन अज्ञानता के कारण अथवा रूढि से कहा है । उन रामकृष्ण के लिए ओदन देओ । भूखे अन्नदान के पात्र हैं और मांगते हैं–यह योग्यता–पात्रता–का द्वितीय अंग है । नहीं तो एकादशी के दिन भी भूखे के लिए अन्नदान वैध हो जाएगा ।

क्षुधा और याचना–दोनों प्रकार से योग्यता होने पर भी, यदि आपकी श्रद्धा–आस्तिक्य बुद्धि हो, अर्थात् इनको देने से हम कृतार्थ होंगे–तो देओ । ओदन होवे और आपका ही होवे, प्रसंग वश किसी से आया हुआ न होवे तो देओ । इस विषय में, विधि निषेध का परिज्ञान आपको ही है, क्योंकि धर्म के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं ।।७।।

श्लोक—दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥८॥

श्लोकार्थ—बलिदान के पहले दे देने से, अन्न के उच्छिष्ट हो जाने का भय मत करो, क्योंकि हे सज्जनों में श्रेष्ठों ! यज्ञ में दीक्षा लेने के पीछे बलिदान के पहले तक और सौत्रमण्य दीक्षा तथा अन्य दीक्षाओं में अन्न देने से उच्छिष्ट नहीं होता है ॥॥८॥

सुबोधिनी—ननु दीक्षितानामन्नमभोज्य 'न दीक्षितवसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन् नान्नमश्नीया'दिति तत्राहुर्दीक्षाया इति, दीक्षातः पूर्वं भोक्तुं शक्यते ततो दीक्षादिवसेषु न भोक्तव्यं पशुसंस्थादिवसेषु च न भोक्तव्यं, सौत्रामण्याश्च सुत्येहनि न भोक्तव्यं यदा सुराग्रहाः, अथ वा दीक्षाया दीक्षामारभ्य पशुसंस्थाया अन्यत्र पशुसंस्थापर्यन्तं न भोक्तव्यं सौत्रामण्यां च, 'संस्थिते वाग्नीषोमीये हुतायां वा वपाया'मितिवाक्यात् सौत्रामण्यां तु सुरा प्रधान्या'दन्नस्य वा एतच्छमलं यत् सुरे'ति शमलसम्बन्धान्न भोक्तव्यं, द्रव्यनिर्देशः कृतो न वेतिसन्देहात् स पक्षो नोक्तः, अन्यत्रैतद्व्यतिरिक्तस्थले दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन् न दुष्यति, हि युक्तश्चायमर्थः, तदुपपादितं श्रुतिप्रदर्शनेन ॥८॥

व्याख्यार्थ—जब-'न दीक्षित वसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन्नान्नमश्नीयात्'-श्रुति में दीक्षितों के अन्न को अभोज्य-न खाने योग्य-(निषिद्ध) बतलाया है तो फिर, भगवान् ने उनका अन्न कैसे मंगवाया ? इस प्रश्न के उत्तर में-'दीक्षायाः'-यह श्लोक कहते हैं। दीक्षा के पहले, दीक्षित का भी अन्न खाया जा सकता है। दीक्षा तथा बलिदान के दिनों में, दीक्षित का अन्न ग्रहण का निषेध है। सौत्रामणि होम में, सुरा की प्रधानता होती है और सुरा अन्न का मल है। इसलिए सौत्रामण्य होम के दिन भी, दीक्षित का अन्न ग्रहण करने लायक नहीं होता है। द्रव्य-अन्न का निर्देश किया गया है या नहीं किया-ऐसे सन्देह के कारण, अन्न के भेद का पक्ष नहीं कहा। अर्थात् तीन प्रकार आज्य, पशु, पुरोडाशीय अन्न में कौनसा अन्न ग्रहण करने योग्य होता है और कौनसा नहीं-यह पक्ष नहीं कहा गया है। अन्यत्र-इन बताई हुई परिस्थितियों के अतिरिक्त दीक्षित का अन्न खाने वाला दूषित नहीं होता है। श्रुति के अनुसार 'हि' यह अर्थ उचित है।

लेख—व्याख्या में-अतः-क्षुधा के ज्ञान से।

योजना—व्याख्या में-'ब्रह्म परमात्मानौ' का तात्पर्य यह है कि योगिजनों के रमण करने का स्थान होने से राम ब्रह्म है और अच्युत कृष्ण-कृषिर्भूवाचकः इस श्रुति के अनुसार परमानन्द रूप है ॥७॥

लेख—अन्यत्र-बलिदान के पश्चात् भी दीक्षित का अन्न खाने में दोष नहीं है ॥८॥

श्लोक—इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥९॥

श्लोकार्थ—तुच्छ स्वर्ग सुख की कामना रखकर, परिश्रम साध्य यज्ञ करने वाले बडप्पन के अभिमानी उन बेसमझ ब्राह्मणों ने गोपों के द्वारा की हुई भगवान् की याच्ञा को सुनकर भी, नहीं सुना (अनसुनी कर दी) उस पर कोई ध्यान नहीं दिया ॥९॥

सुबोधिनी—एवं सोपपत्तिके याचने कृतेपि ते न दत्तवन्तस्तत्र हेतुरश्रवणं तत्रापि हेतुर्बालकोक्तमिति, **'असंस्कृता न परिभाष्या'** इति **'न स्त्रिया न शूद्रेण सम्भाषेते'** ति च, तथापि भगवन्नाम्ना याचितवन्त इत्यदाने तेषां दोष एवेति मन्यमानः शुक आहेतीति, **ते हि भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोपि** सन्तो न शुश्रुवुर्दत्तचित्ता न जाताः, तत्र हेतवः क्षुद्राशाइत्यादिपदोक्ताश्चत्वारः, **क्षुद्रे** ल्पेर्थ **आशा** येषां, स्वर्गानन्दो हि क्षुद्रः परमानन्दापेक्षया, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुतेः, साङ्गादेव वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावः, ते ह्येवं मन्यन्ते प्रमाणबलनिष्ठा भगवान् हि सर्वात्मकः सर्वत्रैव वर्तते विशेषेणाभिव्यक्तिपक्षेपि यज्ञोपि भगवान् सर्वस्यापि प्रारब्धमूर्तिरेव सन्तोषणीया ततो यथा यज्ञापराधो न पतति तथा विधेयमन्यथा विधिनिषेधौ न स्यातां, प्रायेणैतद्द्रव्यनिर्देशः कृत 'आज्यं पशवः पुरोडाशीया एते मे यज्ञार्था यावद् यज्ञ उपयोक्ष्ये तावन् मे यज्ञार्थं शेषाद् ब्राह्मणा भुञ्जीर'न्निति, अतो, 'ब्राह्मण'-पदश्रवणाद् भगवतेपि न दत्तवन्तो रूपान्तरपरिज्ञानात्, एवं तेषां क्षुद्राशा, किञ्च ते हि **भूरिकर्माणः**, यद्यल्पे कर्मणि तावानपि स्वर्गः स्यात् तथापि न कुर्युरतो महतापि यज्ञेन यावान् स्वर्गो भवति तावान् भगवतेन्नदानेनापि भवत्यधिकोपि सर्वयज्ञात्मकत्वात् तथापि न कृतवन्तः कर्मतारतम्येन फलतारतम्यमितिन्यायादन्यथा पूर्णाहुत्या सर्वे लोकाः सिद्धा इति सत्रारम्भ एव व्यर्थः स्यादतो यथा समानफलान्यपि नाल्पानि कर्माणि क्रियन्ते तथैतदपि न कृतवन्तो 'न ददाति न पचत' इतिवाक्याच्चातो **भूरिकर्माणः** स्थूल एव कर्मण्यासक्तास्तत् कर्म नष्टं भवेदितिशङ्कया न दत्तवन्तो यतो **बालिशा** अज्ञाः, कर्म हि देवताप्रीतिहेतुस्ताश्च देवता आधिदैविकभूता भगवति सन्तुष्ट एव सन्तुष्यन्ति नान्यथा'तोके चेन् मधु विन्देते'तिन्यायेन सर्वफलरूपे भगवति सर्वदेवतारूपे चोपस्थितेल्पसाधनेनैव परितुष्यमाण आदरमकृत्वा वस्तुज्ञानाभावेभिव्यक्त्यभावाद् यज्ञस्य च स्वरूपानभिज्ञानादन्यथा मूलेनादरासम्भवात् कर्मणो बह्वन्तरायत्वात् केवलं भ्रान्त्येदमेव कर्तव्यमिति प्रवृत्ता **बालिशा** एव, किञ्च यथैतत् सर्वं न जानन्ति तथा स्वदोषमपि न जानन्त्यन्यथान्यो वा बोधयेत्, स्वस्य मौढ्याज्ञाने हेतुर्वृद्धमानिन इति, वयमेव त्रयीवृद्धा वेदार्थं जानीम इत्यसदाग्रहाः ॥९॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार युक्ति पूर्वक, अन्न मांगने पर भी, ब्राह्मणों ने अन्न नहीं दिया, क्योंकि, उन्होंने गोपों के वचनों को-बालक का कथन समझकर-सुना ही नहीं। शास्त्र में, संस्कार रहित बालकों के, स्त्रियों के और शूद्रों के साथ भाषण का निषेध है। इन गोपों ने तो, भगवान् के नाम से अन्न मांगा था, तब भी, भोजन न देने से उन ब्राह्मणों के दोष को श्री शुकदेवजी–इति ते–इस श्लोक से कहते हैं।

वे भगवान् की याच्ञा को सुनते हुए भी, नहीं सुनते थे दत्तचित्त नहीं हुए। इस के चार कारण थे। (१) क्षुद्राशाः-वे तुच्छ वस्तु की प्राप्ति की आशा वाले थे। क्योंकि परमानन्द की अपेक्षा स्वर्गानन्द तुच्छ है। वेद में कहा है कि-'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति'-इस परमानन्द के आनन्द की मात्रा-अंश-से अन्य जीवित है। अंग सहित-विधिपूर्वक-किए गए वैदिक कर्म से, फल की प्राप्ति अवश्य होती है। प्रमाण बल (मर्यादा) में निष्ठा रखने वाले वे ऐसा समझते थे। भगवान् सर्व रूप हैं, सब ठौर विराजते हैं। कहीं पर विशेष प्राकट्य के पक्ष में, यज्ञ भी-'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'-भगवान् हैं। इसलिए सब की ही आरम्भ की हुई मूर्ति-(यज्ञ) का ही सन्तोष करना चाहिए। यज्ञ में जैसे अपराध न आवे, वैसा ही करें। नहीं तो इच्छानुसार चाहे जैसा कर लेने पर तो, विधि निषेध ही न होते। उन ब्राह्मणों ने तो अधिकतया द्रव्य का नाम भी प्रकट कर दिया है (आज्य, पशु, पुरोडाश-ये मेरे यज्ञ के लिए हैं, जब तक यज्ञ में मैं इन का भोग करूं, तब तक ये मेरे यज्ञ के लिए हैं। बचे हुए का उपभोग ब्राह्मण करें)। यहां आए हुए ब्राह्मण पद को सुनकर उन ब्राह्मणों ने भगवान् के लिए भी भोजन नहीं दिया; क्योंकि, वे भगवान् से भिन्न मान रहे थे। इस प्रकार उनकी क्षुद्र आशा थी और बहुत बड़ा कर्म करने वाले थे। यद्यपि छोटे यज्ञ का भी, वही (उतना ही) फल होता तो भी-समान स्वर्ग की प्राप्ति फल होने पर भी, छोटा यज्ञ न करके बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे। बड़े यज्ञ से जितने स्वर्ग की प्राप्ति होती है; उतना ही, उस से भी अधिक स्वर्गफल भगवान् के लिए-अन्नदान-अर्पण करने से होता है, क्योंकि, भगवान् सर्व यज्ञ स्वरूप हैं। तब भी भगवान् के लिए भोजन नहीं दिया। कर्म के तारतम्य से फल में-न्यूनाधिक-(तारतम्य) होता है-इस न्याय से, उन्होने ऐसा नहीं किया। अन्यथा (नहीं तो) पूर्ण भगवान् के लिए आहुति देने से, सब लोकों की सिद्धि हो जाने पर, सत्र का प्रारम्भ करना निरर्थक होगा। इसलिए जैसे फल बराबर रहने पर भी, छोटे कर्म नहीं किए जाते हैं, वैसे यह भी नहीं किया। न देता है और न पकाता है-इस वाक्य से, वे बड़ा यज्ञ-कर्म करने वाले थे। स्थूल कर्म में ही उनकी आसक्ति थी। कर्म का नाश होने की शंका से अन्न नहीं दिया; क्योंकि, वे बालिश अज्ञानी थे। कर्म से देवता प्रसन्न होते हैं। आधिदैविक भूत देवता, भगवान् के सन्तुष्ट होने पर ही सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् के सन्तुष्ट न होने पर देवता भी सन्तुष्ट नहीं होते। इसलिए-पास में ही यदि मधु[1] मिल जाए, तो फिर, उसके लिए पर्वत पर क्यों जाया जाए-इस न्याय से भी, सब फलस्वरूप, सब देवतामय और थोड़े से साधन से ही सन्तुष्ट होने वाले भगवान् का ही आदर करना उचित था वह नहीं किया, क्योंकि उनने यह नहीं जाना कि सच्ची वस्तु (भगवान्) के अज्ञान से यज्ञ भगवान् प्रकट नहीं होते। वे तो यज्ञ के स्वरूप को भी नहीं जानते थे, नहीं तो सब के मूल भगवान् में अनादर करने से कर्म में बहुत विघ्न आवेंगे-ऐसा समझते। किन्तु केवल भ्रम से-यही कर्तव्य है, ऐसा समझकर अन्न नहीं दिया; क्योंकि वे अज्ञानी-ही थे। और उन्हें जैसे इस सब वस्तु का ज्ञान नहीं था, उसी तरह, वे अपने दोष को भी नहीं जानते थे। नहीं तो, उन्हें कोई बता भी देता। अपनी अज्ञानता को न जानने का कारण यह था, कि वे वृद्धमानी थे-सारे वेदों का अर्थ हम ही जानते हैं। ऐसे मिथ्या आग्रह वाले थे ॥६॥

लेख—'इति ते' श्लोक की व्याख्या में-दत्तचित्ताः-का अभिप्राय यह है, कि सुनने पर भी चित्त में ग्रहण करने योग्य नहीं समझा।

१—शहद।

श्लोक—**देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रद्विजाग्नयः ।**
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—जो देश, काल, यज्ञ की सारी सामग्री, मंत्र, तन्त्र, ब्राह्मण, अग्नि, देवता यजमान, ऋतु और धर्म स्वरूप हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—तेषामज्ञानं सर्ववस्तुयाथात्म्यनिरूपणेन प्रकटयति **देश** इति, देशादय एकादश द्वादश वा कस्यापि ते स्वरूपं न जानन्ति, ज्ञात्वा हि कर्म कर्तव्य, तत्र देशा देवयजनानि, **कालो** वसन्तादिः, **पृथगि**ति सर्वत्र भेदः पृथग् द्रव्याणि वा, **मन्त्र** ऋगादि, **तन्त्र**मानुपूर्वी क्रियासमुदायो वा, **द्विजा** ब्राह्मणा 'भार्गवो होता भवती'त्यादि भेदाश्च, **अग्नयो** बहुधा भिन्ना आहवनीयादयः, **देवता** अग्न्यादयः, **यजमानो** ब्राह्मणादिः 'सिक्तरेता' इत्यादिभेदाश्च, क्रतुर्यज्ञाधिष्ठात्री देवता, **धर्मो** यज्ञः, चकारात् तदङ्गादिकं सर्वमेव, आध्यात्मिकभेदेन वा क्रतुर्यज्ञो धर्मस्तज्जनितमपूर्वमिति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—सब वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप निरूपण के द्वारा–'देशः'–श्लोक से उनके अज्ञान को प्रकट करते हैं। इन देश काल–आदि ग्यारह अथवा बारह में से किसी एक के स्वरूप को भी वे नहीं जानते थे। कर्म का तो यह नियम है, कि जानकर ही कर्म करना चाहिए। 'देशः'–देवों का यजन पूजन करने का स्थान। 'कालः'–वसन्त आदि ऋतुएँ। पृथक्-सब वस्तुओं में भेद अथवा भिन्न भिन्न सामग्रियाँ। मंत्र–ऋचा आदि। 'तन्त्रम्'–आनुपूर्वी कर्म का क्रम अथवा क्रिया समूह। द्विजाः–ब्राह्मण जिनके–भार्गव होता होता है–इत्यादि भेद हैं। अग्नयः आहवनीय आदि अनेक प्रकार की है। देवता–अग्नि आदिक। यजमानः–ब्राह्मण आदिक, जिनके–सिक्तरेता आदि अनेक भेद हैं। ऋतुः–यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता। धर्मः–यज्ञ। 'च' से यज्ञ के सारे अंग। अथवा आध्यात्मिक भेद से ऋतुः–यज्ञ। धर्मः–यज्ञ से उत्पन्न हुआ अपूर्व। ये सब जिससे भगवन्मय हैं ॥१०॥

श्लोक—**तद् ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम् ।**
मनुष्यदृष्ट्या दुःप्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥११॥

श्लोकार्थ—उन साक्षात्–प्रत्यक्ष–परब्रह्म अधोक्षज–(इन्द्रियजन्य ज्ञान से ग्रहण करने में न आने वाले)–सर्व शक्तिमान् का मन्दबुद्धि वाले देहाभिमानी ब्राह्मणों ने मनुष्य दृष्टि (अज्ञान) से आदर नहीं किया ॥११॥

सुबोधिनी—नन्वेतत् सर्वं ब्रह्मात्मकमतः प्रकृते कथमुपालम्भः? तत्राह **तद् ब्रह्मे**ति, यदेतत् सर्वं तद् **ब्रह्म** तत्रापि **परमं**, ब्रह्मशब्देन चत्वार उच्यन्ते वेदो ब्राह्मणजातिश्च चतुर्मुखः परब्रह्म च, अतोऽन्यव्यावृत्त्यर्थं **परम**शब्दः, स एवायं **साक्षात्**, औपचारिककार्यांशसगुणपक्षा व्यावर्तिताः, ततोऽप्याधिक्यमाह **भगवन्त**मिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नं पुरुषोत्तमं, भगवच्छब्दवाच्यस्य प्राकृतत्वव्युदासायाहाधोक्षजमिति, **अधोक्षजं** ज्ञानं

यस्मात्. तर्ह्येतादृशे वस्तुनि प्रकटे स्वप्रकाशे कथं तेषामज्ञानम् ? तत्राह मनुष्यदृष्ट्येति, अन्यथाज्ञानादज्ञानं यद्यन्यभावस्फूर्तिर्न स्याद् विचारे ज्ञानोपाये च प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथाज्ञाने हेतुमाह दुष्प्रज्ञा इति, दुष्टा प्रज्ञा येषां, बुद्धिदोषात् सर्वत्रैव तेषामन्यथाज्ञानं तथा प्रकृतेपि जातमित्यर्थः, नन्वत्रान्यथाज्ञानं भवितुं नार्हति समानधर्माभावात् विषयत्वाभावादारोपायोग्यत्वात् स्वप्रकाशत्वाद् विषयः सर्वथा शुद्ध इति कथं तत्रान्यथाबुद्धिरिति चेत् तत्राह मर्त्यात्मान इति, न ह्यत्र तेषां बुद्धिर्विषयं स्पृशति किन्तु मध्यममेवावलम्बते यथा भ्रमदृष्टेर्भूम्यादयः, न हि कदाचिदपि भूम्यादीनामावर्तोऽस्ति, अतोन्तरेव दृष्टिभ्रमणं स्वाधिकारादारोप्यते, विषयधर्माणां हेतुत्वे रजतभ्रमवदन्यः स्यात् तस्यापि कालान्तरे स्यात्, अत एव ते मानुषभावेनैव व्याप्ता मनुष्या एव वयमिति मन्यमाना भगवन्तमपि तथैव मन्यन्ते, यथा चोरः सर्वानेव चोरान् जानाति तथा मूर्खा देवमप्यागतं स्वसमानमेव मन्यन्ते, यथा व्याधस्तपस्विनं, इतरवैलक्षण्याज्ञानात्, तस्मात् स्वदोषादेव निर्दुष्टे विषयेऽन्यथास्फूर्तिः, अत एते मर्त्यात्मान आत्मानमपि मर्त्यं कृतवन्तः परमात्मनस्तथाकरणे कः प्रयासः ? अतो भगवच्छास्त्र दृष्ट्वापि न मेनिरे नाङ्गीकृतवन्तः ॥११॥

व्याख्यार्थ—जब यह सब ब्रह्मात्मक है तो रहे । यहाँ उन विप्रों को उपालम्भ कैसे ? इस शंका के उत्तर में-तद् ब्रह्म श्लोक कहते हैं । यह सब ब्रह्म ही नहीं, किन्तु परम ब्रह्म है । ब्रह्म शब्द के-वेद, ब्राह्मण, ब्रह्मा और परब्रह्म-चार अर्थ हैं । इन में यहां अन्य तीन अर्थों का निषेध करने के लिए मूल में-'परमं'-विशेषण दिया है । वह ही यह साक्षात् है । साक्षात् पद से, उपचार, कार्य, अंश, सगुण आदि पक्षों का निषेध किया है। परब्रह्म ही नहीं, किन्तु उससे भी उत्कृष्ट भगवान् छः ऐश्वर्यों से सुशोभित पुरुषोत्तम ! यहां भगवान् शब्द का अर्थ 'भगवान् कालिदास' आदि की तरह प्राकृत नहीं है, क्योंकि यह अधोक्षज है-इन्द्रिय जन्य ज्ञान इनका स्पर्श नहीं कर सकता है ।

इस प्रकार के स्वतः प्रकाश सर्वोत्कृष्ट भगवद्रूप वस्तु के प्रकट रहने पर भी द्विजों के अज्ञान का कारण, मूल में-'मनुष्य दृष्टया'-पद से बतलाते हैं । विपरीत ज्ञान से उन्हें अज्ञान था । यदि विपरीत भाव नहीं होता, तो वे विचार करने में और ज्ञान के उपाय में लगते । विपरीत ज्ञान का कारण यह था, कि वे दुष्प्रज्ञ थे-दुष्ट बुद्धि वाले थे । बुद्धि के दोष के कारण ही, उनका सभी स्थानों में होने वाला विपरीत ज्ञान यहां भी-भगवान् में भी-हो गया ।

शंका—भगवान् में अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि, औरों में, उनके समान धर्म नहीं है । उनमें विषयता का अभाव है, आरोप की योग्यता नहीं है और स्वयं प्रकाशमान है । विषय सब प्रकार से शुद्ध है, फिर उसमें अन्यथा बुद्धि क्यों हुई ? इस शंका का उत्तर मूल में 'मर्त्यात्मानः' पद से दिया है । यहां उनकी बुद्धि विषय का स्पर्श नहीं करती-विषय तक नहीं पहुँचती है, किन्तु माया का अवलम्बन करती है । जैसे की घूमने वालों की दृष्टि में, भूमि, वृक्ष आदि घूमते दिखाई देते हैं । परन्तु भूमि आदि कभी घूमते नहीं है । इसलिए अपने अधिकार से बीच में ही, दृष्टि के भ्रमण से भूमि में भ्रमण का आरोप किया जाता है, अर्थात् निश्चल भूमि आदि घूमती सी दीखती है । यदि वस्तु-भूमि, पर्वत आदि में भ्रमण धर्म मान लेने पर तो, सीप में चांदी के भ्रम की तरह किसी और व्यक्ति को भी घूमते दीखने चाहिए तथा उस घूमती हुई दृष्टि वाले को भी स्थिर दृष्टि रहने पर भूमि घूमती हुई दीखनी चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । इसी से, मनुष्य भाव से ही व्याप्त थे । हम मनुष्य हैं-ऐसा मानने वाले, उन ब्राह्मणों ने भगवान् को भी अपना सा मनुष्य ही समझ लिया, जैसे चोर औरों को

भी चोर मानता है, उसी तरह वे मूर्ख, आए हुए देव को भी, अपने तुल्य मानते थे। अपनी अपेक्षा दूसरों में विलक्षणता के अज्ञान से, जैसे वधिक, तपस्वी को वधिक समझता है। इसलिए उन्हें अपने दोष से ही, निर्दोष वस्तु-भगवान्-में विपरीत-मनुष्य का-भान हुआ। मर्त्यात्मा-उनने अपनी आत्मा को भी मरण धर्म वाला कर दिया, तो भगवान् को मर्त्य[1] मानने में उन्हें क्या परिश्रम हो। इस कारण भगवत्-शास्त्र को जानकर भी, उन्होंने उन्हें भगवान् नहीं माना ॥११॥

लेख—तद्ब्रह्म-की व्याख्या में अन्यथा ज्ञान के सम्भव न होने का कारण-'समानधर्माभावात्' पद से देते हैं। भगवान् में जो धर्म विराजते हैं, वे औरों-(जीवों)-में नहीं है। सीप में चांदी के समान ही चमक दमक होने से, चांदी का आरोप हो सकता है। इसलिए बुद्धि सीप में चांदी का आरोप करके सीप को चांदीपने के ज्ञान का विषय कर लेती है, अर्थात् सीप में चांदी मान लेती है। भगवान् में मनुष्य के समान धर्मों का अभाव है। इसलिए उनमें, मनुष्यता का आरोप तो अनुचित है। इस न्याय से, जब भगवान् में मनुष्य भाव का आरोप ही सम्भव नहीं है, तो फिर उनमें-ये भी साधारण मनुष्य हैं-ऐसा ज्ञान भी नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् में, इस प्रकार का ज्ञान असंभव है। व्याख्या में, अन्यथा ज्ञान का कथन होने से, यहां भी अन्यथा ख्याति के पक्ष से ही विवेचन किया है।

समान धर्म का अभाव कहने का कारण-'स्वप्रकाशत्वात्'-यह है, कि स्वयं प्रकाशमान होने से, वह ब्रह्म रूप विषय सब प्रकार से शुद्ध है, उसमें किसी भी प्रकार से, मनुष्य जैसे धर्म सम्भव नहीं हैं। उनकी बुद्धि पदार्थ के औत्पत्तिक-सहज धर्मों का विचार नहीं कर सकी; क्योंकि, उनका विचार कर लेने पर तो समान और असमान धर्मों का निर्णय हो सकता है। इसलिए बीच-(माया) के धर्मों का ही, उनकी बुद्धि ने विचार किया। पदार्थ के वास्तविक धर्मों तक नहीं पहुंच सकी; क्योंकि वे जीव को देह रूप मान रहे थे। अपने आप में माने हुए, मरण धर्म को भगवान् में भी मानते थे। स्वयं प्रकाश रूप धर्म को, भगवान् में नहीं मान रहे थे। इसी कारण, मनुष्य दृष्टि से, उन्होंने भगवान् के वाक्य को स्वीकार नहीं किया ॥ भगवच्छास्त्र वेदादि को देखकर भी उनका तात्पर्य न जानने के कारण वे जीव को मर्त्य मानते थे ॥

योजना—तद्ब्रह्म परमं-श्लोक की व्याख्या में-न ह्यत्र तेषां बुद्धिः विषयं स्पृशति-इत्यादि की योजना इस प्रकार है। भ्रम के-सोपाधिक भ्रम (उपाधि सहित) और निरुपाधिक-भ्रम (उपाधि रहित)-दो भेद हैं। घड़ा घूमता है, शंख पीला है, शक्कर कड़वी है-इत्यादि भ्रम सोपाधिक भ्रम के उदाहरण हैं। वहां अधिष्ठान घड़े का आंख के द्वारा ग्रहण करने पर भ्रमरिका की उपाधि को लेकर भगवान् की शक्ति माया घड़े में झूठा भ्रमण उत्पन्न कर देती है। वहां मायाकृत मिथ्या भ्रमण और सत्य घड़ा-ये दोनों ही दिखाई देते हैं।

इस प्रसंग को ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत-इस श्लोक की व्याख्या में-विषयता माया जन्या, विषयो भगवान् विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या-इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट किया है ॥ विषय-घड़े-में भ्रमण रूप धर्म विषयता

१—मरने वाला।

है अर्थात् घड़ा विषय है और उसमें भ्रमण विषयता । वह भ्रमण रूप विषयता माया जन्य मिथ्या है और विषय घट भगवद्रूप सत्य है । घड़े में घड़े का--यथार्थ--ज्ञान विषय जन्य है और घूमने का ज्ञान विषयता जन्य है । वहां आंखे विषय (घट) और विषयता (भ्रमण) दोनों का प्रत्यक्ष करती है । इस से घड़ा घूमता है--ऐसा भान होता है । वहां--हमारी घूमती हुई आंख से घड़े में मिथ्या भ्रमण (मायाकल्पित) दिखाई दे रहा है, सत्य भ्रमण नहीं है--बालकों को ऐसा ज्ञान नही होता है । उनकी बुद्धि तमोगुण से दबी हुई हो जाने के कारण वे तो घड़े को घूमता ही मान लेते है ।

भागवत् सिद्धान्त में, बुद्धि ही सब प्रकार का ज्ञान कराने वाली है । इस लिए बुद्धि के दोष से, घडा घूमता दीखने लगता है । अर्थात् तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि, घड़े को घूमता हुआ ही निर्धार करती है । उस समय उनकी बुद्धि शुद्ध घड़े का ग्रहण न करके घूमते हुए घड़े का ग्रहण करती है । चक्षु इन्द्रिय तो शुद्ध घड़े का मायाकृत मिथ्या भ्रमण सहित ग्रहण करती है । यह मन और इन्द्रिय जन्य ज्ञान सामान्य ज्ञान है और घड़ा घूमता है यह अन्यथा प्रतीति है । मन सहित चक्षु इन्द्रिय से घड़ा घूमता है--ऐसी प्रतीति के पश्चात् बालकों की तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि घड़े को घूमता हुआ निश्चय कर लेती है । बुद्धि से कल्पना किया हुआ, यह घूमता हुआ घडा बुद्धि मे ही रहता है । बाहिर तो माया जनित भ्रमण वाला शुद्ध ही घड़ा है । उसे चक्षु ही देखती है, बुद्धि से उसका ग्रहण नहीं होता । इस कारण से चक्षु से देखा हुआ घड़ा मिथ्या नहीं है किन्तु बुद्धि से कल्पना किया हुआ ही मिथ्या है। इस प्रकार इन्द्रियों का शुद्ध घड़े के साथ सम्बन्ध होने पर भी, तमोगुण से मलीन हुई बालकों की बुद्धि का उस-शुद्ध घड़े के साथ सम्बन्ध नहीं होता । इसी अर्थ को, व्याख्या में--न ह्यत्र तेषां बुद्धिः--से लेकर--स्वाधिकारादारोप्यते--यहाँ तक के वाक्यों में लिखा है ।

उन अज्ञानियों की बुद्धि विषय का स्पर्श नहीं करती । मन सहित इन्द्रियां तो शुद्ध विषय--घटादि--को ही देखती है । इन्द्रिय सहकृत मन, विषय को ग्रहण करता हुआ भी, भ्रमात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न नही कर सकता, किन्तु केवल सामान्य ज्ञान को उत्पन्न करता है । विशेष ज्ञान को तो बुद्धि उत्पन्न करती है; क्योंकि तृतीय स्कन्ध में कपिलदेवजी ने--संशयोऽथ विपर्यासः--संशय आदि ज्ञान को बुद्धि वृत्तियां कही है । सत्वगुण सहित बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान को, रजोगुण युक्त बुद्धि संशयात्मक ज्ञान को तमोगुण सहित बुद्धि भ्रमात्मक ज्ञान को उत्पन्न करती है ।

सीप में चांदी का भान--इत्यादि निरूपाधिक भ्रम में तो चांदी माया जनित नही है; तमोगुण युक्त बुद्धि कल्पित है । उस बुद्धि कल्पित और बुद्धि में ही रहने वाली चांदी को बुद्धि ही ग्रहण करती है । चक्षु उसका ग्रहण नहीं करती । यद्यपि वहां मन से युक्त चक्षु इन्द्रिय सीप का ही ग्रहण करती हैं, तो भी चाँदी के सस्कारों की प्रवलता से, तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि उसमें चांदी का भान करा देती है । उस बुद्धि कल्पित चांदी को बुद्धि ही ग्रहण करती है । इसी अर्थ का--अन्तरात्वयि विभाति मृषैकरसे--वेद स्तुती की व्याख्या में--रंजतं तु तदन्तरं बुद्धयाजन्यते--इत्यादि वाक्यो से वर्णन किया है । अर्थात् पीछे बुद्धि चांदी मान लेती है, आंख से तो सीप का ही ग्रहण होता है । इस कारण से चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त सीप में अन्य की--चांदी की--ख्याति अन्यथा ख्याति है । यह सिद्धान्त है ।

शंख पीला है--इत्यादि रूप सोपाधिक भ्रम में विषय--शंखादि पदार्थ भ्रम के कारण नहीं है; किन्तु

श्लोक—न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप ।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे शत्रुदमन परीक्षित ! जब उन विप्रों ने उन्हें हाँ, ना, का कुछ भी उत्तर न दिया तब वे गोप निराश होकर वापस आ गए । उन्होंने कृष्ण और बलभद्रजी से सारी बात कही ।

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह **न ते यदोमिति प्रोचुरिति**, ओमित्यङ्गीकारे नेति निषेधे निषेध उपायान्तर एव प्रवृत्तिः स्यात् तेषां धर्मेण वा तुष्टा भवेयुः, नेत्यसत्ये सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वात्, अतो निराशाः, परन्तपेतिसम्बोधनं स्वाधिदैविकशुक प्रति कोपनिषेधाथमागतं, राज्ञो वा, महद्भाग्ययोगे ह्यार्तिर्विमुखो न गच्छतीति तद्भाग्याभिनन्दनार्थं, प्रत्येत्य व्याघुट्य समागत्य कृष्णरामयोः पुरतस्तथोचुः ॥१२॥

काचकामलादि[1] नेत्र रोग रूप उपाधि भ्रम का कारण है । इसका व्याख्या में--विषय-धर्माणां--इत्यादि वाक्यों से विवरण किया है । जैसे सीप में चांदी का भ्रम विषय--सीप--में स्थित चमक दमक आदि को लेकर होता है; वैसे शंख के पीलेपन आदि में विषय-शंख के धर्म से भ्रम नहीं होता किन्तु नेत्र रोग के कारण से एक नेत्र रोगी को ही होता है । नेत्र रोग रहित अन्य व्यक्तियों को और उसी नेत्र रोगी को भी नेत्र रोग मिट जाने के पीछे शंख पीला नहीं दिखता है । इस से--शंख पीला है--इत्यादि सोपाधिक भ्रम शंखादि पदार्थ के धर्मों के कारण से न हो कर नेत्र रोग रूपी उपाधी के कारण ही होता है--यह सिद्ध है ।

वह--सीप में चांदी रूप--निरूपाधिक भ्रम अधिष्ठान--सीप--का ज्ञान हो जाने पर मिट जाता है । और--शंख पीला इत्यादि सोपाधिक भ्रम तो--शंख पीला नहीं होता--ऐसा ज्ञान होते हुए भी होता है । इसलिए वह भ्रम अधिष्ठान--शंख का ज्ञान होने पर दूर नहीं होता, किन्तु नेत्र रोग रूप उपाधि का नाश होने पर मिटता है--यही इन दोनों भ्रमों में भेद है ।

यहां इन ब्राह्मणों की भगवान् में भक्ति न होने के कारण, उनकी बुद्धि में दोष हो गया जिससे, वे भगवान् की इच्छा से दिखाए हुए अवास्तविक--मिथ्या--मनुष्य धर्मों को भगवान् में देखते थे और उनमें उनकी मनुष्य बुद्धि थी । इसलिए उनका यह सोपाधिक--बुद्धि दोष जनित--भ्रम था । जब भगवान् की इच्छा से उनकी वह भगवद्भक्ति का न होना रूप उपाधि दूर होगी, तभी वह भ्रम मिटेगा--यह निश्चय है ।

भ्रम के स्वरूप का विशेष विचार हमने प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थ के ख्याति विवेक नामक प्रकरण में स्पष्ट किया है । विशेष जानकारी के लिए उसको वहां देखो ॥११॥

१—पीलिहा रोग जिसमें हरेक वस्तु पीले रंग की दीखती है ।

व्याख्यार्थ—फिर–न ते यदोमिति–श्लोक से आगे के प्रसंग को कहते हैं। 'ओम्' का अर्थ अंगीकार करना है और 'न' का अर्थ निषेध करना है। यदि वे निषेध कर देते तो गोप किसी दूसरे उपाय में लगते अथवा उन द्विजों के धर्म से सन्तुष्ट होते। उन्होंने–ना–ऐसा निषेध भी नहीं किया जो असत्य था। इस कारण से, उनमें सत्य की निवृत्ति होना सिद्ध होने से वे गोप निराश होकर पीछे चले गए। परन्तप–यह सम्बोधन अपने में स्थित आधिदैविक शुक में कोप का निषेध करने के लिए कहा गया है। अथवा-परन्तप–यह सम्बोधन राजा परीक्षित के लिए दिया है जो–बड़भागी के घर से ही अतिथि विमुख–निराश–नहीं जाते–इसलिए राजा के भाग्य की प्रशंसा के अभिप्राय से आया है। पीछे फिरकर–शीघ्र भगवान् के पास जाकर कृष्ण और राम के आगे यों कहने लगे ॥१२॥

लेख—जब विप्रों ने निषेध नहीं किया तो गोप निराश क्यों हुए ? इस शका का उत्तर–न–पद से दिया है। असत्य में अभिनिवेश से वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होने पर, निषेध हो, वह सत्य की निवृत्ति तो उनके मौन रह जाने पर भी, सिद्ध थी। वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, मौन क्यों रह जाते। इसलिए उनके 'न' न कहने पर भी (निषेध न करने पर भी) गोप लोग उन ब्राह्मणों के अज्ञान का निश्चय करके निराश हो गए। परन्तप–यह राजा का सम्बोधन है। निरोध लीला के प्रारम्भ में अपने में आए हुए अपने आधिदैविक शुक भगवान् के प्रति कोप का निषेध करने के लिए दिया है। हे परीक्षित ! तू परन्तप है, इससे मेरे भीतर आविष्ट हुए भगवान् को देखता है। इसलिए उसमें कोप के अभाव को प्रत्यक्ष ही देख–यह भाव है। राजा को शुकदेवजी में आविष्ट–स्थित–भगवान् का दर्शन होना अब तक स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं कहा गया–इस अरूचि से दूसरा पक्ष कहते है–अथवा परन्तप–यह सम्बोधन राजा में कोप का निषेध करने के लिए है। उसका विशेष विवेचन व्याख्या में–महद्–इत्यादि पद से किया है। हे राजन–तेरा ऐसा भाग्य है। वे ब्राह्मण भाग्य हीन थे। इसीसे उन्होंने ऐसा किया। इस से अज्ञानियों पर कोप करना उचित नहीं है–यह तात्पर्य है।

योजना—न ते यदोमिति–श्लोक की व्याख्या में–नेत्य–सत्ये–सत्य निवृत्तेः–इत्यादि का तात्पर्य यह है कि उन बाह्मणों ने ओम् नहीं कहा, वह तो सत्य था क्योंकि उनका वैसा ही–न देने काही–अभिप्राय था और जो उन्होने–न नेति–नहीं–निषेध–नहीं कहा यह असत्य था क्योंकि वे वास्तव में देना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्हें निषेध कर देना ही उचित था, तो भी नहीं किया। इस कारण से, निषेध न करने का बोधक नकारा का प्रयोग मिथ्या था; क्योंकि वे निषेध करना ही चाहते थे। वह नहीं किया। इस निषेध का निषेध अर्थात् विधि अर्थ को बतलाने वाले 'न' शब्द का प्रयोग मिथ्या अर्थ में था। इस प्रकार निषेध के निषेध (विधि) से ब्राह्मणों के हृदय में, असत्य के आग्रह का ही बोध होता है, इसी को व्याख्या में–सत्यानिवृत्तेः सिद्धत्वात्–पदों से कहा गया है अर्थात् मिथ्या होने पर सत्य की निवृत्ति अपने आप–स्वतः–सिद्ध है। जहां असत्य हो, वहां से सत्य का अवलम्बन करने वाले पुरुष को सच्चे ही लौट जाना चाहिए। इससे गोप निराश होकर लौट गए।

व्याख्या में–परन्तपेति स्वाधिदैविक शुकं प्रति–इत्यादि का तात्पर्य यह है कि–इस दशम स्कन्ध की निरोध लीला का वर्णन करने के आरम्भ में शुकदेवजी में भगवान् का आवेश हुआ था। इस प्रसंग को–वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातं' इस श्लोक की व्याख्या में–भगवता सह वर्तमानः स भगवान्–इत्यादि कह कर स्पष्ट किया है। इसलिए इन शुकदेवजी में आवेश से स्थित हुए भगवान् आधिदैविक शुक कहे जाते हैं। उन (आधिदैविक) शुकदेवजी को लक्ष्य करके–परन्तप–सम्बोधन है अर्थात् शुकदेवजी ने–परन्तप–यह सम्बोधन अपने में आविष्ट होकर

श्लोक—तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः ।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—गोपों के वचन सुनकर जगत के ईश्वर भगवान् हँसे और लौकिक गति को दिखाते हुए फिर कहने लगे ।।१३।।

सुबोधिनी—गोपाना खेदादिकं दृष्ट्वा भगवद्वैमुख्ये क्रोधं च तन्निवृत्त्यर्थं हास्यं कृतवान्, ननु क्रोधः कर्तव्य आज्ञोल्लङ्घनात् कथं हास्यं ? तत्राह **जगदीश्वर** इति, जगतः स एवेश्वरः, तथैव ते प्रतिबोधिताः, तेषां पूर्वखेदस्य विस्मृतत्वात् पुनराह, तेषां गमनाङ्गीकारार्थं प्रबोधनं च कृतवान्, **लौकिकी** गतिरेतादृशी क्वचित् प्राप्यते क्वचिन्न क्वचिदुत्तराभावश्च ।।१३।।

व्याख्यार्थ—गोपों के खेद आदि तथा उन ब्राह्मणों की भगवान् से विमुखता पर क्रोध को देखकर उनके खेद और क्रोध को दूर करने के लिए भगवान् हँसे । उन विप्रों के भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण भगवान् को उन पर क्रोध करना चाहिए था । हँसे क्यों ? इस शंका का उत्तर जगदीश्वरः-पद से देते हैं । जगत् के ये ही ईश्वर हैं । जगत् के ईश्वर भगवान् ने उन्हें वैसा ही बोध कराया था, जैसा कि उनने बर्ताव किया । गोप लोग पहले--याज्ञिकों के निषेध पर उत्पन्न हुए-खेद को भूल गए थे । इस कारण भगवान् ने उनसे फिर कहा । और जाना-द्विजपत्नियों के पास जाना-स्वीकार करने का बोध कराया । उन्हें लौकिकी गति समझाई कि ऐसा ही होता है अर्थात् मांगने पर कहीं मिल जाता है, कहीं नहीं मिलता और कहीं तो कुछ उत्तर भी नहीं मिलता ।।१३।।

स्थित हुए भगवान् के लिए कहा है और वह कोप के निषेध के लिए कहा है । गोप लोगों का निराश होकर लौट जाना इन शुकदेवजी के मुख से सुन कर उन आविष्ट भगवान् शुकदेवजी को क्रोध आ जाए । उस क्रोध की निवृत्ति के लिए-परं (क्रोध रूपी) शत्रु को (तापयति--सन्तप्त करने वाले हो) तपाने वाले-परन्तप-सम्बोधन आया है । आप परन्तप हो, इससे क्रोध नहीं करना चाहिए-यह अभिप्राय है ।

यह सेवक शुकदेवजी का अपने में आवेश से विराजमान (भगवत्स्वरूप) आधिदैविक शुकरूप भगवान् को क्रोध न करने का उपदेश देना अनुचित समझ कर व्याख्या में-आगतम्-आगया कहा है अर्थात् उस समय की लीला में तन्मय हुए शुकदेवजी के मुख से ऐसा निकल गया । उन्होंने जान कर ऐसा नहीं कहा ।

अथवा-परन्तप-यह सम्बोधन राजा परीक्षित के लिए कहा गया है । यहां भी प्रयोजन तो वही-कोप का निषेध करना ही है । राजा परम वैष्णव है, इसलिए गोपों का निराश होकर लौट जाना सुन कर उन ब्राह्मणों पर राजा क्रोध करे । उस क्रोध का निषेध इस 'परन्तप' सम्बोधन से किया अर्थात् हे राजन् ! तुम क्रोध रूपी शत्रु को ताप देने वाले हो । इस से उन विप्रों का अनुचित कार्य-अन्याय-देखकर भी उन पर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य देव हैं और तुम उनके सेवक हो, यह भाव है ।।१२।।

श्लोक—**मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम् ।**
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे गोपजनों ! अब तुम उन ब्राह्मणों की पत्नियों के पास जाओ और कहो कि बलदाऊजी के साथ मैं उनके घर के पास आया हूँ । वे तुम्हें बिना मांगे ही तुम्हारी इच्छानुसार अवश्य भोजन देंगी क्योंकि उनके मन में मेरी भक्ति है अर्थात् उनका मन मुझ में लगा हुआ है ॥१४॥

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमाह **मां ज्ञापयतेति**, यज्ञे यजमानपत्न्यः **पत्न्य** एवोच्यन्ते निर्दुष्टत्वज्ञापनाय 'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ती'तिश्रुतेः. अतो निर्दुष्टत्वान् **मां पत्नीभ्यो ज्ञापयत ससङ्कर्षणं** बलभद्रसहितमागतं, याचनं तु न कर्तव्यमयाचिता एव दास्यन्तीत्याह **दास्यन्तीति, काम** यथेष्टं तद् वो युष्मभ्यं तस्याऽन्नदोषो निरूपितः कामपदाद् वइतिपदाच्च, दाने हेतुः **स्निग्धा** इति, **मयि ताः स्निग्धाः** प्रेमवत्योतो **मदागमने ज्ञापिते** परितुष्टा एव **दास्यन्ति** यथा प्रियवार्ताहर्त्रे दानं, किञ्च धिया पुनर्मय्येवोषितास्ताः सङ्घाते बुद्धया मपि तिष्ठन्ति शेषेण तत्र बुद्धयेत्युपलक्षणं ज्ञानशक्त्यान्तःकरणेन चात्र तिष्ठन्ति बाह्यक्रियया देहेन च तत्र, अतो ज्ञानशक्तिर्मय्येव तिष्ठतीति **दास्यन्ति** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के वचन-मां ज्ञापयत-इस श्लोक से कहते हैं। यज्ञ में यजमानों की पत्नियों को-उनमें दोष का अभाव बतलाने के लिए-पत्नियाँ ही कहा जाता है। श्रुति में तस्मात् स्त्रियों निरिन्द्रिया-स्त्रियों को निरिन्द्रिय सम्पत्ति में भाग न पाने वाली और सेवक जैसी कहा है। इस कारण से वे पत्नियाँ दोष रहित हैं। उन को तुम मेरे बलभद्रजी सहित यहां आने की सूचना करो। याचना तो मत करना, क्योंकि वे बिना मांगे ही दे देंगी। वे (कामं) यथेष्ट अन्न (वः) तुम्हारे लिए देंगी। यहां मूल में कामं और (वः) पदों से उस अन्न का दोष निरूपण किया है। वे पत्नियां मुझ पर प्रेम करती हैं। इसलिए तुमसे मेरा यहां आना जानकर वे प्रसन्न होंगी और लोक में जैसे प्यारे के समाचार लाने वाले के लिए कुछ दिया जाता है, वैसे ही तुम्हारे लिए (अन्न) देंगी। और यह भी है, कि वे देह इन्द्रियादि के संघात में बुद्धि से-केवल बुद्धि से ही नहीं; किन्तु ज्ञान शक्ति और अन्तःकरण से तो मेरे पास ही रहती हैं। बाह्य क्रिया और देह से घर पर रह रही हैं। उनकी ज्ञानशक्ति के मुझ में ही रहने के कारण से वे दे देंगी ॥१४॥

टिप्पणी—मां ज्ञापयत-श्लोक की व्याख्या में-तस्यान्नदोषो निरूपितः-इत्यादि का तात्पर्य यह है। कामं-पद का पहले-यथेष्ठ अर्थ किया था। अब इस-कामं-पद को अन्न का विशेषण मान कर उसका तात्पर्य कहते हैं। उस अन्न का स्वयं उपभोग करने पर दोष हो सकता है। यहाँ दोष कैसे निरूपण किया ? ऐसी शंका में व्याख्या में-काम पदात्-ऐसा कहा है। यहां यह निष्कर्ष है-अन्न का स्वामी पुरुष होता है। उन याज्ञिकों ने वह अन्न स्वर्ग की कामना से यज्ञ-सम्बन्धी अन्य देवता का उद्देश्य करके संकल्प पूर्वक बनाया था । इस लिए वह सकाम भी अन्न कामना की प्रबलता के कारण काम रूप ही होगया था। यह बतलाने के लिए अन्न का विशेषण

श्लोक—गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः ।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥

कहा है। इस कथन से उन ब्राह्मणों की बहिर्मुखता सूचित होती है। इसलिए दूसरे के उद्देश्य से सिद्ध किया हुआ अभक्त सम्बन्धी अन्न अपने उपभोग (खाने) योग्य नहीं होता है-इस प्रकार से दोष बतलाया है। इसी प्रकार-मां ज्ञापयत् पत्नीभ्यः। (ब्राह्मण पत्नियों से मेरा आना कहो)-यों कह कर देने के समय में भी-मुझे देगी-ऐसा न कहकर अन्य गोपों को दान पात्र कहने से भी अन्न का दोष ही प्रकट होता है। इस आशय से ही व्याख्या में-वः इति पदाच्च-ऐसा कहा गया है। यहां पूर्वोत्तर-पहले और पीछे के-वाक्यों की सगति इस तरह होती है कि वे पत्नियां भक्त हैं, उन्हें मेरे यहा आने की सूचना देने पर तुम्हें (गोपों को) मेरे सम्बन्धी जान कर तुम्हारे लिए भी दे देंगी-इस अभिप्राय से पहले-'स्व'-कहा और फिर अन्न का दोष बतलाने के लिए-व.-ऐसा कहा है। यदि यह अभिप्राय नहीं होता तो वे पत्नियां भी उन गोपों को ही अन्न दे देती; वे स्वयं लेकर भगवान् के पास नहीं आतीं।

तब फिर, वे उस अन्न को कैसे लाई और भगवान् ने उसे स्वीकार कैसे किया ? इस के उत्तर में ऐसा ज्ञात होता है कि पत्नी, पति का अर्धाङ्ग होने से, उस अन्न में उनका भाग हो सकता है और वह (अन्न) उन पत्नियों के भगवद्भक्त होने के कारण, पूर्वोक्त दोष रहित हुआ मानना चाहिए। भाव यह है, कि वह अन्न पहले पति पत्नियों का इकट्ठा होने से और पतियों के भक्त न होने के कारण दोष युक्त था और अब उन पत्नियों ने भगवान् के लिए अपने भाग को अलग कर लेने पर-भक्ति पूर्वक लाए हुए पदार्थ को मैं ग्रहण करता हूं-इस वचन के अनुसार-उस दोष रहित अन्न को भगवान् ने अवश्य ही स्वीकार किया।

अथवा आगे-अन्नमादाय भाजनैः-इस १६ वें श्लोक में भाजन शब्द से यदि उस अन्न में से पत्नियों का भाग का अलग करना सम्भव न होने पर भी उस अन्न में पहले अन्य-यज्ञ देवता का उद्देश्य था। इससे वह दूषित था और उस में भगवान् का उद्देश हो जाने से, वह अन्न निर्दोष हो गया था। इस तरह, वह सारा ही अन्न भगवान् के अंगीकार करने योग्य हो गया था। उन पत्नियों की भक्ति से, उन याज्ञिकों का अन्न भाग निर्दोष कैसे हो गया ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि, आगे चलकर उन पत्नियों के सम्बन्ध से याज्ञिकों का भी, भक्त होना कहा जाएगा।

अथवा-कामं-का यथेष्ट अर्थ करने के पक्ष में भी-तस्यान्नस्य दोषः (उस अन्न का दोष) इत्यादि से, उसका तात्पर्य कहा है। अर्थात् उन याज्ञिकों ने आधिदैविक यज्ञ को सिद्ध करने के लिए चाहा था; किन्तु आधिदैविक यज्ञात्मक भगवान् की आज्ञा से आए हुए उन आध्यात्मिक गोपों की याचना का जो भंग किया था। उसी को व्याख्या में दोष पद से कहा है। तब आधिभौतिक यज्ञ भी, कैसे सिद्ध हो सकेगा-ऐसा जानकर, साक्षात् आधिदैविक यज्ञरूप (मुझ) भगवान् के लिए नहीं दे सकेंगी, तो आध्यात्मिक (यज्ञरूप) तुम्हारे (गोपों के) लिए तो तुम्हारी तृप्ति के लायक अन्न दे देंगी। उससे आधिदैविक (भगवान्) की तृप्ति हो जाएगी और आधिभौतिक यज्ञ भी सिद्ध हो जाएगा। इस आशय से व्याख्या में-कामपदात्, वः पदाच्च-ऐसा कहा गया है। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो यज्ञ के लिए सिद्ध किए हुए अन्न को, यज्ञ के लिए न रखकर, यथेष्ट देने का कथन संगत नहीं होता। उन पत्नियों को तो-मूल का सिंचन करने से सारा वृक्ष हरा भरा रहता है-ऐसा ज्ञान था। इस

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञा पाकर वे गोप पत्नीशाला में गए । वहां वस्त्र आभूषणों से सुशोभित होकर बैठी हुई याज्ञिक-पत्नियों को देखकर नमस्कार किया और नम्रता पूर्वक यों कहने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—ते पुनर्बाला: पूर्ववदेव गत्वा तथैव याचितवन्त इत्याह **गत्वेति, अथ** भिन्नप्रक्रमेण येन मार्गेण यया रीत्या पूर्व गता न तथेति, **पत्नीशाला** भिन्नेव प्राग्वंशे सदसि या भवति पर प्राग्वंश एव यत **आसीना** निश्चिन्ता: सुष्ठ्वलङ्कृताश्च, **अनेन** सौभाग्यसहितास्ता निरूपिता: पूर्ववदेव नत्वा **प्रश्रिता** विनीता: सन्त **इदं** वक्ष्यमाणमब्रुवन् ब्राह्मणसम्बन्धान्नमनं **सतीत्वाद्** विनय: ॥१५॥

व्याख्यार्थ—फिर वे गोपबालक पहिले की तरह ही जाकर वैसे ही मांगने लगे । यह–गत्वाथ श्लोक से कहते हैं । अथ शब्द प्रक्रम भेद का सूचक है **अर्थात् जिस मार्ग से और जिस रीति से पहले गए थे उस से भिन्न मार्ग और भिन्न रीति से गए** । पत्नीशाला अलग ही प्राग्वंश (यज्ञशाला के पूर्व में बाहर बैठने का घर) अथवा सभा मण्डप में होती है परन्तु वे प्राग्वंश में ही अच्छी तरह अलंकृत निश्चिन्त बैठी हुई थीं । सौभाग्यवती पत्नियों को ब्राह्मणों के सम्बन्ध से नमन करके और पहले याचना भंग के दु:ख तथा उनके सती (पतिव्रता) होने के कारण से विनीत होकर इस तरह कहने लगे ॥१५॥

श्लोक—नमो वो विप्रपत्नीभ्यो वचांसि न: ।

इतोविदूरे चरता कृष्णेन प्रेरिता वयम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे विप्र पत्नियों ! आपको नमस्कार है । हमारे वचनों को सुनिए । यहाँ निकट ही परिभ्रमण–क्रीड़ा–करने वाले भगवान् कृष्ण ने हमें (तुम्हारे पास) भेजा है ॥१६॥

सुबोधिनी—तेषां वाक्यमाह द्वयेन, **नम** इति, वैदिकार्थपरिज्ञानाद् **विप्रपत्नीभ्य** इत्युक्तं, तत्राप्यनवधानतानिवृत्त्यर्थं **निबोधतेत्याहु:,** के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुरितो निकट एव **चरता** परिभ्रमता लीलाकर्त्रा **कृष्णेन** सदानन्देन **वयं प्रेषिता** इति कार्यनिवेदनं वा ॥१६॥

कारण आधिदैविक भगवान् के लिए देने (अर्पण करने) से ही सब सिद्ध हो–इस अभिप्राय से वे सारे उस अन्न को भगवान् के पास ले आई । इसलिए यह सब उचित है ॥१४॥

लेख—व्याख्या में–पत्यु: स्त्री पत्नी–ऐसा पुंयोग करने से वे पत्नियां पतिव्रता थीं–यह सूचित किया गया है । यहीं–ता: संघाते–यह निर्धारण अर्थ में सप्तमी है अर्थात् सारे संघात में बुद्धि–अन्त:करण–से वे मुझ (भगवान्) में स्थित है और शेष देह इन्द्रियादिक से घर पर रह रही हैं–यह अर्थ है ॥१४॥

व्याख्यार्थ—नमः इत्यादि दो श्लोकों से गोपों के वचन कहे हैं । वैदिक अर्थ को न जानने के कारण-विप्रपत्नीभ्यः (ब्राह्मण पत्नियों के लिए) ऐसा कहा है । वे अपना परिचय देते हुए बोले कि यहां निकट में ही परिभ्रमण करने वाले अर्थात् क्रीड़ा करने वाले सदानन्द श्रीकृष्ण ने हमें यहाँ भेजा है अथवा यों कहकर कार्य का निवेदन किया है ।।१६।।

श्लोक—गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ।।१७।।

श्लोकार्थ—गायों को चराते हुए वे कृष्ण गोप और बलभद्रजी सहित दूर आ गए हैं । हम सब ही को भूख लगी है । इसलिए सेवक सहित उनके लिए भोजन दीजिए ।

सुबोधिनी—प्रयोजनमाहुर्गाश्चारयन्निति, ते त्वन्यान्नं न गृह्णन्त्यतो भगवतोक्तमपि स्त्रीभिर्दत्तमप्यन्नं स्वयं न गृहीतवन्तः किन्तु भगवदर्थमेव याचन्ते तेषां स एव धर्म इति, दोषकीर्तनं त्वज्ञानात्, गवां चारणमावश्यकमिति तदनुरोधेन तृणवति देशे समागतो **गोपालैश्च** सहितः, अनेन स्वागमने सर्व एवागच्छेरन्निति बाधकमुक्तं, सराम इति, आदरार्थं कार्यान्तराभावार्थं च, अतो वा दोषकीर्तनं, अतो बुभुक्षितस्य तस्य ससेवकस्य तस्यैवान्नं तत्र गत्वा दीयतामिति प्रकर्षो यथायोग्यम् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—'गाश्चारयन्' इस श्लोक से गोप लोग अपने आने का प्रयोजन बतलाते हैं । वे दूसरों के अन्न को नहीं लेते हैं इस लिए भगवान् के कहने पर भी, स्त्रियों-पत्नियों के देने पर भी, उन्होंने (अपने लिए) अन्न स्वयं नहीं लिया । वे तो भगवान् के लिए ही मांगते थे और उनका यह ही धर्म है । भगवान् को भूख लगी है-यह दोष का कथन तो भगवान् के स्वरूप के अज्ञान से किया है । गायों का चराना आवश्यक है । इस कारण गोपालों के सहित घास वाले प्रदेश में आगए हैं । इस से अपने-कृष्ण के-आने पर यहां सब ही आवें--इस प्रकार कृष्ण के आने में बाधा का वर्णन किया । मूल में-सराम (राम सहित) यह आदर के लिए अथवा दूसरा कोई कार्य नहीं है इसलिए कहा गया है । इसमें दोष का कीर्तन भी नहीं है । इस कारण से, सेवकों सहित भूखे उनके लिए उनका ही अन्न वहाँ जाकर देओ । यथा योग्य देना, देने में उत्कर्ष है ।।१७।।

लेख—व्याख्या में-वैदिकार्था ज्ञानात्-का तात्पर्य यह है कि यजमान की पत्नियां यज्ञ में पत्नियां ही कही जाती हैं-इस अर्थ का ज्ञान उन गोपों को नहीं था । इससे उनने उन्हें विप्रपत्नियां कहा । यदि वे वैदिक अर्थ को जानते होते तो केवल-हे पत्नियां ? ऐसा कहते ।।१६।।

लेख—व्याख्या में-अन्यान्नं-इत्यादि का तात्पर्य भगवत्संबन्ध रहित (असमर्पित) है। स्त्रीभिर्दत्तमपि-यहां अपि शब्द का सम्भावना अर्थ है अर्थात् जिस अन्न को स्त्रियां दे सकती हैं उसको भी नहीं लिया । दोष कीर्तनं-(दोष कहा) का तात्पर्य--भगवान् को भूख लगी है-यह कथन है ।

श्लोक—श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।
तत्कथाक्षिप्त मनसो बभूवुर्जात सम्भ्रमाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—वे पत्नियाँ नित्य भगवान् के गुणों को सुन कर उनके दर्शनों के लिए बड़ी उत्सुक थी । आज उनको निकट आए हुए सुनकर सबको उनके दर्शन की बड़ी चटपटी लगी ॥१८॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह श्रुत्वाच्युतमिति, 'चरते'तिवचनात् सोपि पश्चादागच्छतीत्युक्तं, अत आहोपायान्तमिति, उप समीप आगच्छन्तं, पूर्वं तु तास्तत्र गता इदानीमत्र भगवान् समायाति मनोरथस्तु पूर्वशेष इति समागमन इतिकर्तव्यत'नभिज्ञाः ससम्भ्रमा जाताः, किञ्च नित्यं तद्दर्शनार्थमुत्सुका., अतः शीघ्रमपि गन्तव्यं, क्षुधित इति सामग्र्यपि नेयातोपि सम्भ्रमः, किञ्च तस्य भगवतः कथाभिराक्षिप्तं मनो यासां, यत्र कापि स्थितं मनस्तत आ समन्ताद् दूर एव क्षिप्तमतो भगवति गतमतो मनोरथबाहुल्याद् किं कर्तव्यमिति ससम्भ्रमाः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर जो हुआ उसे–श्रुत्वाच्युतं–इस श्लोक से कहते हैं । मूल में 'चरता' (भ्रमण करने वाले ने) कहकर यह बतलाया कि पीछे भगवान् भी आ रहे हैं । इसीलिए उपायान्तं –(उप, समीप में आने वालों को–ऐसा कहा है । प्रथम तो वे पत्नियाँ भगवान् के पास–मनोरथ से गई और अब भगवान् यहाँ आते हैं । इनका मनोरथ तो भगवान् के पास पहले जाने का था अर्थात् वे पहले भगवान् के पास स्वयं जाना चाह रही थी किन्तु भगवान् का स्वयं वहां पधारना सुनकर वे किंकर्तव्यताविमूढ-आगे कर्तव्य कार्य के ज्ञान से रहित हो गई (विह्वल हो गई) । उन्हें नित्य भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा हो रही है । इसलिए शीघ्र जाना चाहिए और 'भूखे हैं' इसलिए भोजन भी ले चलना चाहिए–इन कारणों से वे व्याकुल होगईं । दूसरी बात यह भी थी कि भगवान् की कथाओं के द्वारा उनका मन आकर्षित हो रहा था । उन्होंने जहाँ कहीं भी लगे हुए अपने मन को अच्छी

लेख—व्याख्या में–अन्यान्न'–इत्यादि का तात्पर्य भगवत्संबन्ध रहित (असमर्पित) है । स्त्रीभिर्दत्तमपि–यहां अपि शब्द का सम्भावना अर्थ है अर्थात् जिस अन्न को स्त्रियां दे सकती है उसको भी नहीं लिया । दोष कीर्तनं-(दोष कहा) का तात्पर्य–भगवान् को भूख लगी है–यह कथन है ।

योजना—व्याख्या में–दोषकीर्तनन्तु० इत्यादि का (दोष का कीर्तन तो अज्ञान से किया है) अभिप्राय यह है कि–'माया मनुष्यस्य कपट मानुषः'—इत्यादि वाक्यों के अनुसार भूख प्यास आदि मनुष्य के असाधारण धर्म भगवान् में माया से प्रतीत होते है । वास्तव में मनुष्यों के धर्म भगवान् में नहीं है । इस से–क्षुत् खलु मनुष्यस्य भ्रातृव्यः—(क्षुधा मनुष्य का शत्रु है)—इस श्रुति के अनुसार भूख मनुष्य का असाधारण धर्म है वह भूख प्यास भगवान् में नही है—इस प्रकार के शास्त्रार्थ के अज्ञान से कहा है ॥१७॥

तरह से से खींच लिया इसलिए वह भगवान् में चला गया। अतः असंख्य मनोरथों के कारण वे अब क्या करना-इस तरह से व्याकुल हो गई थीं ॥१८॥

श्लोक—चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर वेग से चल देती हैं उसी तरह वे पत्नियाँ चार प्रकार के भोजन को पात्रों में लेकर प्रिय भगवान् के दर्शन करने के लिए चल दीं ॥१९॥

सुबोधिनी—इदानीन्तनं बन्निष्ठमिति विचार्य ससामग्रीका आगता इत्याह **चतुर्विधमिति** भक्ष्यं पेयं चोष्यं लेह्यमित्यन्यथा भोजनं न स्यात्, भक्ष्ये दन्तानां विनियोगोन्यद् गौणं चोष्ये परितःस्थितांशानां लेह्ये जिह्वायाः पेयेन्तःस्थितस्य वक्रस्यातश्चतुर्विधमेव सर्व भोजनं भवति, गुणा व्यञ्जनानि धर्मा वा, बहवो गुणा यत्र, अन्नं साधारणं, अपेक्षितादप्यधिकं, भाजनैर्येष्वेव स्थितं न तूद्धृत्य, अभिसस्रुरभिसरणं कृतवत्य आभिमुख्येन गमनं, समुदायशक्त्या सर्वथा गमनं प्रतीयते, तत्र हेतुः **प्रियमिति, प्रियं प्रति हि सर्वेषां गमनं,** अतः **सर्वा** एव, वह्वीनां कथमेकत्र गमनमेकदेत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरन् प्रतिबन्धाभावमाह **समुद्रमिव निम्नगा** इति, **निम्नगा नद्यो मध्ये** पर्वतादीनामपि प्रतिबन्धं न मन्यन्ते, न हि तासां देवाः पतयो भवन्ति किन्तु समुद्र एव तथाऽपि, निम्न एव गच्छन्तीत्युच्चैरहङ्कारे स्थिताः पतयो नाङ्गीकृताः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—उस समय उचित आवश्यक कर्तव्य को बिचार कर उनका सामग्री लेकर जाना -चर्तुविधं:-श्लोक से कहा गया है। भक्ष्य, पेय, चोष्य और लेह्य-चार प्रकार का भोजन लेकर गईं। भोजन में ये चार प्रकार के पदार्थ नहीं हो तो भोजन ही नहीं हो। भक्ष्य में दांतों का, चोष्य में मुख के दांत आदि सारेभागों का, लेह्य में जीभ का और पेय में मुख के भीतरी भाग का उपयोग होता

लेख—श्रुत्वाच्युतं-की व्याख्या में-मनोरथस्तु (मनोरथ तो)—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि वे स्वयं भगवान् के आने के पहले ही भगवान् के पास जाना चाहती थीं और जाकर यों यों करेंगी-इस प्रकार का मनोरथ उनके सोचे हुए पहले जाने का अंगभूत है। भगवान् स्वयं आगए-ऐसा समझ कर अपने मनोरथ को भूलकर आकुल हो गईं।

योजना—व्याख्या में पूर्वं तु तास्तत्रागताः—इत्यादि का (पहले तो वे वहां आगईं) तात्पर्य यह है कि वे पत्नियां भगवान् के पास पहले ही आगईं। मनोरथस्तु पूर्व शेषः (मनोरथ तो अंग था) का अभिप्राय रमण के मनोरथ से है, और वह (रमण) पहिले सोचे हुए भगवान् के निकट जाने का कार्य है अर्थात् जब भगवान् के समीप जाना होगा, तब रमण मनोरथ सिद्ध होगा। भगवान् ही यहां आ रहे हैं तो फिर, मन की अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी—ऐसा समझकर हक्की बक्की हो गई ॥१८॥

है अन्य तो एक दूसरे के सहायक हैं। इस प्रकार चार तरह का ही पूरा भोजन होता है। गुण शब्द का अर्थ यहाँ व्यञ्जन अथवा धर्म है, अर्थात् जिस भोजन में अन्न तो थोड़ा था और व्यञ्जन अधिक थे। आवश्यकता से भी अधिक थे। पात्रों से निकाल कर नहीं किन्तु जिन पात्रों में भोजन धरा था, उन पात्रों समेत ले आई। अभिसरण किया अर्थात् चारों ओर से इकट्ठी होकर गई-ऐसा प्रतीत होता है। सब के एक साथ जाने का कारण यह है, कि भगवान् सब के प्रिय है। प्यारे के पास सभी इकट्ठे हो, जाते हैं। इसलिए वे सभी इकट्ठी होकर प्रिय भगवान् के पास गईं। वे सब पत्नियाँ एक स्थान पर एक साथ कैसे गईं? इस शंका का दृष्टान्त से समाधान करते हुए मूल में-समुद्रमिव निम्नगा:-प्रतिबन्ध का अभाव बतलाते हैं। नदियाँ बीच में आने वाले पर्वत आदि प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करती हैं। उन नदियों के पति देवता नहीं होते हैं, किन्तु जैसे उनका पति समुद्र ही है, वैसे (ही) यहां भी इनके पति भगवान् ही हैं। निम्नगा अर्थात् नीचे बहने वाली होने के कारण ऊँचे अहंकार से भरे हुए पति स्वीकार नहीं किए ॥१९॥

श्लोक—निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिःसुतैः ।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—पतियों, भाईयों, बन्धुओं और पुत्रों ने उनको जाने से रोका, तो भी वे नहीं रूकी। वे बहुत समय से, भगवान् के गुणों को सुन रही थीं, इस कारण से उनका चित्त उत्तम कीर्ति वाले भगवान् पर मोहित हो रहा था ॥२०॥

सुबोधिनी—प्रतिबन्धाभावमाशङ्क्याह निषिध्यमाना इति, उदासीनाना भाषणं निषिद्धमतः सम्बन्धिभिरेव निषिद्धाः, बलवद् बाधकं च तत्, पितरोत्र नोक्ता अन्यथोत्पत्तिविरोधः स्यात्, उपपत्तिविरोधे तु शास्त्रं बलिष्ठ, तासां चतुर्विधपुरुषार्थश्चतुर्भिर्देया धर्मदः पतिरर्थदो भ्राताभिलषितार्थदातारो बान्धवाः सुता मोक्षदाः, तेपां निषेधे तत्तत्पुरुषार्थहानिस्तथापि पञ्चममेव पुरुषार्थं मन्यमाना गता एवेत्याह भगवतीति, भगवांस्तु षड्गुणः स्वयं चैकोतः सप्तपुरुषार्थास्तत्र सिध्यन्ति, किञ्चोत्तमश्लोक इति, उत्तमैः सिद्धपुरुषार्थैरपि श्लोक्यतेतो भक्तिरप्यष्टमः पुरुषार्थः, किञ्च कामितो हि पुरुषार्थो भवति न त्वकामितोतो धर्मादीनामपुरुषार्थतैव किन्तु भगवानेव पुरुषार्थ इत्यभिप्रायेणाह दीर्घश्रुतधृताशया इति, दीर्घकालपर्यन्तं यः श्रुतो यद्वा श्रुतं तस्मिन् तेन वा धृत आशयो याभिः, यथा फलश्रवणेन फले चित्तं भवति तथा भगवति चित्तं न त्वन्यत्र, निषेधोत्र वाचनिक ऋत्विजां कर्मवैयग्र्यात्, न ह्यन्यभार्या अन्येन स्प्रष्टुं शक्या यागनाशश्च स्यादतो यजमानपत्नीव्यतिरिक्ताः सर्वा एव गता एकरूपाश्च, ऋत्विजां मिश्रप्रतिषेधात् 'यून: स्थविरान् वे'ति, यजमानस्तु विसदृशोपि भवत्यतो गता एव ॥२०॥

व्याख्यार्थ— उनको जाने से किसी ने नहीं रोका होगा ? ऐसी शंका में-निषिध्यमानाः-यह श्लोक कहते हैं। उदासीन-जिनका कोई सम्बन्ध नहीं-वे तो रोक ही नहीं सकते (कुछ कह ही नहीं

लेख—व्याख्या में-धर्माः-का तात्पर्य मधुरता आदि है। साधारणं-अन्न तो सब पत्नियों के पास साधारण था। अलग २ नहीं था। समुदाय शक्ति से) अर्थात् सभी इकट्ठी होकर गईं ॥१९॥

सकते)। इस लिए सम्बन्धियों ने ही उन्हें रोका। और वही सम्बन्ध-श्रृंखला अत्यन्त बाधक है। यहाँ रोकनेवालों में उनके पिता नहीं कहे। नहीं तो पिता भी रोकते और वे नहीं रुकती तो उत्पत्ति उत्पन्न करने वालों-पिताओं-का विरोध होता। अर्थात् उनके जाने की प्रवृत्ति में प्रतिबन्ध हो जाता। युक्ति के विरोध में तो शास्त्र ही दृढ़ प्रमाण है अर्थात् जाना चाहिए अथवा नहीं जाना चाहिए-ऐसी शंका होने पर तो शास्त्र के कथनानुसार ही-जैसा शास्त्र में कहा हो वैसा ही-कर लेना चाहिए। पति धर्म को देने वाला, अर्थ को देने वाला भाई, कामनाओं (काम) को अभिलाषित वस्तुओं को देनेवाले बान्धव और मोक्ष को देनेवाले पुत्र-इस प्रकार ये चारो रोकने वाले उनके चार पुरुषार्थों को देनेवाले थे। उनके रोकने पर भी न रुकने से उन पत्नियों के उक्त चारों पुरुषार्थों की हानि हो जाने की भी परवाह न करके पांचवे पुरुषार्थ को ही मानती हुई वे वहां चली गईं-इस बात को मूल में-भगवति-इत्यादि पदों से कहा गया है। भगवान् के पास जाने से-ऐश्वर्य वीर्यादि छः गुण और सातवें स्वयं धर्मी-इस प्रकार सात पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। उन भगवान् की कीर्ति को (उत्तम) सिद्ध पुरुष गाते हैं। इससे आठवां पुरुषार्थ भक्ति सिद्ध होती है। और जो जिस पदार्थ को चाहता है उसके लिए वही पुरुषार्थ होता है। नहीं चाहा हुआ पुरुषार्थ नहीं होता। इसलिए ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ को नहीं चाहती। इससे ये पुरुषार्थ ही नहीं हैं। भगवान् ही पुरुषार्थ है। इस अभिप्राय से मूल में-दीर्घश्रुतधृताशया (बहुत समय तक सुनने से अपने चित्त को भगवान् में लगा देने वाली) कहा है। अर्थात् जैसे फल सुनकर सुनने वाले का चित्त फल में लग जाता है। उसी प्रकार उनका चित्त भगवान् में लग गया था और जगह नहीं लगता था। वे याज्ञिक विप्र यज्ञानुष्ठान में संलग्न थे-इस लिए उनने उन्हें वाणी से ही जाने से रोका। दूसरे की स्त्री को पराया नहीं छू सकता और स्पर्श कर लेने पर यज्ञ का नाश हो जाए। इस कारण से उसे यजमानों की पत्नियों के अतिरिक्त सभी एक रूप होकर चली गईं क्योंकि ऋत्विजों-याज्ञिकों ने उन्हें इकट्ठी ही रोका था अथवा तरुण या वृद्धों ने रोका था। यजमान तो उन रोकने वाले पति पुत्रादिकों से भिन्न भी हो सकता है। इन से वे न रुकी चली ही गईं ॥२०॥

श्लोक—यमुनोपवनेऽशोक नव पल्लव मण्डिते।
विचरन्तं वृतं गोपैर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः ॥२१॥

श्लोकार्थ—वहां उन्होंने श्री यमुनाजी के तट पर अशोक वृक्षों के नए पत्तों से सुशोभित निकुंज में विचरण-भ्रमण करते हुए गोपों के साथ बलभद्रजी सहित भगवान् के दर्शन किए॥२१॥

लेख—व्याख्या में-यजमानस्तु (यजमान तो) इत्यादि का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'यजमान' शब्द सभी याज्ञिकों का बोधक है, तो भी यहां मुख्य याज्ञिक का ही वाचक है।

योजना—व्याख्या में-पंचम मेव पुरुषार्थं०—इत्यादि का आशय यह है कि स्वतन्त्र भक्ति रूप, पुष्टि-मार्गीय भजन को ही पुरुषार्थ मानने वाली गईं ॥२०॥

सुबोधिनी--गतानां समागमनप्रकारमाह यमुनेति, यमुनोपवने विचरन्तं स्त्रियो ददृशुरितिसम्बन्धः, जल-स्थलक्रीडायोग्यभूमिः सूचिता, उपवने पुष्पाणि फलानि च सर्वदा भवन्ति तथाविधान्येवारोप्यन्त इति, यमुना क्रूरेत्युपवनरक्षा यमभागाभावश्च, गतानामुभयपरित्यागे शोकः स्यादिति तन्निवृत्यर्थमहाशोकानां नवपल्लवै-मण्डित इति, अनेन शय्या अपि निरूपिताः, तादृशे विभावादियुक्ते गोपैर्मुग्धैर्वृतं विशेषेण हंसगत्यादिना गच्छन्तं साग्रजं क्रियाशक्तिसहितं सर्वतो रक्षणसमर्थं ददृशुः स्वाभिलषितप्रकारेण दृष्टवत्यो यतः स्त्रियः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में गई हुई उन पत्नियों को भगवान् के दर्शन होने का प्रकार कहते है। यमुनाजी तट पर निकुंज में विचरते हुए भगवान् को देखा-ऐसा सम्बन्ध है। (इस कथन से) यह कह कर जलक्रीड़ा और स्थल क्रीड़ा करने योग्य भूमि की सूचना की है। अर्थात् यहां-इस स्थान पर उभय विध-दोनों प्रकार की-क्रीडा हो सकती है। उपवन में पुष्प, फल सदा ही रहते हैं, क्योंकि बगीचे में पुष्प और फल वाले वृक्ष ही लगाए जाते हैं। यमुनाजी क्रूर हैं। इससे उपवन की रक्षा थी और यमराज का भाग वहां नहीं था। (भगवान् के पास गई हुई पत्नियों को यज्ञशाला और घर दोनों का त्याग करने में शोक हुआ होगा? इस शंका की निवृति के लिए-अशोक वृक्षों के नवीन पत्तों से सुशोभित कहा है)। वह उपवन अशोक वृक्षों के नवीन पत्तो से सुशोभित था इस से उन जाने वाली पत्नियों को यज्ञशाला और घर को छोड़ने में शोक नहीं हुआ। इस कथन से शय्या का निरूपण भी हो गया। विभावानु-भावादि से युक्त ऐसे उपवन में (गोप) भोले भाले गोपों के बीच में हंस की चाल से चलते हुए साग्रज क्रिया-शक्ति सहित सब प्रकार से रक्षा करने में समर्थ भगवान् को देखा। वे स्त्रियां थीं, इसलिए अपनी मनोवाञ्छित अभिलाषाओं के साथ भगवान् के दर्शन किए ॥२१॥

लेख—इनको सर्वात्मभाव की प्राप्ति नहीं हुई थी—इसलिए व्याख्या में-समागम प्रकार-कहा गया है अर्थात् अभिसरण (जाना) ही मुख्य था, दर्शन तो गमन के प्रकार रूप से गौण था। क्रूरा पद का अभिप्राय यह है कि (तनुनवत्वमेतावता,—नवीन शरीर (सेवोपयोगी) का दान करने के दृष्टान्त से श्री यमुनाजी सारे विघ्नों को दूर करने वाली हैं। इस कारण से उस उपवन में विघ्न नहीं आवेंगे। यमभागाभावश्च (यमराज का भाग नहीं है) इससे दूसरा यह तात्पर्य बतलाते हैं कि यमराज का दोष हटाने के लिए ही यमुनाजी की उत्पत्ति है, अर्थात् जीवों को यमलोक (नरक) में (जाने से रोकने के लिए) न जाने देने के लिए ही यमुनाजी भूतल पर पधारी हैं। साधारण रीति से भी बहिन में भाई का भाग—हिस्सा—नहीं होता। इसलिए भगवान् के निकट जाने वालों का भगवान् से ही सम्बन्ध होता है। उनका फिर संसार मे आकर यमराज का सम्बन्ध नहीं होता है। उभय परित्यागे-(दोनों को छोड़ने में) का अभिप्राय यह है, कि भगवान् की न होने की बुद्धि से जहां वे बैठी थी, उस स्थल का त्याग और शरीर आदि से जहां रहती थीं, उस घर का त्याग किया। भगवान् की प्राप्ति न होने पर भी वैसे सर्व परित्याग से भगवान् अवश्य मिल जाएंगे—ऐसा निश्चय था इस कारण से उन्हें शोक नहीं हुआ यह भाव है।

योजना—व्याख्या में-यमुना क्रूरा (यमुनाजी क्रूर है) का आशय यह है, कि भगवान् के साथ सम्बन्ध

श्लोक—श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमालिबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—जो श्याम स्वरूप, पीताम्बरधारी, और गले में वनमाला से सुशोभित थे । मोर पंखों, गैरु आदि धातुओं के रंगों और नवीन पल्लवों से सुसज्जित नटवर वेष से मनोहर थे । एक सखा के कन्धे पर एक हाथ रखकर दूसरे हाथ से लिए हुए कमल को नचा रहे थे । कानों पर कमल के पुष्प, कपोलों पर काली अलकें और प्रसन्न मुख–कमल पर मंद मुस्कान से परम सुन्दर थे । ऐसे भगवान् के दर्शन किए । ।।२२।।

सुबोधिनी—स्त्रीदृष्ट भगवन्तं वर्णयत्यन्यथा भगवच्चरित्रं न भवेदन्योपसर्जनत्वाद् वर्णिते तु भगवतैव तथा क्रियत इति तादृशरूपप्राकट्येन निश्चीयते, **श्याममिति**, आदौ वर्णः शृङ्गाररसात्मको गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च शुक्लो जलप्रकृतिकोऽव्यक्तरसोऽन्नमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं च केवलं तद् रसजनक न भविष्यतीति तयोरपि सम्बन्धो निरूप्यते, **हिरण्यपरिधि वनमालिनमिति**, सुवर्णमेखलैव परिधिरूपा कुण्डलमुकुटकण्ठाभरणानि च पीताम्बर कङ्कणाङ्गदादीनि च, अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः, वनमाला वर्ततेऽस्येति, सर्वपुष्पमयी सा शुभ्रा, अन्येपि सर्वे रसास्तत्र सन्तीति ज्ञापयितुं साधनत्रयमाह **बर्हधातुप्रवालेति**, त्रयाणामन्योन्यसम्बन्धात् सर्व एव रसाः, बर्हश्चित्र एव धातवोनेकविधाः शुभ्रादयो मिश्राः, प्रवाला आरक्ता एव, एतैरपि कृत्वा **नटवेषो** यस्य, केवलं रसं धर्मसहितमपि रसं दातुमुपस्थितः, किञ्च लीलामपि सामग्रीरूपां स्वयमेव करोतीत्याहानुव्रतांसे **विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जमिति**, लीलायाः प्राधान्यस्थापनार्थं स्वस्य परवशत्वं वोच्यते, स्वातन्त्र्ये रसो गुप्तो भवतीत्यनुव्रतस्य स्वसमानधर्मशीलस्यांसे स्कन्धे हस्तं विन्यस्य युग्मरसं स्थापयन् विश्वमेव कमलात्मकं भ्रामयति सर्वमेवान्यथा करिष्यामीति ज्ञापयन् निर्भयतां सम्पादयति, परमनुव्रतत्व एवाणुमात्रान्यथाभावेपि नैवमयं रसः क्रियापर्यवसायीति स्कन्ध एव कृतिर्निरूपिता, उभयोरेकत्र व्यापृतौ रसो न स्यादितीतरेणेत्युक्त कम्पने मकरन्दः स्रवतीति रसार्थमेव तथाकरणं, ज्ञानक्रिययोर्मर्यादायाः शास्त्राणामङ्गानां भक्तेर्विरोधमाशङ्क्य परिहरति **कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासमिति**, कर्णयोरुत्पले येलका नालसहितकमलस्थितभ्रमरा इव कपोलयोर्मुखे च हास्यं यस्येति, तेष्वपि हाससम्बन्धः कपोलयोर्मुखे च सर्वेषामेव कमलत्वं कपोलयोर्मुखस्यैव वा कर्णयोर्योगसाङ्ख्यत्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रत्वं च, उत्पलानां मर्यादारूपत्वं, अलकानां शास्त्रत्वं विद्वत्त्वं वा, कपोलयोर्भक्त्यङ्गत्वं मुखस्य भक्तित्वं, सर्वेषामेव सरसत्वायाब्जत्वं, तत्र हासो यस्येति सर्वव्यामोहात् सर्वविरोधः परिहृतो भवति ।।२२।।

होने में आने वाले सारे विघ्नों का नाश करने वाली है, तो फिर केवल भगवान् ही की क्रीड़ा का स्थल अपने ही उपवन पर आने वाले विघ्नों का विनाश क्यों नहीं करेगी ? करेगी ही । यमभागाभावः (यमराज का भाग नहीं है) का तात्पर्य यह है कि यमराज काल रूप है और काल सब का भक्षण करने वाला है तो कभी इस उपवन को भी अन्यथा (नष्ट) कर दे । परन्तु यहां बहिन के नाते से विनाश न करके (रक्षा करना) बहिन के उपवन की रक्षा ही करेगा जो उचित है । यह यमुना पद का तात्पर्य है ।।२१।।

व्याख्यार्थ --उन पत्नियों ने वहां जाकर भगवान् के जैसे स्वरूप को देखा उसका वर्णन करते है। नहीं तो यह भगवान् का चरित्र नहीं रहेगा; क्योंकि वह अन्य की गुणी भूत हो जायगी। स्वरूप वर्णन करने पर तो उस रूप के प्राकट्य से ऐसा निश्चय होता है कि स्वयं भगवान् ही अपने को स्त्रियों के देखने योग्य कर लेते हैं। यह इस-'श्यामं' श्लोक से कहते हैं।

पहले वर्ण का वर्णन करते है कि भगवान् का श्याम वर्ण है। श्याम वर्ण शृंगार रस रूप, गौर वर्ण रजो रूप, तैजस लाल रंग का, जल प्रकृतिवाला सफेद और अव्यक्त रसवाला होता है। अन्न ही सब रस रूप और भोग्य होता है। (अन्न) वह केवल रस को उत्पन्न करने वाला नही होगा? ऐसी शंका में-हिरण्यपरिधिं, वनमालिनं-इन पदों से दोनों के सम्बन्ध का निरूपण करते हैं। सोने की करधनी ही परिधिरूप है। कुण्डल, मुकुट, कण्ठ के आभूषण, पीताम्बर, कड़े, भुजबन्द आदि भी परिधिरूप ही जानने। इस प्रकार परिधि सहित अनन्त मूर्तिवाले श्याम चन्द्रमा का निरूपण किया है। वे वनमाला पहने हुए हैं। वह वनमाला सब भाति के पुष्पों की बनी हुई और सफेद है। भगवान् में और भी सारे रसों को बतलाने के लिए-बर्ह धातु प्रवाल-इन तीन शब्दों से तीन साधनों का वर्णन करते हैं। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण सब ही रस रूप हैं। बर्ह-मोर का चंदवा चित्र विचित्र, गैरू आदि धातु लाल सफेद आदि अनेक रंग के और प्रवाल लाल रंग के होते हैं। इन से अद्भुत नट वेष वाले है। साक्षात् धर्मी सहित होकर रसदान करने के लिए आगया है। अर्थात् केवल रस और धर्म सहित रस दोनों रसों का दान करने के लिए भगवान् उपस्थित हुए हैं। सामग्री रूप लीला को भी भगवान् स्वयं ही कर रहे हैं-अनुव्रतां से०। कि गोप के कन्धे पर एक हाथ धरे हैं और दूसरे हाथ से कमल को घुमा रहे हैं। लीला की प्रधानता को दिखाने के लिए भगवान् अपनी पराधीनता को बतला रहे हैं जो मित्र का सहारा ले रखा है। स्वतन्त्रता में रस गुप्त हो जाता है। इसलिए अपने समान धर्म वाले अनुचर के कन्धे पर हाथ धर कर संयोग और विप्रयोग दोनो रसों को प्रकट करते हुए कमल रूप सारे विश्व को बचा रहे हैं। सारे विश्व को ही अन्यथा-पलट-दूंगा-ऐसा बतलाते हुए अपनी निर्भयता को सिद्ध कर रहे हैं। यह सब दास की अनुकूलता में ही होता है। थोड़ा भी भेद होने पर यह रस क्रिया में परिणत नहीं हो सकेगा। इस कारण से क्रिया शक्ति के मूलरूप कन्धे पर ही हाथ रखने का निरूपण किया है। दोनों हाथों के एक स्थान पर रखने पर रस नहीं होता। इसलिए दूसरे हाथ से कमल को घुमा रहे हैं अर्थात् रसदान के लिए ही कमल के मकरन्द को बरसा रहे है।

ज्ञान, क्रिया, मर्यादा शास्त्र, अङ्ग और भक्त के विरोध की शंका को दूर करने के लिए-'कर्णोत्पलालक कपोल मुखाब्जहासं'-यह पद कहा है। दोनों कानों पर कमल टके हैं और उन पर अलकें बाल सहित कमलों पर बैठे हुए भौंरों की तरह शोभा दे रही हैं। कपोलों और मुख पर मन्द मुस्कराहट है। अर्थात् दोनों कपोलों और मुख पर हास्य का सम्बन्ध है। ये सभी अथवा कपोल और मुख ही कमल सरीखे हैं। दोनों कान योग और सांख्य रूप तथा प्रवृति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के बोधक शास्त्र रूप हैं। उत्पल (कमल) मर्यादारूप और अलक शास्त्र रूप तथा विद्वतारूप हैं। कपोल भक्ति के अंगरूप और मुख भक्ति रूप है। ये सभी सरस हैं। इसीलिए इन्हें कमल रूप कहा है। अर्थात्--'अब्ज'-रस में से उत्पन्न होने वाले कहा है। इन सब में मोह करानेवाला (सर्वव्यामोहक) भगवान् का हास फैला हुआ होने से उपर्युक्त ज्ञान क्रिया आदि सब का विरोध दूर हो जाता है।।२२।।

टिप्पणी—व्याख्या मे ज्ञान क्रिययो:-से आरम्भ करके–'सर्व विरोधः परिहृतो भवति' का आशय इस प्रकार है ।

शका—वे पत्नियां भगवान् के संयोग तथा विप्रयोग शृंगार रूप ऐसे स्वरूप के दर्शन करके तत्काल पीछी लौट गई–यह समझ में नहीं आता; क्योंकि ज्ञान का फल क्रिया में आता है अर्थात् रस रूप भगवान् का ज्ञान होने पर तदनुसार रस योग ही की क्रिया करती । चली क्यों गई ? इसलिए–'बर्हंधातु' आदि की व्याख्या में केवल धर्म सहित रसदान के लिए आगमन, पराधीन होना, दोनों रसों का प्रकट करना रूप क्रिया के वर्णन से भगवान् का ज्ञान भी उन्हें इस क्रिया के अनुकूल ही हुआ जाना जाता है । इसलिए लौट जाना क्रिया, ज्ञान के विरुद्ध थी । भगवान् का ज्ञान, क्रिया आदि कभी विपरीत नहीं होते–इस से मर्यादा का विरोध भी हुआ । कृष्णां घ्रिपद्ममधुलिट् (कृष्ण के चरण के मधु–मकरन्द–का पान करने वाला फिर छोड़े हुए घर में पीछे नही जाता) इस भागवत शास्त्र और रस शास्त्र का भी विरोध होता है । भगवान् में प्रीति पहले उनका श्रवण कीर्तन आदि के द्वारा उत्पन्न होती है इसलिए भगवत्प्रेम के अंग श्रवण कीर्तन आदि का विरोध होता है और भगवान् की सगति करने वाली उन पत्नियों का अन्य मनुष्यों को पति रूप से मानने पर भक्ति का विरोध भी होता है । उन पत्नियों के पीछे घर चले जाने से इस प्रकार ज्ञान क्रिया आदि के विरोध की शंका के समाधान में व्याख्या में व्यामोह को कारण बतलाया है अर्थात् इन सब का विरोध होते हुए भी वे मोह के कारण घर चली गई । तात्पर्य यह है कि इन सारे विरोधों में से उन्हें यदि किसी एक की भी स्फूर्ति होती (सांख्य, योग, मर्यादा, शास्त्र, अंग और भक्ति के विरोध में से किसी एक के विरोध का भी उन्हें ध्यान रह जाता) तो वे भगवान् के पास ही रहती, वापस घर नही लौट जाती । किन्तु मूल रूप में इन सबों का मोह रूप हास्य से सम्बन्ध होने के कारण से उनमें से एक की भी जब स्फूर्ति नही हुई तो विरोध का कार्य भगवान् के पास रुक जाना–भी नहीं हुआ और वे पीछी घर चली गईं ।

अथवा–भगवान् ब्रह्म रूप होने से सब में समान हैं और ज्ञान शक्ति भी उनकी सब में समान होने से ज्ञान शक्ति से विकार उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु मोह ने विकार उत्पन्न कर दिया । इस कारण वे घर चली गई । भगवान् की क्रियाशक्ति के भी–योग शास्त्र आदि में किए हुए निरूपण के अनुसार–मन की समाधि (चित्त वृत्ति निरोध) का कारण होने से भी वे घर चली गई । ब्राह्मणियों में इस प्रकार के रस भाव का प्रकट करना मर्यादा के विरुद्ध है । शास्त्र सब को अपने २ अधिकार के अनुसार भगवान् का भजन करना बतलाते हैं; और तभी शुभ फल प्राप्त हो सकता है । अधिकार से विरुद्ध करने पर विपरीत फल होता है । इन पत्नियों को अपने अधिकार के अनुसार अपने विवाहित पतियों का ही भजन करना उचित था । ऐसा न करके रस रीति से भगवान् का भजन करना शास्त्र विरुद्ध था । शास्त्रानुकूल ही भजन भक्ति का अंग होता है । विपरीत रीति से–शृंगार के भावों को उत्पन्न करने वाली रीति–से भजन भक्ति के अग का विरोधी होता है । ऐसे ही जार रूप से भगवान् का भजन करने में भक्ति का विरोध भी होता है । व्याख्या में इन सब विरोधों के समाधान में व्यामोह को कारण बतलाया है अर्थात् पत्नियां व्यामोह से घर चली गई । इसलिए सारे विरोध दूर हो गए ।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोक में जो कोई जिस किसी का जिस काम को कराने के लिए व्यामोह करता है । मोहित हुआ वह मोह कराने वाले के कथनानुसार ही कार्य करता है, अपनी इच्छानुकुल कुछ भी नहीं कर सकता । इसी तरह यहां भगवान् ने इन पत्नियों का व्यामोह मर्यादा भाव से ही भजन करने के अभिप्राय से सिद्ध किया था । वो पुष्टि मार्ग की रीति से भजन करने जाती थी । इसलिए व्यामोह करके घर भेजकर पुष्टिमार्गीय भजन से अलग कर दिया । इस कारण से कुछ भी विरोध नहीं रहा ।

अथवा प्रारंभ में ऐसी शंका की गई है कि जब भगवान् सब रस रूप हैं तो वे पत्नियां वहां से घर कैसे चली गईं । इस के समाधान में व्याख्या में–सर्व व्यामोहात्–(सब के व्यामोह से) यह पद कहा है । भगवान् ने उन सब पत्नियों का किंवा सब अंश में सब प्रकार से उन पत्नियों का ही ऐसा व्यामोह कर दिया कि जिससे भगवान् के ज्ञान, क्रिया, मर्यादा, अंग और भक्ति आदि किसी का भी कार्य उन पर सिद्ध नहीं हो सका । इसलिए वे घर चली गईं ।

यहां तात्पर्य यह है कि उन पत्नियों का घर चले जाने के वर्णन से यह स्पष्ट है कि भगवान् के ज्ञान क्रिया आदि का कार्य सिद्ध नहीं हुआ । तब उन व्यर्थ ज्ञान क्रियादिक का वर्णन क्यों किया गया ? ऐसी शंका को दूर करने के लिए उन ज्ञान क्रियादिक के कथन का प्रयोजन बतलाना आवश्यक है । वह प्रयोजन यह है कि जिस पत्नी को मर्यादा देह से अलग करके पुष्टि मार्गीय अलौकिक देह प्राप्त कराकर भगवान् अपने पास ले गए थे; उसी के लिए भगवान् ने वे अपने ज्ञान क्रियादि धर्म प्रकट किए थे और उसी पर ही उन धर्मों का भगवद्रस प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध भी हुआ । घर चली जाने वाली पत्नीयों के लिए तो वे धर्म प्रकट ही नहीं किए थे । इससे उन पर उन धर्मों का कार्य सिद्ध नहीं हुआ । इस तरह कुछ भी विरोध की आशंका ही नहीं रहती है । इस कारण से इस श्लोक में उनको भगवान् का दर्शन होना नहीं लिखकर पहिले के श्लोक में ही दर्शन होना लिखा है । परन्तु अन्य पत्नियों के और अन्तर्गृह गत एक पत्नी के द्वारा देखा हुआ भगवान् का रूप एक ही । इससे पहले श्लोक के साथ इस श्लोक की संगति की गई है । ज्ञान क्रियादिक धर्मों की प्रतीति होने पर भी अन्य पत्नियों के हृदयों में उन धर्मों का प्रवेश--भगवान् के हास्य रूप व्यामोह के कारण से–नहीं हो सका । पहले श्लोक में तो उन्हें ज्ञान क्रियादिक भगवान् के धर्मों की प्रतीति ही नहीं हुई और यहां--इस श्लोक में धर्मों की प्रतीति होने पर भी उनका उनके हृदय में प्रवेश नहीं होना बतलाया गया है–यह विशेषता इस श्लोक में है ।

लेख—व्याख्या में रस के उद्दीपन करने की सामग्री को रजः पद से बतलाया है । ऐसा टिप्पणीजी में पहले कहा गया है । इस प्रकार रजोगुण को रस का उद्दीपक कहा है, रस रूप नहीं कहा है । इसी आशय से–'एव' ही पद का प्रयोग किया है । गौर वर्ण शृंगार का उद्दीपक होता है और शृंगार रस का श्याम वर्ण है । वेद में तैजस का लाल वर्ण कहा है । केवलं (केवल)–तात्पर्य यह है कि रस के पक्ष में यदि उद्दीपक और रस गुप्त न रहे तो वह किसी अन्य के हृदय में रस को उत्पन्न नहीं करता है । केवल बर्ह पद से नट वेष बताकर केवल रस कहा गया है । पहले कहे हुए श्याम आदि तीन विशेषणों से शृंगार रस को–अन्य का सम्बन्धी बतलाकर-धर्म सहित कहा है । सामग्री रूपां–सामग्री रूप लीला को देखकर रस उद्‌बुद्ध–जागृत--होता है । इससे रस के उद्‌बोध करने में लीला सामग्री कारण है । स्वातन्त्र्ये–जब रस स्वतन्त्र होता है तब वह गुप्त रक्षित रस रहता है । उत्पलानां–कमल ब्रह्माण्ड रूप है इसलिए कमल रूप मर्यादा के कारण है ।

लेख—शृंगार का श्याम रूप होने से शृंगार रसात्मक है, हिरण्य परिधि विशेषण द्वारा कहे गए सुवर्ण के मेखलादि आभरण गौर हैं । इस कारण रजो रूप हैं । 'गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च'–गौर वर्ण रजोरूप ही होता है और तैजस होता है–इत्यादि पदों से उसका स्वरूप कहा है । मूल में–'वनमालिबर्हं'–कही हुई वनमाला का स्वरूप व्याख्या में–'शुक्लो जल प्रकृतिकः अव्यक्त रसः' (सफेद वर्ण जल की प्रकृति वाला और अप्रकट--गुप्त--रस वाला होता है)–इन पदों से बतलाया है । सोने की करधनी आदि तैजस पदार्थों और वनमाला आदि जल प्रकृति वाले पदार्थों सहित भगवान् के श्याम स्वरूप का वर्णन व्याख्या में–'अन्नमेव ही सर्वरसात्मकं भोग्यं च' (अन्न ही सब रस रूप और भोग्य है) इत्यादि पदों से किया है ।

श्लोक— प्राय:श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥२३॥

श्लोकार्थ—नित्य बार बार सुने हुए जिन प्रियतम कृष्ण के गुण रूपी कान के आभरणों के द्वारा जिनका मन उनमें लीन हो रहा था, वे पत्नियां भगवान् को सामने देखकर नेत्रों के द्वारा उन्हें हृदय में बिठा कर सुषुप्ति के साक्षी प्राज्ञ-पुरुष-(भगवत्स्वरूप) में मिलकर जैसे अहंकार की वृत्तियां शान्त होकर लीन हो जाती हैं; उसी प्रकार--हे राजन्–वे पत्नियां अपना ताप दूर करके भगवान् के स्वरूप में लीन हो गईं ॥२३॥

श्रुति में लाल रूप को तैजस अग्निका, श्वेत रूप को जल का और श्याम रूप को अन्न का रूप बतलाकर अन्न की श्यामता कही गई है । अन्न पृथिवी रूप है और पृथिवी में सारे रस है और वे सब के भोग्य हैं । इस प्रकार यहां–श्यामं हिरण्य परिधि–भगवान् के श्याम स्वरूप के वर्णन से भगवान् की अन्न–पृथिवी रूपता सर्वरसात्मकता और सर्व भोग्यता सिद्ध की है । तात्पर्य यह है कि–शृंगार–रस रूप श्याम वर्ण वाले भगवान् वैसा–शृंगार रसात्मक–ही भाव वाली स्त्रियों के भोग्य हैं । 'अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः'–इत्यादि कथन से इस प्रकार के विशेषणों से युक्त श्याम वर्ण के वर्णन करने से, परिधिरूप सुवर्ण की मेखला मुकुट, कण्ठाभरण, पीताम्बर, कंकण, भुजवन्ध आदि से युक्त असंख्य अवतार धारण करने वाले कृष्णचन्द्र भगवान् का वर्णन किया है । यद्यपि परिधि पद से, सूर्य और चन्द्र दोनों का ग्रहण हो सकता है, किन्तु श्याम वर्ण कहने और शृंगार रस में चन्द्रमाही सहायक होने के कारण, यहां चन्द्र ही कहा गया है । 'सहस्रमूर्ति' विशेषण तो मेखला आदि आभूषणों के स्वरूप के विचार से दिया है, अर्थात् द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनीजी में वराहादि सारे अवतारों को भगवान् के प्रादेश मात्र आदि धर्मों के अवतार कहे हैं । वहां मेखला को वामनजी का और पीताम्बर का अवतार बतलाते हुए सभी अवतारों में भगवान् के आभरणों का वर्णन किया है । इस प्रकार मेखला आदि रूप वामन आदि अवतार रूपों से युक्त कृष्णचन्द्र का वर्णन है । 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्नृप' (सत्वनिधि भगवान् के अवतार असंख्य हैं) इस प्रकार सूतजी के कथन से वे अनन्त अवतार भगवान् के असंख्य आभरण स्वरूप होने के कारण सहस्र मूर्ति जो विशेषण दिया है वह उचित ही है ।

'केवल रसं धर्म सहित मपीति'–(केवल रस और धर्म सहित रस) इत्यादि व्याख्या का आशय यह है, कि मूल श्लोक में बर्ह पद से नाट्य के अनुसार वेष का वर्णन करने से केवल रस कहा है; क्योंकि वेणुगीत के अध्याय व्याख्या (सुबोधिनी) में–'केवलो नाट्ये प्रसिद्धः'–(केवल रस नाट्य में प्रसिद्ध है) केवल रस का नाट्य मे होना निर्धारित कर दिया है । वह केवल रस, विप्रयोग शृंगार रस है और श्याम, हिरण्य परिधि इत्यादि विशेषणों से धर्म सहित अर्थात् संयोग शृंगार रस का वर्णन किया है; क्योंकि वेणुगीत की व्याख्या में वहीं—'धर्म सहितः सम्भोगे' (सम्भोग शृंगार में धर्म सहित है) सम्भोग शृंगार में धर्म सहित का होना बतलाया है । 'ज्ञान क्रिययोः'–से लेकर–'विरोधः परिहृतो भवति'–तक व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणी मे स्पष्ट कह दिया है । 'कर्णयोरुत्पले ये अलकाः'–इत्यादि व्याख्या का तात्पर्य यह है कि कान तो कमल की नाल रूप और उन पर स्थित कमलों पर गिरी हुई अलके भौंरे रूप हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र तासां स्वरूपमाह **प्राय** इति प्राचुर्येण **श्रुताः प्रियतमस्याभ्युदयरूपा गुणास्त एव कर्णपूराः** कर्णाभरणानि तद्द्वारा भगवत्यन्तः प्रविष्टे **यस्मिन् निमग्नमनसो** जाता यथा गृहे गङ्गापूरे समागते गृह **निमग्नं भवति, तमेव भगवन्तमन्तःस्थितं** पुनः प्रकारान्तरेणा**क्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य तापं जहुः**, पूर्वं शब्दात्मकः प्रविष्टः कर्णद्वारा, **इदानीमक्षिद्वारा रूपात्मकः प्रविशत्यतोथेतिभिन्नप्रक्रमः**, तेन तु सांसारिका एव **तापाः** परिहृता न त्वलौकिका **अनेन** त्वलौकिकाः परिह्रियन्ते, तदाह **तापं जहुरिति**, ननु **तापः** सर्वाङ्गेषु प्रविष्टः कथमन्तःप्रवेशनमात्रेण शान्त इत्याशङ्क्याह **सुचिरं परिरभ्येति**, **अन्तर्वहुकाल**मालिङ्गितवत्यस्ततः सर्वतापपरित्यागः, ननूपशान्ता एव तापा न तु नष्टा इति चेदित्याशङ्क्य तास्तत्रैव लीना इति वदन् स्वरूपतोपि तापनाशमाह दृष्टान्तेन **प्राज्ञं यथाभिमतय** इति, **प्राज्ञं** सुषुप्तिसाक्षिणं स्वात्मानमेव भगवद्रूपमहङ्कारवृत्तयः प्राप्य तत्रैव लीना भवन्त्येवमेता भगवत्येव सायुज्यं प्राप्तवत्यः परं संस्कारशेषा अतः पुनर्बहिर्गमनमन्यथा सायुज्यमेव स्यात्, **प्रायग्रहणेन** सर्वे भगवदीया गुणा न श्रुता अन्यथा मोहयतीतिज्ञानेन मुग्धा भवेयुः, किञ्च **श्रुत** एव न दृष्टः कोप्यनुभावः, किञ्च **प्रियतमत्वेनैव श्रुतो** न तु साधनत्वेन, **उदय** इति कोमला एव भावाः श्रुताः, तेपि कर्ण एव प्रवाहत्वेन प्रविशन्ति न तु सर्वाङ्गे दृष्टानन्तर्याभावादतो **मन** एव **निमग्नं** न तु देहादिः, इदानीमप्येता **ज्ञाननिष्ठा** अन्तरेव सत्कारं कृतवत्यः सायुज्यं च प्राप्तवत्यः, **ज्ञानं हि तमोरूपं रजोरूपा भक्तिः सत्त्वरूपः सङ्ग** इत्यतः सुषुप्तिदृष्टान्तः, तापनिवृत्तिः फलमन्यथा गततापा नेत्रपेयमेव भगवल्लावण्यामृतं पपुः, **नरेन्द्रे**तिसम्बोधनं ध्यानार्थममोहार्थं च ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन करके–'प्रायः' इस श्लोक से उन पत्नियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं। बारंबार निरन्तर सुने हुए और कानों के भूषण बने हुए भगवान् के कीर्तिरूप गुणों के द्वारा भगवान् को हृदय से लाकर, उन में अपने मन को उन्होंने इस तरह लीन कर दिया, जैसे घर में गंगा का प्रवाह आजाने पर, घर गंगा में लीन हो जाता है। हृदय में रहे हुए उन्हीं भगवान् को फिर दूसरी तरह से–आंखों के छिद्रों के द्वारा–हृदय में प्रवेश कराकर (लाकर) पत्नियों ने अपने ताप को दूर किया। पहले कानों के द्वारा शब्दात्मक भगवान् का उनके हृदय में प्रवेश हुआ और अब नेत्र द्वारा रूपात्मक भगवान् प्रवेश करते हैं–यह प्रवेश का प्रकार भेद, मूल में आए हुए–अथ–पद से सूचित होता है। उस शब्द रूप से कानों द्वारा हृदय में प्रविष्ट हुए भगवान् ने पत्नियों के संसार सम्बन्धी ताप ही दूर कर दिए थे। अलौकिक ताप दूर नहीं हुए थे। रूपात्मक–(नेत्र द्वारा हृदय में विराजमान्) भगवान् अलौकिक तापों को दूर करते हैं। इसलिए मूल में–तापं जहुः (ताप रहित हुई)—ऐसा कहा है।

ताप तो, उन पत्नियों के सारे ही अंगों में घुसा हुआ था और भगवान् को तो, केवल हृदय में बिठाया था। वह उनके सारे अंगो में रहने वाला ताप एक मात्र हृदय में, उनका प्रवेश कराने से दूर कैसे हो गया? ऐसी शंका का उत्तर–सुचिरं परिरभ्य–(बहुत अधिक समय तक भगवान् का आलिङ्गन करके) पदों से देते हैं। बहुत देर तक आलिङ्गन करने से उनका सारा ताप मिट गया था। उनका वह ताप केवल शान्त–(दूर)–ही नहीं हुआ; किन्तु नष्ट ही हो गया; क्योंकि वे भगवान् में लीन हो गई थीं। इस बात को–(प्राज्ञं यथाभिमतयः)–दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे अहंकार की वृतियां सुषुप्ति के साक्षी, अपनी आत्मा भगवत्स्वरूप को प्राप्त करके उसी में लीन हो जाती हैं; ऐसे ही पत्नियों ने भगवान्–में–सायुज्य प्राप्त कर लिया था–लीन हो चुकी थीं। उनके संस्कार बाकी थे, इस से वे सायुज्य से पीछी बाहर आ गईं। यदि संस्कार शेष नहीं होते तो सायुज्य ही हो जाता। मूल में

आए हुए—'प्रायः'—शब्द का भाव यह है, कि पत्नियों ने भगवान् के सभी गुणों को नहीं सुना था। यदि वे सारे ही गुणों को सुन लेती तो फिर–भगवान् हम को मोहित कर रहे हैं—इस प्रकार मोह में नहीं पड़ती (सचेत हो जाती)। केवल सुना ही था; किसी अनुभाव—(सामर्थ्य)—को नहीं देखा था। और वह सुनना भी प्रियतम रूप (कामभाव) से ही था, भक्ति का साधन रूप शुद्ध भाव से नहीं था। यहाँ 'उदय' पद से—केवल कोमल भावों को ही उन्होंने सुना था—यह जाना जाता है। वे कोमल भाव भी कान में ही प्रवाह रूप से प्रवेश करते हैं सारे अंगों में प्रविष्ट नहीं होते हैं क्योंकि देख लेने के पीछे ही सारे अंगों में प्रवेश हो सकता है और अभी तो—(इन्होंने भगवान् को नहीं देखा)—यहां ऐसा नहीं हुआ। इसलिए केवल मन ही भगवान् में लीन हुआ, शरीर आदि लीन नहीं हुए। अभी तक भी भक्ति निष्ठा में भी, वे ज्ञान निष्ठ ही रही; क्योंकि भीतर ही (भगवान् का) सत्कार किया और सायुज्य को प्राप्त किया। उन का ज्ञान तमो रूप, भक्ति रजोरूप और संग सत्वरूप था। इस कारण से, यहां सुषुप्ति—गाढ निद्रा—का दृष्टान्त दिया गया है। ताप की निवृत्ति फल हुआ और ज्ञान, भक्ति और संग के द्वारा ताप रहित होकर आंखों से पान करने योग्य भगवान् के लावण्यरूपी अमृत का पान किया। नरेन्द्र—यह सम्बोधन ध्यान देने और मोहित न होने के लिए दिया गया है ॥२३॥

टिप्पणी—'प्रायः श्रुत'—इत्यादि श्लोक में–'कर्णपूर' पद की व्याख्या में–'दृष्टानन्तर्या भावात्' (दर्शन के पश्चात् प्रवेश का अभाव होने से) कहने का अभिप्राय यह है कि दृष्ट-दर्शन के-आनन्तर्य-पीछे-प्रवेश-होने का अभाव था। तात्पर्य यह है कि यदि यहां वर्णन किए हुए भगवान् के भावों के अनुकुल ही उन पत्नियों के भाव होते, तो पहिले अनुभव के अनुसार सभी अंगों में वह रस प्रकट होता। यहां तो भगवान् और उन पत्नियों के भाव एक से नहीं होने से, अर्थात् भिन्न भिन्न होने से उन पत्नियों को उस रस का आविर्भाव (अनुभव) नहीं हुआ।

लेख—'अलौकिकाः'–अलौकिक अर्थात् भगवान् के विरह से होने वाले ताप भी नष्ट हो गए। 'ननूपशान्ता एव' (ताप शान्त ही हो गए होंगे, नष्ट नहीं हुए होंगे) इत्यादि का आशय यह है, कि पिता पुत्र, माता पुत्र, मित्र-मित्र, गुरु शिष्य आदि के आलिंगन भेदों से आलिंगन के अनेक प्रकार हैं। उनमें जैसे प्रिय का आलिंगन करने से ताप की शान्ति ही होती है, इसी तरह उन पत्नियों का भी ताप शान्त ही हुआ होगा; ताप का नाश नहीं हुआ होगा ? ऐसी शंका में, उन पत्नियों के आलिंगन में, अभिमान की वृत्तियों को प्राज्ञ की प्राप्ति का दृष्टान्त दिया है। इस से भेद रहित आलिंगन हो जाने के कारण, ताप का नाश हो गया। 'प्रियतमत्वेनैव' (प्रियतम के भाव से ही सुनने के कारण, पत्नियों का भगवान् में कामभाव ही था, भक्ति का साधन रूप ज्ञान से शुद्ध भाव नहीं था। 'इदानीमपि–भक्ति निष्ठा होने पर भी। 'ज्ञानं हि'–यहां 'एतासां' (इनका) पद का अध्याहार है। मन का लीन होना रूप ज्ञान काम भाव से होने के कारण, तमोरूप है। यह मूल में आए हुए 'हि' अव्यय पद का अर्थ है। इसीलिए वृत्तियों के लीन होने का दृष्टान्त कहा है। आदर पूर्वक श्री मुख के दर्शन करना भक्ति रूप है। देर तक गाढ आलिंगन रूप संग शान्ति रूप होने से सत्व रूप है। अन्यथा (केवल ज्ञान, भक्ति, सङ्ग के होने से) इस कथन से श्लोक के अर्थ का उपसंहार किया है। नेत्र–आदि शब्दों से महावाक्य का अर्थ कहते हैं। इस प्रकार 'ददृशुः स्त्रियः' (स्त्रियों ने देखा) इस पूर्वोक्त २१वें श्लोक में कहा हुआ अभिसार का अङ्गरूप भगवान् का

श्लोक—तास्तथात्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥

श्लोकार्थ—वे पत्नियां सारी आशाओं को त्यागकर भगवान् के दर्शन की इच्छा से आई थीं और इस बात को सभी मनुष्यों की बुद्धि के सत्य साक्षी भगवान् जानते थे ही; तथापि (परीक्षा के लिए) मुसकरा कर कहने लगे ॥२४॥

सुबोधिनी—ततो भगवता यत् कर्तव्यं तदाह तास्तथेति, तथा पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्ता ऐहिकपारलौकिकाशा याभिः, आत्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्ताः केवलं भगवान् द्रष्टव्यः, मर्यादायां ह्येतावदेव, श्रुतो हि भगवान् मनोनिदिध्यासितव्यश्च साक्षात्कर्तव्य इति,तत् त्वेतासां जातमतो रूपप्रकारविलक्षणं वचनमाह विज्ञायेति, तासां स्वरूपं विज्ञाय प्रहसिताननो भूत्वा प्राह दर्शनानन्तरभावव्यामोहार्थं हासः प्रकर्षेण कथनमबाधितस्य, नन्वेवं कथनमयुक्तमिति चेत् तत्राहाखिलदृग्द्रष्टेति, अखिलदृशां सर्वबुद्धीनां द्रष्टा सधर्माणां धर्मिणां यत्र प्रवृत्तिः, केवलधर्मिणां प्रवाहवत् सर्वत्र गच्छतां धर्मिणां बाधकसहितानां सधर्माणां पश्चादेवोत्पन्नबाधवतां सर्वामिव प्रवृत्तिं जानाति, अत एता अन्तिमपक्षनिमग्ना इति तथोक्तवान् ॥२४॥

व्याख्यार्थ— इसके पीछे-तास्तथा-इस श्लोक से भगवान् का कर्तव्य वर्णन करते हैं। पहले कही हुई रीति से, वे पत्नियाँ इस लोक और परलोक की सभी प्रकार की इच्छाओं-आशाओं का त्याग करके मेरे (भगवान् के) दर्शन करने के लिए ही आई हैं-ऐसा जानकर, भगवान् बोले। मर्यादा मार्ग में तो इतना ही कर्तव्य है, कि भगवान् का श्रवण करके उनके साक्षात् दर्शन के लिए मन से निदिध्यासन करना चाहिए वह भगवद्दर्शन (साक्षात्कार) तो पत्नियों को हो ही गया। इसलिए-विज्ञाय-ऐसा जानकर, स्वयं ही किए हुए रसरूप के प्रकार से, विलक्षण रीति, से बोले। उनके स्वरूप को जानकर, अट्टहासयुक्त मुख करके बोले। दर्शन करने के पीछे उत्पन्न होने वाले भावों का व्यामोह करने के लिए अत्याधिक (उच्च) हास किया। इस प्रकार से व्यामोह करने वाले बचन बोलना अनुचित है ? ऐसी शंका का समाधान-अखिल दृग्दृष्टा (सब की बुद्धि के दृष्टा) पद से करते हैं। भगवान् सब की बुद्धियों के दृष्टा-साक्षी-हैं। सब गुण वाले धर्मियों की सभी भिन्न २ प्रवृत्तियों को जानते हैं। प्रवाह की तरह सभी तरफ जाने वाले बाधक सहित और धर्म सहित

दर्शन, भगवान् का चरित्ररूप कहा था-यह इन दो श्लोकों से सिद्ध किया। नरेन्द्र-इस सम्बोधन का आशय है, कि ध्यान में 'नर'-मनुष्य-का विशेष अधिकार होता है और नरों में श्रेष्ठ (इन्द्र) को मोह नहीं होता है।

योजना—व्याख्या में 'ज्ञानं हि तमोरूपं' (ज्ञान तमोरूप था) का अर्थ यह है कि पत्नियों का भगवान् में कामी रूप का भाव होने से, वह भगवान् का ज्ञान तमोरूप का था। 'रजोरूपा भक्तिः'-इनकी भक्ति रजोरूप-राजसी-थी। 'सत्वरूपः संगः'-मूल में-'सुचिरं परिरभ्य'--पदों से कहा हुआ बहुत देर तक किया हुआ आलिंगन रूप सङ्ग सत्वरूप--सात्विक--था ॥२३॥

धर्मियों की प्रवृत्ति में आने वाले तथा पीछे से उत्पन्न होने वाली सभी बाधाओं को भी भगवान् जानते है। इस कारण से ये पत्नियां अन्तिम पक्ष की अधिकारिणी थीं अर्थात्, भगवद्दर्शन के पश्चात् भगवद्रस के अनुभव होने में बाधा-(रुकावट)-वाली थीं। इस लिए हास्य से मोहक वचन बोली ॥२४॥

श्लोक—स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग्यवतीओं। आओ बैठो। मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कहो मैं तुम्हारा क्या सत्कार करूं। यदि तुम केवल मेरे दर्शन के लिए आई हो तो तुमने बहुत अच्छा किया। मेरे दर्शनार्थ आना तुमने उचित ही किया ॥२५॥

कारिका—**भगवतो वाक्यमाह स्वागतमितिचतुर्भिः,**
पूर्वानुवादस्तत्रैव उपपत्तिश्च तद्विधाम् ।
मर्यादायां प्रवेशश्च ततो गन्तव्यबोधनम् ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् के वचन–स्वागतं-इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं। प्रथम श्लोक में पहिले कहे हुए का अनुवाद है। दूसरे श्लोक में, उनके आगमन की प्रशंसा-अभिनन्दन है। तीसरे श्लोक में उनका मर्यादा मार्ग में प्रवेश और चौथे श्लोक में घर चले जाने का बोध किया है।

सुबोधिनी—आदौ जातमनुवदति लौकिकन्यायेन वो युष्माकं स्वागतं सुष्ठ्वागमनं जातमितिकुशलप्रश्नः, बाह्यं तु देयं किमपि नावशिष्यत इत्याह महाभागा इति, महत्त्वमान्तरमपि भाग्य सूचयति तेन सर्वसमृद्धिः साक्षात्कारश्च सिद्धो निरूपितः, समागतानां खेदाभावायाहास्यतामिति, उद्देश्यमर्थं पृच्छति करवाम किमिति, अनेनासङ्ग्रहे सङ्ग्रहः कारणीयोन्ते शुद्धा गतिः, तद् वक्ष्यति 'यज्ञपत्न्यस्तथापर' इति, वैष्णवैः सह सङ्गश्च, अतस्तेषां याज्ञिकानां ज्ञानं ततः शुद्धानां समागमने सर्वथैव प्रपत्तिः स्यात् तदा तद्द्वारा एता अप्यन्यथा भवेयुरतो यावद् युक्तं तावत् करिष्याम इत्याह, ननु नाधिकं किञ्चित् कर्तव्यं किन्तु द्रष्टुमेवागता इति चेत् तत्राह यन् नोस्माकं दिदृक्षया समागतास्तदुपपन्नं व इतिबहुवचनेन केवलो भावो निवारितः, अत आहोपपन्नमिदं हि व इति, सर्वसामग्रीसहितो भगवान् द्रष्टव्य इति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अब तक हुई बात का पहले अनुवाद करते हैं। लौकिक रीति से कि तुम्हारा बहुत सुन्दर आगमन हुआ। यह कहकर कुशल पूछी। तुम महाभागाओं-बड़भागिनियां-हो। इस लिए बाहिर की कोई भी वस्तु तुम्हें देने लायक नहीं बाकी रहती। महत्त्व पद से आन्तर-भीतरी-भाग्य भी सूचित होता है। इस कथन से-तुम्हें सब समृद्धि और साक्षात्कार भी सिद्ध है-यह कहा (निरूपण किया), पास में आई हुई उन्हें परिश्रम न हो-इसलिए-बैठो-बैठने के लिए कहा। हम तुम्हारा क्या प्रिय करें? यह कह कर उनके आने का प्रयोजन पूछते हैं। इस से जो वस्तु तुम्हारे पास नहीं है उस वस्तु का संग्रह करादूं और अन्त में शुद्ध गति-मोक्ष-प्राप्त कर दूं-ऐसा कहा। इसको-यज्ञपत्न्यस्तथा परे-यज्ञपत्नियाँ और अन्य भी मोक्ष को प्राप्त हो गए—इस प्रकार आगे कहेंगे।

वैष्णव का संग भी करादूंगा । इसलिए उन याज्ञिकों को भगवान् ज्ञान देगे । उस ज्ञान के द्वारा शुद्ध हुए उनकी समागम में सर्वथा प्रवृत्ति होगी (वे भी भगवान् की शरण में आना चाहेंगे) फिर उनके द्वारा ये पत्नियां भी मोक्ष पाने योग्य होवेंगी । इससे तुम्हारे लिए जो कुछ करना उचित है वही करूंगा-ऐसा कहा है। हम तो केवल आपके दर्शन के लिए ही आई है, अधिक और कुछ कर्तव्य नहीं है-ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि जो तुम मेरे दर्शनों की इच्छा से आई हो, यह उचित है । मूल में-'वः' इस बहुवचन से केवल भाव का निवारण किया है । इसलिए यह कहा है कि यह तुमने बहुत अच्छा किया, क्योंकि सारी सामग्री से युक्त भगवान् के दर्शन करना चाहिए ।।२५।।

श्लोक—नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः ।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ।।२६।।

श्लोकार्थ—अपने सच्चे स्वार्थ को जानने वाले कुशल पुरुष प्रीतिपात्र (मुझ पर) मेरी निष्काम और देह इन्द्रियादि के आवरण से रहित अनन्य भक्ति करते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी—ननु मर्यादायां ज्ञानमार्गे चैतद् भवत्यस्माकं तु प्रेमाधिकमस्तीति कथमेतावन्मात्रत्व युक्तं तत्राह नन्वद्धेति, नन्विति कोमलसम्बोधने स्नेहोपि मर्यादायामेव युक्तोत एवाद्धा साक्षात् न तु कामनार्थं भक्ति कुर्वन्ति मयीत्यनेनात्मता निरूपिता, एकवचनेनान्ये व्यावर्तिताः, कुर्वन्तीति नेदमपूर्वं किन्तु परम्परयैव तत् सिद्धं यतस्ते कुशलाः सर्वाणि साधनान्यनेन प्रकारेणानायासेन सिद्धानि भवन्ति फल च, किञ्च स्वार्थकुशलास्तेन्यत् सर्वमिन्द्रियादिगामि भवतीदमेव परमात्मगामीति यावन् न भगवति प्रेम तावन् नात्मनि तत एव तत्रायातीति यावन् नात्मनि स्नेहस्तावदन्यरागो न गच्छत्यतस्ते स्वार्थदर्शिनः, अत एवाहैतुकीमव्यवहितां देहेन्द्रियादिभिर्व्यवधानमप्राप्तां भक्ति प्रेमलक्षणां यथात्मनि प्रीतिविषये कुर्वन्ति तथैव कुर्वन्ति ज्ञानिनामात्मा दृष्टान्तस्ततोग्रिमकक्षाभावाल् लोकेपि स्वस्य प्रीतिविषये भर्त्रादौ, लोके हि पदार्थो ज्ञानार्थं सिद्ध इति ।।२६।।

व्याख्यार्थ—शंका होती है कि-भगवान् ! आपने कहा, वैसा तो मर्यादा मार्ग और ज्ञान मार्ग में होता है । हमारी तो आप में अत्यधिक प्रीति है । इसलिए प्रभो ! आपने यह कैसे कहा कि तुम्हें यही करना-मेरे दर्शनार्थ आनामात्र-उचित है ? इसका उत्तर-नन्वद्धा-इस श्लोक से देते हैं । ननु (साक्षात्) शब्द का यहां कोमल सम्बोधन अर्थ में प्रयोग किया है । स्नेह भी मर्यादा में ही उचित है । इसी से बिना किसी कामना के साक्षात् मेरी भक्ति करते हैं । 'मयि' (मुझ में) पद से-भगवान् सब की आत्मा है-यह निरूपण किया है । एक वचन से भगवान् के अतिरिक्त अन्य (किसी और देवतादि सब) की भक्ति करने का निषेध किया है । कुर्वन्ति (करते हैं)-पद का तात्पर्य यह है, कि भगवान् ही में भक्ति करना कोई नई बात नहीं है, यह तो परम्परा से ही सिद्ध हैं; क्योंकि वे (भक्त) कुशल है । मेरी भक्ति करने से सारे साधन बिना परिश्रम के सहज ही सिद्ध हो जाते हैं और फल भी सिद्ध हो जाता है । 'ते हि स्वार्थ-कुशलाः'-वे ही सच्चे स्वार्थ को जानते हैं । अन्य सब कुछ इन्द्रियादिकों के पोषण में जाता है । केवल यही परमात्मा के लिए होता है । जब तक भगवान् में प्रेम नहीं होता, तब तक आत्मा में भी प्रेम नहीं होता; क्योंकि भगवान् में होने वाला ही प्रेम आत्मा में आता है । जब तक आत्मा में स्नेह नहीं होता, तब तक अन्य पदार्थों से अनुराग नहीं

छूटता। इसलिए उनको 'स्वार्थ दर्शी' और कुशल कहा गया है। इसी से वे निष्कारण और देह इन्द्रियादि के आवरण से रहित प्रेम लक्षण भक्ति जैसी प्रीतिपात्र आत्मा में करते है, वैसे ही मुझ में करते हैं। ज्ञानियों के लिए आत्मा ही दृष्टान्त होता हैं, क्योंकि आत्मा से ऊपर की कक्षा परमात्मा-तक तो उनकी पहुँच ही नहीं है। लोक में भी अपनी प्रीति के विषय-पात्र-पति आदिकों में भी आत्मा का ही दृष्टान्त दिया जाता है। इसी प्रकार लोक के दृष्टान्त से ही अलौकिक पदार्थ का ज्ञान भी किया जाता है अर्थात् अलौकिक पदार्थ का ज्ञान कराने के लिए लौकिक सिद्ध का ही दृष्टान्त दिया जाता है ॥२६॥

टिप्पणी—'यावन्न भगवति प्रेम' (जब तक भगवान् में प्रीति नही हो) इत्यादि व्याख्या का भाव यह है, कि भक्ति मार्ग में, भगवान् ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप है। इसलिए सारी उपाधियों से रहित निष्काम सबसे अधिक स्नेह भगवान् में ही होता है, और अपनी आत्मा आदि पर स्नेह भी भगवान् पर होने वाले स्नेह का उपयोगी होने के कारण ही होता है। यह सिद्धान्त है (ऐसी वस्तु स्थिति है)। इसी से महिषी गीत में-यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् (हे कमलनेत्र, यदि आपकी कृपा नहीं होगी तो प्राणों का त्याग कर दूंगी) ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है, कि जैसे विषयी मनुष्यों को आत्मा के अध्यास वाले देह इन्द्रिय आदि में-आत्मा का ज्ञान न होने पर भी-अत्यन्त स्नेह होता है। इसी प्रकार भगवान् में स्नेह न रखने वाले मोक्ष की कामना वालों का विषयों से वैराग्य हो जाता है।

लेख—व्याख्या में-(एवं सति--इत्यादि का अभिप्राय यह है, कि भक्ति मार्ग में भगवान् पर ही स्नेह होना मुख्य है। इसीलिए भगवद्रूप आत्मा में स्नेह होता है। जिससे दूसरी वस्तुओं पर से स्नेह हट जाता है। यह हो सकता है, किन्तु मुमक्षु (मोक्ष चाहने वाले) लोगों का तो भगवान् में ही स्नेह नहीं होता, तो फिर भगवद्रूप आत्मा में स्नेह कैसे सिद्ध होगा और जब आत्मा में स्नह नहीं होगा, तो उनका (मुमुक्षु लोगों का) विषयों से वैराग्य कैसे हो सकेगा ? ऐसी शङ्का का निवारण दृष्टान्त द्वारा करते हैं। जैसे विषयी पुरुषों को आत्मा का ज्ञान नहीं है। इसलिए उनका आत्मा में स्नेह भी नहीं होता। किन्तु तो भी आत्मा की उपाधि रूप देह, इन्द्रियादि पर स्नेह होता ही है। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों का भगवान् में स्नेह न होने पर भी, भगवान् की उपाधि रूप आत्मा में स्नेह हो जाता है। विषय आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसीलिए मुमुक्षु पुरुषों का विषयों से वैसे ही वैराग्य हो जाता है, जैसे विषयी पुरुष, शरीर का नाश कर देने वाले पदार्थों से द्वेष करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि उपाधि का ज्ञान ही स्नेह का कारण है तो भी मूल-साक्षात् भगवान्-तक न पहुँचने के कारण वह वैराग्य दृढ नहीं होता। इसीलिए व्याख्या में-जब तक भगवान् में स्नेह नहीं होता, तब तक आत्मा में स्नेह नहीं होता-ऐसा कहा है। इसीसे भरतजी की फिर विषयों में आसक्ति हो गई थी। व्याख्या में 'भर्त्रादौ-पद के पीछे-आत्मा दृष्टान्तः-ऐसा अध्याहार है। ज्ञानार्थ-अर्थात् लौकिक दृष्टान्त से अलौकिक ज्ञान के लिए। इसी लिए-न वा अरे पत्युः कामाय इत्यादि-श्रुति में दृष्टान्त पूर्वक आत्मा का बोध कराया गया है। इसी अभिप्राय से व्याख्या में 'हि' शब्द का प्रयोग किया है।

योजना—तृतीय स्कन्ध में भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा है कि--हे ब्रह्माजी ! मैं आत्माओं की आत्मा और प्यारों से प्यारा हूँ। इसीलिए मेरे ऊपर स्नेह करो। आत्मा के लिए ही देहादिक प्रिय लगते हैं, 'यावनून भगवति स्नेहः-इत्यादि व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणी में स्फुट कह दिया गया है ॥२६॥

श्लोक—प्राणबुद्धि मनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥२७॥

श्लोकार्थ—प्राण, बुद्धि, मन, अपनी आत्मा, स्त्री, पुत्र और धन सभी कुछ मेरे सम्बन्ध से प्रिय लगते हैं। इसलिए मुझसे अधिक कोई दूसरा प्यारा नहीं है ॥२७॥

सुबोधिनी—एतदुपपादयति प्राणेति प्राणादयः सर्वं आत्मसम्बन्धात् प्रिया आत्मापि परमात्मसम्बन्धात् परमानन्दो ह्यात्मरूपः प्रियो न केवलमात्मनः प्रियत्व नाप्यानन्दस्य परानन्दे दुःखितजीवे च व्यभिचारादतः प्राणादिषु स्नेह औपाधिकः सहजो मयि, अतः को वापरः प्रियो भवेत् ? प्राणा इन्द्रियाणि प्राणाश्च बुद्धिर्मनोनियामिका मनश्च स्वं शरीरं धनादिकं वात्मा देह आत्मैव वा दाराः स्त्रियोपत्यानि पुत्राः धन पश्वादयो यावत्किञ्चिदात्मसम्बन्धि यस्मात्मनो मम सम्बन्धात् प्रिया आसंस्ततो मत्तो न्विति वितर्के को वा प्रियः स्यात् ? अपरश्च नियम्यस्त्वप्रियो भवति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इसी का उपपादन-प्राण बुद्धिः-इस श्लोक से करते हैं। प्राण आदि सभी पदार्थ आत्मा के सम्बन्ध से प्यारे लगते हैं। आत्मा भी परमात्मा के सम्बन्ध से ही प्रिय लगती है। परमानन्द भी तभी प्रिय लगता है, जब उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है। केवल आत्मा तथा केवल आनन्द भी प्रिय नहीं लगता है। यदि केवल आनन्द भी प्रिय लगता हो तो दूसरे का आनन्द भी प्रिय लगना चाहिए। और यदि केवल आत्मा ही प्रिय लगता हो तो किसी दूसरे दुःखी जीव की आत्मा भी प्रिय लगनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए परमानन्द आत्मरूप से और आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध से ही प्रिय होते हैं। इस से यह सिद्ध है, कि प्राण, बुद्धि आदि में होने वाला स्नेह उपाधि वाला है, सहज (स्वाभाविक) स्नेह तो मेरे ऊपर ही होता है। इस कारण से दूसरा कोई कैसे प्रिय हो सकता है। प्राण-इन्द्रियां और प्राण, बुद्धि-जो मन को नियम में रखने वाली है, मन, अपना शरीर, धन सम्पत्ति, आत्मा अर्थात् देह अथवा आत्मा, दारा-(स्त्रियां)-अपत्य-(पुत्रादि) और धन-पशु-आदि सभी कुछ आत्मा के सम्बन्धी हैं। और जिन २ का आत्मरूप मेरे साथ सम्बन्ध है, वे सभी प्रिय लगते हैं। इससे मेरे अतिरिक्त कौन प्रिय हो सकता है। मैं तो सब का नियामक हूँ, नियम्य होता है, वह प्रिय नहीं होता है ॥२७॥

श्लोक—तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

लेख—मूल में आए हुए-अपर-पद का अर्थ यह है कि 'पर' अर्थात् नियामक (सब को अपने वश में रखने वाले) भगवान् और अपर (जो पर न हो नियामक न हो) नियम्य (भगवान् के वशीभूत) जीव अपर-दूसरा तो नियम्य ही होता है ॥२७॥

श्लोकार्थ—अब तुम देवयज्ञ को लौट जाओ। तुम्हारे पति ब्राह्मण और गृहस्थी हैं। वे तुम्हारे साथ ही अपना यज्ञ पूरा करेंगे ॥२८॥

सुबोधिनी—अतः कार्यस्य सिद्धत्वाद् गृहं यातेत्याह तद् यातेति, यद्यप्यहमात्मा तथापि बहीरमणे बुद्धिरन्यथा भविष्यतीति न तत् कर्तव्यं यतो भवत्यः साध्व्यः पतिव्रताः संस्कारैश्च संस्कृता अतो देवयजनं यात, किञ्च वो युष्माकं पतयो द्विजातयो ब्राह्मणजातीया अतः संस्कारनाशे यज्ञो न सिद्ध्येदतस्ते स्वसत्रं युष्माभिः कृत्वा पारयिष्यन्ति पारं नेष्यन्ति यतो गृहमेधिनो गृहस्था भार्यासहिता एव कर्माधिकारिणस्तस्मात् कार्यस्य सिद्धत्वात् स्वरक्षासम्भवात् परोपकारात् तेषां च जातियज्ञगार्हस्थ्यसम्पादकत्वाद् गन्तव्यमित्यर्थः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—तुम्हारे यहां आने का कार्य सिद्ध हो गया-मेरे दर्शन हो गए, अब घर चली जाओ-यह-तद्यात-इस श्लोक से कहते हैं। यद्यपि मैं आत्मा हूँ, तो भी बाहिर रमण करने से बुद्धि में विकार उत्पन्न हो जाएगा। इसलिए वह उचित नहीं है, क्योंकि तुम पतिव्रता हो। विवाहादि संस्कारों से संस्कृत हो। इस कारण से, देवयज्ञ में लौट जाओ। तुम्हारे पति ब्राह्मण हैं। संस्कार का नाश हो जाने पर, यज्ञ सिद्ध नहीं होता। इसलिए वे तुम्हारे साथ ही उनके यज्ञ को पूरा करेंगे। क्योंकि वे गृहस्थ हैं। गृहस्थियों को अपनी स्त्रियों के साथ ही यज्ञ यागादि कर्म करने का अधिकार होता है। इस कारण तुम चली जाओ; क्योंकि तुम्हारा मेरा दर्शन रूपी कार्य सिद्ध हो गया है। तुम्हारे चले जाने से वे तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम्हारे साथ ही वे अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे। इस लिए उन पर तुम्हारा उपकार होगा। उनकी जाति, यज्ञ, गृहस्थाश्रम सब को सिद्ध करने के लिए तुम्हें चले जाना चाहिए ॥२८॥

॥ पत्नय ऊचुः ॥

श्लोक—मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥२९॥

श्लोकार्थ—यज्ञ पत्नियों ने कहा कि हे विभो (सर्व समर्थ) ऐसे क्रूर वचन कहना आपको उचित नहीं है। वेद के वचन—अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिए। हम अपने बन्धु बान्धवों को छोड़ कर आपकी अनादर के साथ भी दी हुई—चरणों से दूर की हुई भी—उच्छिष्ट (प्रसादी) तुलसी की माला को अपने सिर पर धारण करने अर्थात् दासी होने के लिए आपके चरणों के मूल में—निकट—उपस्थित हुई हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—पत्न्यस्तु सर्वपरित्यागेन समागताः कृतसाक्षात्काराः पुनः पूर्वावस्था प्राप्तुमयुक्तेति सञ्चिन्त्य गमनाभावं प्रार्थयन्ति मैवमिति, गृहगमनं त्वनुचितमेव कर्तव्यं च, तथापीश्वरवाक्यात् कर्तव्यं चेत् तदा कर्तव्यतायां वान्ताशित्वेन महद् भयमाशङ्क्य विज्ञापयन्ति विभो हे समर्थ सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थैवं

गवितुं भवान् नार्हति, अनर्हे हेतुमाह नृशंसमिति, इदं हि क्रूरं वाक्य स्वरूपत. फलतोर्थतश्च, **आदौ पुष्टि-मार्गप्रवर्तनार्थं** भगवानवतीर्णः कथं मर्यादां स्थापयति ? नापीयं मर्यादा त्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणविधानात्, यद्यपि स्त्रीणां त्यागो नोक्तस्तथापि त्वय्यवतीर्णे उचितः, स्त्रीणामर्थ एवानन्दस्य प्रकटितत्वादतोन्यदा फलरूपा-नन्दाभावाद् भोग्यत्वेन तासामन्यगामित्वावश्यकत्वात् त्यागोनुचितो भवतु नाम प्रकृते तु तद्वैपरीत्यात् तस्यैव भोगपर्यवसानादुचित एव त्यागस्तथा सति पुनः परिग्रहः क्रूरो भवति, किञ्च दयाभावाच्च संसारदवानलान् निर्गतं पुनस्तत्र प्रवेशयतीति, **अथ** यदि तेनैव प्रकारेण पुरुषार्थसिद्धिस्तथापि न प्रेषणीया यतस्त्वं सर्वसमर्थः, अत्रैव तथाप्रकारं सम्पादय स्वयं तद्रूपो भूत्वा क्वचित् तिष्ठास्मान् वान्यथा प्रदर्शयात्मनि वा प्रवेशय वृक्षादि-भावं वा प्रापयादृश्यान् वा कुरु, एवं सर्वोपायेषु विद्य-मानेषु स एव कुतः क्रियते ? सिद्धत्वादिति चेत् तत्राहुः **सत्यं कुरुष्व निगममिति, निगमो** वेदस्त्यागे न पुनर्ग्रहणमिति, "तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहु" "न च पुनरावर्तते" "न च पुनरावर्तते" इति, "मामु-पेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यत" एवमनेकविधो निगमोसत्यो भवेद् यदि त्यागानन्तरं त्वयैव चेद् ग्राहितः स्यादतः **स्वनिगमं सत्यं कुरुष्व**, ननु "मामुपेत्ये" तिवाक्याद् न भवतीनां परावृत्तौ दोषो भिन्नतया तिष्ठन्तीति चेत् **तत्राहुस्तव पादमूलं प्राप्ता वयमिति,** प्राणिनस्त्वेतावद्दूरे स्वप्रयत्नो यत् तव चरणयोर्मूलं प्रेम रजश्छाया चित्ते तदवलम्बिनि स्थितिर्वाधोभाग इति सेवानिवेशो वा, एवं कृते शिष्टं त्वयैव कर्तव्यं न त्वधः पातनीयं, ननु स्त्रियो भवत्यः कामयुक्तास्तथा सत्यनुचितं लोकशास्त्रावतारविरुद्धं कथं कुर्यामतो व्याधुत्यगमनमेवोचितमिति चेत् तत्राहुस्तुलसिदाम **पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमिति,** न वयमनुचितकर्माभिला-षिण्यः किन्तु सम्पूर्णं दिनं सेवां विधाय स्वामिनो निद्रासमये निद्रिते वा पादसंवाहने क्रियमाणे पादयोः समर्पितं **तुलसीदाम** प्रसादत्वेन त्वया दत्तमस्पर्शे वा दूराद्रुतसृष्टं परमपुरुषार्थत्वेन प्राप्यमहाप्रसादरूप केशैः केशसम्बन्धिभिर्वेण्यापीडादिभिर्नितरां **वोढुं तव पादमूलं प्राप्ता** इतिसम्बन्धः, नन्वेतावदेव चेत् तत्रैव तुलसिदाम प्रेषयिष्यामि तत्राहुर**तिलङ्घ्य समस्तबन्धूनिति,** सर्वे बान्धवाः पतिपुत्रादयस्त्यक्ता अतस्तद्विरोधादपि न तत्र स्थितिः सम्भवति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—पत्नियाँ तो सब का परित्याग करके आई हैं और भगवान् का दर्शन पा चुकी हैं। अब फिर पहली जैसी अवस्था को प्राप्त करना अनुचित है। ऐसा विचार करके घर न भेजने की प्रार्थना–मैवं–इस श्लोक से करती हैं। घर जाना तो अनुचित है और कर्तव्य नहीं है। तो भी यदि भगवान् के वचनानुसार करना पड़े–घर चले जाना पड़े, तो वमन को खाने के समान बहुत भारी भय उत्पन्न होने की शंका करके प्रार्थना करती हैं–हे विभो ! सब प्रकार से सब कुछ करने में समर्थ आप इस प्रकार न कहें, क्योंकि ये वचन नृशंस हैं अर्थात् स्वरूप, फल और अर्थ–सब प्रकार से क्रूर हैं। स्वरूप से क्रूरता तो यह है, कि पुष्टि मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए भगवान् ने अवतार लिया है, वे मर्यादा का स्थापन, हमारे लिए मर्यादा में रहने की आज्ञा, कैसे करते हैं ? यह मर्यादा भी नहीं है, क्योंकि त्याग कर देने के पीछे फिर उसी पदार्थ का ग्रहण करना कह रहे हैं। यद्यपि स्त्रियों के लिए त्याग करना नहीं कहा है, तो भी, जब आप ने अवतार लिया है तब तो स्त्रियों के लिए भी त्याग उचित ही है; क्योंकि, आनन्दरूप भगवान् आप स्त्रियों के लिए ही प्रकट हुए हो। दूसरे समय–अवतार–में फलरूप आनन्द नहीं है (अभाव है)। स्त्रियां भोग्य हैं। इससे उनका अन्यगामी होना आवश्यक होने के कारण, भले ही उनके लिए त्याग अनुचित हो, किन्तु यहां तो ऐसा नहीं है (इस से विपरीत है); क्योंकि आनन्दरूप भगवान् स्वयं ही भोग कर सकते हैं और फल का अनुभव भी स्वयं ही करा सकते हैं। इस लिए अन्य का त्याग करना उचित नहीं है। ऐसी दशा में फिर उसका ग्रहण करने के लिए कहना फल की दृष्टि से क्रूरता को सूचित कर रहा है। अब

अर्थ से क्रूरता का वर्णन करती हैं, कि इस प्रकार के वचनों से दया का अभाव सूचित होता है अर्थात् संसार की दावानल से निकले हुए को, फिर उसी में प्रवेश करा रहे हैं। (जाने के लिए कह रहे हैं)। यदि ऐसा करने पर ही पुरुषार्थ सिद्ध होता हो, तो भी आप का हमको चले जाने की आज्ञा देना उचित नहीं है; क्योंकि आप सर्व समर्थ हैं। इसलिए यहां ही पुरुषार्थ सिद्धि का प्रकार सिद्ध कर दो। आप स्वयं हमारे पति रूप होकर किसी स्थान पर विराजो, अथवा हमको अन्यथा-गोपिका-रूप में दिखा दो, या आत्मारूप आप में, हमारा प्रवेश करा लो। वृक्ष लता आदि बना दो अथवा हमें अदृश्य कर दो। इस प्रकार सारे उपायों के रहते हुए संसार में ही किस लिए भेज रहे हो? कदाचित् आप यों कहें, कि ये सारे उपाय तो सिद्ध करने लायक हैं और घर तो सिद्ध ही है। उसमें तो कोई नई बात नहीं करना है। इसके उत्तर में कहती हैं कि—सत्यं कुरुष्व-वेद के वाक्यों को सत्य करिए। वेद में त्यागी हुई वस्तु का फिर ग्रहण कराने का निषेध किया है। "तस्मान्न्यासमेषां तपसामति रिक्त माहुः" 'न च पुनरावर्तते', 'मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'—श्रुति में लिखा है कि इन तपस्वियों के लिए त्याग करना उचित है, फिर नहीं लौटता है, फिर संसार में नहीं आता है, हे अर्जुन! मुझ को पाकर फिर जन्म नहीं लेता है। यह अनेक प्रकार के वेद के वचन–यदि आप हम से घर चले जाने के लिए कहेंगे तो–असत्य हो जाएंगे। इसलिए अपने वेद को सत्य करिए (छोड़े हुए घर को फिर से ग्रहण मत कराइए। यदि आप यह कहें, कि–मामुपेत्य-मेरा सायुज्य होने के पीछे जन्म नहीं होता और तुम्हारा तो मेरे साथ सायुज्य नहीं हुआ है, तुम तो मेरे से भिन्न-रह रही हो। इसलिए तुम्हारे चले जाने में दोष नहीं है तो इसके उत्तर में कहती हैं कि–तव पादमूलं प्राप्ता वयं (हम आपके चरण के मूल को प्राप्त हो गई हैं)। प्राणी तो अपने प्रयत्न से केवल इतना ही कर सकता है, कि आपके चरणों के निकट आ जाए। आपके चरणों का मूल अर्थात् प्रेम, अथवा चरणों की रज धारण करना, अथवा चरणों की छाया का आश्रय लेना, अथवा चरणों का अवलम्बन वाले चित्त में स्थित रहना अथवा सेवा के लिए चरणों के नीचे रहता रहे। इन में से प्राणी कुछ भी कर ले। इसके पीछे शेष सब आपको ही करना चाहिए। किसी तरह उसकी अधोगति नहीं करना चाहिए। शंका–आप सब स्त्रियां हो और कामना वाली हो इसलिए लोक विरुद्ध, शास्त्र और अवतार के विरुद्ध काम मैं कैसे करूं? इसलिए तुम्हें यहां से शीघ्र ही चलेजाना ही उचित है। इसके समाधान में कहती हैं "तुलसीदाम" (आपके चरणों से उत्तरी हुई तुलसी की माला को अपने केशों में धारण करने के लिए) कि हमारी इच्छा अनुचित काम की नहीं है, किन्तु सारे दिन आपकी सेवा करके स्वामी के सोने-शयन करने-के समय में अथवा नींद में चरणों की सेवा करती करती चरणों में आभरणरूप से धारण की हुई तुलसी की माला को-जो आपने प्रसाद रूप से दी है अथवा अस्पर्श के समय में दूर से उतार दी है, उसको-परम पुरुषार्थ समझ कर महा प्रसाद रूप से लेने अथवा केशों पर वेणी, शेखर आदि के रूप से धारण के लिए आपके चरणों के मूल को प्राप्त हुई हैं। यदि आप उस तुलसी माला को हमारे चले जाने के पीछे घर पर ही भेज देने के लिए कहें तो–हम तो अपने–'अतिलंघ्य समस्तबन्धून्'–सारे बान्धव, पति पुत्रादि का त्याग करके आई हैं। इसलिए उनके विरोध से, हम घर पर नहीं रह सकेंगी। तब ऐसी दशा में आप उस माला को हमारे पास नहीं भेज सकोगे। इसलिए हमें चले जाने की आज्ञा मत देओ।।२९।।

लेख—'आदौ'-स्वरूप, फल और अर्थ से क्रूरता में प्रथम स्वरूप से क्रूरता का वर्णन किया है।

श्लोक—गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि ॥३०॥

श्लोकार्थ—औरों की तो कौन कहे, हमारे पति, माँ बाप, पुत्र, भाई बन्धु और मित्र भी अब हमको ग्रहण नहीं करेंगे; क्योंकि हम उनकी बात न मानकर आई हैं। हे शत्रुदमन ! आपके सिवाय, अब हमारी और कोई गति नहीं है। इसी से हम आपके चरणों की शरण में आई हैं। हमको अंगीकार करिए। आपके साथ ही रहने दीजिए ॥३०॥

सुबोधिनी—किञ्च तेषामुपकारार्थं गन्तव्यमिति यदुक्तं तदपि न सम्भवतीत्याहुर्गृह्णन्तीति, ते परिग्रहमेव न करिष्यन्ति तद्वाक्योल्लङ्घनेनागतत्वाद् भर्तृग्रहणे पितृगृहे स्थातव्यमित्यपि पक्षो निराक्रियते पितराविति सुता वा भिन्नतयान्नं दास्यन्तीति बान्धवा वा स्वमध्ये स्थापयिष्यन्तीति सुहृदो मित्राणि वोपकरिष्यन्तीति प्रत्यक्षं बन्धुसाहसस्य कृतत्वादन्ये सुतरामेव न ग्रहीष्यन्ति अथ यदि जातिपरित्यागेन यत्र क्वचित् स्थातव्यं तर्ह्यत्रैव स्थातव्यं, अत्र स्थितानां स्वर्गो न भविष्यतीति चेन्मास्त्वित्याहुर्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नान्या गतिर्भवेदिति, पादाग्रे पतितानां पादगतिरेव गतिर्यथोपानहः प्रपदपतितवस्त्राणां वा, तथास्माकमप्यन्या स्वर्गादिगतिर्मा भवतु भर्तृभिः सहितातः पादगतिमेव विधेहि दास्यो भूत्वा त्वत्सङ्गे सर्वत्र पर्यटनं, भर्त्रादिभयं तु तव नास्त्येव, तदाहुर्हे **अरिन्दम** शत्रुनाशक **तद्** गमनमेव विधेह्याज्ञापय ॥३०॥

व्याख्यार्थ—आपने कहा कि पति, पुत्रों पर उपकार के लिए घर चली जाओ। तो यह भी सम्भव नहीं है-इस बात को-गृह्णन्ति-इस श्लोक से कहती हैं। वे हमको अंगीकार ही नहीं करेंगे;

'नापीयम्'—इत्यादि पदों से विरुद्ध विधान करके, फल से क्रूरता का वर्णन किया गया है। अतः भगवान् के अवतार लेने पर उचित ही है । यह फल रूप आनन्द के अभाव में हेतु है। 'उचित एव'—फल का अनुभव कराने के कारण उचित ही है । किञ्च—इत्यादि पदों से दया का अभाव बतला कर अर्थ से क्रूरता का वर्णन किया है। तद्रूप (पति रूप) अन्यथा—आदि पदों का भाव यह है, कि गोपिका आदि रूप से हमको अन्य जीवों से भिन्न दिखा देओ । मूल पद का अर्थ प्रेम को प्राप्त हो गई—यह है । रजः—आपके चरणों की धूलि को धारण कर रही हैं। छाया—छाया का आश्रय करके उसके (अनु) पीछे चलने वाली हैं। इस प्रकार तीनों भांति से क्रूरता का वर्णन करके भिन्न रीति से मूल प्राप्ति का विवेचन करते हैं । चित्त—चरणों का अवलम्बन करने वाले चित्त में स्थिति अर्थात् निष्ठा । अधः—चरण के नीचे के भाग में निवास का वर्णन—'स्वामिनो निद्रा समये'—इत्यादि पदों से किया गया है। 'पादयोः समर्पितम्'—चरणों के आभुषणों के स्थान पर पुष्पों के आभरणों की तरह बांधी हुई माला को । खुले हुए केशों पर, तुलसी की माला नहीं ठहर सकती। इसलिए केश शब्द का अर्थ वेणी, शेखर आदि किया गया है । 'न तत्र स्थितिः'—अर्थात् घरों में हम नहीं रह सकेंगी तो फिर घर पर तुलसी की माला को कैसे भेज सकोगे ॥२६॥

क्योंकि, हम उनके वाक्यों का उल्लङ्घन करके आई हैं। यदि पति स्वीकार न करें, तो मां बाप के घर रहना–इस पक्ष का भी निषेध करती हैं कि–पितरौ–मां बाप भी नहीं रखेंगे। पुत्र रखकर अलग अन्न देते रहेंगे, बान्धव अपने पास रखलेंगे, अथवा मित्र कुछ उपकार कर सकेंगे–यह भी कुछ सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष में बान्धवों के विरुद्ध कार्य करने के कारण और लोग तो कभी रख ही नहीं सकते और यदि जाति, बन्धुओं का त्याग करके किसी और स्थान पर रहने से तो यहीं आपके निकट रहना ही उचित है। कदाचित् आप यह कहें, कि यहां रहने वालों को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है, तो मत होओ। इस बात को–भगवत्प्रपदयोः–इत्यादि पदों से कहती हैं कि आपके चरणों में गिरी हुई हमारी भले ही गति न होए तो भले ही मत हो। (कुछ परवाह नहीं है) चरणों के आगे गिरे हुए की (गति) तो जूता अथवा मौजा आदि की तरह चरण की गति ही गति है। इस तरह से हमारी भी हमारे पतियों के साथ स्वर्ग आदि की गति–प्राप्ति–भले ही मत हो। आपके चरणों की ही गति हमारी करिए। आपकी दासी होकर आपके साथ सब स्थानों में पर्यटन-(भ्रमण)-करती रहें। आपको हमारे पति पुत्रादिकों का भय तो है ही नहीं, क्योंकि आप अरिन्दम–शत्रु नाशक–हो। इसलिए आपके साथ आप जहाँ जावो, वहीं जाने की आज्ञा दीजिए ॥३०॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा–हे पत्नियो ! तुम अपने घर जाओ। तुम्हारे पति, पुत्र, भाई आदि कोई तुम पर दोषारोपण नहीं करेंगे; क्योंकि तुम मेरे पास आई हो। मेरे पास आने वाली तुम्हारा देवता भी आदर करेंगे, अथवा जो मेरे पास आ जाते हैं उनका देवता भी सन्मान करते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—एवम्प्रार्थनायां बाधकादेवं वदन्तीति सद्यः सञ्जातबाधकं प्रति समाधत्ते **पतय** इति, त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्त्यभ्यसूयामपि न करिष्यन्ति पित्रादयोपि पूर्वपूर्वोपाधिरहिताः, न हि पितुः कामोस्ति न हि भ्रातुर्लोभोस्ति, किञ्च लोकाः सर्व एव न दोषारोपं करिष्यन्ति तत्र हेतुर्मयोपेता भवतीर्देवा अप्यनुमन्वते सन्माननं करिष्यन्ति, अशास्त्रेयुक्ते हि सर्वेषामसम्मतिर्न त्वात्मनि कस्याप्यसम्मतिः, अन्यथा स्वस्पर्शे स्वार्थगमनेपि त्यागः स्यात् ॥३१॥

लेख—सर्वत्र पर्यटनम्–के आगे–कुर्वन्त्यो भवाम–ऐसा अध्याहार है अर्थात् सब जगह पर्यटन करती हुई होवें।

योजना—गमनमेव विधेहि–आपके जाने पर हम भी वहीं आपके साथ ही चलें–ऐसी आज्ञा करिए ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार प्रार्थना करने वाली उन पत्नियों ने वापस घर चले जाने में पति पुत्रादिकों को बाधक रूप बतलाकर लौट जाने का निषेध किया। इस कारण से भगवान् शीघ्र ही उस बाधा का समाधान-पतयः-इस श्लोक से करते हैं। त्याग करने तथा स्वीकार न करने की तो सम्भावना ही नहीं है वे तो तुम से ईर्ष्या भी नहीं करेंगे। पिता आदि भी पूर्व की उपाधि से रहित हैं। अर्थात् पति में रहने वाला काम पिता में नहीं है। पिता में रहने वाला लोभ भाई में नहीं होता है। इसलिए वे भी तुमसे ईर्ष्या नहीं करेंगे और अन्य लोग भी, तुम पर दोषारोप नहीं करेंगे; क्योंकि मेरे पास आने वाली तुम्हारा, तो देवता भी सन्मान करेंगे। शास्त्र के अथवा युक्ति के विरुद्ध किए हुए कामों में सभी की असम्मति होती है (किसी की भी सम्मति नहीं होती) किन्तु अपनी आत्मा के पास जाने में, कोई बुरा नहीं समझता। (किसी की भी असम्मति नहीं होती)। यदि अपनी आत्मा के (पास) जाने में भी किसी की असम्मति हो, तो अपने आप का स्वयं स्पर्श करने, अथवा अपने आप को अपने कार्य के लिए जाने पर भी त्याग करना हो जाए। (किन्तु ऐसा नहीं होता) ।।३१।।

श्लोक—न प्रीतयेनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन् मनो मयि युञ्जाना अचिरान् मामवाप्स्यथ ।।३२।।

टिप्पणी—इस 'पतयो नाभ्यसूयेरन्' श्लोक की व्याख्या में-पित्रादयोपि-इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि पति, पिता, भ्राता और पुत्र आदि के द्वारा उन पत्नियों को रोका जाने का क्रम से जो धर्म प्रथम पति आदि में कारण था, वह आगे नहीं था। इसीका 'न हि' इत्यादि पदों से व्याख्या में स्पष्टीकरण किया गया है। पिता का पुत्री के लड़के, दौहित्र, के द्वारा दिए जाने वाले पिण्ड में लोभ होता है। इसलिए पिता लोगों ने रोका। वह पिण्ड का लोभ भाईयों को नहीं होता। भाई तो बहिनों के सौभाग्य की इच्छा रखता है। इस इच्छा से भाईयों ने सब को रोको। पुत्रों में तो ऐसी इच्छा नहीं होती। पुत्र तो माता के निर्दोष भाव की अपेक्षा करते हैं। इसीलिए पुत्रों ने निषेध किया था। अन्य साधारण लोगों को तो इसकी भी अपेक्षा नहीं थी। यद्यपि अन्य लोगों के द्वारा रोके जाने का कोई सा भी धर्म इनसे असूया करने में कारण नहीं था, तो भी इन वाक्यों से यह सूचित होता है कि उन पत्नियों में तो अब उन उन धर्मों का नाश हो गया था। केवल उनके उन पति पिता आदिकों मे ही वे विभिन्न धर्म थे, जिनके ही कारण उन्होंने उन्हें भगवान् के पास जाने से रोका था।

लेख—त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्ति-इत्यादि व्याख्या के पदों में-सम्भावना नास्ति एव (सम्भावना है ही नहीं) इस प्रकार 'एव' पद अयोगव्यवच्छेद का सूचक है।

योजना—त्यागा० अर्थात् तुम्हारे पति लोग ईर्ष्या भी नहीं करेंगे। भगवान् के इस कथन से त्याग करने और ग्रहण नहीं करने की सम्भावना ही नहीं है। त्याग और अग्रहण पदों में द्वन्द्व समास है और फिर दोनों की असम्भावना-ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास है। त्याग अर्थात् फिर से स्वीकार नहीं करना और अग्रहण अर्थात् उसी समय स्वीकार नहीं करना 'पूर्वं पूर्वोपाधिरहिता'-इत्यादि पदों का तात्पर्य टिप्पणी में स्फुट कर दिया गया है ।।३१।।

श्लोकार्थ—यदि कहो, कि हम को तो अङ्ग सङ्ग की इच्छा है, उसके बिना हम कैसे लौट जाएँ ? तो यहां अंग संग, प्रीति, या मुझ में स्नेह भी उत्पन्न नहीं करेगा। मनुष्यों को भी प्रीति उत्पन्न नहीं कर सकेगा, इसलिए अपने घर में ही रहकर मुझ में अपना मन लगाओ। इसी से मुझे शीघ्र प्राप्त कर लोगी ॥३२॥

सुबोधिनी—नन्वेवं सति लोकवेदविरोधाभावात् सङ्गोऽप्यस्त्विति चेत् तत्राह **न प्रीतय** इति इहास्मिन्नवसरेऽङ्गसङ्गो **नृणां प्रीतये** न भवति, अङ्गेन सङ्ग आत्मनैव सङ्ग उचितो मनसा वा न त्वङ्गेनाङ्गयोरिति न वक्तव्यं बाधितत्वादतो लोकविरुद्धत्वान्न कर्तव्यं, किञ्चैतद्धि भवत्यर्थं कर्तव्यं यथाधिकः स्नेहो भवतीति, तदपि न भविष्यतीत्याहानुरागायेति, भवतीनामप्येतदनुरागाय न भविष्यति नृणामप्येतज्ज्ञाने, किञ्च **सङ्गः** परं प्रतिबन्धकः सायुज्येतो **मय्येव मनो युञ्जाना अचिराच्छीघ्रमेव मामवाप्स्यथ**, अनेनान्या गतिरपि निवारिता, ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनमयुक्तमित्येवमुक्तम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—यदि ऐसा है तो लोक और वेद का विरोध नहीं होने के कारण हमें आपके अंग का संग हो जाना चाहिए, जिसकी इच्छा से ही हम आई हैं–इस प्रकार पत्नियां कहें तो उसके उत्तर में–न प्रीतये–श्लोक कहते हैं। इस समय अंगसंग मनुष्यों की प्रीति करने वाला नहीं होता है। अंग-संग अर्थात् अंग के साथ संग। वह तो आत्मा के साथ ही अथवा मन के साथ ही उचित है। अङ्ग के साथ तो भगवान् का संग उचित नहीं है। बाधित होने के कारण भगवान् के और पत्नियों के दोनों के अंगों का संग कहना उचित नहीं है। इस लिए लोक से विरुद्ध होने से, भगवान् के साथ अंग संग कर्तव्य नहीं है। यदि अंगसंग कर्तव्य ही हो, भक्ति के लिए करना चाहिए; जिससे भगवान् में अधिक हो। परन्तु वह भी नहीं होगा–इसको–अनुरागाय' पद से कहते हैं। अंग संग से तुम्हारा भी अनुराग तथा स्नेह नहीं होगा और इस अंग संग का ज्ञान मनुष्यों को हो जाने से उन (मनुष्यों) का भी स्नेह मेरे ऊपर नहीं होगा। सङ्ग तो सायुज्य में अत्यन्त प्रतिबन्धक (बाधक) है। इस लिए मुझ में ही मन को लगाती हुई तुम मुझको शीघ्र ही प्राप्त हो जाओगी। इस कथन से उनकी अन्य गति का निवारण किया है। सरलता से जो कार्य सिद्ध हो जाता है तो फिर कठिन मार्ग से सिद्ध करना उचित नहीं होता। इस लिए ऐसा कहा है।

लेख—'बाधितत्वात्'–भगवान् में अंगांगी भाव नहीं होने से अर्थात् भगवान् का अङ्ग और आत्मा दोनों भिन्न नहीं होते हैं।

योजना—'न प्रीतये'–इत्यादि श्लोक की व्याख्या में–'अङ्गयोरिति न वक्तव्यम्'–इत्यादि का आशय यह है, कि यज्ञपत्नियों के अंग वाली होने पर भी भगवान् का अङ्ग सिद्धान्त में भगवान् की आत्मा से भिन्न नहीं है। इसीलिए–'केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्व बुद्धि दृक्'–वसुदेवजी ने स्तुति में भगवान् को केवलानुभवानन्द स्वरूप और सब की बुद्धि का साक्षी–देखने वाला–कहा है ॥३२॥

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक—इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।
ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ।।३३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ! भगवान् के यों कहने पर वे विप्र पत्नियां फिर यज्ञशाला को लौट गईं । वहाँ पतियों ने उनसे कुछ असूया न करके उनके साथ यज्ञ को पूरा किया ।।३३।।

सुबोधिनी—भगवतोनुल्लङ्घ्यवाक्यं तथैव कृतवत्य इत्याहेत्युक्ता इति, अयं यज्ञः प्राथमिक इति सर्वत्र द्विजग्रहणमत एवाग्रे जन्मत्रयं वक्ष्यन्ति समाप्तिपर्यन्तं तु द्विजत्वमेव, ननु दीक्षितविमितादन्यत्रगमने यज्ञनाशश्रवणात् कथ प्रवासो 'गर्भो वा एप यद् दीक्षितो योनिर्दीक्षितविमित्त यद् दीक्षितो दीक्षितविमिताद् प्रवसेद् यथा योनेर्गर्भः स्कन्दति तादृगेव तद् यानि दीक्षितव्रतानि तानि पत्न्या' इतिश्रुतेः कथं यज्ञपूर्तिरिति चेत् सत्य, मुख्या न गता नापि तेषामपि स्वर्गप्राप्तिः किन्तु 'पद'प्राप्तिरेवाग्रे तेषामपि भक्तत्वेन निरूपणाद संस्कारा एते फलोपकारिणो न तु यज्ञोपकारिणः, 'विवदमान आर्त्विज्यं बलीय' इतिन्यायेनापि न तासां मुख्यत्वं कर्मसमयेपि ता आगता एवेत्याह यज्ञवाटं पुनर्गता इति, भगवदुक्त तथैव जातमित्याह ते चेति, अनसूयव एव ताभिरेव पत्नीभिः स्वसत्रमपारयन् समाप्त कृतवन्तः ।।३३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के वाक्य का उल्लङ्घन नहीं हो सकता । इस का वर्णन–इत्युक्ता–इत्यादि श्लोक से करते हैं । यह यज्ञ पहला ही है, इस से सब स्थानों पर द्विज पद का प्रयोग किया गया है । इसी लिए आगे इनके तीन जन्म कहे जाएँगे । इस यज्ञ की समाप्ति होने तक, तो वे द्विज ही हैं । यहाँ यह शङ्का होती है कि श्रुति में बतलाया है, कि दीक्षित के द्वारा सीमित–यज्ञ के लिए नापी हुई–भूमि से बाहर चले जाने पर यज्ञ का नाश हो जाता है; तो फिर वे पत्नियां उस यज्ञ की सीमित भूमि से बाहर क्यों चली गईं ? श्रुति में कहा हैं, कि दीक्षित गर्भ सदृश है और यज्ञ के लिए नापी हुई समिति भूमि योनि के तुल्य है । उस यज्ञ सीमा से बाहर चले जाना गर्भ स्राव के समान है । जो व्रत नियम दीक्षित के लिए होते हैं, वे उनकी पत्नियों के लिए भी हैं । ऐसी दशा में यज्ञ पूरा कैसे हो सका ? इस के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका सत्य है; किन्तु यहाँ मुख्य पत्नी नहीं गई और उन याज्ञिकों को भी मुख्य फल स्वर्ग प्राप्ति नहीं हुई । केवल भगवत्पद की प्राप्ति ही हुई है; क्योंकि आगे उनका भी भक्त रूप से निरूपण किया है । ये संस्कार उनके पद प्राप्ति रूप मुख्य फल के सहायक हैं, यज्ञ के उपकारक नहीं है । विवाद में, ऋत्विज भाव बलवान् होता है–इस न्याय से भी, वे मुख्य नहीं थीं और यज्ञ कर्म के समय पर वे पीछी आ भी गईं थीं । 'यज्ञवाटं पुनर्गताः–मूल में इन पदों से उनका पीछे घर चले जाना कहा है । भगवान् ने जो कहा था वैसा हुआ–'ते चानसूयवः'–द्विजों ने उन पर असूया–दोषारोपण–नहीं की । उनहीं पत्नियों के साथ अपने यज्ञ को पूर्ण किया ।।३३।।

लेख—यहां एक पत्नी का मरण हो गया, तो भी प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्त किया जा सका; क्योंकि मीमांसा के छठे अध्याय के तीसरे पाद में ऐसी व्यवस्था की है, कि यजमान की भी यज्ञ में मृत्यु हो जावे तो प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्त कर लेना चाहिए ।।३३।।

श्लोक—तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम् ।
हृदोप गुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—उनमें एक यज्ञ पत्नी को उसके पति ने पकड़ रखा था, जिससे वह भगवान् के दर्शन के लिए नहीं जा सकी थी । उसने जिस रूप से, भगवान् का श्रवण किया था, उन भगवान् का हृदय से आलिङ्गन करके, कर्म का बन्धन करने वाले अपने शरीर को छोड़ दिया । (वह सब से पहले भगवान् से जा मिली) ।।३४।।

सुबोधिनी—मुख्या न गतेत्याह तत्रैकेति, तासु मध्य **एका धृता स्वभर्त्रा यजमानेन** ततोनर्थ एव जात इत्याह **यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगुह्य देहं** विजहाविति, त्यागे हेतुः **कर्मानुबन्धनमिति**, कर्मानुबन्धनं यस्मात्, अपकारित्वात् त्याग आत्मनोधिकारार्थमेतत्परिग्रह उपकारस्त्वेतावानेव स चान्यथैव सिद्धो भगवानेवोपगूढ इति भगवदालिङ्गिताया न स्थानान्तरं मृग्यते तच्छक्तीनामिव, यदैव पुनः कर्मसम्बन्ध आत्मनस्तदैव तेन बध्यत इति कर्मार्थं तत्र न गन्तव्यमवसरस्तु कर्मण इति तस्मात् त्याग एव श्रेष्ठो यज्ञ इदानीं समारूढ इति कर्माधीनत्वाभावात् न कर्मभोगो वक्तव्यो गोपिकानामिव, देवतारूपायाः पत्न्या अधिष्ठानात् कालकर्मस्वभावा निवृत्ता भगवानालिङ्गित इति भगवानपि, अतस्तस्या मुक्तिः सिद्धा ।।३४।।

व्याख्यार्थ—मुख्य यज्ञ पत्नी नहीं गई–इस बात को–तत्रैका–इस श्लोक से कहते हैं । उनमें से एक को उसके पति यजमान ने पकड़ रखा । जिससे अनर्थ ही हुआ । वह–'यथा श्रुतं भगवन्तम्'–इत्यादि पदों से कहते हैं कि उसने पहले से ही सुने हुए भगवान् का हृदय से आलिङ्गन करके, देह को छोड़ दिया । देह का त्याग करने में, कारण यह था, कि देह से कर्मों का बन्धन होता है, इस लिए अपकार करने वाले शरीर को छोड़ दिया । (भगवान् से मिलने में बाधक होने के कारण देह को छोड़ दिया । अपनी आत्मा के अधिकार के लिए देह का ग्रहण है । देह का तो इतना ही उपकार है । वह उपकार तो मन के द्वारा ही सिद्ध होगया, हृदय से भगवान् का आलिङ्गन कर लिया जिसका भगवान् से आश्लेष कर लिया हो, उसका भगवान् के पास से दूसरे स्थान पर जाना उचित नहीं हैं । जैसे भगवान् की शक्तियां भगवान् के पास ही रहती हैं, वैसे ही उस मुख्या का दूसरी देह में अथवा दूसरे स्थान पर रहना उचित नहीं । आत्मा का सम्बन्ध जब ही कर्मों के साथ होता है, तब ही बन्धन होता है । इसी से कर्म के लिए वह पत्नी वहां नहीं गई; क्योंकि वह समय तो, कर्म का ही था । इसलिए उसने त्याग को ही श्रेष्ठ समझा । यज्ञ कार्य अभी चल रहा था और वह कर्म के वशीभूत नहीं थी । इसलिए अन्तर्गृह गता गोपिकाओं की तरह उसके लिए भी कर्म का भोग कहना उचित नहीं है । देवता रूप, उस पत्नी के देह से, काल कर्म और स्वभाव दूर हो गए थे क्योंकि उसने तो भगवान् का आलिङ्गन कर लिया था । अन्तर्यामी भगवान् भी निवृत–तिरोधान हो गए' दूसरे, उसकी भगवान् में मुक्ति सिद्ध हो गई ।।३४।।

लेख—व्याख्या में–'स्थानान्तरं'–का अर्थ, दूसरी देह को प्राप्त करना है । 'देवतारूपायाः'– दिवु धातु से देवता शब्द बना है । दिवु धातु का क्रीड़ा करना अर्थ है । इसलिए अन्तःकरण से भगवान् का आलिङ्गन करने

वाली-ऐसा अर्थ है। 'भगवानपीति'-अन्तर्यामी रूप भी निवृत्त होगया। इस कारण कृष्ण में उसकी मुक्ति सिद्ध होगई-ऐसा भाव है।

योजना—व्याख्या में-'अपकारित्वात्त्यागः' (अपकार करने वाला होने से, त्याग कर दिया) का तात्पर्य यह, है कि देह को पति ने रोक दिया। यह देह भगवान् के सम्बन्ध में बाधक था। इसलिए देह का अपकार करने वाला जान कर उसका त्याग किया। 'आत्मनोऽधिकारार्थं एतत्परिग्रहः' (आत्मा के अधिकार के लिए देह का अंगीकार है) का अभिप्राय यह है कि भगवदीय जीव भगवान् की सेवा में अधिकार के लिए ही देह को अंगीकार करते है; क्योंकि केवल जीव,-(देह रहित जीव) देह के बिना हरि की सेवा नहीं कर सकता है। इसलिए देह का स्वीकार है। 'उपकारस्त्वेतावानेवेति'-जीव पर देह का भगवत्सेवारूप ही उपकार है। यह उपकार यदि देह से सिद्ध होता है, तो देह सफल है और वह भगवत्सेवारूप उपकार देह से नहीं होता है, तो ऐसी देह सब दोषों का कोष[1] रूप ही है, तथा अत्यन्त अपकार करने वाली है। इसलिए व्याख्या में-'एतावानेव'- केवल यही उपकार है-ऐसा कहा है। 'स च अन्यथैव सिद्धः'-वह उपकार दूसरी रीति-मानसिक आलिङ्गन-से ही सिद्ध हो गया; क्योंकि मूल में-'हृदोपगुह्यविजहो'-यह वाक्य है। इसीको व्याख्या में-भगवानेवोपगूढः'-(भगवान् का आलिङ्गन किया) पदों से कहा है। स्थानान्तरं भगवान् का आलिङ्गन करने वाली का स्थान भगवान् के निकट से दूसरा-अलग-नहीं होना चाहिए। जब तक देह है, तब तक ही पति के साथ रहकर यज्ञ कर्म का सम्बन्ध है और कर्म करने पर, फिर कर्म बन्धन अवश्यंभावी है इसलिए देह के त्याग को ही श्रेष्ठ मान कर देह छोड़ दीं। 'यज्ञ इदानीं समारूढः'-इत्यादि से लेकर-'वक्तव्यः' यहां तक व्याख्या ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि यज्ञ के दिनों (में) बीच में भगवान् ने भोजन मंगवाया था; किन्तु द्विजों ने तो नहीं दिया था और द्विज पत्नियां सारी सामग्री सिद्ध करके लेकर जब भगवान् के निकट जा रही थीं, तब एक पत्नी को उसके पति के द्वारा रोके जाने पर, उसने देह छोड़ दी। इस कारण से, यज्ञ रूप वह कर्म असिद्ध हो गया था। सिद्ध नहीं हुआ कर्म नियामक नहीं होता। इसलिए वह कर्म के अधीन नहीं हुई। तब कर्म का भोग भी नहीं हो सका। इसमें-'गोपिकानामिव'-व्रजसीमन्तियों का विपरीत दृष्टान्त दिया गया है। अभिप्राय यह है, कि जैसे आगे फल प्रकरण में बतलाया जाएगा, कि गोपिकाओं के भगवान् के असह्य विरह के कारण, होनेवाले तीव्र संताप से, पाप का क्षय और ध्यान में भगवान् के आलिङ्गन से होने वाले परम सुख से पुण्य का क्षय हो गया था, उस तरह इस पत्नि के पाप पुण्य का क्षय होना निरूपण नहीं किया।

'देवता रूपायाः पत्नयाः'-इत्यादि व्याख्या का यह आशय है कि-'यज्ञो वै यजमानः-इस श्रुति से आधिदैविक यज्ञ का अधिष्ठान यजमान और आधिदैविक यज्ञपत्नी का अधिष्ठान यजमान की पत्नी होती है। इस लिए देवता रूप आधिदैविक यज्ञपत्नी का अधिष्ठान, यजमान पत्नी का देह होने के कारण, उसके काल, कर्म और स्वभाव की निवृत्ति हो गई; क्योंकि उसने भगवान् का आश्लेश कर लिया था। इस प्रकार यज्ञ रूप कर्म के सिद्ध न होने से, कर्म बन्धन नहीं होने के कारण तथा काल, कर्म, स्वभाव की निवृति का निरूपण करके, उस पत्नी की भगवान् में भक्ति का वर्णन किया। भक्ति मार्गीय जीव का, अन्तर्यामी में लय नहीं होता। इसलिए अन्तर्यामी भगवान् निवृत्त हो गए (छिप गए), इस कारण उस परम भक्त यजमान पत्नी ने पुरुषोत्तम में मुक्ति प्राप्त कर ली ।।३४।।

१—खजाना।

श्लोक—भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ भगवान् गोविन्द ने उसी चार प्रकार के अन्न से, गोपों को भोजन कराया और आपने भी (बलभद्रजी के साथ) भोजन किया ॥३५॥

सुबोधिनी—तस्यामन्त:-समागतायां तां बालकांश्च भोजितवानित्याह भगवानपीति, यद्यप्यन्यथापि सर्व-सामर्थ्यमस्ति, आज्ञयापि क्षुन् निवर्तयितुं शक्या, तथापि गवां सर्वस्य धर्मस्यापीन्द्र इति धर्मरक्षार्थं भक्तिरक्षार्थं स्ववाक्यरक्षार्थं च तेनैवान्नेन भक्ष्यादिचतुर्विधेन सम्पूर्णरसात्मकेन गोपकानाशयित्वा भोजयित्वा स्वयं च बुभुजे, चकाराद् बलभद्रोपि, स्वस्य भोजनं पूर्ववत्, इदानीं पत्न्या भुक्तमतो 'व'इतिवचनं न विरुध्यते, नन्वेतदपूर्वं कथं कृतवान् ? तदाह प्रभुरिति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—उस पत्नी के भगवान् में सायुज्य प्राप्त कर लेने से भगवान् ने उस सायुज्य प्राप्त करती हुई पत्नी और बालकों को भोजन कराया। इस बात को–भगवानपि–इस श्लोक से कहते हैं। यदि कोई दूसरा उपाय करना चाहते, तो उसको करने की भगवान् में सब सामर्थ्य है। केवल आज्ञा से भी भगवान् क्षुधा को दूर कर सकते हैं, तो भी भगवान् गोविन्द–गायों के और सारे धर्म के भी इन्द्र हैं। इसलिए धर्म भक्ति और अपने वाक्य की रक्षा के लिए उस ही (भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य) सारे रसों से पूर्ण चार प्रकार के अन्न से गोपों को भोजन कराकर स्वयं भगवान् ने भोजन किया और बलभद्रजी ने भी भोजन किया। अपना भोजन तो पहिले की (गोपों का सा) तरह ही था। इस समय भगवान् में सायुज्य पाने वाली पत्नीं ने भी भोजन किया। इसलिए–वः–इस बहुवचन पद का विरोध नहीं आता है। भगवान् ने यह अपूर्व कार्य इस लिए किया था, कि आप प्रभु–सब कुछ करने में समर्थ हैं ॥३५॥

श्लोक—एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥३६॥

श्लोकार्थ—लीला करने के लिए ही मनुष्य रूप धारण करने वाले भगवान् इस तरह नरलोक के सभी धर्मों का अनुशीलन करते हुए अपने रूप, वचन और कार्यों के

लेख—व्याख्या में धर्म की रक्षा के लिए अर्थात् जिनको ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उनको भिक्षा के अन्न से ही निर्वाह करना चाहिए। भक्ति की रक्षा के लिए अर्थात् उस भक्त पत्नी को प्रसाद देने के लिए। अपने वाक्य की रक्षा के लिए अर्थात् यदि आज्ञा से क्षुधा मिटा देते, तो फिर अन्न के लिए भगवान् का गोपों को यज्ञशाला में भेजना व्यर्थ हो जाता। इसलिए अपने वाक्य की रक्षा के लिए भी भगवान् ने उसी अन्न से सब को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया ॥३५॥

द्वारा, गायों, गोपों, गोपीजन–सभी को रमण कराते थे और स्वयं भी रमण करते थे ॥३६॥

सुबोधिनी—वैदिके ज्ञानकर्मणी निरूप्योपसंहरत्येवमिति, लीलार्थमेव नरवपुर्नलोकं सर्वमेव लौकिकं वैदिकमनुशीलयन् स्वधर्मैर्योजयन्नुभयविधानपि भगवच्छास्त्रानुसारिणः कुर्वन् गोगोपगोपीनां मध्ये रेमे, सम्बन्धी वा भूत्वा, द्वितीयार्थे वा षष्ठी ता रमयन् स्वयमपि रेमे, रूपेण गा वचनेन गोपान् कृतैर्गोपीः, सर्वत्र सर्वं वा, सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता रमणकरणरूपाः स्वस्य रमणे त्रयोपि सम्बन्धिनः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—वैदिक ज्ञान और कर्म का निरूपण करके-एवम्–इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते हैं। केवल क्रीड़ा के लिए ही नर रूप धारी भगवान् सारे ही लौकिक वैदिक रूप नरलोक का अनुशीलन करते हुए-अपने धर्म के साथ योग करते हुए-मर्यादा और पुष्टि–दोनों प्रकार के जीवों को भगवत्-शास्त्र के अनुसार करके गायों गोपों और गोपियों के मध्य में रमण करते थे, उनके सम्बन्धी होकर रमण करते थे, अथवा द्वितीया के अर्थ में, षष्ठी विभक्ति मान कर उन–गायों और गोपीजनों –को रमाते हुए स्वयं रमण करते थे। स्वरूप से गायों को, वचन से गोपों को, कृति से गोपीजनों को रमण कराया, अथवा सभी के द्वारा सबको ही रमण कराया। इस प्रकार, सत् चित् आनन्द–तीनों रमण के साधनों का निरूपण किया। अपने रमण में भी इन तीनों का ही सम्बन्ध था ॥३६॥

श्लोक—अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः ।
यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥

श्लोकार्थ—उधर वे ब्राह्मण नर लोक का अनुकरण करने वाले दोनों जगदीश्वरों की याचना के भङ्ग कर देने का स्मरण कर, अपने को अपराधी मानकर पश्चाताप करने लगे ॥३७॥

सुबोधिनी—एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे निरूप्य तयोः फलं भक्ति निरूपयत्यथेति, एका हि भगवतः कृतिरनेककार्यसाधिका तेषां द्विजानां प्रबोधनं बालकशिक्षार्थं पत्न्या मुक्त्यर्थं तेषां प्रबोधार्थं मर्यादास्थापनार्थं चातो वाक्येन प्रबोधितानां द्विजानां वाक्यान्याह भक्तिबोधकानि,

व्याख्यार्थ– इस प्रकार ब्राह्मणों के मर्यादामार्गीय ज्ञान, कर्म तथा विप्र पत्नियों के पुष्टि ज्ञान और कर्म का निरूपण करके उनकी फल रूप भक्ति का निरूपण-अथानुस्मृत्य-श्लोक से करते हैं।

लेख—सच्चिदानन्द रूपा निरूपिताः–रूप वाणी और कृति रूप सच्चिदानन्द का निरूपण किया। यहां क्रम से रूप सद्रूप, वाणी चिद्रूप और कृति आनन्दरूप–इस तरह एक एक नहीं समझना चाहिए; किन्तु ये सभी, इनमें से एक एक भी, अलग अलग भी सच्चिदानन्द रूप हैं। यह तात्पर्य है ॥३६॥

भगवान् की एक कृति (कार्य) अनेक कार्यों को सिद्ध करने वाली होती है। उन द्विजों का प्रबोधन रूप कृति जैसे यहाँ बालकों को शिक्षा के लिए, पत्नी की मुक्ति के लिए, द्विजों को प्रबोध के लिए और मर्यादा की स्थापना आदि के लिए हुई। इसलिए वाक्यों से, प्रबोध पाने वाले द्विजों के भक्ति बोधक वाक्यों को कहते हैं।

कारिका—पश्चात्तापो विगर्हा च हेतुस्तस्य च रूप्यते।
तथात्वे चापि हेतुर्हि स्वहीनत्वं च कर्मभिः ॥१॥
संस्काराणामहेतुत्वं भक्तेरन्यच्च साधनम्।
स्वभक्तेर्बोधनं हेतुरन्यथा नोपपद्यते ॥२॥
तथात्वसाधनं तस्य कर्मवैयर्थ्यबोधनम्।
द्वाभ्यां रूपद्वयोक्त्यैव स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थता ॥३॥
क्षमापनं नमस्कारैः प्रार्थनाभिर्निरूप्यते।
अनागमनमिच्छतो भक्त्यैवेत्थम्मतिर्भवेत् ॥४॥

कारिकार्थ—इन चार कारिकाओं में इस ३७ वें श्लोक से लेकर इस अध्याय के अन्त के ५१ वें श्लोक तक इन १५ श्लोकों में बतलाए जाने वाले विषयों का वर्णन किया है। वह यों है। ३७ वें श्लोक में पश्चाताप, ३८ वें श्लोक में विगर्हा (स्वनिन्दा), ३९ वें श्लोक में निन्दा का हेतु, ४० वें श्लोक में भगवान् से विमुख होने का हेतु माया, ४१ वें श्लोक में भक्ति द्वारा स्त्रियों का उत्कर्ष और कर्म द्वारा अपनी हीनता, ४१ वें श्लोक में संस्कारों से भक्ति का न होना, ४२ वें श्लोक में भक्ति होने का संस्कार साधन नहीं, भगवान् का अनुग्रह ही कारण है, ४३ वें श्लोक में भगवान् की अन्न याचना अपने प्रबोध के लिए थी, ४४ वें श्लोक में अन्य प्रयोजन का निषेध, ४५ वें श्लोक में भगवान् की याचना किसी प्रकार कोई और प्रयोजन का निषेध, ४६ वें व ४७ वें श्लोकों में कर्म की व्यर्थता का बोधन करके, कर्म और भगवान् के स्वरूपों का वर्णन, ४८ वें श्लोक में पत्नियों के सम्बन्ध से अपनी कृतार्थता, ४९ वें तथा ५० वें श्लोकों में प्रार्थना करके क्षमा की याचना और ५१ वें श्लोक में भगवान् के दर्शन की इच्छा होते हुए भी कंस के भय से नहीं आना इत्यादि का निरूपण किया जाएगा। ये ब्राह्मण पहिले से ही भक्त थे। इसलिए उनकी पश्चाताप करने, क्षमा याचना आदि की सद्बुद्धि हुई ॥१-४॥

सुबोधिनी—प्रथमतोनुतापमाहाथानुस्मृत्येति, भगवदीयानां वाक्यं स्मृत्वा तन्मूलभूतं भगवद्वाक्य तद्द्वारानुस्मृत्य कर्मजडतां विहाय भक्त्यनुसारिणो भूत्वा विप्राः पश्चादेव जायमानज्ञानाः कृतागसो भूत्वा पत्नीनिरोधेन निषेधेनावाच्यकथनेन भक्तमारणेन जातापराधा अनुतापं कृतवन्तः, सर्वापराधापेक्षयेश्वरवाक्योल्लङ्घनं महान् दोष इति तं निरूपयन्ति यद् विश्वेश्वरयोरिति, विश्वेश्वरयोरितिद्विवचनं कालपुरुषोत्तमपरं शब्दब्रह्मपरब्रह्मपरं वा,

याञ्चा बालद्वारोदनविषयिणी, वस्तुतो भगवतैवाज्ञाभङ्गः कारितः प्रथमतो भक्तकृपया तथोक्त्वापि बलिवाक्यात् परम्परयापि दूरीकृतवान् 'न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हती'ति,

व्याख्यार्थ—अथानुस्मृत्य–इस श्लोक से पहले अनुताप का वर्णन करते हैं। भगवदियों के वाक्य का स्मरण करके और उसके द्वारा उसके मूलभूत भगवान् के वाक्य को याद करके, वे ब्राह्मण कर्म जड़ता को त्याग कर, भक्ति का अनुसरण करने लगे। वे विप्र, अर्थात् पश्चिम बुद्धि वाले थे। इसलिए उन्हें पीछे ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब वे पत्नियों को रोकने, भोजन देने का निषेध करने, अनुचित वचन कहने, भक्त पत्नी की मृत्यु का कारण होने से, अपराधी वे पश्चाताप करने लगे। अन्य सभी अपराधों की अपेक्षा भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन करना महान् दोष है। इस (उस) दोष का वर्णन–यद् विश्वेश्वरयो–इत्यादि पदों से मूल में किया है। इस द्विवचन को काल और पुरुषोत्तम वाचक अथवा शब्द ब्रह्म, परब्रह्म वाचक समझना चाहिए। बालकों के द्वारा ओदन विषयक याचना वास्तव में तो आज्ञा भंग भगवान् ने ही करवाई; क्योंकि पहले याचना का वाक्य कहकर भी भक्त के ऊपर कृपा करने के लिए फिर दुबारा भेजकर, द्विज पत्नी पर कृपा करने के लिए अपनी आज्ञा का भंग कराया। फिर पत्नियों के पास भेजने से आज्ञा सिद्ध हो ही गई। राजा बलि से याचना करने के पीछे, फिर कहीं भी भगवान् का याचना करना अनुचित है: क्योंकि बलि ने कहा था–न पुमान् मामुपव्रज्य–कि पुरुष मेरे पास आजाने के पीछे फिर याचक नहीं रहता। इसलिए यह याचना नहीं थी; किन्तु आज्ञा थी, इस प्रकार परम्परा से भी याचना भंग को दूर कर दिया।

कारिका—**ब्राह्मणानामयं धर्मः स्नेहाच्चापि न बाध्यते।**
भिक्षारूपेण सा याच्ञा बाध्यते न तु लौकिकी ॥१॥

कारिकार्थ—अन्नदान से ब्राह्मणों के यज्ञ रूप धर्म का बाध नहीं हो जाता। उनका भगवान् पर स्नेह हो जाने से भी उनके धर्म में कोई हानि नहीं होती। भगवान् ने विहित भिक्षा का ही बाध कराया, लोकिक भिक्षा का बाध नहीं कराया।

सुबोधिनी—'न्यासभूतौ प्रयच्छ मे' तथापि याचे तन्नः प्रयच्छे'ति 'तत्तन्निवेदये'दित्यादिवाक्यानि न विरुद्धानि भवन्ति न वा तेषामयुक्तं वा किञ्चिद् गृहीतं, नन्विमौ बालकौ कथमीश्वरौ तत्राहुर्नृविडम्बयोरिति, नृणां विडम्बं विडम्बनं याभ्यां, केवलं मनुष्यरसमभिनयेन प्रदर्शयतः, एवं स्वस्यापराधित्वं निरूपितम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—'न्यास भूतौ प्रयच्छ मे' (धरोहर रूप दोनों पाद का मेरे लिए दान दो) 'तथापि याचे तन्नः प्रयच्छ' (तो भी जो मैं मांगता हूं। उसे मेरे लिए दो), 'तत्तन्निवेदयत्'–(उस २ 'प्रिय पदार्थ को निवेदन करे) इत्यादि वाक्य इस प्रकार विरुद्ध नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त, उन ब्राह्मणों का कोई अनुचित ग्रहण नहीं किया और न उनकी मर्यादा मार्गीय पत्नियों की देह आदि का ही ग्रहण किया बल्कि उन्हें तो पीछा घर ही भेज दिया। इसलिए भी किसी विधि का उल्लङ्घन नहीं हुआ। ये दोनों तो बालक थे, इनको जगत् के ईश्वर क्यों कहा? ऐसी शङ्का के उत्तर में–नृविडम्बयोः–कहते

हैं, कि वे तो केवल मनुष्यों का अनुकरण मात्र करते थे। अपने अभिनय से केवल मनुष्य रूप का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार से अपने अपराधीभाव का निरूपण किया ॥३७॥

टिप्पणी—अथानुस्मृत्य-की व्याख्या में-एवं ज्ञान-कर्मणी द्विविधे-का तात्पर्य यह है, कि उन ब्राह्मणों और उनकी पत्नियों के मर्यादा और पुष्टि के भेद से दो दो प्रकार के ज्ञान और कर्म का निरूपण करना है। 'यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञां'-इन मूल के पदों का तात्पर्य व्याख्या में-भगवतैव इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है। विश्व के ईश्वर अर्थात् नियामक, प्रवर्तक, निवर्तक-सब कुछ है। 'बलिवाक्यात्, परंपरयापि'-इत्यादि का अभिप्राय यह है, कि यद्यपि राजा बलि ने-मां (मुझको) अपने लिए ही कहा था, वह वाक्य भगवद्धर्म का बोधक नहीं था; तथापि ऐसा वाक्य समर्थ ही कह सकता है। इसलिए बलि में ऐश्वर्य धर्म होने से और उसमें वह ऐश्वर्य धर्म भगवान् का होने के कारण वह वाक्य भगवद्वाक्य ही है।

यहां पर ऐसी शंकाएँ होती हैं कि जब याचना का भंग भगवान् ने ही करवाया था, तो फिर वह ब्राह्मणों का अपराध कैसे समझा गया ? और बात तो वास्तव में यह हुई, कि जब यज्ञ की सीमा से बाहर जाने की विधि नहीं है, तब इन पत्नियों को यज्ञ की सीमित भूमि से बाहर बुलाकर विधि का उल्लंघन करके भगवान् ने ब्राह्मणों का ही अपकार किया ? इसका उत्तर व्याख्या में-'ब्राह्मणानामयं धर्मः। इत्यादि कारिका से दिया है। तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मणों का यह सत्रयज्ञ रूपधर्म अन्न के समर्पण से बाधित नहीं होता; क्योंकि 'शेषाद् भुञ्जीरन्'-बाकी रहे अन्न में से, भोजन करने की विधि होने के कारण, अन्नदान तो विहित है। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट घृत आदि के शेष भूत अन्न के अतिरिक्त वस्तु के दान का निषेध होने से अन्नदान में कोई बाधा नहीं होती। 'अन्नहीनं दहेद् राष्ट्रम्' जिस देश में अन्न नहीं हो, उस देश को जला देना-इत्यादि वाक्य से अन्नदान तो अत्यावश्यक ही था और आगे फल के दर्शन से भी साधन में कोई कमी नहीं कही जा सकती-यह बात व्याख्या में-'स्नेहाच्च' (स्नेह के कारण) इत्यादि पद से कही गई है। यद्यपि उनके अन्न का ग्रहण करने और उन्हें भक्तों का संग प्राप्त होने के कारण भक्ति हुई थी, तो भी उन्हें अभी आगे भक्ति के सिवाय और कोई फल होगा ही नहीं और वैदिक कर्म भी व्यर्थ नहीं होता। इसलिए उसका फल भी भगवान् ने उन्हें ही, भक्ति रूप ही सम्पादन कर दिया। यह स्नेहाच्चापि-'अपि' पद से ज्ञात होता है। और जो यह कहा गया कि याचना का भंग करवाया। इसका उत्तर-भिक्षा रूपेण-आदि से देते हैं कि भगवान् ने तो विहित याचना का ही भंग करवाया था। लौकिक याचना का विरोध तो ब्राह्मणों ने ही किया था। इसलिए उसे ब्राह्मणों का अपराध कहना उचित ही है। इस कारण से याचना सम्बन्धी भगवान् के वचन लौकिक याचना रूप होने से विरुद्ध नहीं है-यह-'न्यासभूतौ प्रयच्छमे' इत्यादि पदों से व्याख्या में कहा है।

अथवा-शंका होती है, कि भगवान् भक्तों के वचनों का पालन करने वाले हैं। फिर उनने बलि भक्त राजा के वचन के विपरीत स्त्रियों से याचना क्यों की ? इसका उत्तर-'ब्राह्मणानां-इत्यादि पदों से देते हैं। बलि के वाक्य से वर्णाश्रम धर्म में की हुई याचना और स्नेह से होने वाली याचना में विरोध नहीं आता और न कन्यादि विषयक लौकिक याचना में ही विरोध आता है, किन्तु दीनता से की हुई याचना में विरोध आता है। यहां यह याचना दीनता पूर्वक नहीं की गई। यह भक्त पर कृपा करने के लिए की गई है। इसलिए दीनता के वचनों से विरोध नहीं आता है-यह व्याख्या में-न्यास भूतौ-इत्यादि पदों से कहा गया है।

श्लोक—दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ।।३८।।

लेख—'प्रबोधनं' इत्यादि वाक्यों से प्रबोधन रूप कृति (कार्य) की है । कारिकाओं में—तस्य पद का अर्थ विगर्हा अथवा निन्दा है । तथात्वे—अर्थात् विमुख होने पर । स्वभक्तेः—भगवान् ने याचना के द्वारा ब्राह्मणों को अपनी भक्ति का उद्‌बोध कराया है । तथात्वसाधनं—याचना करना भगवान् के योग्य नहीं है—इस बात को बताने का कारण । 'कर्मेति'—इन दो श्लोकों से, देशादि के द्वारा कर्म का और भगवान् का—दोनों के स्वरूप कह कर अपने कर्म की व्यर्थता का तथा—मूढा न विद्महे (हम मूर्ख नहीं जानते हैं) इत्यादि कह कर स्वयं को ज्ञान रूप फल के उत्पन्न न होने का बोध कराया है । तब भक्ति की सिद्धि भी कैसे हुई ? ऐसी शका करके स्वयं समाधान 'स्त्री सम्बन्धात्—पद से करते हैं कि भक्ति के उत्पन्न करने से जो सफलता मिली है, वह भक्तों के सम्बन्ध से मिली है । वह केवल कर्म का फल नहीं था ।

इसके पीछे दो श्लोकों से नमस्कारों और प्रार्थनाओं से अपराध की क्षमा याचना की है । फिर एक श्लोक से भगवान् के निकट आने का वर्णन है । इस प्रकार चौदह प्रकार की बुद्धि भी भक्ति के द्वारा ही हुई । इसीलिए व्याख्या में भक्ति को अवान्तर प्रकरण का अर्थ कहा है—यह भाव है । विश्वेश्वरयोः—इत्यादि मूल पदों की व्याख्या में—तथोक्तवापि—का—"याचना के वाक्य कह कर भी भक्त पर कृपा करने के कारण से गोपों को दुबारा भेज कर भक्त विप्र पत्नी पर कृपा करने के लिए पहले द्विजों द्वारा भगवान् ने आज्ञा का भङ्ग कराया । दूसरी बार पत्नियों के पास भेजने के कारण यह आज्ञा ही सिद्ध होती है । याचना नहीं है"—यह अभिप्राय है । बलि के वाक्य से अर्थात् बलि से याचना करने के पश्चात फिर किसी दूसरे से भगवान् का याचना करना उचित नहीं है—इस कथन से भी यह आज्ञा ही सिद्ध होती है ।

इसकी टिप्पणी में—न ददाति, विध्युल्लङ्घनं च—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि—न ददाति (नहीं देता है)—इस वाक्य का और—न ददाति न पचते (देता नहीं है, पकाता नहीं है) इत्यादि अन्न नहीं देने की विधिका उल्लंघन भगवान् ने करवाया । दुबारा विधि के उल्लङ्घन का समाधान—ब्राह्मणानां—इस कारिका से किया है । व्याख्या में—'अयं' इत्यादि से—'भावः'—तक के पदों से अन्नदान की विधि को व्यवस्था से स्थापित करते हैं । किञ्चाग्रे—इत्यादि कहकर, पहले का समाधान अर्थापत्ति—प्रमाण देकर करते हैं, कि यदि विधि का उल्लङ्घन हो जाता तो, भक्ति रूप फल उत्पन्न नहीं होता । द्वितीय (विधिके) उल्लङ्घन का भी समाधान इसी से हो जाता है । इसीलिए—किञ्च—इस पद से उसका समुच्चय किया है । जिनको ज्ञान की प्राप्ति हो गई हो, उनके लिए तो भिक्षाटन करना ही मुख्य है । इसलिए भिक्षा रूप विहित याचना करना उचित न होने से भगवान् ने उसका बाध दान सम्पादन नहीं कराकर करवाया । लौकिक याचना तो अनुचित नहीं थी । इसलिए उसका बाध तो ब्राह्मणों ने ही किया था । यह—भगवता--इत्यादि पदो से कहा है ।। तात्पर्य यह है, कि भिक्षा के अंश का बाध भगवान् ने किया और लौकिक अंश का बाध ब्राह्मणों ने किया । व्याख्या में--न वा—इत्यादि पदों से यह कहा गया है, कि उन पत्नियों के देह आदि मर्यादा मार्ग के होने से, वे भगवान् के ग्रहण करने योग्य नहीं थे । इसलिए उन्हें अपने उपयोग में नहीं लिया, किन्तु उसी समय पीछा घर भेज दिया । इस से भी विधि का उल्लंघन नहीं हुआ ।

योजना—इस श्लोक की योजना का अर्थ व्याख्या में दी गई कारिकाओं के अर्थ में आगया है ।।३७।।

श्लोकार्थ—वे फलरूप भगवान् कृष्ण में स्त्रियों की अलौकिक भक्ति को और अपने आप में भक्ति के अभाव को देखकर पश्चाताप पूर्वक अपनी आत्मा की निन्दा करने लगे ॥३८॥

सुबोधिनी—तस्य दण्डं कुर्वन्तः स्वगर्हां कुर्वन्ति दृष्ट्वेति, **स्त्रीणां कृष्णेलौकिकीं भक्तिं दृष्ट्वा तथा हीन-मात्मानं व्यगर्हयन्, पुष्टिभक्तेरेवंव स्थितिः,** भगवान् षड्गुणैश्वर्योपि कृष्णः सदानन्द एव जातो **धर्मोपसर्जन-त्वेन धर्म्येव जातः** फलरूपत्वात् **स्त्रीणां तत्र भक्तिः** पुरुषास्तु धर्मपरा अतस्तया रहिताः, तदुभयमाह **स्त्रीणां** कृष्णे भक्तिमिति, दोषाभावायाहालौकिकीमिति, तारत-म्यपरिज्ञानं पदार्थयाथात्म्यं भक्तिभावाभावौ च यो जानाति स भक्तः, अत एते तद्विधा इति निन्दैषा स्तुतिरेव, न केवलं ज्ञानं तेषां बाधकमुत्पन्नं किन्तु क्रियापि, तदाह **अनुतप्ता** इति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अपने अपराध पर सन्ताप करके वे द्विज अपनी निन्दा करते हैं, यह 'दृष्ट्वा' इस श्लोक से कहते हैं। स्त्रियों की कृष्ण में अलौकिक भक्ति को देखकर उस कृष्ण भक्ति से शून्य अपनी आत्मा की निन्दा करने लगे। पुष्टि भक्ति की ऐसी ही स्थिति है। भगवान् छः गुणों और पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त हैं तो भी कृष्ण सदानन्द ही हुए हैं। धर्मों के गौण होने से केवल धर्मी रूप ही हुए। कृष्ण फलरूप हैं इसलिए स्त्रियों की उनमें भक्ति हुई। पुरुष तो गुण अथवा धर्म को देखने वाले हैं। इसलिए वे कृष्ण भक्ति से हीन रहे। ये दोनों बातें मूल में-स्त्रीणां कृष्णे भक्ति (स्त्रियों की फल रूप कृष्ण में भक्ति को) इत्यादि पदों से कही गई हैं। इस भक्ति में कोई दोष नहीं था अर्थात् यह भक्ति दोष रहित है–यह बतलाने के लिए भक्ति को–अलौकिकीं–अलौकिक कहा गया है। तरतम (न्यून अधिक रूप) धर्मों को, पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को और भक्ति के भाव तथा अभाव को जानने वाले (पुरुष) को भक्त कहते हैं। इन ब्राह्मणों को यह सब ज्ञान हो गया था इस-लिए यह निन्दा वास्तव में स्तुति ही है। केवल ज्ञान ही, उनकी कृष्ण भक्ति में बाधक नहीं हुआ, किन्तु वे अश्रुपातादि कार्य भी ऐसा करने लगे, जो भक्ति में बाधक थे–इस बात को मूल में–अनुतप्ताः–पद से कहा गया है ॥३८॥

लेख—'दृष्ट्वा' इस श्लोक की व्याख्या में—गर्हां कुर्वन्ति 'अपनी निन्दा करते हैं' अर्थात् हम दुष्ट हैं, नीच हैं, इत्यादि प्रकार से कहने लगे--ऐसा ग्रन्थ से बाहर (यहां नहीं लिखा गया) समझना चाहिए। इसलिए इस श्लोक में निन्दा करना ही वाक्यार्थ है। आगे के श्लोक में निन्दा का कारण वाक्यार्थ है. निन्दा का विवरण वाक्यार्थ नहीं है। उस आगे आने वाले ३९ वें श्लोक में उसी प्रकार से व्याख्या की जाएगी। व्याख्या में--'पुष्टिः' इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि अपने दोषों का ज्ञान भगवान् की कृपा से ही होता है। 'एव' का अर्थ--'ही' है जो यहां अयोग--व्यवच्छेदक है। षड्गुणैश्वर्य अर्थात् छः गुणों से ऐश्वर्य वाले भगवान्। परिज्ञानं--(जिसके द्वारा जाना जाता है) पद का अर्थ करण (तृतीया) व्यु- त्पत्ति से परिज्ञापक धर्म है। बाधकं--अर्थात् अपने ही कृतार्थता के अभिमान में बाधक हुआ। क्रियापि--और अश्रुपात आदि क्रिया ब्राह्मणों की कृतार्थता में बाधक थी।

श्लोक—धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥३९॥

श्लोकार्थ—हमारे शुक्ल, सावित्र और याज्ञिक इन तीन जन्मों को, वेदों के ज्ञान को, व्रत को, बहुत ज्ञान को कुल और कर्मकाण्ड में निपुणता को धिक्कार है; क्योंकि हम अधोक्षज भगवान् से विमुख हैं ।

सुबोधिनी—ननु कथमात्मविगर्हात्मनि सत्पदार्थानां विद्यमानत्वादन्यथा सद्विरोधे तेषामनिष्टमेव स्यादित्या-शङ्क्य स्वस्मिन् विद्यमानानां सत्त्वेन प्रतिभासमानानां बीजाभावादसत्त्वमेवेति स्थापयन्ति धिग् जन्मेति, धिक्कारो दह्यतामित्यर्थे प्राणे गते शरीरं दह्यत एव तथा जन्मादीनां प्राणभूता भक्तिस्तदभावे दाह एवोचितः, त्रिवृज् जन्म शुक्लसावित्रयाज्ञिकरूपं, विद्यामपि धिक् सापि त्रिवृद् विद्या वेदत्रयसहिता, व्रतं 'न देय'मित्यादि तदपि धिक्, बहुज्ञतामिति धर्मसूक्ष्मपरिज्ञाने ये हि बहुज्ञास्ते लोकविरुद्धमपि कुर्वन्ति तथैतत् कृतं तां च बहुज्ञतां धिक्, अथ कुलीना इति वंशे कलङ्कसम्बन्ध इति स्त्रीणां निवारणं तत् कुलमपि धिक्, क्रियादक्षता-मपि धिग् यया भगवत्यवहेला भवत्यन्यथा पुरुषार्थं साधयिष्यामोऽशक्तपरैव हि भक्तिरिति यथान्धपङ्ग्वादयः क्रियायामसमर्था अन्यत्र युज्यन्ते तथा भक्तावपीति, एवं यत् क्रियादाक्ष्यं तदपि धिक्, तत्र बीजाभावं हेतुमाह ये वयमधोक्षजे विमुखाः, नन्वेतदेव कथं यज्ञोऽपि भगवाने-वातो ये यज्ञपराः कथं भगवद्विमुखा इतीमं पक्षं तुशब्दो व्यावर्तयति, तत्र हेतुरधोक्षज इति, अधोक्षजं यस्मा-दिति, ज्ञानेऽप्यात्मसाक्षात्कारः कर्मणि च क्रियारूपेलौकिके च रूपे ज्ञानवतां भक्तौ तु न साक्षात्कारः फलं जायमानमप्यङ्गतामापद्यते केवलरसभक्षका इक्षुभक्षके-भ्योऽपि सरसा अत एतादृशो भक्तिमार्गो भगवता प्रकटित इति रूपान्तरपुरःसरं ये पक्षास्ते सर्व एव पूर्वपक्षाः ॥३९॥

व्याख्यार्थः—द्विजों ने आत्मा की निन्दा क्यों की ? आत्मा में सत्पदार्थ विद्यमान है । आत्मा की निन्दा से सत्पदार्थों का विरोध होने पर, उनका अनिष्ट ही हुआ होगा ? ऐसी शंका करके–उनमें सत्ता रूप से भासमान होने वाले उन २ सत्पदार्थों की–बीज के न होने के कारण–अविद्यमानता को (न होना) ही–धिग् जन्म–इस श्लोक से कहते है । धिक्कार का जला देना अर्थ है । प्राणों के निकल जाने पर, जैसे शरीर जलादिया ही जाता है; उसी तरह, जन्म, विद्या आदि की प्राण रूप भक्ति के बिना इन जन्म आदि का जला देना ही उचित है । त्रिवृत् जन्म अर्थात् शुक्ल, सावित्र और याज्ञिक

योजना—दृष्ट्वा स्त्रीणां–इस श्लोक की व्याख्या में धर्मोपसर्जनेन धर्म्येवजातः–इत्यादि कथन का अभिप्राय यह है, कि ऐश्वर्य आदि धर्मों को गौण करके (प्रकट न करके) अर्थात् स्फुरण न करके, उन यज्ञपत्नियों के हृदय में–आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, (आनन्द ब्रह्म है–यह विशेष प्रकार से जानो) इस श्रुति के अनुसार आनन्द रूप ही स्फुरित हुआ । करोड़ों कामदेव से भी अधिक सुन्दरता वाले भगवान् का पत्नियों के हृदय में स्फुरण हुआ । स्त्रीणां तत्र भक्तिः–केवल धर्मी, साक्षात् मदन मोहन स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र में, कामभाव से स्त्रियों की भक्ति हुई–यह सारांश है ॥३८॥

रूप त्रिविध जन्म को धिक्कार। इसी तरह, विद्या भी तीनों वेद सहित तीन प्रकार की है। उसे भी धिक्कार। यज्ञ सम्बन्धी अन्न नहीं देना-इत्यादि रूप व्रत को भी धिक्कार। धर्म के सूक्ष्म तत्त्व को जानने में जो बहुज्ञ पुरुष हैं, वे भी. कभी लोक विरूद्ध आचरण कर बैठते हैं। जैसा यह हमने किया। इस लिए हमारी इस बहुज्ञता[1] को धिक्कार है। हम कुलीन हैं। हमारे कुल में कलङ्क का सम्बन्ध हो जाएगा-ऐसा समझकर स्त्रियों को रोका था। उस कुल को धिक्कार है। उस यज्ञादि कर्मानुष्ठान की चतुरता को धिक्कार है जिसके कारण भगवान् की उपेक्षा[2] होती है। हम तो अपने पुरुषार्थ को अन्य रीति से सिद्ध कर लेने में समर्थ हैं। भक्ति तो उन लोगों के करने की है, जो अन्धे, लूले हैं, और जो कुछ कर्म करने में असमर्थ हैं। जैसे यज्ञादि कर्म करने में असमर्थ अन्धे, लूलों को किसी अन्य कार्य में लगा दिया जाता है, उसी तरह असमर्थों को भक्ति करने में नियुक्त कर दिया जाता है। भक्ति तो असमर्थ पुरुषों के करने की वस्तु है। इस प्रकार की हमारी क्रिया में चतुराई को भी धिक्कार है। इतना सब कुछ होने पर भगवान् से विमुख करा देने में बीज-भगवान् के सम्मुख कराने वाले सत्वबीज-का अभाव[4] कारण है। इसी को मूल में-विमुखा ये त्वधोक्षजे-(सम्मुख करने वाले सत्त्व बीज के होने से) हम भगवान् से विमुख हैं।

शंका— यही कैसे हो सकता है; क्योंकि यज्ञ भी तो भगवान् ही है। यज्ञ करने वाले भगवान् से विमुख कैसे हो सकते हैं। ऐसी शंका का निवारण मूल में-'तु' शब्द से किया है। इसमें कारण यह है कि भगवान् अधोक्षज है। इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान भगवान् से नीचा है। ज्ञान में भी केवल आत्मा का साक्षात्कार होता है। कर्म मार्ग में क्रिया रूप यज्ञ की और ज्ञानियों को कर्म में अलौकिक रूप की सिद्धि होती है। भक्ति मार्ग में तो साक्षात्कार मात्र ही फल नहीं है और जो साक्षात्कार होता है वह केवल गौण फल ही है। क्योंकि जैसे गन्ने को चूसने वालों से केवल सिद्ध रस को पीने वाले अधिक सरस हैं। वैसे ही, भगवान् ने यह ऐसा भक्ति मार्ग प्रगट किया है, जिससे दूसरे सारे रूपों के भजन करने के सब पक्ष, पूर्व पक्ष होकर कर्तव्य नहीं रह जाते हैं।।३६।।

टिप्पणी—'विमुखा ये त्वधोक्षजे'—की व्याख्या में-'ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कारः'—इत्यादि पदों से-इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान, पुरुषोत्तम का ज्ञान नहीं करा सकता-यह कहा गया है। ज्ञान मार्ग का भी केवल मानसिक आत्म साक्षात्कार हो जाना फल है। इसलिए ज्ञान मार्ग का फल, केवल मन के द्वारा-आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन-कर लेना मात्र है। कर्म मार्ग में अधिकारी के भेद से दो प्रकार हैं। एक तो बहिर्मुख कर्मयोगी, जो क्रियात्मक यज्ञ का भजन करते हैं। उन्हें उसी से अदृष्ट के द्वारा फल की सिद्धि होती है-ऐसा वे मानते हैं। दूसरे कर्मठ, वे हैं, जिनको श्रुति के अभिप्राय का ज्ञान है। वे तो अलौकिक यज्ञ रूप का भजन करते हैं और वह भजन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस कारण, वह अधोक्षज भजन है। भक्ति मार्ग में-'नाहं वेदैः' (न मैं वेदों से ग्रहण करने में आता हूँ) 'नतु मां शक्य से' (मुझे इन चर्म चक्षु से नहीं देख सकता)—भगवान् का साक्षात्कार इन्द्रियों से नहीं होता। भगवान् के दर्शन हो जाने पर भी, जब तक सारी इन्द्रियों के द्वारा उनका साक्षात् अनुभव न हो जाए, तब तक भक्तों को शान्ति नही मिलती। इसलिए भक्ति मार्ग में, केवल दर्शन मात्र ही फल नहीं है। 'दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि'—दर्शन देकर क्षण-क्षण में कामदेव को उत्पन्न करते हो)

१—बहुत जानकारी। २—अपमान। ३—लंगड़े। ४—न होना।

श्लोक—नूनं भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥

श्लोकार्थ—निःसन्देह भगवान् की माया बड़े २ मायावी पुरुषों को भी मोहित कर देने वाली है । अहो ! हम ब्राह्मण, जो लोगों के गुरु कहलाते हैं, अपने स्वार्थ-भगवान् की भक्ति-में मोहित होगए (चूक गए) ॥४०॥

सुबोधिनी—ननु वैमुख्ये ज्ञानवतां को हेतुस्तत्राह नूनं भगवत इति, मायया हि पूर्वस्थितं ज्ञानादिकमाच्छाद्यतेतो ये शिष्याः प्राकृतास्तेषां तज् ज्ञानमाच्छाद्य नूतनमुत्पादनीयमन्यथा पूर्वविरोधान्नोत्पद्यते ज्ञानं, अतो गुरवः सर्व एव मायाविनः, तदत्र विपरीतं भगवन्मायया कृतं, ते स्वमायया स्वबुद्धिमेवाच्छादितवन्तः प्राकृतीं च बुद्धिं गृहीतवन्तः, तदाह नूनं निश्चयेन भगवतो माया मायिनामपि व्यामोहजनिका यद् वयं लोकानां गुरवः प्राकृतीं बुद्धिमाच्छाद्य स्वबुद्धिदातारस्ते स्वबुद्धिमेवाच्छाद्य प्राकृतीं बुद्धिमेव गृहीतवन्तः, भगवन्मायायाश्चैतद् कार्यं प्राकृत्यामेव बुद्धौ तथात्वमाच्छाद्यातथात्वं ग्राह्यत इति, अन्यथा भगवान् भगवच्छास्त्रं वा किं ग्राहयेद् भक्तिं वा कथं ग्राहयेद् ज्ञानेन प्रतिरोधात्, सहज प्राकृतं भक्तिर्नाशयितुमसमर्था सूक्ष्मा हि सातो गुरुमाययाच्छादिते लौकिके च ज्ञाने सम्पन्ने तस्मिन्नपि ज्ञाने लब्धपदे भगवन्मायया पश्चादाच्छादित आगतं प्राकृतत्वममूलकमिति भगवच्छास्त्रेण भक्त्या वा तन् निराकृत्य स्वकीयं तत्र स्थाप्यत इति भगवन्माया मायिनां व्यामोहिकेति नूनं नात्र पूर्वपक्षसम्भवः, द्विजा इतिसम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकत्वेमुख्येनासम्पन्नत्वात् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान वाले होकर भी भगवान् से विमुख होने के कारण को—'नूनं'—इस श्लोक से कहते हैं' । माया पहिले रहने वाले ज्ञान को ढक देती है, इस लिए माया के द्वारा मूल ज्ञान के छिपादेने के कारण लौकिक ज्ञान वाले प्राकृत शिष्यों के उस प्राकृत ज्ञान को ढक कर उन में नया ज्ञान उत्पन्न किया जाता है । यदि पहले मूल ज्ञान का आच्छादन न करें, तो उसके विरोध से

दर्शन तो केवल आगे होने वाले भोग में उपयोगी होने से गौण है । जैसे रस का सम्बन्ध होने से गन्ना खाया जाता है, इसी प्रकार से भगवान् के आनन्दांश का सम्बन्ध होने से भगवान् के अन्य रूपों का भजन कर्तव्य है—इस अभिप्राय से इक्षु[1]—का दृष्टान्त दिया है । केवल रस रूप स्वयं भगवान् कृष्ण तो अभी प्रकट हुए हैं । इसलिए रसनिधि भगवान् के प्रकट होने के पहिले, जो जो-यज्ञ, जप, तप, दानादि—पक्ष कर्तव्य रूप से विद्यमान थे, वे अब केवल रसात्मक श्रीकृष्ण के प्रगट होने के अनन्तर वे कोई भी कर्त्तव्य नहीं है ।

लेख—'बीजाभावात्' भगवान् के सम्मुख ले जाने वाले सत्त्व बीज के न होने से, अधोक्षजे—की व्याख्या में—तत्र—यज्ञ में तत्पर रहने वाले भी भगवान् से वहिर्मुख थे ॥३९॥

१—गन्ने ।

नया ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होवे। इसलिए गुरु लोग सारे ही मायावी हैं। यहां तो भगवान् की माया से विपरीत (उल्टा) ही हो गया, जो कि हम गुरु लोगों ने अपनी माया से अपनी ही बुद्धि का आच्छादन करदिया और प्राकृत बुद्धि को ग्रहण कर लिया। यह भगवान् की माया ही है, कि जिसके द्वारा अपनी माया से औरों (शिष्यों) की बुद्धि का आच्छादन करके, अपनी बुद्धि का दान करने, हम मायावी गुरु लोगों ने अपनी ही बुद्धि का आच्छादन स्वयं ही कर दिया। भगवान् की माया का यह कार्य है कि वह प्राकृत-लौकिक-बुद्धि में लौकिक भाव को छिपा-(ढक)-कर अलौकिकता का ग्रहण करा देती है। यदि-(ऐसा)-माया से लौकिक में अलौकिकता का ग्रहण-नहीं कराया हो, तो भगवान्, भगवत् शास्त्र तथा भक्ति का ग्रहण कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राकृत ज्ञान जब तक बना रहता है तब तक वह भगवान्, भगवत्शास्त्र तथा भक्ति नहीं होते हैं (प्राकृत बुद्धि इन सब का बाधक है)। भक्ति से सहज-(स्वाभाविक)-प्राकृत ज्ञान का नाश नहीं होता है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म होती है। इसलिए जब गुरु की माया से उस प्राकृत का आच्छादन हो और अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति हो और वह अलौकिक ज्ञान भी स्थिर हो, तब फिर भगवान् की माया से आच्छादित हुआ, उत्पन्न प्राकृत ज्ञान बिना मूल का हो जाता है। उस अस्थिर मूल हीन प्राकृत ज्ञान को भगवत्शास्त्र अथवा भक्ति के द्वारा नष्ट-हटा)-करके अपना ज्ञान वहां स्थापित किया जाता है। इस कारण से भगवान् की माया मायावी पुरुषों को भी मोहित करने वाली है। यह निश्चय है। इसमें किसी प्रकार की भी शंका की संभावना नहीं है। मूल में 'द्विजाः'—अपने आपको द्विज पद से सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है, कि आधिदैविक की विमुखता से यह यज्ञ सिद्ध नहीं हुआ ॥४०॥

श्लोक—अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तं भावं योऽविध्यन् मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥

श्लोकार्थ—अहो! देखो स्त्रियों की जगद्गुरु श्रीकृष्ण में कैसी सुदृढ भक्ति है, जिससे इन्होंने गृहस्थी की ममता रूप कठिन मृत्यु पाश को भी तोड़ डाला ॥

सुबोधिनी—किञ्चाहो इति, अहो इत्याश्चर्ये, नरेषु दुर्लभं नारीषु भवति, भावं पश्यत, घुणाक्षरन्यायेन कादाचित्कं व्यावर्तयति दुरन्तमिति, ननु स्त्रीणां पुरुषेषु भावा भवत्येवेति किमाश्चर्यमित्याहुः कृष्णे जगद्गुराविति, सदानन्दो जगद्गुरुश्च तस्मिन्, नारीणां भावो कामिष्वेव वर्तते न तु भगवत्यत आश्चर्यं, ततः किमत आह योविध्यदिति, यो भावो गृहसंज्ञकान् मृत्युपाशान-विध्यदच्छिनत् तं भावं भक्तिं पश्यतेति ॥

व्याख्यार्थ—अहो! आश्चर्य है, कि जो भाव पुरुषों में दुर्लभ है वह स्त्रियों में होगया।

लेख—व्याख्या में, 'अतो ये' इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि माया से मूल के ढक दिए जाने पर, प्राकृत-(लौकिक)-ज्ञान वाले। 'अन्यथा भगवान्' इत्यादि का आशय यह है कि प्राकृत बुद्धि के रहने पर, प्राकृत भाव के दूर न होने पर। 'ज्ञानेन'-अर्थात् प्राकृत ज्ञान के द्वारा ॥४०॥

स्त्रियों के भाव को देखो । यह भाव घुणाक्षर न्याय से कभी हो गया होगा ? इस शंका का निवारण-दुरन्त-पद से मूल में किया है । यह भाव दुरन्त-अन्त रहित पुष्कल था । स्त्रियों का तो पुरुषों पर भाव होता ही है । इस में आश्चर्य की बात क्या है ? इस शंका का समाधान-कृष्णे जगद्गुरौ--इन पदों से करते हैं। सदानन्द और जगद्गुरु में । स्त्रियों का भाव कामी पुरुषों पर ही होता है, भगवान् पर नहीं होता । यहां इनका भगवान् पर भाव होना आश्चर्य जनक है । जिसके कारण होने वाले फल को कहते हैं-'योऽबिध्यद्' कि जिसने गृहस्थी नाम के मृत्यु के पाशों को काट दिया । उस भक्ति भाव को देखो ॥

श्लोक—नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हमारी तरह इन स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ, न वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में, इन्होंने निवास ही किया, न कोई प्रकार का तप किया, न आत्मतत्त्व की खोज की, न ये शौच[1] से रहती हैं और न इन्होंने सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ कर्म ही किए हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—नन्वस्य यज्ञस्य मुख्यफलाभावेप्युत्तरमीमांसान्यायेन चित्तशुद्धिपरत्वं भवत्वतो धिक्कारोनुचित इति चेत् तत्राहुर्नासामिति, संस्काराणामहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्, संस्काररहितासु स्त्रीषु भक्तिसम्भवात् संस्कारवत्स्वस्मासु तदभावात्, तदाहुरासां स्त्रीणां द्विजातिसंस्कार उपनयनं नास्ति नापि गुरौ निवासो वेदाध्ययनं तपः स्वधर्मः श्रौतस्मार्तकर्माणीन्द्रियनिग्रहो वा स्नानादिना क्लेशसहनं वा नाप्यात्ममीमांसात्मविचारो नापि शौचं नापि शुभाः क्रिया अग्निहोत्रादयः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—यदि इस यज्ञ का मुख्य फल प्राप्त नहीं हुआ, तो भी उत्तर मीमांसा के न्याय से चित्त शुद्धि रूप फल तो होता । फिर तो धिक्कार अनुचित है ? ऐसी शंका में-नासां-यह श्लोक कहते हैं । इन स्त्रियों का द्विजाति संस्कार नहीं हुआ । अन्वय और व्यतिरेक के व्यभिचार[2] से संस्कार भगवान् की भक्ति में कारण नहीं हैं; क्योंकि जिनके संस्कार नहीं हुए । उन स्त्रियों की तो भक्ति हो गई । (यह व्यतिरेक व्यभिचार है) और जिनके संस्कार अक्षुण्ण हुए उन अपने को भक्ति नहीं हुई । (यह अन्वय व्यभिचार है) इसी को बतलाते हैं, कि इन स्त्रियों का द्विजाति संस्कार[3] नहीं हुआ है, वेदाध्ययन के लिए ये गुरुकुल में नहीं रही हैं, न इन्होंने तप, अर्थात् स्वधर्म का पालन किया है, श्रुतियों, स्मृतियों में कहे हुए कर्म नहीं किए । इन्द्रियों के दमन तथा त्रिकाल स्नान करने आदि का कष्ट भी सहन नहीं किया है । न आत्म-विचार ही किया है । इन्होंने शौच का पालन भी नहीं किया है और अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ क्रियाएँ भी नहीं की हैं ॥४१॥

१—पवित्रता । २—दोष । ३—उपनयन, जनेऊ ।

श्लोक—**अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।**
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४२॥

श्लोकार्थ—तो भी पवित्र यशवाले, योगेश्वरों के भी नियन्ता श्रीकृष्ण भगवान् में इनकी दृढ भक्ति है। पर संस्कार आदि से सिद्ध हुए भी हमलोगों की भगवान् में भक्ति नहीं है ॥४२॥

सुबोधिनी—एवं भवत्यधिकरणे साधनाभावं निरूप्य भक्तिमाहुरथापीति नन्वस्या भवतेः संस्कारा न साधनभूता यथा जार इतीमामाशङ्कां व्यावर्तयन्त्युत्तमश्लोक इति, उत्तमैरपि व्यासवाल्मीकिपराशरादिभिः श्लोक्यते कीर्त्यत इत्यनेन प्रमाणोत्कर्ष उक्तः, प्रमेयोत्कर्षमाह कृष्ण इति, फलोत्कर्षोऽप्युक्तः, साधनोत्कर्षमाह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वराणामपीश्वरे नियन्तरि, सापि भक्तिर्दृढा पत्यादिभिः प्रतिबद्धापि न विहतेति तैलधारावदनवच्छिन्ना सर्वतोधिका, अन्वयव्यभिचारमाहुर्न चास्माकमित्यष्टचत्वारिंशत्संस्कारवतामपि ॥४२॥

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार श्रीकृष्ण में भक्ति वाली पत्नियों की निःसाधनता का निरूपण करके, 'अथापि' इस श्लोक से भक्ति का वर्णन करते हैं । जैसे जार[1] पुरुष में स्नेह होने से शुभ संस्कार रूपी साधन अपेक्षित[2] नहीं हैं, इसी तरह संस्कार, इस भक्ति के साधन रूप नहीं हो सकते ? ऐसी शंका का निवारण–उत्तम श्लोक–पद से किया है । व्यास, वाल्मीकि, पराशर आदि जिनके गुणों का कीर्तन करते हैं, उन भगवान् में । इस कथन से भगवान् में प्रमाण की उत्कर्षता कही है। 'कृष्णे'–पद से प्रमेय की और फल की उत्कर्षता का वर्णन है। 'योगेश्वरेश्वरे'–इस पद से साधन का उत्कर्ष कहते हैं, कि योग के ईश्वरों के भी नियन्ता में भक्ति और वह भी दृढ जो पति आदि के रोकने पर भी नष्ट नहीं हुई । तैल की धारा की तरह निरन्तर रहने वाली, सब से अधिक भक्ति हुई । 'न चास्माकं'–इत्यादि पदों से अन्वय दोष और व्यतिरेक दोष को बतलाते हैं, कि हम अड़तालीस संस्कारवालों की, तो भक्ति नहीं हुई और जिनका एक भी संस्कार नहीं हुआ, ऐसी इन पत्नियों की श्रीकृष्ण में दृढ भक्ति हो गई ॥४२॥

श्लोक—**ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।**
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४३॥

लेख—व्याख्या में–'अष्ट चत्वारिंशत्संस्काराः—

अड़तालीस संस्कार कहे गए हैं । यद्यपि इस समय दूसरे संस्कार नहीं होते, तो भी उत्तम शरीर संस्कारों से ही प्राप्त होता है। इसलिए उनके अन्य संस्कार पूर्व जन्म में ही सिद्ध हो चुके थे ॥४२॥

१—उपपति । २—आवश्यक, जरूरी ।

श्लोकार्थ—हम लोग निश्चय[1] ही–स्वार्थ–भगवत्सेवा से विमूढ[2] हैं, गृहस्थी के सुख में प्रमत्त[3] हो रहे हैं। अहो ! आश्चर्य है, कि गोपों के वाक्यों के द्वारा उन भगवान् ने हमें स्मरण (सचेत) कराया। सज्जनों के रक्षक तो वे ही हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—ननु तासां जन्मान्तरे संस्काराः सिद्धाश्चर्षण्य एता अन्यथा भर्तृपरित्यागो न स्यादतः पुरुषा एवैते पूर्वजन्मनि गोपिका इव भवतां च 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिर्नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इत्यतो भवतां बहुजन्मसंस्कारा न जाता इत्याशङ्क्याश्चर्येण तस्य समाधानमाहुर्नन्विति कोमलसम्बोधने, ननु सत्यमेवमेव स्वार्थविमूढानां गृहेहया प्रमत्तानां नोऽस्माकं गोपवाक्यैः पूर्वस्थितिं स्मारयामास, वयमपि भगवदीया एव पूर्वं स्थितास्ततो दैत्यावेशाद् दैत्यप्रभुदेशे स्थित्या तैः पाल्यमानास्तदन्नभोजिनो विस्मृतस्वरूपा जातास्तच्च भगवान् गोपवाक्यमिषेण स्मारयामासान्यथान्यान्नं किं भगवान् याचते ? अस्मांश्च पुनः स्वकीयान् जानाति, अहो अत्याश्चर्यमेतत् कथं वाक्यमात्रेण प्रबोध इति, अलौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः, अहो इति तस्यानुकरणं, अनेन पूर्वोक्तपक्षा निराकृताः, स्त्रियोऽप्येताः स्वस्यैव भगवतो दास्यो वयं च दासा नात्र सन्देहः, अन्यथा प्रतिकूलतर्क वक्ष्यन्ति स्वार्थे भगवत्सेवायां विमूढा गृहेहया इति कृत्यचिन्ता गृहधर्माश्च तत्रापि प्रमत्तास्तच्चिन्तया भगवत्सेवायां वा प्रमत्ता अतः स्वसेवकान् स्मारितवान् साक्षादुपदेशेनधिकारिणो मत्वा गोपवाक्यैः, तथाकरणे हेतुः सतां गतिरिति, सतामयमेव गतिः, यद्येवं भगवानुपेक्षेत तदा सन्तो नष्टा एव भवेयुः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—शंका करते हैं, कि इन स्त्रियों के सारे संस्कार पूर्व जन्म में ही सिद्ध हो ही गए होंगे, क्योंकि वे चर्षणियां थीं, नहीं तो उनके पति उनका त्याग नहीं करते। इस लिए ये स्त्रियां भी गोपिकाओं की तरह पूर्व जन्म में पुरुष ही (होनी चाहिए) होंगे। फिर "हजारों जन्मों में किए हुए तपस्या, ध्यान, समाधि आदि साधनों के द्वारा जब मनुष्यों के पाप क्षीण होते है, तब उनकी कृष्ण में भक्ति होती है।" इस वाक्य के अनुसार, उन द्विजों के अनेक जन्म के संस्कार नहीं हुए होंगे ? इस शंका का समाधान–'ननु'–इस श्लोक से आश्चर्य पूर्वक करते हैं। 'ननु' अर्थात् निश्चित रूप से। यह कोमल सम्बोधन में प्रयोग है। निश्चय ही ऐसा है, कि स्वार्थ में विमूढ़ और घर की इच्छा से प्रमत्त हुए हमें भगवान् ने गोपों के वाक्यों से, हमारी पहिली स्थिति का स्मरण कराया। पहले हम–भी भगवदीय ही थे; किन्तु दैत्यों के आवेश से, दैत्य राजा के देश में रहने से, दैत्यों के द्वारा ही सुरक्षित होने से और दैत्यों का ही अन्न खाने वाले होने से हम अपने भगवदीय स्वरूप को भूल गए। उन अपने वास्तविक पूर्व स्वरूप को भूले हुए हम लोगों को भगवान् ने गोपों के वाक्यों के बहाने से स्मरण कराया। नहीं तो (ऐसा नहीं होता तो, भगवान् किसी दूसरे के अन्न को क्यों नहीं मांग लेते ? वे हम लोगों को स्वकीय (अपने भक्त) जानते हैं। अहो ! अत्यन्त आश्चर्य है, कि केवल वाक्य से ही हमें कैसे ज्ञान हो गया। भगवान् की शक्ति अलौकिक है। 'अहो' पद से उसका अनुकरण किया गया है। इस कथन से पहले बताए हुए सारे पक्षों का निवारण कर दिया। ये स्त्रियां भी भगवान् की ही दासियाँ हैं और हम भगवान् के दास हैं–इस में कोई सन्देह नहीं है। यदि ऐसा

१—अवश्य। २—अज्ञानी, बेसमझ। ३—मस्त, आसक्त।

नहीं होता तो विरुद्ध ही तर्क वितर्क करते । स्वार्थ-(भगवत्सेवा)-में विमूढ हैं । 'गृहेहया' अर्थात् घर की इच्छा, घर के कार्यों की चिन्ताओं से चिन्तित हैं । घर के कार्यों को ही धर्म समझते हैं । इतने पर भी घर की चिन्ता से प्रमत्त है अथवा भगवान् की सेवा में प्रमत्त-(प्रमाद करने वाले)-हैं। इसलिए भगवान् ने अपने सेवक हम लोगों को स्मरण कराया । साक्षात् स्वयं के द्वारा उपदेश के अधिकारी न समझ कर, गोपों के वाक्यों से याद दिलाई; क्योंकि, भगवान् ही-'सतां गतिः'-सत्पुरुषों के आश्रय हैं। यदि भगवान् उपेक्षा करें-सेवकों को बोधन करावें-तो सेवकों का नाश ही हो जाए । इसलिए कृपा करके ही गोपों के वाक्यों से भगवान् ने स्मरण दिलाया था ॥४३॥

श्लोक—अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पते ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—नहीं तो पूर्णकाम और मोक्ष आदि दुर्लभ आशिषों-(वरों)-को देनेवाले भगवान् को हम दास लोगों से अन्न मांगने की क्या आवश्यकता थी । यह याचना भगवान् की कोई सच्ची याचना नहीं थी, किन्तु केवल अनुकरण मात्र थी । अवश्य ही अन्न मांगने का केवल बहाना था ॥४४॥

सुबोधिनी—एतत् सर्वं याचनान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते तत्रान्यथोपपत्तिं कल्पयित्वा परिहरन्त्यन्यथेति, भगवतस्तु नापेक्षितं किञ्चिन्नापि दुःखनिवृत्तिस्तत्साधनं वा नापि सुखं तत्साधनं वा पूर्णकामत्वात्, तस्य हि कामाः पूर्णा उत्पन्ना विषयैर्न पूर्यन्ते लौकिकवत् किन्तु पूर्णा एवाविर्भवन्ति, अतो नित्यविषयास्ते, तथा सति यान्नकामना भगवत्याविर्भूता सान्नसहितैवेति सिद्धेर्थे याचनमनुपपन्नं परमुद्देशान्तरं चेत् तदा सिद्धमपि दूरीकृत्य साधनान्तरं करोति, असाधनं वा बोधयति, तस्मादस्मत्प्रबोध एव याचनफलं, किञ्च कैवल्याद्याशिषां पतिर्भगवान्, कैवल्यं केवलता सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिः प्रत्यापत्तिरूपं तत् प्रथमं फलं ततः पूर्वं दुःखमेवातः कैवल्ये प्राप्ते ततः स्वरूपेण भजनं तत आनन्दाविर्भावस्ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा तदनन्तरं धर्मा भगवदीया भगवदाज्ञापनरूपा अर्थाश्च तदीयाः कामाश्च, एवं कैवल्याद्या या आशिषस्तासां पतिरयं दाता नियामकः, तथा सति गोपानां क्षुदेव न स्यान् नापि तैः प्रार्थ्येत, लोकानामपि कैवल्यादिदाता, न हि तान् सङ्घाते स्थापयति येन क्षुद् भवेदतः क्षुधमप्युत्पाद्य विद्यमानेष्वन्ने तददत्वा बोधनार्थमेवात्र प्रेषितवान्, किञ्चेशितव्यैरस्माभिः किं स्यात् ? वयमीशितव्या दासा न हि दासान्नं भुज्यते, तेभ्यो दीयत एव, न हि महाराजस्य दिनमात्रव्यवस्थामपि कश्चिद् दासः सम्पादयितुं शक्तः, नाप्यस्माभिस्तस्याग्रे कृत्यमत ईशस्यैतदनुकरणमात्रं न तु याचनं, अनुकरणं तु रसोत्पत्त्यर्थमितिनिश्चयः, न हि नटस्य योगिभावप्रदर्शने किञ्चित् कृत्यमस्ति विना रसोत्पादनं तथा भगवद्याच्ञानुकरणमपि बोधनार्थमेव ॥४४॥

लेख—व्याख्या में-चर्षण्यः-शब्द का चर्षणी शक्ति वाली यह अर्थ है । 'यज्ञपत्न्यस्तथा परे'-इस वाक्य के अनुसार उस प्रकार की लीला का विषय-अधिकारिणी-होने से वे भगवान् के साथ रमण कर सकने की शक्ति वाली थी ॥४३॥

व्याख्यार्थः—यह सब कुछ इस कारण से, कल्पना कर रहे हैं कि नहीं तो भगवान् का अन्न की याचना करना, किसी प्रकार से संगत नहीं है । इस प्रकार से तो याचना किसी प्रकार उचित ही होगी-ऐसी कल्पना करके, 'अन्यथा' श्लोक से उसका निवारण करते हैं। भगवान् को दुःख की निवृत्ति तथा दुःख निवृत्ति का साधन और सुख तथा सुख की प्राप्ति का साधन-इत्यादि किसी की भी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वह स्वयं पूर्ण काम हैं । उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण ही उत्पन्न होती हैं, वे लौकिक कामनाओं की तरह, विषयों से पूरी नहीं की जा सकती है। वे तो पूर्ण ही प्रकट होती हैं। इसलिए भगवान् के मनोरथ सदा ही विषयों के सहित हैं । इस तरह जो यह अन्न की कामना भगवान् में प्रगट हुई, वह अन्न सहित ही हुई । यद्यपि अन्न के सिद्ध होने पर फिर अन्नयाचना उचित प्रतीत नहीं होती, तो भी भगवान् किसी अन्य उद्देश्य से सिद्ध को दूर करके उसकी प्राप्ति के लिए दूसरा साधन करते हैं, अथवा अपने, भगवान् के पास उसको पाने का साधन नहीं है-यह बतलाते हैं। इसलिए केवल हमको प्रबोध कराना ही इस अन्न याचना का प्रयोजन-फल-है।

भगवान् कैवल्य आदि आशीर्वादों के स्वामी हैं । कैवल्य अर्थात् केवलता, देह, इन्द्रिय आदि संघात की निवृत्ति होने से केवल आत्मा से स्थिति रहना ही केवलता है । अन्यथा रूप* का त्याग करके फिर स्वरूप में स्थिति हो जाना कैवल्य रूप पहला फल है। इस स्थिति को प्राप्त न होने के पहिले तो दुःख ही है। इसलिए कैवल्य को प्राप्त होने पर, स्वरूप से भगवान् का भजन-(सेवा)-हो । भजन से आनन्द का आविर्भाव होने पर, भगवान् में प्रवेश हो अथवा भक्ति होने के पीछे भगवान् के आज्ञा रूपधर्म, भगवदीय अर्थ और भगवदीय ही काम होते हैं। इस प्रकार से, कैवल्य आदि सभी आशीर्वादों-शुभ पदार्थों-के स्वामी दाता तथा नियामक भगवान् ही हैं । सब के स्वामी होने पर तो भगवदीय गोपों को भूख ही क्यों लगे और अन्न के होते हुए वे भगवान् उनके द्वारा अन्न के लिए प्रार्थना ही क्यों करें । लोकों के लिए कैवल्य से लेकर सारे शुभ पदार्थों के देने वाले भगवान् अपने भक्त गोपों को (क्षुधा उत्पन्न करके) संघात-(शरीर)-में क्यों स्थापित करते । इस कारण से, भूख उत्पन्न करके और अपने पास अन्न होते हुए भी, उसे न देकर हमें हमारी पहली स्थिति का बोध कराने के लिए ही उनको हमारे पास भेजा है। फिर हम तो दास हैं। दासों से भगवान् का प्रयोजन। (दासों के अन्न को स्वामी नहीं खाते) वे दासों के लिए अन्न देते हैं । सेवक तो महाराजा की एक दिन की भी व्यवस्था नहीं कर सकता। उन सर्वशक्तिमान् भगवान् के आगे हम लोग भी कुछ करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए यह तो भगवान् का अनुकरण मात्र है, याचना नहीं है । और अनुकरण तो रस की उत्पत्ति के लिए ही है-यह निश्चित है । जैसे नट योगी का स्वाङ्ग बनाकर योगी के भाव दिखलाता है, उसका केवल रस उत्पादन करने के सिवाय कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता। इसी तरह भगवान् का यह याचना का अनुकरण भी, केवल हमको प्रबोध कराने के लिए ही है ॥४४॥

---

* "मुक्ति हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः"

योजना—कैवल्याद्याशिषां पतेः-इस की व्याख्या में 'भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा'-इन पदों से कैवल्य प्राप्ति के पीछे स्वरूप से-(शुद्ध जीव रूप से)-भजन हो और भजन के द्वारा छिपा हुआ आनन्द प्रगट होने पर, दो

श्लोक—हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ।।४५।।

श्लोकार्थ—लक्ष्मीजी अपने चंचलता रूप दोष का त्याग करके चरण कमलों का स्पर्श करने की अभिलाषा से अन्य सब को छोड़कर जिनको बार बार भजती है। उन भगवान् का याचना करना अवश्य ही मनुष्यों को मोहित करने के लिए ही है ।।४५।।

सुबोधिनी—ननु पूर्णोऽप्यवतारं कृत्वा लीलया नट इव लौकिकं सम्पादयत्यतो याच्ञा युक्तेति चेत् तत्राहु- **हित्वान्यानिति**, यदि याचनीयं लक्ष्मीरेव वक्तव्या किं भिक्षुकैः ? न च मन्तव्यं लक्ष्मीः कार्यान्तरव्यापृतेति, यान्यान् सर्वानेव हित्वासकृद् भजते तत्रापि पादस्पर्श आशामात्रं, सा चेदाज्ञां प्राप्नुयात् कृतार्थैव भवेत् तां विहायान्ययाचनमन्यार्थमेव, ननु लक्ष्म्यां चाञ्चल्यमस्त्य- तस्तदा न स्थितेति चेत् तत्राहुरात्मदोषापवर्गेणेति, आत्मनो दोषश्चाञ्चल्यं तस्यापवर्गो निवृत्तिः पुनरुत्प- त्तिरहिता, एवमेव हि भगवत्सेवकानां धर्मः ननु लोकाः पूर्वमप्याहुर्बलिर्याचितो भगवतेति तथेदानीमपि भविष्य- तीति चेत् तत्राहुस्तद्याच्ञा जनमोहिनीति जनानेव व्यामोहयत्यन्यथा स्वस्मिन्नेव शरीरे त्रैलोक्यं प्रदर्शितं व्यर्थं स्यात् स्वस्यैव सिद्धत्वान् न याचनमिति स ज्ञापितो लोकास्तु व्यामोहिताः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् पूर्ण होकर भी अवतार धारण करके लीला से नट की तरह लौकिक कार्य करते हैं। इसलिए उनका याचना करना उचित ही है ? ऐसी शंका का उत्तर इस-'हित्वान्यान्'

पक्ष हो जाते हैं अर्थात् मर्यादा भक्तों का भगवान् में प्रवेश हो जाता है और पुष्टि मार्गीय भक्तों को तो फल रूप भक्ति की प्राप्ति होती है–यह अभिप्राय कहा है । इस कथन का तात्पर्य यह है. कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ नाम से सब स्थानों में प्रसिद्ध हैं और श्रीमद्भागवत में तो–'कैवल्याद्याशिषां पतेः'–इस वाक्य के अनुसार कैवल्य की प्रथम कक्षा है। उस कैवल्य का स्वरूप व्याख्या में–कैवल्यं यहां से लेकर–कामाश्च तक वर्णन किया गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'–इस श्रुति के अनुसार, वह कैवल्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है। इससे भक्ति की कोई हानि नहीं है । देह इन्द्रियादि संघात की निवृत्ति होने पर केवल स्थिति रूप कैवल्य ज्ञान से ही होता है; क्योंकि ज्ञान अध्यास की निवृत्ति करने वाला है । परन्तु केवल–कैवल्य–(मोक्ष)–तो परम पुरुषार्थ नहीं है। मोक्ष तो केवल–'कैवल्याद्याशिषां पतेः'–पहली सीढी मात्र है। परम पुरुषार्थ तो पुरुषोत्तम की नित्य लीला धाम में प्रवेश है; और वह 'मत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'–इस गीता वाक्य से पुरुषोत्तम भगवान् के एक मात्र अनुग्रह से, उत्पन्न हुई पुष्टि भक्ति से ही प्राप्त होता है। 'एको वशी' यहां से प्रारम्भ करके–'ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषां'–यहां तक की अथर्ववेदीय गोपालतापनीय उपनिषदों में यही बतलाया है, कि सिंहासन पर विराजमान भगवान् की सेवा--(भजन)–करने वालों को ही शाश्वती सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'–गीता के शाश्वत पद से और गोपाल तापिनी के–'सिद्धिः शाश्वती'–इस कथन से, नित्यलीलाधाम में प्रवेश को भक्तों के लिए फल रूप से, निरूपण किया है; क्योंकि शाश्वत पद नित्य का पर्याय है ।।४४।।

श्लोक से देते हैं। यदि भगवान् को याचना करना ही था तो लक्ष्मीजी से क्यों नहीं की, भिक्षुकों से क्यों मांगा ? लक्ष्मीजी किसी दूसरे काम में लगी हो-ऐसा भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह उन २ सभी को छोड़कर जिनको बार बार भजती है और वह भी केवल चरण स्पर्श की आशा से ही। वो लक्ष्मीजी यदि भगवान् की आज्ञा पावें तो कृतार्थ ही हो जाँय। इसलिए लक्ष्मीजी से याचना न करके औरों-हम-से याचना करने का प्रयोजन कुछ और ही है।

यदि यह कहा जाय कि लक्ष्मीजी चंचल हैं, वह उस समय वहाँ स्थित नहीं होगी। इसलिए भगवान् ने अन्य से याचना की; तो इसका उत्तर मूल में-आत्मदोषापवर्गेण-इस पद से दिया है। आत्मा का-अपना-दोष चंचलता की निवृत्ति अर्थात् फिर कभी चञ्चलतारूप दोष उत्पन्न न हो सके-इसलिए भजती है। भगवान् के सेवकों का ऐसा ही धर्म है। शङ्का होती है कि जैसे भगवान् ने राजा बलि से पहले याचना की थी वैसे ही अभी भी करली होगी ? इस के उत्तर में कहते हैं कि-'तद् याच्ञा जन मोहिनी-भगवान् का याचना करना मनुष्यों को ही मोहित करता है। यदि ऐसा-जनमोहिनी-न हो तो अपने ही शरीर में त्रिलोकी के दर्शन करादेना व्यर्थ ही हो जाता। अपनी देह में ही, त्रिलोकी को दिखाकर बलि को यह बतलाया कि मेरा-(भगवान्-का) याचना करना वास्तविक याचना नहीं है, किन्तु लोकों को केवल मोह हो गया, कि भगवान् ने बलि से याचना की ।।४५।।

श्लोक—देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ।।४६।।

श्लोकार्थ—देश, काल, भिन्न २ द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म-से सब भगवद्रूप ही हैं ।।४६।।

सुबोधिनी—किञ्च देशादयः सर्वे तदात्मका एव तथा सति तत्रादानबुद्धिर्मोहनव्यतिरेकेण कथं भवेदत इदमपि याचनं मोहनार्थमेव, 'पुरुष एवेदं सर्व'मिति-श्रुत्यनुसारेण सर्वे पदार्था भगवदात्मका इति ज्ञायन्ते तथापि यो मोहः स याच्ञयैव ।।४६।।

व्याख्यार्थ—देश काल आदि सभी पदार्थ भगवत्स्वरूप ही हैं। तब फिर, इन पदार्थों की याचना का प्रयोजन मोह के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसलिए यह याचना भी मोह कराने के लिए ही है। 'पुरुष एवेदं सर्व'-(यह सब पुरुष (रूप) ही हैं। इस श्रुति के अनुसार सब पदार्थ भगवद्रूप ही जाने जाते हैं, तो भी हम लोगों को जो मोह हुआ है, वह याचना से ही हुआ है ।।४६।।

श्लोक—स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ।।४७।।

श्लोकार्थ—उन्हीं साक्षात् योगेश्वरों के भी ईश्वर विष्णु भगवान् ने यदुवंश में जन्म लिया है–यह सुनकर भी हम मूढ उनको नहीं पहिचान सके ॥४७॥

सुबोधिनी—ननु स पुरुषो यदात्मकं जगदस्मिन्नप्येतस्मिन्नज्ञानाद् दानमुचितमेवेत्याशङ्क्याहुः **स एष** इति, **स पुरुष एवायं भगवांस्ततोऽप्यधिकः पुरुषोत्तमः, किञ्च साक्षादयं यज्ञ आधिदैविको विष्णुर्ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेपि योगेश्वराणामप्ययमीश्वरः** स्वामी, एतादृशो **यदुषु जात** इत्यश्रृण्म श्रुतवन्तो वयं तथापि पूर्वसंस्कारलोपाद् विशेषमौढ्याद् भगवन्तं न **विद्महे**, एवं स्वापराधः समर्थितः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—यह वही पुरुष है, जिसकी आत्मा यह जगत् है । उस (इस) पुरुष के लिए भी अज्ञान से दान दिया ही जा सकता है ? इस शका का समाधान–'स एष'–इस श्लोक से करते हैं। वह पुरुष ही, यह भगवान् है । पुरुष से भी अधिक–पुरुषोत्तम है। यह ही साक्षात् यज्ञ, आधिदैविक विष्णु है । ब्राह्मणों के लिए भोजन कराने के अपने संकल्प में भी यह योगेश्वरों के भी ईश्वर–(स्वामी)–हैं । उनका यदुवंश में अवतार लेना सुनकर भी, हम अपने पहले संस्कारों के लोप–(नाश)–के कारण हुई अत्यन्त मूर्खता से उन भगवान् को नहीं जानते हैं । इस प्रकार उन द्विजों ने अपने अपराध का समर्थन किया ॥४७॥

श्लोक—अहो ! वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥४८॥

श्लोकार्थ—अहो हम लोग बड़े बडभागी हैं। कारण–कि हमारे घर में ऐसी हरि की अनन्य भक्त स्त्रियां हैं । इन स्त्रियों की भक्ति से ही हम लोगें की श्रीकृष्ण में निश्चय–(दृढ)–बुद्धि हुई है ॥४८॥

योजना—'स एष भगवान्'–इस श्लोक की व्याख्या में–'साक्षादयं'–इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि यद्यपि हम यज्ञ को ही परमेश्वर मानते हैं, तो भी आधिदैविक यज्ञ रूप होने से यह श्रीकृष्ण ही आराधन करने के योग्य है; क्योंकि 'यज्ञो वै विष्णुः'–(यज्ञ साक्षात् विष्णु है) इस श्रुति से आधिदैविक यज्ञ विष्णु रूप है। शंका–ब्राह्मणों को ही भोजन के लिए अन्न देना चाहिए । गोपों के लिए वह अन्न कैसे दिया जाए ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि–'ब्राह्मण भोजन संकल्पेपि'–ब्राह्मण भोजन के संकल्प में भी, श्रीकृष्ण भगवान् के लिए गोपों को अन्न देना उचित ही था; क्योंकि–'एको विष्णु महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः त्रीलोकान् व्याप्य भूतात्मा भुंक्ते विश्वभुगव्ययः' (एक विष्णु ही सब से बड़ा प्राणी है. उसमें से ही भिन्न २ अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं, यह भूतात्मा तीनों लोकों को व्याप्त करके सब भोग करने वाला और अविनश्वर है) इस पद्य में भी विष्णु शब्द श्रीकृष्ण का ही वाचक है ॥४७॥

सुबोधिनी – तस्यापराधस्य क्षमापनार्थं नमन्ति नम इति, अत्रैकः श्लोको विगीतः सोपि व्याख्यायते, अहो इत्याश्चर्ये, वयमिति श्लाघायां धन्यतमाः कृतार्था येषामस्माकं तादृश्यः स्त्रियो यासां भक्त्या स्मारकत्वेनोपस्थितयास्माकमपि हरौ मतिर्निश्चला जातेति ।।४८।।

व्याख्यार्थ—अपने उस अपराध को क्षमा कराने के लिए–नमः–इस श्लोक से नमस्कार करते हैं। यहां यह एक श्लोक प्रक्षिप्त (जान पड़ता) है। इस की भी व्याख्या करते हैं। अहो ! यह आश्चर्य में कहा है। वयं (हम लोग) यह पद स्वयं अपनी प्रशंसा में कहा है। हम कृतार्थ हैं कि जिन की (हमारी) स्त्रियाँ ऐसी हैं, कि जिनकी भक्ति का स्मरण करके हमारी भी भगवान् श्रीकृष्ण में निश्चल भक्ति हो गई ।।४८।।

श्लोक—**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।**
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ।।४९।।

श्लोकार्थ—अकुण्ठित बुद्धि वाले उन भगवान् श्रीकृष्ण के लिए नमस्कार है। जिनकी माया के द्वारा मोहित हुई बुद्धि वाले हम लोग कर्म मार्ग में भटक रहे हैं ।।४९।।

सुबोधिनी—तुभ्यं भगवते नम इति, अपराधेन दीनभावे जात आविर्भूतो भगवानिति लक्ष्यते, अन्यथा तुभ्यमिति न वदेयुः, अनेन तेषामपराधो गत इति निश्चितं, तस्य षड्गुणान् दृष्ट्वा नमस्यन्ति भगवत इति, दृष्टादृष्टयोः साङ्कर्याभावार्थमेवमुच्यते, स्वरूपमपि ज्ञातवन्तः कृष्णायेति, तस्य पूर्णज्ञानशक्तिं दृष्ट्वाहुरकुण्ठा मेधा बुद्धिर्यस्येति, यद्यपि भगवच्छब्देनैव नित्यज्ञानवत्त्वं प्राप्तं तथापि यथा 'सर्वस्येशान' इतिश्रुतेरैश्वर्यं साधारणं तथा सर्वज्ञ'इतिश्रुतेर्ज्ञानमपि तादृशमेव भगवत्पदेनोच्यते, एवं सति 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी' तिवाक्यात् केवलभक्तविषयकं स्वीयत्वेन यज् ज्ञानं पुष्टिमार्गीयं तदत्र मेधाशब्देनोच्यते, तदस्मद्विषयकं पूर्वमासीन् मध्येस्माकं बाहिर्मुख्येपि तस्याकुण्ठितत्वेन तत्कार्यमेव याच्ञारूपं प्रबोधं कृतवान्न तूपेक्षामितिभावः, नाप्यस्माकमयमपराधो भ्रान्तत्वादिति वदन्तो भ्रमस्त्वत्कृत एवेत्याहुर्यन्माययेति, भगवन्माययैव व्यामोहितबुद्धयः कर्ममार्गेषु भ्रमामोन्यथा ज्ञाने भक्तौ वा मतिः स्याच्छुद्धे वा वैदिके कर्मणि यत् कर्मवर्त्मस्वेवाभासरूपेषु तत्रापि निश्चयाभावात् केवलं भ्रमामोतो मोहिता एव ।।४९।।

व्याख्यार्थ—अपराध के कारण दीनता उत्पन्न होने पर, भगवान् वहां प्रगट हो गए–ऐसा ज्ञात होता है। इसी लिए उन्होंने–तुभ्यं (तुम्हारे लिए) यह प्रत्यक्ष बोधक पद का प्रयोग किया है। नहीं तो तुम्हारे लिए–ऐसा नहीं कहते। इस कथन से उन के अपराध का दूर होना निश्चित है। भगवान् के छः गुणों को देखकर, नमस्कार करते हैं। दृष्ट और अदृष्ट का मिश्रण न हो–यह बतलाने के लिए भगवते–ऐसा कहा है। द्विजों को भगवान् के स्वरूप का भी ज्ञान हो गया था इसी लिए–कृष्णाय–(श्री कृष्ण के लिए) यह पद कहा है। (उन) भगवान् की पूर्ण ज्ञान शक्ति को देखकर कहते हैं, कि उनकी बुद्धि कुण्ठित नहीं (कुशाग्र) है। यद्यपि भगवान् शब्द से ही उनका नित्य ज्ञानवान् होना सिद्ध होजाता है, तो भी जैसे–'सर्व स्येशानः' (सब का ईश्वर) इस श्रुति से

भगवान् में साधारण ऐश्वर्य का वर्णन है, उसी तरह 'सर्वज्ञ', श्रुति से भी, साधारण ज्ञान यहां, 'भगवते' पद से कहा गया है । तभी तो-'मदन्यत्ते न जानन्ति' (भक्त मेरे सिवाय किसी और को नहीं जानते हैं और मैं भी केवल भक्तों को ही पहचानता हूँ) केवल भक्तों का ही अपने पन से ज्ञान-जो पुष्टिमार्गीय ज्ञान है-वही यहां मेधा शब्द का अर्थ है । भगवान् हमको पहले इस तरह आत्मीय रूप-(अपने पन)-से जानते थे, किन्तु बीच में हमारी बहिर्मुखता हो जाने पर भी, भगवान् ने अपने अकुण्ठित इस पुष्टिमार्गीय ज्ञान-बुद्धि-से हमें उसी का कार्य यह याचना रूप प्रबोध कराया है । हमारी उपेक्षा नहीं की है, यह भाव है । यह कोई हमारा अपराध भी नहीं था, क्योंकि हम तो भटक रहे थे । यों कहते हुए कहते हैं कि-यन्मायया-वह भ्रम भी हम को आप-भगवान् ने ही कराया है । भगवान् की माया ही के द्वारा हमारी बुद्धि का व्यामोह हो जाने से, हम कर्म मार्ग में प्रवृत हो रहे हैं । यदि ऐसा नहीं होता, तो हमारी बुद्धि ज्ञान मार्ग में, अथवा भक्ति मार्ग में लगती । और यदि बुद्धि का व्यामोह नहीं होता तो आभास रूप इस कर्म मार्ग में न लगाकर, शुद्ध वैदिक कर्म में बुद्धि प्रवृत्त होती-(लगती) । इस सकाम कर्म मार्ग में भी-सिद्धि असिद्धि का-निश्चय न होने से हम लोग केवल भ्रम में पड़े रहे हैं । इसलिए हम सचमुच हो मोहित हो रहे हैं ॥४६॥

श्लोक—स वैष आद्यः पुरुषः स्वमोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानु भावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—वह आदि पुरुष है । उनकी माया में आत्मा के मोहित हो जाने से, हम उनके प्रभाव को नहीं जान सके । इसी कारण हमसे, यह अपराध बन गया । वह भगवान् हम सेवकों के इस अपराध को क्षमा कर दें ॥५०॥

सुबोधिनी—वाचापि क्षमापयन्ति स वैष इति, क्रियया स्वापराधक्षमापनं न भवति दुर्बलत्वादतः स वा भगवानेव वा यस्यास्माभिरपराधः कृतः स एवंषोऽग्र आविर्भूतः, अनेन ज्ञायते क्षमां करिष्यतीति, किञ्चाद्योयं सर्वेषां पितातः पुत्राणामपराधमिव सहिष्यति, किञ्च पुरुषोयमन्तर्याम्यतस्तत्प्रेरणयैव कृतमिति युक्तमस्य सहनं, किञ्च स्वमायामोहितात्मनामतस्तस्यैव मायया मोहितचित्तानामत एव न विज्ञातो भगवदीयोनुभावो यैस्तादृशानामतिक्रममपराधं क्षन्तुमर्हति, स्वधर्मविचारेणापि क्षमा युक्तेत्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—वाणी से भी 'स वैष' इस श्लोक द्वारा क्षमा प्रार्थना करते हैं । अपनी किसी क्रिया के द्वारा अपना अपराध क्षमा नहीं कराया जा सकता; क्योंकि अपनी क्रिया दुर्बल है ।

योजना—शुद्ध वा वैदिके कर्मणि-इत्यादि व्याख्या के पदों का अभिप्राय यह है कि निष्काम भाव से किए हुए अग्निहोत्र से लेकर सोमयाग तक शुद्ध वैदिक कर्म में बुद्धि लगती; क्योंकि इन पांच प्रकार के-अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास, सोम-नित्य कर्म करने से भगवान् की प्राप्ति होती है-ऐसा निबन्ध सर्वनिर्णय प्रकरण में विस्तार से वर्णन है ॥४६

इसलिए वह भगवान् ही–कि जिनका हम से अपराध बन गया है–जो हमारे सामने ही यहां प्रगट हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि वह हमारे अपराध को क्षमा कर देंगे । फिर यह आदि पुरुष हैं। सब के पिता हैं । इस लिए भी जैसे पिता अपने पुत्र के अपराध होने पर क्षमा कर देता है, उसी तरह यह भी हमारे अपराध को सहन कर लेंगे। यह पुरुष–अन्तर्यामी–है । इस लिए उस अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा से ही हम से यह अपराध बन गया है । इस कारण भी हमारा यह अपराध उन के सहन (क्षमा) करने योग्य ही है । यह अपराध भी 'स्वमायामोहितात्मनां'–उन्हीं की माया के द्वारा हमारे चित्त के मोहित होने से हुआ है। इसी कारण से ही उन भगवान् के अनुभाव प्रभाव को न जानने वाले हम लोगों के–अतिक्रम अपराध को वह क्षमा करने योग्य हैं । अपने–स्वामी के धर्मों का विचार करके भी, उन्हें हमारे लिए क्षमा प्रदान कर देना ही उचित है ॥५०॥

श्लोक—इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।
दिदृक्षवो व्रजमथ कंसाद् भीता न चाचलन् ॥५१॥

श्लोकार्थ—कृष्ण की अवहेलनारूप अपने अपराध को स्मरण कर उन याज्ञिकों ने इस प्रकार बहुत पश्चाताप किया। यद्यपि उनके मन में श्रीकृष्ण के दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी, तथापि कंस के डर से वे भगवान् के पास नहीं गए। (नहीं जा सके)

सुबोधिनी—एवमपराधक्षमां कारयित्वा निवृत्तव्यापारा जाता न तु स्वयं तत्र गत्वा लोकन्यायेन क्षमां कारितवन्तः, तत्र हेतुमाहेतीति, स्वाघं स्वापराधमनुस्मृत्य ते ब्राह्मणाः कृष्णे विद्यमानेपि कृतहेलना अपि दिदृक्षवोप्युदवसायाथ भिन्नप्रक्रमेण व्रजं प्रति न चाचलन्, तत्र हेतुः कंसाद् भीता इति, तत्र गते कंसो भगवानयमिति ज्ञात्वा कदाचिदपकारं कुर्याद् व्रजस्य तदा महानयमपराधो भवेदतो व्रजं प्रति न गताः ॥५१॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे द्वितीयस्य स्कन्धादितो विंशाध्यायस्य विवरणम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अपराध की क्षमा माँग कर के, वे कर्तव्य रहित–निश्चिन्त–हो गए। स्वयं वे भगवान् के निकट नहीं गए। लोक रीति से यज्ञशाला में बैठे ही अपराध क्षमा करा लिया। (इसमें) ऐसा करने में 'इति स्वाघं'–इस श्लोक से कारण को बतलाते हैं। अपने अपराध का स्मरण करके भी वे ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्ण के वहां उपस्थित होते हुए भी, स्वयं अपराधी भी और उनके दर्शन के अभिलाषी होते हुए भी अपना कार्य बन्द करके–अथ--भिन्न प्रकरण से व्रज की ओर नहीं गए । 'कंसाद् भीताः'–नहीं जाने का कारण यह था, कि भगवान् के पास चले चलेंगे तो कंस इनको साक्षात् भगवान् मान कर सम्भवतः व्रज का कुछ अपकार कर देगा, तब तो बड़ा भारी अपराध हो जाएगा। ऐसा विचार करके वे व्रज की तरफ नहीं गए ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के २० वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका), तामस साधन अवान्तर प्रकरण के दूसरा अध्याय (हिन्दी-अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला की भावना के निम्न पद अवलोकनीय हैं।

द्विजपत्नी—प्रसंग

गोपालै जू मांगनि पठए भात ।
देहु—देहु करि बालक बोले श्रो बैठे व्रजनाथ ।।
पठए ग्वाल देई नहि आह्वान फिर हरि बूझनि आए ।
लै उपहार चलीं सब नागरि गागनु दरसन पाए ।।
बाम बाहु श्रीदाम-कंध पर लीला-कमल फिरावैं ।
सरनागत को दैहि अभय-पद 'परमानंद' जसु गावैं

जानि दै कमल-नयन पें आजु ।
सुनहुऽबकंत लोक लाज तें बिगरत हैं सब काजु ।।
वृन्दावन हरि धेनु चरावैं संकरषन के साथ ।
पठए ग्वाल भात मांगनिकों जज्ञ-पुरुष ब्रजनाथ ।।
मो तौ याहि देह को नांतो कंत रोकत घर मांझ ।
मिलो पचारि स्यामसुन्दर कहुँ नंतर जननि भइ बांझ ।
नंद को लाल-भगत-चितामनि धरे गोप को भेख ।
'परमानंददास' को ठाकुर प्रिय विचारि किनि देख ।।

——

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार २४वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २१वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'तृतीयो अध्याय'

इन्द्रयज्ञ–निवारण

कारिका—एक विंशे हैतुकस्य कर्मणो विनिवारणम् ।
कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते ॥१॥
यथा प्रोबोधिता विप्रा एवं देवा अपि स्वयम् ।
महतां महति शिक्षा उत्तरोत्तरमुत्तमा ॥२॥
स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे विप्राणां तु स्त्रियः सतोः ।
देवानां तु हवींष्येव येषु ते सुप्रतिष्ठिताः ॥३॥
तामसान् राजसांश्चैव समुद्धृत्य मनीषया ।
सात्त्विकोद्धरणेयं तु यागभङ्गं चकार ह ॥४॥

कारिकार्थ—

भूमिका--भगवान् बलरामजी के साथ गोकुल (व्रज) में इसलिए विराजते थे कि इन व्रजवासियों के मन को अन्य विषयों से खींचकर अपने में निरुद्ध करे, अतः जब देखते थे कि ये

व्रजवासी मुझ से विमुख होने के कर्म करते हैं तब उनको शिक्षा पूर्वक अपने में निरुद्ध करने के उपाय करते थे। इस अध्याय में भगवान् ने देखा कि ये नन्दादि गोप, व्रज के स्वामी सर्वेश मुझसे विमुख हो देवतान्तर का आश्रय करने लगे हैं अत: इनको शिक्षा देकर भक्ति योग्य वैदिक यज्ञ कराके अपनी तरफ लाना चाहिए एवं इन्द्र का अहङ्कार भी तोड़ना चाहिए, ब्राह्मणों के न आने से वैदिक यज्ञ गोकुल में न हो सकेगा इस शङ्का को भी तोड़ देना चाहिए, इन कारिकाओं में इस विषय का ज्ञान कराते हैं—

कारिकार्थ—भगवान् ने इस २१ वें अध्याय में लौकिक हेतु सिद्ध करने के लिए होने वाले कर्म को निवारण कर वैदिक कर्म युक्ति से ही करवाया इसका नरूपण है ॥१॥

भगवान् ने जैसे युक्ति से यज्ञस्थ ब्राह्मणों को ज्ञान करवाया, उसी तरह आप अब देवों को भी ज्ञान करवाते हैं, महत् पुरुषों की शिक्षा महती होती है और उत्तरोत्तर उत्तम होती है ॥२॥

कुमारिकाओं को शिक्षा देने के लिए उनके वस्त्र ले लिए थे, ब्राह्मणों को ज्ञान देने के लिए उनकी सती स्त्रियों से भोजनार्थ सामग्री मंगाली थी। अब देवों को शिक्षा देने के लिए उनकी हवि बन्द करदी क्योंकि ये हवि में ही प्रतिष्ठित हैं ॥३॥

तामस (कुमारिकाओं) का, राजस (ब्राह्मणों) का बुद्धि पूर्वक उद्धार कर, अब सात्विक (देवों) का उद्धार करने के लिए इन्द्रयाग भङ्ग करने लगे ॥४॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ? भगवान कृष्ण ने बलभद्रजी के साथ व्रज में रहते हुए एक समय गोपों को इन्द्र यज्ञ करने का उद्योग करते देखा ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये ब्राह्मणा नागता इत्युक्तं, तथा सति गोकुले वैदिको यज्ञो न प्रवर्तत इत्याशङ्क्य भगवानपि सर्वनिरपेक्षोपि स्वार्थं तत्र यज्ञं कारितवानित्याह भगवानपीति, एवम्प्रकारेण तत्रैव गोकुले बलभद्रसहितो नितरां वसन् निरोध कुर्वन्नन्यार्थं प्रवर्तमानान् दृष्टवान्, तदाह गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमानिति, इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमो यैर्वृद्धैर्गोपैस्तानपश्यत्, एतेन शुकस्याश्चर्यमपि ज्ञापितं भवति, तथा हि यत्र विहितत्वेनापि कृतः श्रवणादिपरम्पराभगवत्सम्बन्धी धर्मस्तिष्ठति न तत्रान्यधर्मसम्बन्धः सम्भवतीह तु नैसर्गिकैश्वर्यादिमान् साक्षाद्धर्मी वसन्नन्यधर्मासहिष्णुषु स्वैश्वर्यादिषु जागरूकेषु सत्स्वपि तत्रापि स्वयमन्यधर्ममपश्यत् स्वकिरणनाश्यं तमः पुञ्जं तरणिरिव, अत एव निवासोक्तिरपिपदं भगवत्पदं च, क्रियाशक्तिप्रधानेन देवत्वेन भजनधर्मविरोधिनाशकेन साहित्यमप्याश्चर्यहेतुः, एतावत्पर्यन्तं निवासमात्रं कृतवान्न त्वन्यधर्मबाधनमप्यत एतावत्कालपर्यन्तं यागकरणमित्यभिप्रेत्यापि निवासोक्तिः, शनैःशनैर्निरोध कर्तुमिच्छा न त्वेकदैव सर्वप्रकारकं तं कर्तुं तथा सति लीलारसो न स्यादत इयदवधि नैतत्करणमिति चिरकालवर्तमानताबोधकशतृप्रत्ययेन ज्ञाप्यते, यद्यपि वर्तमानत्वमात्रमर्थस्तस्य तथाप्यखण्डदण्डायमानो वासश्चिरकालीन इति तस्य वर्तमानत्वबोधने यादृशः स तादृशस्य तथात्वमायातीति तथा, इदं दर्शनं तेषु स्वज्ञानशक्तिस्थापनरूपमन्यथा पारम्पर्यागतत्वेनोपपत्तिमत्त्वेन चाकरणे सुखाप्तिहेतुत्वेन चेन्द्रयागं जानतां लोकरीतिपरिनिष्ठितबुद्धीनां बालभाषितेन कथमेतादृशं कर्म त्याज्यमित्येव ज्ञानं स्यान्न तु भगवदुक्ताङ्गीकारः, अतः पूर्वमेतादृशीं स्वज्ञानशक्तिं बीजवद् गुप्ततया तेषु स्थापयित्वा तदुद्बोधकानि वचनानि वदिष्यति तेन सर्वेष्टसिद्धिरिति ज्ञेयम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में यह कहा गया कि ब्राह्मण व्रज में नहीं आए। उनके नहीं आने से, ऐसी शंका हो सकती है, कि गोकुल में वैदिक यज्ञ नहीं होता होगा ? इसकी निवृत्ति के लिए कृष्ण ने स्वयं भगवान् होते हुए, सब से निरपेक्ष होते हुए भी, अपने लिए वहां यज्ञ करवाया–यह बात–भगवानपि–इस श्लोक से कहते हैं। वहीं गोकुल में बलभद्रजी के सहित सुखपूर्वक निवास करते हुए उन गोकुलवासियों को निरोध सिद्धि के लिए भगवान् ने इन्द्रयाग करने में प्रवृत्त हुए वृद्ध गोपों को देखा। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्री शुकदेवजी को भी, इस बात पर आश्चर्य हुआ है; क्योंकि श्रवण मनन आदि की परम्परा से जहाँ भगवान् के सम्बन्धी धर्म रहते हैं अर्थात् जहाँ श्रवण आदि–शास्त्र में बतलाए हैं–केवल इस कारण से किए जाते हैं, वहां पर भी, प्रीति के बिना भी किए हुए उन श्रवण आदि धर्मों का सम्बन्ध एक मात्र भगवान् में ही होजाता है तो फिर, यहाँ तो सहज ऐश्वर्य आदि धर्मवाले साक्षात् धर्मी भगवान् विराज रहे हैं तथा अन्य के धर्मों को सहन न करने वाले भगवान् के ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकाशमान हैं–ऐसे व्रज में स्वयं भगवान् का भी अन्य के धर्मों को देखना सूर्य के तेज से नष्ट होनेवाले अन्धकार को सूर्य देखता रहे के समान है।

इसी लिए मूल में भगवान् का निवास, 'अपि' और 'भगवत्' पदों का प्रयोग किया गया है। और क्रिया शक्ति से पूर्ण तथा देव होने के कारण भजन धर्म के सारे विघ्नों का नाश करने वाले श्री बलदेवजी भी भगवान् के साथ थे। यह सब होते हुए भी व्रजवासी लोग दूसरे (इन्द्र) का याग कर रहे थे–यह आश्चर्य का कारण था।

अब तक, यहाँ भगवान् केवल निवास ही करते थे, किसी अन्य धर्मों का बाध नहीं करते थे। इस कारण, अब तक इन्द्रयाग व्रजवासी लोग करते रहे–इस अभिप्राय से भी, भगवान् का वहां

निवास करना कहा गया है। भगवान् की इच्छा उनका धीरे २ निरोध करने की थी, एकदम सब प्रकार का निरोध करने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि एकदम निरोध सिद्ध करदिया जाता, तो लीला में आनन्द (रस) का अनुभव नहीं होता। इसलिए यह इन्द्रयाग अबतक वन्द नहीं किया। यह बात मूल में बहुत समय तक चलते रहने के अर्थ का बोधक इस शतृ प्रत्ययान्त (निवसन्) पद से जानी जाती है। यद्यपि शतृ प्रत्यय (निवसन्) का अर्थ केवल वर्तमानता का वोधक है, तो भी अखण्ड दण्ड (घडियों) का निवास, जैसे दीर्घ समय तक का था, उसी प्रकार उस निवास की वर्तमानता भी बहुत लम्बे समय तक थी—यह सूचित होता है।

इन्द्रयाग करने वाले गोपों को देखकर, भगवान् ने उनमें अपनी ज्ञान शक्ति की स्थापना की। नहीं तो जो इन्द्रयाग परम्परा से चला आरहा है, जिसका युक्तियों से बाध नहीं हो सकता है, और जिसके करने से सुख की प्राप्ति होती है—इस तरह जानने वाले लौकिक में, अत्यन्त आसक्त बुद्धिवाले गोपलोग बालक (भगवान्) के कहने पर ऐसे कार्य को कैसे छोड़ दे—इस प्रकार विपरीत ज्ञान होता। भगवान् से वचनों को वे स्वीकार नहीं करते, इसलिए उन गोपों में पहले गुप्त रीति से भगवान् अपनी ऐसी ज्ञान शक्ति को बीजरूप से स्थापन करके, फिर उस बीज का उद्बोधन करने (बढाने) वाले वचन कहेंगे, जिस से सारे मनोरथ सिद्ध होंगे ॥१॥

श्लोक—तदभिज्ञोपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।

प्रश्रयावनतोपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवान् तो सब के आत्मा और अन्तर्यामी हैं। उन से कुछ छिपा नहीं है। वह सब जानकर भी बूढे बूढे नन्द आदि गोपों से विनय पूर्वक नम्र होकर पूछने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—तत्र भगवद्भक्तैर्भगवता निरुद्धैर्न कर्तव्यमिति तन्निषेधार्थं तन्मतं पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तं वक्तुं प्रस्तावनामाह **तदभिज्ञ** इति, भगवान् हि 'सर्वज्ञः', लोकन्यायेनापि पूर्ववर्षे कृतत्वात् **तदभिज्ञः** सर्वेषामन्तरात्मत्वाच्च सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वाच्च सर्वेष्वेव दर्शनं यस्येति, एवम्भूतोपि प्रश्रयेण विनयेनावनतो भूत्वाजानन्निव नन्दपुरोगमान् वृद्धानपृच्छत् ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के द्वारा निरोध को प्राप्त हुए भगवद्भक्तों को यह इन्द्रयाग जैसा कर्म नहीं करना चाहिए। इस कारण से, उस कर्म का निषेध करने के लिए उस मत को पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त कहने के लिए—तदभिज्ञोपि-श्लोक से प्रस्तावना कहते हैं। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। लोक न्याय के अनुसार भी, पहले वर्ष में वह यज्ञ किया गया था—इस से उसे जाननेवाले, सब के अन्तरात्मा, सारी ज्ञान शक्ति के आधार और सब पदार्थों को करामलकवत् देखने वाले होते हुए भी, विनय से नम्र होकर कुछ नहीं जानने वाले की तरह, नन्दरायजी आदि बूढे २ गोपजनों से पूछने लगे ॥२॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—कथ्यतां मे पितः कोयं सम्भ्रमो व उपागतः ।
किं फलं कस्य वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे पिताजी ! बताओ तो सही । आप लोग यह किस हलचल में पड़ रहे हो ? इस यज्ञ का फल क्या होगा । किस उद्देश्य को लेकर यह किया जा रहा है तथा किन वस्तुओं से यह यज्ञ सिद्ध होता है ॥३॥

सुबोधिनी—प्रश्नमेवाह कथ्यतामिति, पितरिति-सम्बोधनमुत्तरत्रयपरिज्ञानार्थं, अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेत्यत एव मे मह्यं कथ्यतां कोयं सम्भ्रमो व उपागत इति, सम्यग् भ्रमो यत्र तादृशः को वा पदार्थः समागत इति सम्भ्रम उत्सवप्रयत्नो वा ? अलौकिकश्चेत् तस्य विधानं वक्तव्यमित्याह किं फलमिति, आदौ कर्मणः फलं ज्ञातव्यमन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात् 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इतिन्यायात्, किञ्च कस्य वोद्देशः कमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तमिति ? का देवतेत्यर्थः, केन वा द्रव्येण साध्यत इति ? सर्वत्र हि द्रव्यदेवताफलानि वक्तव्यानि, महान् सम्भ्रम इति प्रायेणायं मखो महान् यागः, वेदे त्वप्रसिद्ध इति तदुपहासोपि ॥३॥

व्याख्यार्थ—कथ्यतां-इत्यादि श्लोक से प्रश्नों का वर्णन करते हैं। पितः-इस सम्बोधन से तीन उत्तरों का परिज्ञान होता है । पुत्र को पिता से शिक्षा लेनी चाहिए–इस कारण से, भगवान् कहते हैं कि मुझे बताओ, कि तुम्हें यह क्या संभ्रम (अच्छी तरह भ्रम) हो रहा है ? ऐसा कौनसा संभ्रम वाला पदार्थ उपस्थित होगया है अथवा किसी उत्सव का यह प्रयत्न चल रहा है ? यदि यह याग अलौकिक हो तो इसका विधान कहिए–इसका फल क्या है ? कर्म का आरम्भ करने से पहिले उसका फल जान लेना आवश्यक होता है। प्रयोजन के विना मंद बुद्धि वाला भी किसी काम को नहीं करता है–इस न्याय से फल नहीं जानेंगे तो इस याग करने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। किसके उद्देश्य से–किसको उद्देश्य करके यह याग प्रारंभ किया जा रहा है अर्थात् इसका देवता कौन है ? और किस द्रव्य से यह सिद्ध होता है ? सारे ही कर्मों में द्रव्य, देवता और फल कहने चाहिए। महान् सम्भ्रम कहने से यह बहुत बड़ा याग होना चाहिए। तो भी वेद में तो यह अप्रसिद्ध है–इससे इस याग का उपहास[1] भी सूचित किया है ॥३॥

श्लोक—एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥४॥

१—हँसी।

श्लोकार्थ—यह सब मुझसे कहिए। हे पिताजी! मैं सुनने के लिए उत्सुक ही रहा हूँ। इस में कुछ गुप्त रखने की बात भी नहीं जान पड़ती। फिर साधु[1] तो सबके ही हृदय होते हैं, इसलिए उनका यहां कुछ कर्तव्य ही नहीं होता ॥४॥

सुबोधिनी—एतत् सर्वं विशेषाकारेण वक्तव्यमिति पुनराहैतद् ब्रूहीति, किं ततः स्यात्? तत्राह **महान् कामो मह्यमिति**, अयं महानेव कामोभिलषितोर्थः, तद्विषयिणीच्छा वा, अतः **शुश्रूषवे मह्यं** वदेति, अज्ञत्वज्ञापनाय पुनः **पितरितिसम्बोधनं, बाला हि पितरं बहुधा सम्बोधयन्तीति**, ननु गोप्यमेतन् न बालेभ्यो वक्तव्यमिति चेत् तत्राह **न हि गोप्यं हीति**, इदं न **गोप्यं प्रतिभाति** महान् 'सम्भ्रमो' दृश्यत इति, **किञ्च साधूनां** न किञ्चिद् गोप्यं, अन्यथा साधुत्वमेव न स्यादतो हि द्वयं युक्तं. **किञ्च साधूनां** कृत्यमेव नास्ति कुतः पुनर्गोप्यं कृत्यं भविष्यति? **साधवोत्र** शास्त्रीयाः '**कृपालुरकृतद्रोह**' इत्यादिधर्मयुक्ताः, तेषामगोप्यकार्यत्वे हेतुः **सर्वात्मनामिति**, **सर्वेष्वेवात्मा** हृदयं येषां, ते हि 'सर्वहिते रताः', तत्रापीहास्मिंल्लोके न तेषां कृत्यं **गोप्यं**, अनेन भगवच्छास्त्रं **कदाचिन्न** वदेयुरपि न तु लौकिकं किञ्चित् ॥४॥

व्याख्यार्थ—यह सारी बात विशेष रूप से कहिए-इसलिए-एतद् ब्रूहि-इस श्लोक से फिर कहते हैं। कहने से क्या होगा? तो कहते हैं कि यह मेरी बड़ी भारी कामना[2] है। यह मेरी अत्यन्त अभिलषित वस्तु है अथवा इस विषय की मेरी इच्छा है इसलिए सुनने की इच्छा वाले मुझ से कहिए। अपनी अज्ञानता[3] बताने के लिए फिर-पितः (हे पिता) यह सम्बोधन कहा गया है। बालक पिता को बार बार सम्बोधन करते ही रहते हैं।

शंका—यह बात गुप्त रखने की है, बालकों से कहने योग्य नहीं है—यदि ऐसा कहा जाए तो इसका उत्तर—न हि गोप्यं हि—इन पदों से देते हैं—अर्थात् यह बात गुप्त रखने अर्थात् नहीं कहने योग्य नहीं जान पड़ती है, क्योंकि बड़ा भारी सम्भ्रम[4] प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है और फिर साधु पुरुषों की, कोई भी बात (कार्य) गुप्त रखने-छिपाने योग्य नहीं होती। यदि उन (साधु पुरुषों) के भी गुप्त रखने की बात हो, तो वे साधु ही नहीं कहे जा सकते। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही मूल में 'हि' शब्द दो बार कहा गया है। साधु पुरुषों का तो कुछ कर्तव्य ही नहीं है, फिर वह गोप्य कैसे होगा? साधु शब्द से यहाँ शास्त्रोक्त-कृपालु किसी से द्रोह न करने वाले-इत्यादि धर्म वाले पुरुषों का तात्पर्य है। उन ऐसे साधु पुरुषों का कोई भी कार्य गोप्य[5] नहीं होता; क्योंकि उनकी आत्मा-हृदय-सभी में हैं। वे सब का ही हित करने में तत्पर होते हैं। फिर भी, यहाँ इस लोक में, उनका कर्तव्य गोप्य नहीं होता। इस कथन से, यह सूचित किया हैं, कि भगवत् शास्त्र को कदाचित् न भी कहें; किन्तु लौकिक के कहने में, तो कोई प्रतिबन्ध[6] नहीं है ॥४॥

टिप्पणी—'एतद् ब्रूहि'—इस श्लोक में आगे—शुश्रुषवे—सुनने की इच्छा वाले—यह कहा है। इस से—शुश्रुषा—इस इच्छार्थक सन् प्रत्यय ही से इच्छा कह दी गई। इसलिए मूल में आए हुए कामपद का—महान्

१—सज्जन। २—इच्छा। ३—बेजानकारी। ४—भ्रम, शंका, सन्देह। ५—गुप्त। ६—रुकावट।

श्लोक—अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोऽस्तविद्विषाम् ।
उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥५॥

श्लोकार्थ—सब को अपने समान देखने के कारण जिनको अपने पराये का ज्ञान नहीं हैं, जिनके कोई मित्र तथा शत्रु नहीं रहे हैं। उन्हें उदासीन का शत्रु की तरह त्याग कर देना चाहिए और मित्र को अपनी आत्मा की तरह मानना कहा गया है ॥५॥

सुबोधिनी—ननु 'नव गोप्यानि सर्वथे'तिशास्त्रात् कथमगोप्यमिति चेत् तत्राहास्तस्वपरदृष्टीनामिति, अस्ता गता स्वः परश्चेत्यवान्तरभेददृष्टिर्येषां, परबुद्धौ सत्यां गोप्यशास्त्रं न तु तदभावे, किञ्च न मित्रमुदासीनो विद्वेषी च येषां, तेषु बुद्धिभेदाभावात् तत्कृता मित्रोदासीनरिपवोपि न सन्ति तस्मात् सर्वत्र तुल्यबुद्धिरेव कर्तव्येत्युपदेशोपि, अथ यदि नास्मिन् ज्ञानेधिकारस्तस्मिन्नपि पक्षे द्वयी गतिः कर्तव्या त्याज्यात्याज्यभेदेन त्रिविधगतौ तु बुद्धिरतिनष्टा स्यात् सगुणापि भवेदतो द्वयमेव कर्तव्यमिति चतुर्णां भेदद्वयमेवाहोदासीन इति, आत्ममित्रोदासीनरीपव इति चतुर्षा तत्रात्मा मित्रं चैकमुदासीनोरिश्चैकोतः कार्येषूदासीनोरिवद् वर्ज्यः शत्रुवन्निराकार्यः सुहृन् मित्रं त्वात्मवदुच्यत इतिप्रमाणम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—शास्त्र में नौ बातों को गुप्त रखने के लिए कहा है तब फिर किसी बात को गुप्त नहीं रखने के लिए कैसे कहते हो—ऐसी शंका का समाधान—'अस्तस्वपरदृष्टीनां'—इस श्लोक से करते हैं। यह मेरा और यह पराया है—इस प्रकार की भेद बुद्धि जिनकी मिट गई है। पराए का ज्ञान—(भेदबुद्धि-रहने पर ही, गोप्य रखने की बात, शास्त्र कहता है भेद बुद्धि के अस्त[1] हो जाने पर तो, गोप्य शास्त्र हो ही नहीं सकता। ऐसे ही, जिनके मित्र, उदासीन और शत्रु कोई नहीं हैं, उनमें बुद्धिभेद (भेद बुद्धि) के न होने से, बुद्धि के भेद से होने वाले मित्र, उदासीन तथा शत्रु भी नहीं हैं। इस कथन से, सब में समबुद्धि रखने का उपदेश भी है। यदि कदाचित् यह, कहा जाए, कि इस प्रकार समबुद्धि का अधिकार नहीं है, तो भी (त्याग करने तथा ग्रहण करने योग्य) समबुद्धि का अधिकार न होने के पक्ष में भी, बुद्धि की त्याग करने योग्य और त्याग न करने योग्य भेद से, दो प्रकार की गति ही करना

कामः—अर्थ कहते हैं, कि यह मेरा अभिलाषित अर्थ है। यद्यपि किसी दूसरे के द्वारा कहदेने पर भी शुश्रुषा-(सुनने की इच्छा)—दूर हो सकती है, तो भी सुनने की इच्छा वाले मुझ से, तुम साक्षात् कहिए—यह मेरी बड़ी अभिलाषा है। यह अर्थ प्रतीत होता है। वह गौण है। वास्तव में तो याग का भंग करना रूप अर्थ ही भगवान् के मन से बड़ा है। यहां कहने का तात्पर्य यही है, तो भी, अन्य के भजन का निवारण करना और उसके स्थान पर अपना ही भजन कराना ही, प्रभु का तात्पर्य है। इसलिए दूसरा अर्थ कहते हैं, कि इस विषय की मेरी इच्छा है अर्थात् याग कराने की मेरी इच्छा है ॥४॥

१—नष्ट।

उचित है। तीन प्रकार की गति करने पर तो बुद्धि नष्ट हो जाएगी और सगुण भी हो जाएगी। इसलिए आत्म, मित्र, उदासीन, रिपु–चारों को दो भेदों में विभक्तकरना–उदासीनोरिवत्–कहा है अर्थात् आत्मा और मित्र–की एक कोटि और उदासीन और शत्रु–की दूसरी कोटि समझना चाहिए। इस कारण से कार्यों में उदासीन को शत्रु के समान त्याग देना चाहिए और मित्र को आत्मा की तरह गिनना चाहिए। यह बात शास्त्र ने प्रमाण रूप से बतलाई गई है, यह 'उच्यते', पद का तात्पर्य है ॥५॥

श्लोक—ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमनुतिष्ठति।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्याद् तथा नाविदुषो भवेत ॥६॥

श्लोकार्थ—सब मनुष्य दो प्रकार से–जानकर अथवा अज्ञान से–कर्म करते हैं। ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले विद्वान को, कर्म के फल की प्राप्ति होती है। अविद्वान को कर्मफल नहीं मिलता और मिलता भी है, तो बहुत थोड़ा ॥६॥

सुबोधिनी—ननु वक्तव्यं भवति परं न ज्ञायत इति चेत् तत्राह **ज्ञात्वाज्ञात्वेति**, यमर्थं ज्ञात्वा जनोनुतिष्ठत्यज्ञात्वा चानुतिष्ठति तत्रापि **कर्माणि** वैदिकानि तत्र ज्ञानमावश्यकं, कर्माणि ज्ञात्वा तत्सम्बन्धिपदार्थोनुष्ठेयो नान्यथा, ततः किं स्यादत आह **विदुषः कर्मसिद्धिः स्यादिति**, यस्तु जानाति तस्यैव **कर्मसिद्धिः** कर्मफलं स्याद् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'तिश्रुतेः, वीर्यवत्तर'मेव फलजनकं, अथ वा सम्पूर्णं फलं ज्ञानेन भवत्यल्पं तु फलमज्ञात्वापि भवतीत्याह **तथा नाविदुषो भवेदिति**, अविदुषस्तथा फलं न भवेत् ॥६॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के श्लोक के अनुसार यह सिद्ध हुआ, गुप्त नहीं रखना चाहिए, कहदेना चाहिए। परन्तु जानकार ही कह सकता है, नहीं जाननेवाला कैसे कह सकता है ? इसका उत्तर-ज्ञात्वाऽज्ञात्वा–श्लोक से कहते हैं। मनुष्य जिस कर्म को जान कर करता है अथवा बिना जाने करता है तो भी कर्म तो वैदिक है। उनमें ज्ञान होना आवश्यक है। कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके ही,

---

लेख–व्याख्या में–द्वयी गतिः–पदों के पहले–बुद्धेः–(बुद्धि की) पद का अध्यहार समझना अर्थात् बुद्धि की दो गति। तीन प्रकार की गति करने पर तो संशय रूप हो जाने से, वह बुद्धि मन रूप हो जाएगी। बुद्धि तो चित्त रूप में स्थिति रूपा है। यदि केवल बुद्धि रह जाएगी, तो उसका कुछ काल में नाश हो जाएगा और मन रूप में रहने पर तो, उसका उसी क्षण में सर्वथा नाश हो जाएगा और वह सगुण हो जाएगी। चित्त रूप होने पर ही; बुद्धि निर्गुण हो सकती है और दो गति मानने पर निश्चय रूप होने से, वह बुद्धि चित्तरूप हो भी सकती है। तीसरी गति मानने पर तो बुद्धि की मनरूपता होने से, चित्त रूप होने की सम्भावना भी नहीं है। इसलिए बुद्धि सगुण हो जाएगी और सगुण होने के साथ ही, उसका नाश भी हो जाएगा–यह बात व्याख्या में–सगुणापि–इस 'अपि', शब्द से ज्ञात होती है ॥५॥

उस कर्म के सम्बन्धी पदार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए, बिना जाने नहीं करना चाहिए । जान कर करने तथा बिना जाने ही करने से, फल में क्या भेद पड़ेगा ? इसका उत्तर देते हैं, कि विद्वान को कर्म की सिद्धि प्राप्त होती है । जो मनुष्य जानता है, उसी को कर्मफल प्राप्त होता है। श्रुति में बतलाया है * जो विद्या-ज्ञान से, श्रद्धा से अथवा गुरु के पास ज्ञान पाकर करता है, वही कर्म अधिक फल (देने) वाला होता है। वीर्यवत्तरं-अधिक वीर्यवाला ही कर्म फल उत्पन्न कर सकता है अथवा ज्ञान से किए कर्म का ही सम्पूर्ण फल होता है । बिना जाने किए कर्म का फल तो अल्प-थोड़ा-होता है। अविद्वान् को विद्वान् कर्ता की तरह सम्पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती है ॥६॥

श्लोक—तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।
अथ मा लौकिकस्तन् मे कृच्छतः साधु भण्यताम् ॥७॥

श्लोकार्थ—आपका सोचा हुआ यह याग वैदिक है अथवा स्मार्त है ? या लौकिक ही है ? यह सब पूछने वाले मुझसे समझाकर कहिए ॥७॥

सुबोधिनी—आदौ चैतद् वक्तव्यं किमेतत् कर्म वैदिकं स्मार्तं लौकिकं वेति ? एतदभावेकर्तव्यमेवेत्याशयेनाह **तत्रेति, तत्रान्यकथनापेक्षया** प्रथममेतद् वक्तव्यं, अयं **विचारितः क्रियायोगः** किं वैदिकः स्मार्तो **वाथ वा लौकिकः** कुलदेशधर्म इव, **एतदेतेषामवान्तर**निर्णयरूपं **पृच्छतो मे साधु** यथा भवति तथा **भण्यतां** युक्तिपूर्वकं प्रमाणपूर्वकं वक्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तो यह कहिए, कि यह कर्म क्या वैदिक है, स्मृति के अनुसार है, अथवा लौकिक ही है ? यदि इनमें से कैसा भी न हो तो इसको करना ही नहीं चाहिए-इस अभिप्राय से-'तत्र तावत्'-यह श्लोक कहते हैं। इसके विषय में और कुछ कहने की अपेक्षा पहिले तो यह ही बतलाने की कृपा करें कि आपका बिचारा हुआ यह क्रिया याग-कर्म-वैदिक है या स्मार्त है अथवा लौकिक ही है ? कुल धर्म अथवा देशधर्म जैसा ही है ? इन तीन प्रकारों में से यह कैसा है-इस बात को पूछने वाले मुझ से निर्णय पूर्वक ठीक तरह से कहिए। युक्ति युक्त और प्रमाण पूर्वक कहो ॥७॥

॥ नन्द उवाच ॥

श्लोक—पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।
तेभिवर्षन्ति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः ॥८॥

---

* यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदावा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति॥ छाः उ. १।१।१०

श्लोकार्थ—नन्दजी ने कहा कि–पर्जन्य अर्थात् वृष्टि करने वाला देव इन्द्र ही भगवान् है। मेघ उनके शरीर के अङ्ग हैं। वे प्राणियों को तुष्टि पुष्टि करने वाले और जीवन देने वाले जल को बरसाते हैं ॥८॥

सुबोधिनी—एवं भगवता पृष्टो यादृश ज्ञानेनेन्द्रयागं | कृतवन्तस्तं प्रकारमाह पर्जन्य इति चतुर्भिः

व्याख्यार्थ—भगवान् के इस प्रकार पूछने पर नन्दरायजी जैसा समझ कर इन्द्र याग किया करते थे, उस प्रकार को पर्जन्य–इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं।

कारिका—**हैतुकं शास्त्रमाश्रित्य भौतिकेन्द्राय लोकतः।**
भ्रमात् परम्पराप्राप्तं कुर्वन्तीति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—हैतुक–सकाम–शास्त्र के आधार पर भौतिक इन्द्र के लिए लोक रीति के अनुसार परम्परा से चले आए कर्म को भ्रम से करते हैं–यह निरूपण करते हैं।

सुबोधिनी—हेतुशास्त्रमूलत्वात् प्रथमं हेतुमाह **पर्जन्यो** नाम वृष्टिकर्ता देवः स **भगवानेव**, अन्यथा तद्रेतसान्नादिकं जायत इति भगवतो जगत्कर्तृत्वं न स्यादतः **पर्जन्यो** भगवानेव, **मेघाः** पुनस्तस्यात्मनो देहस्य **मूर्तयोवयवाः**, **त एव** हि सर्वेषामेव **भूतानां** प्राणनरूपमाप्यायनजनकं जीवनजनकं **पयो** जलं **वर्षन्ति**, अतः सर्वजगद्रक्षकः पर्जन्य एव, जलान्नाभ्यामेव हि जीवन्ति सर्वे प्राणिनः, अत उपकारी परमैश्वर्यं प्राप्त इन्द्र एव सर्वोपास्यः ॥८॥

व्याख्यार्थ—इस याग का मूल हेतु शास्त्र है। इसलिए प्रथम–**पर्जन्यो**–इस श्लोक से हेतु का वर्णन करते हैं। पर्जन्य अर्थात् वृष्टि–जल–बरसाने वाला देवता, वह भगवान् ही है। मेघ तो उनकी देह के अवयव हैं। वे ही सभी प्राणियों के प्राण रूप तुष्टि पुष्टि और जीवन–प्राणदान–देनेवाले जल की बरसा–वर्षा करते हैं। इसलिए पर्जन्य ही सारे जगत् की रक्षा करने वाला है। जल और अन्न से ही सारे प्राणी जीवित रहते हैं। इस कारण से इन्द्र परम उपकारी और सर्वाधिक ऐश्वर्य सम्पन्न है। सबको इन्द्र की ही आराधना करना चाहिए ॥८॥

टिप्पणी—पर्जन्यो भगवान्–की व्याख्या में पर्जन्य को भगवान् कहने का आशय यह है, कि भगवान् ही केवल जगत् की उत्पत्ति और पालन कर सकते हैं। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा इन कार्यों का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए यहां पर्जन्य को भगवान् कहा गया है।

लेख—यादृशज्ञान अर्थात् (जिस प्रकार के ज्ञान से) आधिदैविक इन्द्र भगवान् की भुजारूप होने से, यह इन्द्र आधिभौतिक इन्द्र है।

श्लोक—तत् तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ति क्रतुभिर्नराः ॥६॥

श्लोकार्थ—इसलिए हे प्रिय ! सर्व शक्तिमान् तथा मेघों के स्वामी उसके रेतस्-वीर्य रूप जल से सिद्ध हुए पदार्थों से हम (वैश्य) तथा अन्य ब्राह्मण क्षत्रिय सभी लोग यज्ञों के द्वारा उसका यजन-पूजन-करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—अतस्तद्भजनं सर्वे कुर्वन्तीत्याह तत् तातेति, स्नेहेन सम्बोधनमप्रतारणाय, वयं वैश्या अन्ये क्षत्रिया ब्राह्मणाश्च सुतरां ये केचित् सस्योपजीविनस्ते सर्वे वार्मुचां मेघानां पतिमिन्द्रं पोषकत्वेनेश्वरं तद्रेतसैव बीजभूतेन जलेन सिद्धैर्व्रीह्यादिभिः क्रतुभिर्नानाविधैरेव यागैर्नराः सर्व एव मनुष्या यजन्ति मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस कारण सब ही इन्द्र का भजन करते हैं-यह-तत् तात-इस श्लोक से कहते हैं। तात-हे बालक ! यह सम्बोधन स्नेह से किया है। जिससे इस उत्तर की निष्कपटता सूचित है। हम वैश्य और दूसरे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण जो वृष्टि के द्वारा अपनी जीविका करने वाले हैं, वे सभी लोग मेघों के स्वामी तथा पालन करने के कारण सर्वशक्तिमान्-ईश्वर-इन्द्र का यजन उसी के रेतस् (वीर्य) अर्थात् बीजभूत से सिद्ध होने वाले धान्य आदि से अनेक प्रकार के यज्ञ यगादि करके करते हैं क्योंकि शास्त्रोक्त कर्म करने का अधिकार मनुष्यों को ही है ॥६॥

श्लोक—तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।
पुंसः पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—यज्ञ करने के पीछे जो अन्न बच रहता हैं, उससे मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करते हुए अपने जीवन की रक्षा करते हैं; क्योंकि, पुरुषों के पुरुष प्रयत्नों का फल देने वाला पर्जन्य ही है, अर्थात् लोगों की वृत्तियों और व्यवसायों की आशा वर्षा के ऊपर निर्भर है । वर्षा के बिना खेती नहीं हो सकती और खेती ही सब का मूल कारण है ॥१०॥

सुबोधिनी—ततस्तच्छेषेण यज्ञशिष्टान्नेन त्रिवर्गफलसिद्ध्यर्थं जीवन्तीत्याह तच्छेषेणेति, तस्येन्द्रस्य यज्ञस्य वा शेषेण शिष्टान्नेन शेषत्वं वा प्राप्योपजीवन्ति तच्छेषमन्नमुपजीवन्ति, त्रिवर्गफलस्य हेतुर्जीवनं जीवनार्थमन्न, तद्दास्यं वोपजीवन्तीत्यर्थः, ननु स्वपौरुषेणान्नमुत्पाद्य स्वत एव जीवन्ति किमिन्द्रेण कार्यमित्याशङ्क्याह पुंस इति, पुरुषस्य ये पुरुषकाराः पौरुषाणि कृष्यादिव्यापारास्तेषां पर्जन्य एव फलं भावयति, अन्यथा वृष्ट्यभावे पुरुष प्रयत्नो व्यर्थ एव स्यादतः स्वसामर्थ्ये विद्यमानेप्युपजीव्य इन्द्रः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—फिर उस यज्ञ से बचे हुए अन्न के द्वारा-धर्म, अर्थ और काम को सिद्धि के लिए-मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करते हैं-इस बात का-तच्छेषेण-इस श्लोक से कहते हैं। इन्द्र का शेष अथवा यज्ञ का शेष-अर्थात् बाकी रहे अन्न से, इन्द्र का शेष पन अथवा दास भाव प्राप्त करके जीवित रहते हैं। उसके बाकी बचे हुए अन्न से, मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों के फल का कारण जीवन ही है और जीवन का कारण अन्न है। अथवा यों कहा जाए कि मनुष्य इन्द्र का दास भाव प्राप्त करके जीवन धारण करते हैं।

शंका—मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अन्न पैदा करके स्वयं ही जीवित रहते हैं। इसमें इन्द्र क्या करता है? ऐसी शंका के समाधान में कहते हैं, कि पुरुष के खेती आदि कार्यों का पुरुष प्रयत्न आदि सभी व्यापारों का-उद्योगों का-फल देने वाला तो पर्जन्य ही है। यदि पर्जन्य सहायता न करे, वृष्टि नहीं बरसे तो, पुरुष के सारे प्रयत्न निष्फल ही होजाते हैं। इसलिए पुरुष में अपना पुरुषार्थ-सामर्थ्य-होते हुए भी इन्द्र पर ही जीवन का आधार रखना पड़ता है ॥१०॥

श्लोक—य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।
कामाल् लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ॥११॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कुल परम्परा से चले आए धर्म का जो मनुष्य किसी काम, लालच, भय अथवा द्वेष से छोड़ देता है। उसको निश्चय ही शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है ॥११॥

सुबोधिनी—किञ्च परम्परया प्राप्तोयं धर्मोतः कर्तव्योकरणे प्रत्यक्षमेवानिष्टं स्यादित्याह **य एवमिति**, यथा ग्रामदेवता अपूजितास्तत्कालमेव ग्रामं दहन्त्यतः पूजनीयाः '**प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृत**'मिति, **एवम्प्रकारेण पारम्पर्यागतं धर्मत्वेन क्रियमाणं स्वयं नरो भूत्वा यो विसृजेत् स शोभनं शुभफलं न प्राप्नोति**, त्यागे हेतुचतुष्टय कामक्रोधलोभा अन्यभयात् प्रतिबन्धश्च, तानाह **कामादिति**, कामे कर्तुरस्वास्थ्यं यावता कालेन यागः क्रियते तावान् कालो भोग एव व्याप्रियत इति कालसङ्कोचादकरणं कामहेतुकं, **लोभो** द्रव्यगतो दोषः, द्रव्यं स्वार्थे तिष्ठत्वित्यकरणं, **भयमन्यस्मात्** क्लेशभयं वा, **द्वेषो** देवताविषयकः प्रमाणविषयको वा, एवं चतुर्भिर्हेतुभिरभजनेनिष्टमेव फलं शुभफलाभावो वा शुभफले प्रतिबन्धो वा भवेत्, एवं हेतुवादमाश्रित्य लौकिकस्मार्तवैदिकानां सम्बन्धरहितमपि कर्म कर्तव्यमिति निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—फिर यह धर्म अपनी कुल परम्परा से चला आ रहा है। इसलिए भी यह कर्तव्य है और यदि न किया जाएगा तो प्रत्यक्ष ही अनिष्ट फल होगा, यह 'य एवं'-इस श्लोक से कहते हैं। जैसे ग्राम देवतों की पूजा न करने पर, वे तत्काल ग्राम को जला देती हैं इसलिए उनकी पूजा करना ही चाहिए; क्योंकि स्मृति में कहा है कि-"परम्परा से चली आई सेवा का परित्याग द्वेष का मूल है"। जो स्वयं मनुष्य होकर, इस प्रकार **कुल परम्परा से आए धर्म का त्याग कर देता है,**

उसको शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है । त्याग करने में–काम, क्रोध, लोभ और दूसरे के भय से आ प्रतिबन्ध–ये चार कारण होते हैं। कामात्–आदि चार पदों से उनका वर्णन करते हैं। कामना से यज्ञ करने वाले को स्थिरता नहीं होती, क्योंकि जितना समय यज्ञ करने में लगता है, उतना समय भोग करने में ही लगा देता है। इस लिए समय के संकोच से, यज्ञ का त्याग काम से त्याग है। लोभ–यह द्रव्य में रहने वाला दोष है। धन को मेरे स्वार्थ के लिए बचाऊँ–ऐसा विचार करके यज्ञ–धर्म–न करना लोभ से छोड़ देता है। दूसरे के अथवा परिश्रम के भय से तथा देवता विषयक तथा प्रमाण–शास्त्र–विषयक द्वेष से–इस तरह इन चार कारणों से भजन नहीं किया जाए तो अनिष्ट फल मिलता है, शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती अथवा शुभ फल में रुकावट होती है। इस प्रकार हेतुवाद का आश्रय लेकर लौकिक स्मार्त और वैदिक–तीनों प्रकार के सम्बन्ध रहित कर्म भी करने ही चाहिए–यह निरूपण किया है ॥११॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि नन्द तथा अन्य व्रजवासियों की यह बात सुनकर कृष्ण ने उनके मन में इन्द्र पर कोप के भाव उपजाते हुए नन्दरायजी से यों कहा ॥१२॥

सुबोधिनी—तद् भगवान् सर्वधर्मरक्षकः पाखण्ड-धर्मनिराकरणकर्ता दूषितवानित्याह वचो निशम्येति, नन्दस्य वचो निशम्य तथान्येषां सम्मत्यर्थं पुरोहितानामपि, व्रजवासिनः सर्वे मूर्खा एवेति विचिन्त्याधिभौतिक इन्द्रो वृथा भक्षयतीति दृष्टो धर्मो न भवतीतीन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं नन्दं प्रति भगवान् प्राह, ननु देवद्रोहं कुतः कृतवान् जाते वा भगवतः किं स्यात् ? तत्राह केशव इति, ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदाता कोयं वराक इन्द्रः ? ततः पाषण्डधर्मैर्ब्रह्मादीनां देवत्वमेव गच्छतीति तन्निवृत्त्यर्थमेवं कृतवानित्यर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—सारे धर्म की रक्षा और पाखण्ड धर्म का निराकरण करने वाले भगवान् इन तीन–लोक, वेद, स्मृति–प्रकार के सम्बन्ध से रहित और केवल हेतुवाद के आधार पर किए जाने वाले उस कर्म में रहने वाले दोष को बतलाया–यह 'वचो निशम्य' इस श्लोक से कहते हैं। नन्दरायजी तथा अन्य व्रजवासियों को और उनको याग करने की सम्मति देने वाले पुरोहितों के भी वचन सुनकर भगवान् यों विचार करने लगे, कि सभी व्रजवासी वे समझ हैं, यह आधिभौतिक इन्द्र व्यर्थ ही खा जाताहै । धर्म से अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है । दृष्ट फल देने वाला तो धर्म नहीं कहा जाता । इस तरह सोच कर इन्द्र पर क्रोध उत्पन्न कराते हुए भगवान्, पिता नन्दजी से कहने लगे । यहाँ पर यह शंका होती है, कि भगवान् ने इन्द्र देव से बैर क्यों किया तथा इस प्रकार देवद्रोह करने पर भगवान् का अनिष्ट क्यों नहीं हुआ ? इस के उत्तर में कहते हैं कि भगवान्

उनकी हेतुवाद में निष्ठा को दूर करने के लिए भगवान् ने उन से काल. कर्म और स्वभाववाद का वर्णन करने का विचार किया। उनमें कालवाद तो अत्यन्त गूढ होने के कारण, शीघ्र ही हृदयारूढ नहीं हो सकता। केवल ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता ही कालवाद में निपुण होते हैं। शेष कर्म और स्वभाववाद युक्ति और उत्पत्ति में उपयोगी होते हैं। इसलिए युक्ति बतलाने के लिए पहले तो भगवान् * कर्मणा जायते-इस श्लोक से कर्मवाद का वर्णन करते हैं। जैसा शुभ अशुभ कर्म करके प्राणी देव, पशु पक्षी अथवा मनुष्य होता है। जिससे सब उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है और जिसमें सब लीन हो जाता है, उसकी ही उपासना करना चाहिए वह ही उपासना करने योग्य होता है। प्राणी कर्म से ही उत्पन्न होता है और कर्म से ही मरता है। शुभ और अशुभ भोग के समाप्त होने पर, कर्म विपरीत होने से मरता है। स्थिति में भी, कर्म ही कारण है; क्योंकि, जीवित प्राणी कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय तथा कभी कल्याण का अनुभव करता है। यह सब कर्मवाद से ही संगत होता है। कर्म के अभाव में सुख, दुःख आदि की संगत नहीं हो सकती ॥१३॥

श्लोक—अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कर्तारं भजते सोपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥

श्लोकार्थ—और यदि जीव को कर्मों का फल देने वाला कोई ईश्वर है तो भी, वह कर्म करने वाले को ही फल देता है। जो जीव कर्म ही नहीं करता, उसका वह प्रभु (ईश्वर) नहीं है ॥१४॥

सुबोधिनी—ननु कथं कर्मणः कारणत्वं जडं हि कर्म फलं हि चेतनस्य चेतन एव प्रयच्छति स्वामिसेवकयोस्तथादर्शनात् तस्मादीश्वरवाद एव सत्यो न कर्मवाद इति चेत् तत्राहास्ति चेदिति, आदावीश्वर एव नास्ति प्रयोजनाभावात्, कर्मसिद्धान्तानभिज्ञो हि मूर्ख ईश्वरं मन्यते, वेदो हि बोधयति कर्म फलसाधनत्वेन कृते च कर्मणि फलं भविष्यतीति, यथा भोजने तृप्तिर्यथा बीजावापे फलं यथा शयने निद्रैवमलौकिकेपि कर्मणैव फलं भवति, न चानधिष्ठितं कथं साधयेदिति वाच्यं, चेतनो हि जीवस्तस्याधिष्ठाता, न च कर्मानित्यमिति कथं फलसाधकं ? कर्मणो नित्यत्वात् तदानीमेव सूक्ष्मस्वर्गजननाद् बीजाद् गर्भाधानवददृष्टद्वारा वा, अन्यथानुपपत्त्या कल्पितमदृष्टं तादृशमेव कल्पनीयं यदितरानधिष्ठितमेव फलं जनयतीति, अस्तु वेश्वरः कल्प्यमानोप्यकिञ्चित्कर एव सूपकारवज् जीवशेष एव भवेद् यादृशं यस्य कर्म तादृशं तस्मै सिद्धं कृत्वा प्रयच्छतीति, तदाहान्यकर्मणां जीवकर्मणां फलनिरूपक ईश्वरः कश्चिदस्ति चेत् सोपि कर्तारमेव भजति तत्कर्मफलं

---

* लेख—कर्मणा जायते-श्लोक की व्याख्या में-उत्पन्नः (उत्पन्न हुआ) इस पद के आगे-वक्तव्यत्वेन भगवन् मनसि (भगवान् के मन में कहने योग्य विचार उत्पन्न हुआ) इत्यादि पदों को और जोड लेना चाहिए। ऐसे ही उपपन्नाः (उचित है) के स्थान पर उत्पन्नाः (उत्पन्न हुए) ऐसा पाठ लेखकार को अभिष्ट है ॥१३॥

तत्कर्त्रे प्रयच्छति नान्यस्मै, सोपि न ह्यकर्तुः प्रभुः, स्वतन्त्रेश्वरवादे तु वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामतः सर्वथेश्वरवादः समीचीनो न, हैतुकोयमीश्वरो निषिध्यते न प्रामाणिकः, तस्य हेतुनापि निषेधासम्भवात् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—कर्म कारण कैसे हो सकता है, कर्म तो जड़ है। चेतन प्राणी को फल देने वाला चेतन ही हो सकता है, क्योंकि स्वामी और सेवक के सम्बन्ध के प्रमाण से, ईश्वरवाद ही सत्य हो सकता है। कर्मवाद कैसे ठहर सकता है ? ऐसी होने वाली शंका का समाधान–अस्ति–चेदीश्वरः–इस श्लोक से करते हैं । प्रथम तो ईश्वर ही नहीं है; क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। कर्मों के उपर्युक्त सिद्धान्त को न जानने वाला अज्ञानी पुरुष ही ईश्वर को मानता है । वेद तो कर्म का बोध करता है, कि फल के साधन रूप से कर्म करने पर फल की प्राप्ति होगी । जैसे लोक में भोजन करने पर तृप्ति, बीज बोने पर फल और शयन करने पर नींद आती है । इसी प्रकार अलौकिक में भी कर्म से ही फल होता है। इसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता है ।

यहां पर यह कहना भी अनुचित है, कि अधिष्ठाता बिना का कर्म फल कैसे देगा ? क्योंकि जीव स्वयं चेतन है, वही कर्म का अधिष्ठाता है। कर्म को अनित्य बतलाकर (अनित्यकर्म) उसके द्वारा होने वाली फल सिद्धि में सन्देह करना भी उचित नहीं है; क्योंकि कर्म तो नित्य है और वह उसी समय बीज में से गर्भाधान की तरह सूक्ष्म स्वर्ग फल को उत्पन्न कर देता है। अथवा अदृष्ट उत्पन्न करके, उसके द्वारा फल उत्पन्न कर सकता है । अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् आज समाप्त हो जाने वाला कर्म कालान्तर में (मृत्यु के पीछे) अदृष्ट के बिना फल कैसे दे सकता है–इस कारण से अदृष्ट की कल्पना की जाती है । वह अदृष्ट कल्पना उसी तरह के अदृष्ट की जाती है जो बिना किसी अधिष्ठाता के ही फल को उत्पन्न कर देता है। अथवा कोई ईश्वर हो भी तो वह कल्पित ईश्वर कुछ भी कर सकने में असमर्थ ही है । वह तो एक रसोईदार की तरह जीव के आधीन ही रहेगा। जिस जीव का जैसा कर्म होता है वैसा फल उस जीव के लिए (रसोईदार की तरह) सिद्ध करके देता है। इसी को कहते हैं, कि जीवों को कर्म का फल देने वाला यदि कोई ईश्वर है भी, तो वह कर्म करने वाले को ही फल देता है, अर्थात् जो कर्ता जैसा कर्म करता है, उसे ही वैसा ही फल देता है, किसी दूसरे को नहीं देता । वह ईश्वर भी, कर्म न करने वाले का प्रभु नहीं है। स्वतन्त्र ईश्वरवाद पक्ष में ऐसे ईश्वर की कल्पना करनी होगी जो बिना किसी कर्म के चाहे जिस जीव को जो चाहा फल दे सके। तब तो उसमें विषमता और निर्घृणता (क्रूरता) दोष आजाएँगे । इसलिए ईश्वरवाद तो सर्वथा उचित नहीं है। यह हेतुवाद से, ईश्वर को सिद्ध करने वालों के ईश्वर का निराकरण किया है, न कि वेदादि प्रमाणों से सिद्ध हुए ईश्वर का, क्योंकि प्रमाण सिद्ध का निराकरण हेतुवाद से भी होना असम्भव है ।।१४।।

श्लोक—**किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनाम् ।**
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—इसलिए जब जीवों को अपने २ कर्मों का ही अनुसरण करना पड़ता है, तो उनको इन्द्र से क्या मतलब ? पूर्व संस्कार के अनुसार मनुष्यों के भाग्य में जो बदा है, उसे वह इन्द्र कभी अन्यथा–परिवर्तित अथवा विपरीत–नहीं कर सकता ।।१५।।

सुबोधिनी—न ह्यप्रयोजकोपि भर्ता निषेद्धुं शक्यते तस्मात् प्रमाणाभावे हेतुसिद्ध ईश्वरो नाङ्गीकर्तव्यः, तदाह किमिन्द्रेणेति, इह कर्मफलदाने स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनां भूतानामिन्द्रेण किं कार्यम् ? कर्मानुवृत्तिरीश्वरेणापि निषेद्धुं न शक्यत उपजीव्यत्वादत ईश्वरं साधयन्ननीश्वरमेव साधयति तदाहानीशेनान्यथा कर्तुमिति, **अन्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थेनेश्वरेण किं प्रयोजनम्** । ननु कर्मकरण ईश्वरो हेतुर्भविष्यति 'तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति तमसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषती' तिश्रुतेः, प्रथमपि पक्षो नाङ्गीकर्तव्योन्यथोपपत्तेः, कर्मकरणे **स्वभाव** एव हेतुः, यदि सत्त्वमभिव्यक्तं साधु कर्म करोति रजश्चेन् मध्यम तमश्चेदधममिति ततो **नृणां स्वभावविहितमेव कर्म स्वभावेनैव सिद्ध. अन्यथा** कर्तुं समर्थो न भवतीश्वरोतो नाङ्गीकर्तव्य इत्यर्थः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार प्रमाण सिद्ध कर्ता (ईश्वर) का तो–निष्प्रयोजन होने पर भी–निराकरण नहीं किया जा सकता–(मानना ही पड़ेगा) प्रमाण के विना केवल हेतु से सिद्ध किए गए ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है–यह–किमिन्द्रेण–इस श्लोक से कहते हैं । यहां कर्म फल देने में अपने २ कर्म का अनुसरण करने वाले प्राणियों का इन्द्र से क्या काम है ? कर्मों की अनुवृत्ति का निषेध तो ईश्वर से भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि कर्म के ऊपर ही प्राणियों के जीवन का आधार है । इस प्रकार हेतुवाद से इन्द्र की ईश्वरता सिद्ध करने वाला उसकी अनीश्वरता को ही सिद्ध करता है । यह कहते हैं, कि इन्द्र कर्म और कर्म फल को विपरीत (उल्टा) करने में समर्थ नहीं है । ऐसे अन्यथा कर्तुं असमर्थ–विपरीत करने में असमर्थ ईश्वर से क्या प्रयोजन है ?

शंका—श्रुति में कहा है कि वह–ईश्वर–ही जिस जीव को उत्तम लोको में लेजाना चाहता है, उससे उत्तम कर्म और जिसको नीचे लोकों में ले जाना चाहता है, उस से नीच कर्म करवाता है–इस कारण से, कर्म करने में ईश्वर कारण होगा ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि ईश्वर को जीवों की कर्म करने में प्रवृत्ति का कारण तब माना जाए, जब कि जीवों का कर्मप्रवर्तक कोई दूसरा न हो । यहाँ तो कर्मप्रवर्तक स्वभाव है । स्वभाव से ही, जीव कर्म करता है । सत्त्व गुण की वृद्धि–(उद्रेक)–में उत्तम कर्म, रजोगुण की अधिकता होगी, तो मध्यम श्रेणी के कर्म और तमोगुण की वृद्धि में अधम कर्म में प्रवृत्ति होती है । इसलिए मनुष्यों के स्वभाव से विहित ही कर्म स्वभाव से ही सिद्ध होता है । ईश्वर उसे विपरीत करने में समर्थ नहीं है । इसलिए ऐसे असमर्थ ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है ।।१५।।

श्लोक—**स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वबावमनुवर्तते ।**
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—सब प्राणी स्वभाव के ही अधीन हैं, स्वभाव का ही अनुगमन करते हैं । सात्त्विक देव, राजस असुर और तामस मनुष्य सहित यह सारा जगत् स्वभाव के वशीभूत है, स्वभाव ही के अनुसार चलता है ।।१६।।

सुबोधिनी—ननु स्वभावप्रबोधनार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्य इति चेत् तत्राह **स्वभावतन्त्रो हि जन** इति, यदि स्वभावः परिच्छिन्नो देशतः कालतश्च स्यात् तदा तत्प्रबोधार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्यः स्यात् स्वभावस्त्वादौ

है, उस स्थान पर यह जीव कैसे जा सकेगा ? ऐसी शंका का समाधान–देहानुच्चावचान्–इस श्लोक से करते हैं। ऊँचे नीचे अनेक प्रकार के शरीरों को प्राप्त कर करके, यह जीव छोड़ देता है। व्यवधान रहित–निरन्तर–कर्म से ही नवीन देह को ग्रहण करके पहले शरीर का त्याग कर देता है।

सब का शरीर समान–(एकसा)–है, तब भी कभी कोई शत्रु, कोई मित्र और कभी कोई उदासीन होने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब कर्म ही है। अन्यथा–कर्म की अधीनता न हो, तो उनसे अशुभ तथा शुभ फल की प्राप्ति नहीं हो। कर्म से ही जीवों को अशुभ और शुभ फल मिलता है। गुरु भी कर्म ही है; क्योंकि–गुरु उपदेश भी करें और वह सफल भी हो–यदि ऐसा उत्तम अदृष्ट नहीं हो तो गुरु उपदेश ही नहीं करें और वह उपदेश सफल भी नहीं हो। कर्म ही फल दान करता है, इस से ईश्वर भी कर्म ही है ॥१७॥

श्लोक—**तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।**
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—जब स्वभाव सिद्ध कर्म ही सब फल देने वाला है, तब केवल उसी की पूजा करना चाहिए। प्राणियों को स्वभाव के अनुसार अपने कर्म का पालन और उसी का पूजन करना चाहिए। जिसके द्वारा सुख पूर्वक जीविका चले, वही प्राणियों का इष्ट देव है ॥१८॥

सुबोधिनी—अतस्तमेव पूजयेदित्याह **तस्मादिति**, **कर्मैव सम्पूजयेत्** सम्मानयेद्, तस्य सम्माननप्रकारमाह **स्वभावस्थः** सन् **स्वकर्मकृद्** भवेदिति, यस्य यः **स्वभावो** ब्राह्मणादिस्तदनुसारेण स्ववर्णाश्रमविहितं कर्म कर्तव्यमन्यथा पतितः स्यात् फलं प्रयच्छतु मा वेश्वरोस्तु न वा कर्म कर्तव्यमेव, एवं सत्यञ्जसा सामस्त्येनानायासेन येनैवोपायेन प्रकारेण **वर्तेत** जीवेत **तदेवास्य दैवतं**, युक्तश्चायमर्थः, सद्वासद्वा यत्र प्रतिष्ठितस्तद् **दैवत**मिति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से उसी की पूजा करना चाहिए–यह–तस्मात्–इस श्लोक से कहते हैं। कर्म का ही पूजन–सम्मान–करना चाहिए। उसके सम्मान करने की विधि बतलाते हैं, कि जिसका जो स्वभाव–ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भाव हो, उसके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रम में विधान किए हुए कर्म करने ही चाहिए। वर्णाश्रम विहित कर्म के न करने पर तो पतित हो जाता है। फल देवे अथवा न देवे, कोई ईश्वर हो अथवा नहीं हो–कर्म तो अवश्य ही करना ही चाहिए। ऐसी दशा में सब प्रकार सुखपूर्वक जिस उपाय और जिस रीति से जीवन निर्वाह हो सके, वही उसका इष्टदेव है। यह अर्थ उचित ही है। जो जिस सत् अथवा असत् विषय में स्थित है वही उसका दैवत है ॥१८॥

श्लोक—आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपधावति ।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा ॥१६॥

श्लोकार्थ—जैसे पर पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कूलटा स्त्री, पर पुरुष से सुख नहीं पा सकती, वैसे ही जो पुरुष प्रथम, किसी एक पक्ष का आश्रय रख कर, फिर उसे छोड़कर किसी दूसरे की तरफ दौड़ता हैं, उसे उस दूसरे से भी सुख नहीं मिलता है ॥१६॥

सुबोधिनी—अन्यथात्वे बाधकमाहाजीव्येति, **एकतरं भावमाजीव्य** प्रथमं तदनुवृत्तिं कृत्वा पश्चाद् **योन्यमुपधावति** तत्र परितोषमकृत्वाधिकफलार्थमन्यं चेत् पक्षमवलम्बते तदा **न तस्मात् क्षेमं विन्दते** सोपि मन्यते मामपि त्यक्ष्यतीति, अमन्यमानं प्रति दृष्टान्तमाह **जारान्नार्यसती यथेति**, न हि जारो भरणपोषणादिकं करिष्यति नापि सम्भोगं सर्वदा, परलोकस्तु नास्त्येव, तस्मात् कर्मण आवश्यकत्वात् स पक्षो न त्याज्यः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—परम्परागत धर्म का त्याग करने में बाधक का वर्णन-आजीव्यैकतरं-इस श्लोक से करते हैं । पहले किसी एक पक्ष-भाव-का अवलम्बन करके-अनुवर्तन करके, फिर उससे असन्तुष्ट होकर, उसे छोड़कर अधिक फल की प्राप्ति के लिए यदि दूसरे का आश्रय करता है, तो उसको उससे सुख नहीं मिल सकता; क्योंकि, वह दूसरा भी यह सोचता है, कि यह मेरा भी त्याग कर देगा । इस बात को न मानने वाले के लिए दृष्टान्त कहते हैं, कि जैसे कुलटा स्त्री जार (पर पुरुष) से सुख नहीं पा सकती । जार पुरुष उस स्त्री का न तो भरण पोषण आदि करेगा और न सर्वदा सम्भोग ही । परलोक की प्राप्ति तो ऐसी कुल्टा को होती ही नहीं । इस से कर्म आवश्यक है । इसलिए कर्म पक्ष का त्याग नहीं करना चाहिए ॥१६॥

श्लोक—वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण को वेदाध्ययन से, क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा से, वैश्य को वार्ता और शूद्र को इन तीनों वर्णों की सेवा करके जीविका निर्वाह करना चाहिए ॥२०॥

सुबोधिनी—किञ्च कर्मोपजीवका एव सर्वे यतो ब्राह्मणो **ब्रह्मणा** वेदेन **वर्तेत** तस्य वेदाध्ययनादिनैव जीवनं, राजन्यस्तु भुवो **रक्षया** जीवेत, **वैश्यस्तु वार्तया जीवेत, शूद्रस्तु द्विजसेवया,** तेषां सेवायां क्रियमाणायां ते यद् दद्युस्तेन **जीवेत,** तुशब्देनान्यपक्षा निराक्रियन्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ—क्योंकि कर्म ही सब प्राणियों के जीवन का साधन है, इसलिए ब्रह्म-(वेद)-से जीवन निर्वाह करे। ब्राह्मण का जीवन वेदों के अध्ययन से ही है। क्षत्रिय, तो प्रजा की रक्षा करके जीविका चलावे. वैश्य वार्ता से और शूद्र तीनों वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-की सेवा से जीवित रहें। तीनों वर्णों की सेवा करने पर, जो कुछ वे देवें, उससे जीवन का निर्वाह करे। और सब ही धंधों का निराकरण-तु-शब्द का तात्पर्य है ।।२०।।

श्लोक—**कृषिवाणिज्यगोरक्षाकुसीदं तुर्यमुच्यते ।**
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोनिशम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—वैश्यों की वृत्ति वार्ता-खेती, बनिज व्यापार, गोपालन और ब्याज बट्टा-इन भेदों से चार प्रकार की है। हम ग्वाल सदा गाएँ पालकर अपनी जीविका चलाने वाले हैं। यही हमारी जीविका है। इसलिए हम लोगों को इन्द्र से प्रयोजन नहीं है ।।२१।।

सुबोधिनी—एवं सर्वेषामेव वर्णानां स्वकर्मणैव जीवनमिति निर्धार्य वार्तायामिन्द्रो हेतुभिरपेक्षित इत्युक्तस्तन्निराकरणार्थं वार्तां विभजति कृषीति, **कृषिः** कर्षणं **वाणिज्यं** व्यापारो **गोरक्षा** गोचारणं **कुसीदं** वृद्धिजीविका तद् **तुर्यं** चतुर्थं पूर्वभाव एवोपजीव्यमिति, अन्यथा तत् निन्दितमुपपातकमध्ये गणनात्, एवं चातुर्विध्यमुपपाद्य तस्य प्रकृतोपयोगमाह **वार्ता चतुर्विधेति**, तत्र प्रकारेषु **वयमनिशं** सर्वदैव **गोवृत्तयोतः** कृष्णभावात् नेन्द्रेण प्रयोजनमितिभावः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब वर्णों का अपने २ कर्म के द्वारा ही जीवन का निर्धार करके ऊपर कहे हुए-अपने धन्धे के हेतु-भूत इन्द्र की अपेक्षा है-इस पक्ष का निराकरण करने के लिए अपने जीवन के आधारभूत कार्यों का विभाग करके-कृषि-इस श्लोक से बतलाते हैं। कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार करना), गोरक्षा (गाएँ चराना) और कुसीद (ब्याज लेना)। इन में से खेती, व्यापार अथवा गोपालन से जीविका न चल सकने पर ही चौथे से (ब्याज लेकर) जीवन निर्वाह करे। क्योंकि अन्य तीन धंधो के होते हुए भी, ब्याज से निर्वाह करना निन्दित है। ब्याज की गणना, उपपातक-मृदु पाप-में है। इस प्रकार वार्ता के चार भेदों को कहकर, यहाँ उसका उपयोग बतलाते हैं, कि उनमें से हम लोग सदा गोपालन करके जीविका का निर्वाह करने वाले हैं। इसलिए हमारे खेती न होने के कारण, हमें इन्द्र से कुछ प्रयोजन नहीं है ।।२१।।

श्लोक—**सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।**
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ।।२२।।

श्लोकार्थ—सतोगुण रजोगुण और तमोगुण-ये तीन माया के गुण हैं। इन्हीं

गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है । यह विविध प्रकार का चराचर जगत् रजोगुण की प्रेरणा से आपस में उत्पन्न होता है ॥२२॥

सुबोधिनी—अस्तु वा कृषिस्तथापि नेन्द्रस्योपयोग इत्याह सत्त्वमिति, उत्पत्तिस्थितिप्रलयार्थं रजःसत्त्वतमांसि स्वीकृतानि सन्त्यतस्त्रयोपि गुणाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः, समुदायेन निरूप्य प्रत्येकोपयोग निरूपयति रजसोत्पद्यते विश्वमिति, अवश्यं हि रजो जगदुत्पादयति, यदि मेघान् रजो न प्रेरयेत् तदा कथमुत्पादयेत् ? यदीन्द्रादयोप्यङ्गीकर्तव्यास्तेपि गुणाधीना इतिं न तेषां स्वातन्त्र्यं, किश्चान्योन्यं चैतदुत्पद्यते सर्वत्र रजः प्रविष्टमित्यतो बीजादङ्कुरोङ्कुराद् बीजं पितुः पुत्रः पुत्रात् पुनः पिता "प्रजामनु प्रजायन्त" इतिश्रुतेः, किञ्च विविधमपि जगदुत्पद्यतेचित्राच् चित्र चित्रादप्यचित्रं विकलात् सकलः सकलाद् विकल इति, अत एतत् सर्वं रजस एवोत्पद्यत इति वक्तव्यं, एकस्यैव तथाङ्गीकारे लाघवं स्यादतो जीवसृष्टिः कर्मणा जडसृष्टी रजसेति जडसृष्ट्यर्थमपि नेश्वरापेक्षा, एवं सामान्यत ईश्वरवादो निराकृतः, श्रुतिसिद्धस्तु न निराकृत इत्यवोचाम ॥२२॥

व्याख्यार्थ—हम लोगों के तो खेती है ही नहीं और यदि खेती हो, तो भी, इन्द्र का उपयोग नहीं है-यह-सत्त्वंरजः-इस श्लोक से बतलाते हैं । उत्पत्ति, पालन और प्रलय के लिए सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का अंगीकार है । इसलिए ये तीनों गुण उत्पत्ति पालन और संहार के कारण हैं। इन गुणों को इकट्ठा कह कर, एक एक का अलग उपयोग निरूपण करते हैं । रजोगुण से विश्व की उत्पत्ति होती है । इसलिए रजोगुण ही जगत् को उत्पन्न करता है; क्योंकि जब रजोगुण मेघों को प्रेरणा करता है, तभी वे (मेघ) जगत् को उत्पन्न करते हैं, अन्यथा नहीं कर सकते। यदि इन्द्र आदि को मान भी लें तो भी वे स्वतन्त्र नहीं है, वे भी रजोगुण के ही अधीन हैं। सब जगह रजोगुण का प्रवेश है। इस कारण से, यह जगत् परस्पर एक दूसरे से उत्पन्न होता है। इसलिए बीज से अंकुर और फिर अंकुर से बीज उत्पन्न होता है । पिता से पुत्र और फिर पुत्र से पिता की उत्पत्ति होती रहती हैं; क्योंकि श्रुति में कहा है, कि प्रजा के पीछे प्रजा होती रहती है। अचित्र से सचित्र और चित्र से अचित्र तथा अंगहीन से पूरा और पूर्ण से आधा (अंगहीन) उत्पन्न होता है। इसलिए यों कहना चाहिए, कि यह सब रजोगुण से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार, जब एक केवल रजोगुण को स्वीकार कर लेने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तो फिर इन्द्र, मेघ आदि विशेष के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए जीव-सृष्टि कर्म से उत्पन्न होती है अर्थात् जीवों का देहों के साथ संयोग, वियोग एवं सुख दुःख की प्राप्ति होना आदि कर्म से ही होता है। जड़सृष्टि रजोगुण से होती है। इस कारण से जड़सृष्टि के लिए भी ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार सामान्य रीति से, प्रचलित ईश्वरवाद का निराकरण किया है । वेद सिद्ध ईश्वर का नहीं किया है-यह ऊपर कह आए हैं ॥२२॥

श्लोक—रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तेनैव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥२३॥

लेख—व्याख्यार्थ में-जीवसृष्टि-पद का आशय यह है कि जीव का देह के साथ संयोग वियोग तथा जीव को सुख दुःख की प्राप्ति कर्म से ही होती है ॥२२॥

श्लोकार्थ—ये मेघ भी रजोगुण की प्रेरणा से सब जगह जल की वर्षा करते हैं। जल से अन्न पैदा होता है और उसी अन्न से सब का पालन होता है। इसमें इन्द्र क्या करेगा ॥२३॥

सुबोधिनी—इदानीं वृष्टयर्थमिन्द्रोपेक्षित इतिमतं विशेषाकारेण निराकरोति **रजसा चोदिता इति, मेघा वर्षन्ति तेषामन्ता** रजोगुणोस्ति स हि विक्षेपकोतस्तेन विक्षिप्ता वर्षन्त्येव यथा राजानः कौतुकिनः, अन्यथेन्द्राज्ञया वर्षणपक्षे जलेयुक्तभूमौ च वृष्टिर्न स्यादतो रजोविक्षेपादेव यथासुखं वर्षन्त्यत आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च नाज्ञा नियामिका किन्तु रज एव, अतस्तेनैव रजः-प्रेरणावर्षणेव **प्रजाः सिध्यन्ति** जीवन्ति, एवं सति **महेन्द्रः किं करिष्यति ?** तत्कार्यमन्यथैव सिद्धमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—अब वृष्टि के लिए इन्द्र की अपेक्षा है-इस मत का विशेष रूप से निराकरण-रजसा-इस श्लोक से करते हैं। मेघ पानी बरसते हैं। उनके भीतर रजोगुण है। रजोगुण विक्षेपक है, उससे प्रेरित होकर ही मेघ वर्षा करते हैं जैसे राजा लोग कौतुक से प्रेरित होकर दान करते है। अन्यथा-यदि इन्द्र की आज्ञा से मेघ बरसते हों तब तो पानी में तथा ऊषर भूमि में निरर्थक वृष्टि न हो। इसलिए रजोगुण से प्रेरित हुए ही मेघ इच्छानुसार बरसते हैं। इसलिए आवश्यक और लाघव होने से रजोगुण ही पानी बरसने में नियामक हैं। वर्षा होने में, इन्द्र की आज्ञा कारण नहीं है। रजोगुण की प्रेरणा से ही वृष्टि होती है और वृष्टि से उत्पन्न हुए अन्न से ही, प्रजा जीवित रहती है। इन्द्र के करने योग्य कार्य रजोगुण के द्वारा ही सिद्ध होता है, तो फिर, इसमें इन्द्र क्या करेगा ? अर्थात् इन्द्र को अपेक्षा नहीं है ॥२३॥

श्लोक—**न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।**
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस के अतिरिक्त हमारे नगर, जनपद, गांव अथवा घर कुछ भी नहीं हैं। हे तात ! हम लोग तो सदा वन में रहने वाले हैं। वन और पर्वत पर ही अपना निवास है ॥२४॥

सुबोधिनी—अस्तु वा 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेन महेन्द्रकार्यं तथापि नास्माकं तदुपयोगस्तदाह **न नः पुरो जनपदा** इति, नोस्माकं पुरो नगराणि न सन्ति न वा जनपदा देशा न वा ग्रामा हट्टा नापि **गृहाः**, इन्द्रस्य हि लोकपालकत्वं वृष्टिसाधकत्वं यागभोक्तृत्वं दिग्देवतात्वं च चतुर्विधत्वमप्यस्माकं नोपयुज्यते पुराभावात् न तेन रक्षा कर्तव्या नापि तस्याधिपत्यं देशाभावान् न कृष्यादौ तदुपयोगो ग्रामाभावादाहिताग्नेरिवेन्द्रो हविर्न ग्रहीष्य-

---

योजना—रजसा० श्लोक की व्याख्या में-राजानः कौतुकिनः-का आशय यह है कि जैसे रजोगुण से प्रेरित राजा लोग दान करते हैं, वैसे ही रजोगुण से प्रेरित मेघ पानी बरसाते है ॥२३॥

तीति न भयं गृहाभावाच्च दिगादिपरिज्ञानापेक्षा, किञ्च वय वनौकसः, अस्वामिकं वनमितिशास्त्रं, तातेति-सम्बोधनं स्नेहार्थमप्रतारणार्थं च, किञ्च नित्य सर्वदा शैले निवसामः, 'वैष्णवा हि वनस्पतयः' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः, अतो वैष्णव एव याग उचितः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—दुर्जन तोष न्याय से इन्द्र का कार्य हो, तो भी, हमारा इन्द्र से प्रयोजन नहीं है यह, न नः पुरः' इस श्लोक से कहते हैं। हमारे नगर नहीं हैं, न देश हैं। गांव, हाट तथा घर भी हमारे नहीं हैं। इन्द्र लोकों का पालन करने वाला है, वर्षा का कारण है, यज्ञ का भोक्ता तथा दिशाओं का देवता है। इन चारों में से हमारे लिए तो एक का भी उपयोग नहीं है। हमारे नगर नहीं होने से लोकपालक इन्द्र की हमें आवश्यकता नहीं है। हमारे देश भी नहीं हैं जिससे कि लोकाधिपति इन्द्र की आवश्यकता हो। हमारे गांव भी नहीं है। इस कारण खेती में वर्षा करने वाले इन्द्र की अपेक्षा भी नहीं है। अग्नि होत्र करने वाले की तरह भी हमें भय भी नहीं है कि इन्द्र–हवि–आहुति–को ग्रहण नहीं करेगा। और अपने घर न होने के कारण दिशा आदि को जानने के लिए भी हमें इन्द्र की आवश्यकता नहीं है। हम लोग तो वनवासी हैं। शास्त्र में कहा है, कि वन का कोई स्वामी नहीं है। तात! यह सम्बोधन स्नेह तथा सत्यता का सूचक है। हम लोग सदा पर्वत पर रहते हैं। वनस्पति वैष्णव हैं, विष्णु पर्वतों का स्वामी है–यह श्रुति में कहा है। इसलिए हमें वैष्णव यज्ञ ही करना उचित है ॥२४॥

श्लोक—तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मख ॥२५॥

श्लोकार्थ—इसलिए गाय, ब्राह्मण और गोवर्धन पर्वत के ही यज्ञ का आरम्भ करिए। आप लोगों ने इन्द्रयज्ञ के लिए जो सामग्री इकट्ठी की है, उससे इन गिरिराज की पूजा करिए ॥२५॥

सुबोधिनी—तत्र विष्णोर्द्वयमङ्गं ब्राह्मणा गावश्च, मन्त्रा एकत्र प्रतिष्ठिता हविरेकत्र, अद्रिर्गोवर्धनः स्वयमेव देवतातो वैष्णव एव यागः कर्तव्य इति वक्तव्ये गवां ब्राह्मणानामद्रेश्च मख आरभ्यतामित्याह तस्मादिति, यदि युक्तिरेव प्रमाणं तदा श्रुत्यनुसारिण्येषा भवतीति गिरिवनेचराणामेष एव याग उचितः, चकारादङ्गदेवताः सर्वा एव वैदिक्यः परिग्राह्याः, अयमिति गोसवात्मकः, 'अयाजयद् गोसवेने'तिवाक्याद् गोसत्रादयमतिरिक्त एव लौकिकोऽस्य विधानं भगवानेव वक्ष्यति, अनेनैतज् ज्ञापितं युक्तिसिद्धमपीश्वरयुक्तिसिद्धमेव ग्राह्य न तु लौकिकयुक्तिसिद्धमिति, नन्विन्द्रार्थे द्रव्याणि सम्पादितानि कथमेतैरन्यसाधनं? तत्राह य इन्द्रयागसम्भारा आज्यादयस्तैरेवाय मखः साध्यतां, मखपदेन च सर्वदेवोपकारो ज्ञापितस्तत्र त्वेक एवेन्द्रस्तुष्यतीति, अज्ञानात् कृते सर्वत्रैवं व्यवस्था, अन्यस्मै दत्तमपि हविराच्छिद्यान्यस्मै देयमिति, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्र' इत्याद्यभ्युदयेष्टौ कालभ्रमात् प्रवृत्तेष्टिरन्यथा क्रियते तथा प्रकृतेपि युक्तिभ्रमादिन्द्रार्थमपि सम्भृता अन्यार्थमेव कर्तव्याः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—उस वैष्णव यज्ञ में, विष्णु के ब्राह्मण और गाएँ ये दो अंग हैं। ब्राह्मणों में मंत्रों की स्थिति है और दूसरे अंग गायों में यज्ञ का द्रव्य हवि (दूध, दही, घृत) रहता है। गोवर्धन पर्वत स्वयं देवता है। इसलिए वैष्णव याग ही करना उचित है—यह कहते हुए गो, ब्राह्मण और पर्वत का यज्ञ प्रारम्भ करिए, यह 'तस्माद्' इस श्लोक से कहते हैं। यदि युक्तिवाद को प्रमाण माना जाए, तो यह युक्ति वेद के अनुसार है। इसलिए पर्वत और वन में विचरण करने वालों को यही—वैष्णव—यज्ञ करना योग्य है। 'अद्रि श्च'—इस च शब्द से वेद में कहे हुए सभी अंग देवताओं का ग्रहण है। 'अयं'—इस पद से गोसवात्मक यज्ञ का ग्रहण है। गोसव द्वारा यज्ञ कराया—इस वाक्य से, गोसत्र से यह गोसव भिन्न है, लौकिक है। इस का विधान—करने की विधि—को भगवान् ही कहेंगे। इस कथन से यह सूचित किया कि वेद में नहीं कही गई केवल युक्ति सिद्ध वस्तु का ग्रहण करना हो, तो केवल ईश्वर की कही हुई युक्ति से सिद्ध वस्तु का ही ग्रहण करना चाहिए, लौकिक युक्ति से सिद्ध का ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ ऐसी शंका होती है कि इन्द्र के लिए जो पदार्थ इकट्ठे किए हैं, उन से, अन्य का काम सिद्ध कैसे होगा? इसके उत्तर में कहते हैं, कि इन्द्र याग के लिए जो घृत आदि जो सामग्रियाँ इकट्ठी की हैं, उन्ही से, इस मख[1] को सिद्ध सम्पन्न—करिए। मख अर्थात् सब देवतों को तृप्त करने वाला यज्ञ करिए और इन्द्रयाग से तो केवल एक इन्द्र ही का उपकार होगा। यह मूल में कहे मख शब्द का आशय है। अज्ञान से किए हुए कार्य में सभी स्थानों में ऐसा ही होता है। (ऐसी ही व्यवस्था होती है)। अन्यदेव के लिए दी हुई आहुति को उससे हटाकर दूसरे के लिए देदीजाती है। वेद में कहा कि—"जिसके लिए हवि—आहुति—का निर्वाप[2] किया जाए और उसी क्षण में चन्द्रमा का उदय हो जाए तो तण्डुलों के तीन विभाग करके मध्यम विभाग अष्टाकपाल पुरोडाश का अग्नि के लिए और घने तण्डुलों के भाग का इन्द्र के लिए विनियोग करें। इत्यादि अभ्युदय की इष्टि—याग—में जैसे कालभ्रम से दी हुई आहुति का परिवर्तन कर दिया जाता है, वैसे ही यहाँ युक्ति भ्रम से, इन्द्र के लिए दीजाने वाली सामग्री का ही गिरिराज के लिए ही विनियोग करिए ॥२५॥

श्लोक—**पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।**
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—खीर, पूआ, पूरी, जलेबी आदि नाना भांति के पकवान सिद्ध करो। आज का सारा ही दूध उपयोग में लेओ, न ले सको, तो बछड़ों को पिला दो ॥२६॥

योजना—तस्माद् गवां—इस श्लोक की व्याख्या में—'स्वयमेव देवता' पदों का आशय यह है, कि विष्णु, नन्दगांव और बरसाना पर्वत शिव और ब्रह्मरूप हैं तथा गोवर्धन विष्णु रूप है—ऐसा पुराण में कहा है ॥२५॥

१—यज्ञ २—विनियोग

सुबोधिनी—तस्माद् यागादत्र विशेषमाह पच्यन्तामिति, लौकिकोत्सवपुरःसरे तु प्राकृतानां महानुत्साहो भवतीति स्त्रीणामप्यत्रोपकारो भवतीति च, विविधाः पाका भर्जनजलपचनतैलघृतदुग्धदध्यादिषु च पाकाः परिगृहीतास्तेन नानाविधानि भक्ष्याणि सेत्स्यन्ति, तेषां सर्वेषामन्ते सूपः कर्तव्यः पक्वान्नादीनां करणे भूयान् कालो लगत्यतः प्रथमतः सूपकरणे सोम्लतामापद्यते, पायसं हि बहुदुग्धेल्पीयांसस्तण्डुला दत्ता अल्पाग्नावेव पच्यमाना महता कालेन पच्यन्त इति पायसमादौ कर्तव्यं, अथ वा देवानां प्रथमत पाको मध्ये लौकिकानां महतां प्राकृतानां सूपमात्रमिति, ततो यत् कर्तव्यं तदाह संयावो गोधूमचूर्णसारांशाः पूर्वदिवस एव पच्यमाना महता कालेन सिद्धा भवन्ति सोपि ग्राह्यः, अपूप। गुडमिश्रितचूर्णनिष्पादितपाकः स्नेहद्रव्येषु शष्कुल्यो नालाकारेण भ्रमद्वर्तुला भक्ष्यविशेषाः, सर्व एवाद्यतनो दोहो गृह्यतां दुग्धस्य विक्रयादिविनियोगो न कर्तव्यः, चकारादशक्यं वत्सेभ्य एव देयमिति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—उस इन्द्रयाग की अपेक्षा, इसमें विशेष कर्तव्य को पच्यन्तां-इस श्लोक से बतलाते हैं। लौकिक उत्सव के निकट आने पर साधारण मनुष्यों को बड़ा उत्साह होता है। ऐसे उत्सवों में स्त्रियों का भी उपकार होता है; क्योंकि, ऐसे लौकिक उत्सवों में वे भी भाग ले सकती हैं। अनेक प्रकार के पकवान, भूंजने, जल में पकने, तैल, घी, दूध, दही में सिद्ध होने वाले अनेक भांति, पाकों का ग्रहण किया गया है। जिस से नाना भांति के भोजन-(पदार्थ) सिद्ध होंगे। इन सब की तैयारी हो जाने के पीछे सूप[1] तैयार करिए। पकवानों के सिद्ध करने में बहुत समय लगता है, इस लिए यदि दाल पहिले ही करके धरदी जाएगी तो वह खट्टी[2]-हो जाती है। पायस[3]-के पकने में बहुत देर लगती है, क्योंकि वह अधिक दूध में थोड़े से चावल डाल कर मन्द मन्द आंच-पर ही तैयार होती है। इसलिए पायस[4]-को पहिले करना चाहिए। अथवा प्रथम तो देवों के लिए पाक करिए। मध्य में लौकिक महापुरुषों के लिए और अन्त में साधारण पुरुषों के लिए केवल दाल ही सिद्ध करिए। आगे का कर्तव्य कार्य कहते हैं। संयाव[5] गेहूं का दलिया दूध में एक दिन पहले से ही पकाना आरम्भ करके बहुत देर में सिद्ध होती है। वह सयाव करिए। अपूप[6] बड़े आदि जो गेहूं के चून में गुड मिलाकर घी आदि चिकने पदार्थों में तलकर सिद्ध किए जाते हैं, तथा शष्कुली[7]-जो नाल के आकार से घूमती हुई गोल २ खाद्य वस्तु पकवान विशेष है-इन सभी भोजन सामग्री को तैयार-सिद्ध-करिए। आज का सारा दूध इस उत्सव कार्य में ले लिया जाए। बेचा न जाए। यदि दूध का लेना-निकालना (दोहना) अशक्य हो (तो) बछड़ों को ही पी लेने दिया जाए। यह मूल में दिए-च-शब्द का स्वारस्य है ॥२६॥

श्लोक—हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—वेदपाठी ब्राह्मणों के द्वारा विधिपूर्वक हवन कराकर अग्नियों को

१—दाल २—बिगड़ ३—खीर ४—दूधपाक ५—गेहूँ के दलिए की खीर, ६—मालपुआ ७—जलेबी

तृप्त कीजिए । ब्राह्मणों को स्वादिष्ट भोजन कराकर गायों को दक्षिणा में देकर प्रसन्न करिए ॥२७॥

सुबोधिनी—ततोलौकिको देवानामर्थे होमः कर्तव्य इति सम्यग् विधानपूर्वकं ब्राह्मणाः स्वरूपत उत्तमा ब्रह्मवादिनो ज्ञानतः, ततो होमानन्तरं 'प्रत्यक्षदेवता ब्राह्मणा' इति तेभ्योन्नं बहुविधं पक्वान्नादिसहितं देयं वो युष्माभिः, युष्माकं वैतत् कर्तव्यं ब्राह्मणान् प्रति वो युष्मभ्यमिति, धेनवश्च दक्षिणात्वेन देयाः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—फिर देवों को सन्तुष्ट करने के लिए अलौकिक होम करना चाहिए । इसलिए स्वरूप और ज्ञान से उत्तम ब्राह्मण (वेद) ब्रह्मवादियों के द्वारा विधान सहित होम से अग्नियों को तृप्त कीजिए । होम के पीछे ब्राह्मणों को भांति भांति के पकवान सहित अन्न दीजिए; क्योंकि, ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता हैं । आप लोग दीजिए । यह आप लोगों का कर्तव्य है अथवा भगवान् ब्राह्मणों से कहते है तुम्हारे लिए देना चाहिए । गाएँ दक्षिणा रूप से देनी चाहिए ॥२७॥

श्लोक—**अन्येभ्यश्च श्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।**
यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥

श्लोकार्थ—अन्य अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य आदि को देने के पीछे श्वान, श्वपच-चाण्डाल–पतित और पातकी लोगों के लिए भी यथोचित बलि दीजिए । गायों के लिए हरी हरी घास खिला कर गिरि गोवर्धन की पूजा कीजिए, भोग लगाइए ॥२८॥

सुबोधिनी—ततोन्येभ्यो देयमित्याहान्येभ्य इति, क्षत्रियवैश्यादिसर्ववर्णेभ्यस्ततः श्वचाण्डालपतितेभ्यश्च, एते बहिर्बलिभुजोतोन्ते दैवतत्वान् निरूपिताः, 'श्वचाण्डालपतितवायसेभ्यो बलि'रिति, परं यथायोग्यं, ततो गोभ्यो यवसं देयं चारणार्थं न प्रस्थापनीयास्ततो गिरये पर्वताय बलिर्देयः, सर्वमेवान्नमुत्तमं पर्वतसमीपे राशीभूतं कर्तव्यम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—फिर औरों के लिए भी देओ-यह-अन्येभ्यः-इस श्लोक से कहते हैं । क्षत्रिय, वैश्य

योजना—हूयन्तां-इस श्लोक की व्याख्या में-अलौकिको देवानामर्थे होमः (देवों के लिए अलौकिक होम) पदों का तात्पर्य यह है, कि स्मृति और पुराणों में कहे हुए कार्य लौकिक कहे जाते हैं । इसलिए अलौकिक शब्द से वेद में कहा हुआ समझना । इस से यह सिद्ध हुआ, कि वेदोक्त होम करिए । देयं वो धेनुदक्षिणाः-की व्याख्या में वैदिक प्रक्रिय से 'वः' 'युष्माभिः' (तुम्हें) तृतीया भी है तथा 'व':-युष्माभ्यं (तुम्हारे लिए चतुर्थी है ही । इसलिए भगवान् जब नन्दरायजी आदि गोपों को उपदेश देते हैं, तब तो (तृतीया) तुम्हे देना चाहिए और जब पुरोहित ब्राह्मणों को दान का पात्र कहकर इनके लिए गाएँ दक्षिणा में देओ, तब-'वः' यह चतुर्थी विभक्ति है ॥२७॥

आदि वर्णों को तथा श्वान चाण्डाल और पतितों के लिए भी दीजिए । ये सब बाहर से बलि का उपभोग करने वाले हैं । इसलिए इनका देवता रूप से अन्त में (पीछे) निरूपण किया है । श्वान, चाण्डाल, पतित और कौओं के लिए बलि देना-ऐसा विधान है । परन्तु वह बलि-पूजा-उन सब की योग्यता के अनुसार ही करना चाहिए । गौओं को घास दीजिए, उन्हें वन में घास चरने के लिए नहीं भेजिए । फिर पर्वत गोवर्धन की पूजा कीजिए । सारा ही उत्तम अन्न का गिरिराज को भोग लगाइए (निकट ढेर कीजिए) ॥२८॥

श्लोक—स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥

श्लोकार्थ—इसके पीछे भोजन करके, उत्तम वस्त्र और आभूषण पहन कर, सुगन्धित चन्दन लगाइए । फिर गऊ, ब्राह्मण, अग्नि और गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा कीजिए ॥२९॥

सुबोधिनी—ततः सर्व एव वयं स्त्रियो बालाश्च स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः कृतभोजनास्ततश्चन्दनादिलेपनयुक्तास्तत उत्तमकञ्चुकादिवस्त्राणि परिधाय गोवर्धनस्य प्रदक्षिणं कुरुत चकाराद् वृन्दावनस्यापि गवां विप्राणामग्नीनां च प्रदक्षिणं कर्तव्यं, पर्वता अन्येपि तत्समीपस्थाः, आचाराद् गोवर्धन एव वा ॥२९॥

व्याख्यार्थ—पीछे हम सब पुरुष, स्त्रियां और बालक सुन्दर आभूषण पहिनें, भोजन करके चन्दन आदि का अपने अंगों पर लेप करें । उत्तम उत्तम वस्त्र धारण करके गोवर्धन पर्वत, वृन्दावन, गाएँ, ब्राह्मण, अग्नि-इन सबकी परिक्रमा करिए । गोवर्धन के पास के दूसरे पर्वतों की भी अथवा सदाचार के अनुसार केवल गोवर्धन पर्वत की ही प्रदक्षिणा कीजिए ॥२९॥

श्लोक—एतन् मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे पिताजी ! मेरी तो यही सम्मति है । आप लोगों को रुचे तो इस के अनुसार उत्सव कीजिए । यह यज्ञ गायों को, ब्राह्मणों को, गिरिराज को और मुझे भी प्रसन्न करने वाला होगा ॥३०॥

सुबोधिनी—ननु किमेतद् वैदिकं वैदिकादिष्वन्यतरदाहोस्विद् युक्तिसिद्धं केवलयुक्तिसिद्धत्वे पूर्वयुक्तिसिद्ध इन्द्रयाग एव कथं न क्रियत इत्याशङ्कयाहैतन् मम मतमिति, भवद्भिरिन्द्रो वाहं वा परिग्राह्यो मत्परिग्रह एतन् मम मतं कर्तव्यमिन्द्रपरिग्रहे त्विन्द्रयागः कर्तव्यस्तात इतिसम्बोधनादत्र स्नेहोप्यधिकः सेत्स्यत्यतः

क्रियतां तथापि निर्बन्धेन न कर्तव्यं तथा सत्यश्रद्धया कृतमकृतं स्यात्, किञ्चायं यागो **गवां ब्राह्मणादीनां मम च दयितः**, चकारात् देवनामपि **प्रियश्चायं यागो** यतो महयं मत्सम्प्रदानकमेव, एवं सर्वथा तत्परित्यागेनैतत् कर्तव्यमिति ज्ञापितम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यहाँ शंका होती हैं, कि क्या यह वैदिक–वेदोक्त–है अथवा वेदोक्त आदि कर्मों में से–ऐसा करना–कोई एक है या केवल युक्ति सिद्ध ही है ? यदि केवल युक्तिसिद्ध ही हो तो परम्परा से चले आए इन्द्रयाग को ही क्यों नहीं किया जाए ? (ऐसी शंका) इस शंका का उत्तर- 'एतन्मम'–इस श्लोक से देते हैं। भगवान् नन्दरायजी से पूछते हैं, कि आप लोगों को इन्द्र का कहना मानना है अथवा मेरे कहने के अनुसार अन्नकूटोत्सव करके मुझे प्रसन्न रखना है ? यदि मेरा ग्रहण करना चाहते हो, तो, मेरा तो, यही गोवर्धन पूजा करने का सिद्धान्त है और यदि इन्द्र के पक्ष का होना है, तो इन्द्रयाग करिए। हे तात ! इस स्नेह सूचक सम्बोधन पद से यह सूचित होता है कि मेरी बात को स्वीकार करने में स्नेह भी अधिक बढेगा। इससे मैंने कहा, वही कीजिए। वह भी केवल मेरे आग्रह से ही मत करिए; क्योंकि, ऐसा करने पर वह अश्रद्धा से किया गया हो जाएगा। जिसका करना, न करना होगा। यह याग गाय, ब्राह्मण, पर्वत और मुझे भी प्रिय है। (चकार से) देवतों का भी चाहा हुआ–प्यारा–है। क्योंकि वह मेरे लिए ही किया जाएगा। इस कथन से यह सूचित किया, कि इन्द्रयाग का सर्वथा परित्याग करके यह ही कर्तव्य है ॥३०॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता ।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कालरूप भगवान् ने इन्द्र के अहंकार को मिटाने की इच्छा से जो कहा, उसको सुनकर, नन्द आदि गोपों ने उनकी बड़ी बड़ाई की और प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया ॥३१॥

सुबोधिनी—हृदयपूर्वकं भगवताज्ञापितमिति तेषां हृदये समागतमिति वदन् तथा कथने हेतुमाह कालात्मनेति, अयं दुष्टनिराकरणार्थं कालात्मा जातः कालस्यात्माधिदैविकरूपोन्तर्यामी वा जातः, तादृशोपि न स्वरूपात् प्रच्युत इत्याह **भगवतेति**, तथाकथने हेतुः **शक्रदर्पं जिघांसतेति** गर्वस्तस्य दूरीकर्तव्यस्तदुपकारार्थं समागते भगवति तेनावश्यमनुवृत्तिः कर्तव्या तथा सति लीला पुष्टा भवति भूयांश्च निरोधः कर्तव्यो न भवति, अनुवृत्त्यकरणं च गर्वात्, ऐश्वर्यं च तत्र हेतुः, अधिकारित्वात् तन्न निराकर्तव्यमतो अमशास्त्रप्राप्तमेव तस्य निराकृतवान्, **अतस्तेन प्रोक्तं निशम्य** साधनं श्रुत्वा मुख्या एव नन्दाद्याः साधु तद्वाक्यं यथा भवति तथागृह्णन्त तदुक्तोर्थोङ्गीकृतः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—शुद्ध और सच्चे हृदय से की हुई, भगवान् की यह आज्ञा उनके अन्तःकरण में अच्छी तरह समागई–यह कहते हुए श्री शुकदेवजी भगवान् के इस प्रकार कहने का कारण-

'कालात्मा'-इस श्लोक से कहते हैं। दुष्टों का निवारण करने के लिए भगवान् कालरूप हुए हैं। काल की आत्मा आधिदैविक रूप, किंवा अन्तर्यामी हुए हैं। कालरूप होने पर उनके मूलरूप में कोई कमी नहीं आई है-यह भगवता-इस पद का अभिप्राय है। इस तरह कहने में कारण यह है, कि भगवान् की इच्छा इन्द्र के अभिमान को दूर करने की थी। इन्द्र पर कृपा करने के लिए उसके गर्व को दूर करना ही चाहिए। भगवान् के पधार आने पर, इन्द्र को भी भगवान् का अनुवर्तन अवश्य करना उचित था। जिससे यह लीला पुष्ट हो जाती और विशेष निरोध की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु इन्द्र ने ऐश्वर्य के कारण होने वाले गर्व से, भगवान् के कथनानुसार नहीं किया। इन्द्र अधिकारी देवता है। उसके उस अधिकार से होने वाले ऐश्वर्य को दूर करना उचित नहीं है। इसलिए उसके (इन्द्र के) भ्रम शास्त्र से हुए गर्व को ही दूर किया। इस कारण से भगवान् के वचन और साधन प्रकार को सुनकर नन्द आदि मुख्य २ गोपों ने भगवान् के वचनों की सराहना की और उनके कथनानुसार ही करना स्वीकार कर लिया ॥३१॥

श्लोक—तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः।

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥३२॥

श्लोकार्थ—मधुसूदन भगवान् के कथनानुसार गोपों ने सब वैसा ही किया। पहले स्वस्तिवाचन कराकर उस द्रव्य से गिरिराज तथा ब्राह्मणों का पूजन सत्कार किया ॥३२॥

सुबोधिनी—ततस्तथैव कृतवन्त इत्याह तथा चेति, विधानपूर्वकं कृतवन्त इति वक्तुं वाचयित्वा स्वस्त्ययनमित्युक्तवान् स्वस्तिवाचनं पुण्याहवाचनं ततः पूज्यानामर्चा ग्रहाणामिव निमन्त्रणप्रायमेतत् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—फिर वैसा ही किया-,यह-'तथा च'-इस श्लोक से कहते हैं। विधी पूर्वक किया-यह कहने के लिए मूल में-वाचयित्वा स्वस्त्ययं-(स्वस्तिवाचन कराकर) ऐसा कहा है। स्वस्तिवाचन अर्थात् पुण्याहवाचन कराकर पूजनीयों की पूजा की ! ग्रहों को जिस प्रकार निमन्त्रण किया जाता है, यहां भी सब विधि वैसी ही समझना चाहिए ॥३२॥

श्लोक—उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम्।

गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञानुसार, ग्रहों, दिशा के देवों (दिक्पालों) को बली अर्पण करके गायों को हरी हरी घास खिला कर सन्तुष्ट किया। फिर गायों और बछड़ों को आगे करके गिरिराज की प्रदक्षिणा करने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—ततः सर्वानेव बलीनुपहृत्य ग्रहेभ्यो दिग्देवताभ्यस्तदङ्गेभ्यश्च यथोक्तप्रकारेण बलीन् दत्वा पूजाप्रकारानुपहारांश्च, ततः स्वयमत्यादरयुक्ता गोधनान्यग्रे कृत्वा गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः प्रकर्षेण दक्षिणो यथा भवति तथा, यद्यपि सामान्यकथनेनैव विशेषः समायाति तथाप्यन्यूनानतिरिक्तं कृतमिति वक्तुं विशेष उच्यते ॥३३॥

व्याख्यार्थ—फिर सारी बलि अर्पण करके (निकट रख कर) ग्रहों, दिक्पालों तथा उनके अंगभूतों के लिए भगवान् के कथनानुसार विधिपूर्वक बलि देकर-(पूजा करके)-भेंट धरी। फिर स्वयं विशेष आदरयुक्त होकर, गायों को आगे लेकर गिरि गोवर्धन की प्रदक्षिणा करने लगे। अच्छी तरह दक्षिण अर्थात् दाहिने हाथ की तरफ़ गिरिराज को रखकर प्रदक्षिणा की। यद्यपि सामान्य कथन से ही विशेष का ग्रहण हो जाता है, तो भी यहाँ विधि में कमी तथा विधि विरुद्ध का अभाव बतलाने के प्रदक्षिणा की विशिष्टता कही गई है ॥३३॥

श्लोक—**अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।**
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्द्विजाशिषः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुए गोपालों ने बैलों के छकड़ों को सुसज्जित किया। भांति २ के वस्त्र तथा अलंकारों को धारण करने वाली गोपियाँ उन पर चढकर श्रीकृष्ण की लीलाओं को गाती हुई, गिरिराज की परिक्रमा करने लगीं। ब्राह्मण लोग भी प्रसन्न होकर शुभ और अमोघ (सफल) आशीर्वाद देने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रदक्षिणायां विशेषमाहानांसीति, अन्यथा क्लेशः स्याद् भगवत्परता च न स्यादतोनांस्यनडुद्युतानि कृतानि, ततोनांस्यलङ्कृतान्यनडुहश्च ते गोपालास्तान्यारुह्य चकारादनारुह्याप्यन्यानारोप्य सुष्ठ्वलङ्कृता जाता येलङ्कारा अधो न भवन्ति, गोप्योप्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रुरितिसम्बन्धः, चकारादन्याश्च स्त्रियः कृष्णस्य सदानन्दस्य स्वार्थमेवावतीर्णस्य वीर्याणि पूतनानिराकरणादीनि गायन्त्यो जाताः, अनेन कर्मण्यङ्गवैकल्यं च निराकृतं, सत्यो द्विजाशिषश्च जाताः सतां द्विजानां सतां वा भगवदीयानां द्विजानां च, अनेनास्मिन् यागे ब्राह्मणानामतिसन्तोषः स्त्रीणां चेति निरूपितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—प्रदक्षिणा की विशेषता का वर्णन, 'अनांसि' इस श्लोक से करते हैं। छकड़ों में बैठकर न जाते तो परिश्रम होता और चित्त भगवान् में स्थिरता से नहीं लगता। इसलिए गाड़ों-छकड़ों-में बैल जोड़ लिए। गाडों तथा बैलों का शृङ्गार किया। वस्त्र तथा अलंकारों से अलंकृत हुए गोप उन गाड़ों पर बैठ गए और दूसरों को बिठाकर कई गोप पैदल ही चलते रहे। उन्होंने आभूषणों को अपने अंगों पर, इस तरह धारण किया था, जो वे नीचे गिर नहीं सकते थे। इसी तरह, गोपियाँ तथा अन्य स्त्रियां भी सुसज्जित होकर छकड़ों पर बैठकर गिरिराज की प्रदक्षिणा करने लगीं। अपने (व्रजाङ्गनाओं के) लिए ही अवतार धारण करने वाले सदानन्द श्रीकृष्ण के पूतनामारणादि पराक्रमों का गान करने लगी। इस कथन से उनके शरीर में विकलता

तथा इस गोसव में न्यूनता का अभाव सूचित किया है । श्रेष्ठ ब्राह्मणों के अथवा भगवदीयों के आशीर्वाद सत्य हुए । इससे यह निरूपण किया है, कि इस याग में ब्राह्मण तथा स्त्रियों को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ ।।३४।।

श्लोक—कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति वदन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ।।३५।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भी गोपों को विश्वास कराने के लिए गिरिराज गोवर्धन के ऊपर दूसरे विशाल रूप से प्रकट होकर विराजमान हुए । 'मैं ही गिरिराज हूँ'–ऐसा कह कर उस पुष्कल पकवान को आरोगने लगे ।।३५।।

सुबोधिनी—ते हि प्राकृता गोपाला दृष्टमेव मन्यन्तेतो विश्वासार्थं रूपान्तरं कृतवानित्याह **कृष्णस्त्विति**, अत्यन्तमन्योन्यतमोऽस्माद् रूपादतिविलक्षणोतिस्थूलो रूपान्तरमेव, तत् पर्वतस्याधिदैविक रूपमितिपक्षं व्यावर्तयति तुशब्दः, गोपानां **विश्रम्भणं** विश्वास **गतः**, विश्वासो यत्र तादृशे रूपे दृष्ट एव तेषां विश्वास इति विश्वासो भगवद्विषयक इति **तमादत्** तं **बलि** बुभुजे तदा गोपैः कस्त्वमिति पृष्टः **शैलोस्मीति वदन्नितिशब्दः** प्रकारवाची कञ्चित् प्रति गोवर्धनोस्मीति कञ्चित् प्रति शैलोस्मीति कञ्चित् प्रति पर्वतोस्मीत्येवं **वदन्**, एवं **भूरिबलिमादत्** पक्वान्नादिकं बहु भक्षितवान् पर्वतस्थान् सर्वानेव तर्पितवान् ।।३५।।

व्याख्यार्थ—वे गोप लोग प्राकृत–(लौकिक)–थे । इस लिए वे तो देखे हुए–(प्रत्यक्ष)–पर ही विश्वास करने वाले थे । उनको विश्वास दिलाने के लिए भगवान् ने दूसरा रूप धारण किया–यह, 'कृष्णस्तु' इस श्लोक से कहते हैं । इस रूप मे अत्यन्त विलक्षण विशाल रूप धारण किया। भगवान् का यह एक दूसरा ही रूप था । यह रूप गिरिराज का आधिदैविक रूप होगा ? इस शंका के निवारण के लिए मूल में, 'तु' शब्द कहा गया है । गोपों के विश्वास को प्राप्त हुए । दृष्टि में आनेवाले प्रत्यक्ष रूप में ही, उनका विश्वास था । इसलिए वह विश्वास भगवद्विषयक ही था। भगवान् ने दूसरा विशाल रूप धारण करके, पकवान का भोजन किया । जब गोपों ने पूछा कि–आप कौन है' ? तब भगवान् ने कहा कि "मैं गिरिराज हूँ" मूल में आए हुए 'इति' शब्द का प्रकार अर्थ है अर्थात् किसी से–मैं गोवर्धन हूँ, किसी से "मैं शैल हूँ", किसी से "मैं पर्वत हूँ–इस प्रकार उत्तर दिया । ऐसा कहकर, उस पकवान आदि का खूब भोजन किया और पर्वत पर रहने वाले सभी को तृप्त किया ।।३५।।

योजना—इस श्लोक के विवरण में–अनडुहश्च–पद का–आरुह्य पद के साथ अन्वय है । इसलिए यह द्वितीया विभक्ति–कर्म है और गाडों पर बैठ कर गए–यह सम्बन्ध है ।।३४।।

योजना—'आधिदैविक रूपं'–इस व्याख्या के पदों का तात्पर्य यह है, कि यह रूप गोवर्धन का

श्लोक—तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेत्मनात्मने ।
अहो पश्यत शैलोसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥

श्लोकार्थ—उस समय श्रीकृष्ण भगवान् ने व्रजवासियों के साथ स्वयं अपने दूसरे रूप को नमस्कार किया फिर गोपों से कहा—अहो देखो ! गिरिराज ने स्वयं प्रकट होकर हम पर दया दिखाई है । यह जब चाहे, जैसा रूप धारण कर सकते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—ततः केषाञ्चित् सन्देहोपि भवेदिति सर्वान् प्रदर्श्य नमस्कारं करोति, **व्रजजनैः सह तस्मै नमश्चक्र आत्मना स्वेनैवात्मने स्वस्मै**, आकारस्त्वत्र वैदिकप्रक्रियया लुप्तः, **आत्मनेति** द्वारान्तरनिषेधाय स्वरूपस्य करणता, तत्र तत्र स्थिता मायापसारितेति ज्ञापयितुमात्मन इत्युक्तं, सर्वथा 'तदेवैत'दितिवचनमप्याहाहो **पश्यतेति**, **असौ** शैलः सर्वात्मकत्वादानन्दमयस्य बीजस्य तथात्वादतस्तन्नाम्नैव व्यपदिश्यते, **पश्यतेतिप्रबोधनं** विशेषज्ञापनार्थं **प्रमाणवस्तुपरतन्त्रे**पि सावधानार्थं विधिर्युक्त एव, ननु शैलो गोवर्धनः **पृथग्** दृश्यते **कथमसौ शैल** इति ? **तत्राह रूपीति असौ रूपवान् कामरूपो ह्ययं**, **अतो भवतां सन्तोषार्थमेतादृश**रूपं कृत्वा भुङ्क्त इत्यर्थः, एतदप्यानन्द एव सङ्गच्छते, किञ्च **नोस्माकमनुग्रह व्यधाद्** दत्तार्थस्वीकारात्, अन्यथा प्रदर्शयेदेवात्मानं न तु भुञ्जीत, **न** इति सामान्योक्तिर्नमस्कारवत् समर्थनीया ॥३६॥

व्याख्यार्थ—कई एक लोगों को सन्देह भी हो सकता है । इसलिए सब को दिखाकर नमस्कार करना–'तस्मै नमः'–इस श्लोक से कहते हैं । व्रजजनों के साथ, उस शैल रूप को नमस्कार किया । स्वयं आपने स्वयं अपने लिए ही नमस्कार किया । वैदिक प्रक्रिया से यहाँ आत्म शब्द के आकार का लोप हो गया है । आत्मना अर्थात् स्वयं ने नमस्कार किया, किसी अन्य के द्वारा परम्परा से नहीं ।

आधिदैविक रूप नहीं था । यह तो, श्री गोवर्धन में विराजने वाले शुद्ध पुष्टि पुरुषोत्तम का स्वरूप था । यहाँ गोवर्धन निवासी पुरुषोत्तम स्वरूप के साथ, श्री नन्दराज कुमार पुरुषोत्तम का दोनों का साथ साथ ही भोजन करना समझना चाहिए; क्योंकि, दोनों स्वरूप एक ही तो हैं । इसलिए एक नन्दराजकुमार रूप से गोपों को गोवर्धन में निवास करने वाले स्वरूप की पूजा करने का उपदेश देते हैं और स्वय गोवर्धन की पूजा करते है । उस शिक्षक स्वरूप में नन्दरायजी की पुत्र भावना दृढ है, वे उस स्वरूप को अपना पुत्र मानते हैं । इसलिए–यह देव मेरे पुत्र का कल्याण करें–इस भावना से नन्दरायजी स्वय पूजा करते हैं और अपने बालक श्रीकृष्ण से पूजन कराते है । इसलिए इस लीला और इस भाव को लेकर हमारे मार्ग में भगवान् श्री नवनीतप्रियजी गोवर्धन की पूजा करते है । नन्दराजकुमार और गोवर्धन में सदा विराजमान–दोनों स्वरूपों ने साथ ही भोजन किया था । इस कारण से, गोकुल और गोवर्धन में रहनेवाले दोनों स्वरूपों की भोजनलीला एक ही स्थान पर बतलाने के लिए श्री गुसाईजी–श्री विट्ठलनाथजी–महाराज ने भगवान् की आज्ञा से, श्री नवनीत प्रिय आदि स्वरूपों को, श्री गोकुल से पधरा कर श्री गोवर्धनधर के साथ अन्नकूटोत्सव मे स्थापित किए । वे सब स्वरूप साथ ही भोजन करते है । श्रीमद्भागवत के अनुसार गोकुलस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप और गोवर्धनस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप दोनों का साथ २ भोजन का वर्णन होने से, दोनों स्वरूपों का अलग २ दर्शन का वर्णन किया गया है ॥३५॥

स्वरूप को ही साधन बनाकर, उस उस स्थान पर की माया को दूर किया–इस बात को सूचित करने के लिए आत्मने (अपने आप के लिए) पद का प्रयोग किया है। सर्वथा 'वह ही यह है (भगवान् स्वयं गोवर्धन हैं)–ऐसा भी–अहो पश्यत (अहो देखो) इन पदों से कहते हैं। यह भगवान् पर्वत है; क्योंकि भगवान् सर्वात्मक हैं। सर्वात्मक ही आनन्दमय का बीज–मूलस्थान–हैं इसलिए उस–पर्वत–के नाम से ही यहाँ कहा गया है। विशेष ज्ञान कराने के लिए ही भगवान् ने गोपों से–'पश्यत'–देखो–ऐसा प्रबोधन रूप में कहा है। यद्यपि वस्तु का ज्ञान प्रमाणाधीन है, तो भी, सावधान करने के लिए–देखो–यह विधिप्रयोग उचित ही है।

पर्वत तो गोवर्धन है जो अलग दिखाई देता है, भगवान् पर्वत कैसे हो सकते हैं? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह रूपी अर्थात् जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए आप लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए ऐसा रूप धारण करके भोजन करते हैं। इच्छानुसार जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेना भी आनन्दरूप भगवान् में ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि वही (आनन्द रूप भगवान् ही) सब का बीज है * यह ऊपर कहा जा चुका है। हमारे द्वारा अर्पण किए हुए सभी पदार्थों को स्वीकार करके इन्होंने हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया है। नहीं तो केवल दर्शन दे देते, भोजन नहीं करते। नः (हमारे ऊपर) का तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर स्वयं ने स्वयं अपने आप को ही नमस्कार करना लिखा है, वैसे ही यह सामान्य कथन अर्थात् स्वयं हमने हमारे ऊपर ही अनुग्रह किया है ॥३६॥

---

* आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

लेख—'तस्मै नमः' की व्याख्या में–तथात्वात् अर्थात् भगवद्रूप होने से। श्रुति में आनन्द को ही सब का बीज कहा है और वह आनन्द भगवत्स्वरूप है। इसलिए सब नामों से भगवान् ही कहे जाते हैं। एतदपि–अर्थात् आनन्द के बीज और बीज के सूक्ष्म होने से उसके कार्य का जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेना उचित ही है। नमस्कारवत् (नमस्कार की तरह) का आशय यह है, कि जैसे स्वयं ने स्वयं को नमस्कार किया ऐसे ही स्वयं ने स्वयं पर अनुग्रह किया।

योजना—'तस्मै नमः'–इस श्लोक की व्याख्या में–आत्मानात्मने–इत्यादि से यह अर्थ बोध होता है कि स्वयं भगवान् ने एक स्वरूप से नन्दरायजी के साथ रह कर गोवर्धन में रहने वाले अपने दूसरे स्वरूप को नमस्कार किया। व्रज वासियों के सारे भाव–(स्नेह)–श्रीकृष्ण ही में स्थित थे, किन्तु नन्दराजकुमार रूप से थे। उनकी श्रीकृष्ण में देवबुद्धि नहीं थी। वे देवभाव से किसी दूसरे का भजन करेंगे तो भगवान् में निरोध सिद्ध नहीं होगा। इसलिए उनका भगवान् में निरोध सिद्ध करने के लिए और अपने में देव भाव स्थापन करने के लिए श्री गोवर्धन पर्वत में रहने वाले स्वरूप का पूजन करवाया। उन गोपों के हृदय में माहात्म्यज्ञान प्रकट करने के लिए स्वयं ने भी गोवर्धन की पूजा की। इस लीला से यह सिद्ध होता है, कि व्रजवासियों का देव गोवर्धन पर्वत में रहनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम हैं। इसी कारण से, गोवर्धन पर विराजमान श्री गोवर्धननाथजी हमारे सिद्धान्त–(पुष्टिमार्ग)–में देव हैं। उनमें ही देव रूप से व्यवहार होता है। जैसे देव मन्दिर में, ध्वजा आदि (का आरोपण) बांधी जाती है वैसे ही पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को ऐसी भावना करना चाहिए।

शंका होती है कि भगवान् ने अपने आपको–शैलोऽस्मि–शैल–पर्वत–क्यों कहा; क्योंकि गोवर्धन पर्वत का स्वरूप तो अलग दिखाई दे रहा है? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् पर्वत है, क्योंकि भगवान् सर्वात्मक–सर्वस्वरूप–है। यह (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, पुरुष एवेदं सर्वम्, स सर्वं भवति) सारा जगत् भगवन्मय है, भगवान् ही यह सारा जगत् है, भगवान् ही सब जगद्रूप होते हैं–इत्यादि श्रुतियों में भगवान् की सर्वरूपता का स्पष्ट वर्णन है। इसी बात को व्याख्या में–आनन्दमयस्य बीजस्य तथात्वात्–(आनन्दमय बीज सर्व रूप है) इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है। यह जीव (एतमानन्दमय–मात्मानमुसंक्रामति) आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है–इस श्रुति के अनुसार यह आनन्दमय है। आनन्दमय ही सबका कारण है–इसलिए वही बीज है। आत्मा से ही, आकाश उत्पन्न हुआ। आत्मा से ही, यह सब भूत–प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं–इत्यादि श्रुतियों में आनन्द को सब का कारण कहा है

श्लोक—एषोवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—वन में रहने वाले जो प्राणी इनका अपमान करते हैं, यथेच्छ रूप धारण करने वाला यह देव उनका विनाश करदेता है। आओ, हम लोग अपने और गायों तथा सारे व्रज के कल्याण के लिए इनको नमस्कार-(प्रणाम)-करें ।।३७।।

सुबोधिनी—एवं तस्य स्वरूपमुक्त्वाग्रेपि भजनसिद्धयर्थं प्रार्थयतेत्याहैष इति, अप्रार्थनायां बाधकं वदन्नवज्ञामात्रेपि बाधकमाहावजानतोवज्ञां कुर्वतः किमयं करिष्यतीति मर्त्यान् मरणधर्मयुक्तानिदं महदनिष्टमिष्टानिष्टवार्ता दूरे वस्तुतो हन्त्येव. तस्य हनने सामर्थ्यं प्रकारं चाह कामरूपीति, कामं यथेष्ट रूपवानतः शस्त्री भवति व्याघ्रो भवति सिंहो भवति, पलायनं त्वशक्यं यतः सर्वे वनौकसः, वनमेवौकः स्थानं येषामित्यतस्तान् हन्त्येव, अहनन उपायमाहास्मै नमस्याम इति, अप्रतारणार्थमात्मानुप्रवेशः, हेतुवादोयमितीतरनिषेधे तात्पर्यान् नात्यन्तमाग्रहः कर्तव्यः, आत्मनः शर्मणे गवां च शर्मणे व्याघ्रादीनामुभयोपद्रवजनकत्वात्, नमस्कार एव महतां प्रतिविधिः, तदाह हिशब्दः, एवमग्रेपि तथाकरणसिद्धयर्थमेतत्परित्यागे भयं च जनयितुं तथोक्तवान्, ईश्वरवाक्यात् तथैव च भवेत् ।।३७।।

व्याख्यार्थ—इस तरह उसके स्वरूप का वर्णन करके आगे भी भजन की सिद्धि के लिए इसकी प्रार्थना करो यह, 'एषः' इस श्लोक से कहते हैं । प्रार्थना न करने में बाधा का वर्णन करते हुए केवल अपमान करने पर भी, बाधा का वर्णन करते हैं, कि इनका तिरस्कार करने वाले मरण धर्म वाले-(नाशवान)-प्राणियों का बडा अनिष्ट होता है । इष्ट, अनिष्ट की बात तो दूर रही, यह तो उनका विनाश ही कर देता है; क्योंकि यह जब चाहे जैसा रूप धर लेता है । शस्त्र धारी हो जाता है, व्याघ्र तथा सिंह रूप धारण कर लेता है । इसके सामने से कोई भग कर बच नहीं सकता; क्योंकि सब वन में रहने वाले हैं । इसलिए उन्हें यह मार ही डालता है। न मारने का (बचने का) उपाय बतलाते हैं कि-आओ हम सब इनको नमस्कार करें । गोपों की प्रवंचना न करने-(उन्हें न ठगने)-के लिए नमस्कार करने वालों में अपनी भी गणना करते हैं अर्थात् गोपों के साथ स्वयं भी पर्वत को नमस्कार करते हैं। यह हेतुवाद है। इसलिए यहां दूसरे का निषेध करने में ही तात्पर्य है। विशेष आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है । अपने और गौओं के कल्याण के लिए इनको नमस्कार करें। व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जन्तु हम गोप और गायों-दोनों को ही-उपद्रव करते हैं। महापुरुषों के कोप की शान्ति के लिए नमस्कार ही किया जा सकता है, अर्थात् महापुरुष केवल नमस्कार करने से ही प्रसन्न हो जाते हैं । यह मूल में आए हुए-हि-शब्द का तात्पर्य है।

और सब का कारण होने से, आनन्द ही बीज है । बीज समवायी कारण है और कार्य समवायी कारण से अभिन्न होता है-इसलिए कार्य-जगत् भी-आनन्द रूप ही है । इस कारण से भगवान् सबके कारण होने से, स्वयं शैल रूप भी हैं। अतः भगवान् का अपने आप को शैलरूप कहना उचित ही है । नमस्कारवत् समर्थनीया (नमस्कार की तरह समर्थन करना चाहिए) व्याख्या के इन पदों का अभिप्राय यह है कि जैसे स्वयं भगवान् ने शैल-पर्वत-रूप स्वय को नमस्कार करके उन व्रजवासियों को उस शैलरूप स्वरूप का माहात्म्य ज्ञान कराया, इसी तरह (अपने ऊपर) माहात्म्य-ज्ञान कराने के लिए अपने ऊपर अनुग्रह किया है। (ऐसा कहा है) इससे, जिन व्रजवासियों पर अनुग्रह हुआ, उनमें भगवान् ने अपने आप की भी गणना की ।।३६।।

यह गिरि गोवर्धन पूजोत्सव–अन्नकूट–आगे भी इसी तरह चालू रखने तथा इसको त्यागने पर भय उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने इस प्रकार के वचन कहे हैं । भगवान् के वचन होने के कारण, वैसा होवे ही, अर्थात् गोवर्धन का अपमान करने वालों का विनाश अवश्य ही हो सकता है ।।३७।।

श्लोक—इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ।।३८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार वासुदेव भगवान् की प्रेरणा से वे गोप लोग भगवान् की आज्ञानुसार ही गोवर्धन, गायों और ब्राह्मणों के वैष्णव याग को विधिवत् करके फलरूप भगवान् श्रीकृष्ण के साथ व्रज में चले गए ।।३८।।

सुबोधिनी—एवं कारयित्वा बोधयित्वा च पुनः स्वस्थानं प्रापितवानित्युपसंहरतीतीति, **अद्रिगोद्विजानां मखं वैष्णवमख कृत्वा वासुदेवेनैव प्रकर्षेण नोदिता** विशेषाकारेण तत्र तत्र तथा तथा बोधिता **यथा** यथावद् **विधाय** भगवदावेशेनैतत् कृत्वा पुनस्त एव **गोपा** भूत्वा फलसहिता **व्रजं ययुः** स्वस्थानं प्राप्तवन्तः, अन्ते प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा तज्जनितमन्यदेव किञ्चित् फलं स्यादितिशङ्का स्यादतः प्रत्यापत्तिरुक्ता ।।३८।।

इति श्रीमद्भागवत सुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-वान्तरसाधनप्रकरणे तृतीयस्य स्कन्धावित एकविंशाध्यायस्य विवरणम् ।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार गोवर्धन याग कराकर, उनको पीछे अपने स्थान पर ले गए–यह उपसंहार–इति–इस श्लोक से करते हैं । **गोवर्धन.** गाय और ब्राह्मणों के वैष्णवयाग को वासुदेव भगवान् के द्वारा ही प्रेरित हुए वे गोप लोग अर्थात् जहाँ २ जैसा २ कर्तव्य था–उसी तरह भगवान् के द्वारा बोधित होकर विधि पूर्वक यह सब–भगवान् के आवेश से–करके, फिर केवल गोप ही–भगवान् के आवेश से रहित–होकर फल रूप भगवान् के साथ अपने स्थान व्रज को लौट गए । अन्त में यह कहा गया है कि वे व्रजवासी जन पहले जैसे थे, वैसे ही हो गए । यदि यहाँ अन्त में यह नहीं कहा जाता तो इससे होने वाले कुछ दूसरे ही फल के उत्पन्न होने की शंका हो जाती । इस ऐसी शंका का अवसर, न आने देने के लिए ही पहले वे जैसे थे, वैसे ही (आवेश शून्य) होकर व्रज को लौट गए ।।३८।।

इति श्रीमद्‌भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्घ के २१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण के तीसरा अध्याय हिन्दी-अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

टिप्पणी—'इत्यद्रि०'–इत्यादि श्लोक की व्याख्या–वासुदेव–प्रणोदिताः (वासुदेव के बोध से) यहां वासुदेव शब्द कहने का तात्पर्य यह है, कि गोपों के अन्तःकरण को शुद्ध सत्त्वाकार करके, उसमें कर्मोपयोगी श्रद्धा और सामर्थ्य उत्पन्न की और फिर उसमें स्वयं प्रकट होकर भगवान् ने यह सब करवाया । इसी अभिप्राय से (प्रचोदिताः) प्रेरणा पाए हुए गोप लोगों ने (गोवर्धन याग) यह सब कुछ किया–ऐसा कहा है । अन्यथा ऐसा नहीं कहा जाता । अन्त में पीछे लौटते समय वे केवल गोप ही मुख्य थे, उनमें भगवान् गौण हो गए थे । इसलिए उस समय, उनमें भगवान् का आवेश नहीं था–ऐसा सूचित होता है । इन दोनों पदों के तात्पर्य को व्याख्या में–भगवदावेशेनैतद (भगवान् के आवेश से यह सब किया) इत्यादि कहकर प्रकट किया है ।।३८।।

।। इति शुभम् ।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २५वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २२वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'चतुर्थोऽध्याय'

श्री गोवर्धन धारण

कारिका—**हेतुशास्त्रमिदं यस्माद् दृष्टार्थमुपयुज्यते ।**
अदृष्टार्थं तथा चान्यत् तज् ज्ञापयति निश्चितम् ।।१।।

कारिकार्थ—यह हेतु शास्त्र है; क्योंकि इस का दृष्ट फल में उपयोग है अर्थात् जिस किसी कार्य के करने से उसका फल (परिणाम) प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, वह हेतु शास्त्र है, जैसे यहाँ इन्द्रयाग करने पर इन्द्र वृष्टि द्वारा लोक को सुखी करता है । इसलिए यह हेतु शास्त्र है और जिसका फल यहाँ स्पष्ट नहीं दिखाई देता हो, वह शास्त्र हेतु शास्त्र से भिन्न है । जैसे वेद में कहे हुए अग्निष्टोम आदि का फल स्पष्ट नहीं दीखता है । इसलिए वह हेतु शास्त्र का विरोधी शास्त्र कहलाता है । यह इन दोनों हेतुवाद-(प्रत्यक्ष शास्त्र) तथा अहेतुशास्त्र-(परोक्ष शास्त्र) का निश्चय हैं ।।१।।

टिप्पणी—कारिका में कहे-तद् ज्ञापयति निश्चितम् (उन दोनों शास्त्रों का निश्चय कहा जाता है) । पदों का अर्थ कहते हैं । यहां जिस कर्म का फल स्पष्ट दीखता है, उस इन्द्रयाग रूप कर्म का अधिष्ठाता इन्द्र अपने यज्ञ का त्याग (भंग) होने के कारण-अनिष्ट उत्पन्न करके अपना प्रभाव प्रकट करता है ।

कारिका—**हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह ।**
वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव है ।।२।।

कारिकार्थ—हैतुक-(दृष्टफलक)-यज्ञ में फल का भोगने वाला यह इन्द्र है, जिसने वृष्टिरूपी विघ्न करके अपना प्रभाव दिखाया । इस कारण भगवान् कृष्ण को गोवर्धन-धारी होना पड़ा ।।२।।

कारिका—**उभयोर्हैतुकत्वार्थमेवं भगवता कृतम् ।**
निषिद्धभोगिनो बुद्धिर्नृष्टा भवति सर्वथा ।।३।।

कारिकार्थ—इन्द्रयाग तथा पर्वत याग, ये दोनों ही दृष्ट फल वाले होने के कारण, भगवान् ने इस प्रकार इन्द्रयाग का भंग करके पर्वतयाग किया । निषिद्ध वस्तु का भोग करने वाले की बुद्धि का सर्वथा नाश हो जाता है ।।३।।

कारिका—**इतीन्द्रस्य महामोहवाक्यान्याह विशेषतः ।**
द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण विनिपीडितम् ।।४।।
व्रजं गोवर्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति ।।४½।।

कारिकार्थ—इस बात को बतलाने के लिए इन्द्र के महामोह के वाक्यों को विशेष रूप से इस बाईसवें अध्याय में कहते हैं और इसी अध्याय में यह भी कहा है, कि इन्द्र के द्वारा पीड़ित व्रज की, कृष्ण ने गोवर्धन धारण करके अच्छे प्रकार से रक्षा की ।।४½।।

॥ इति कारिकार्थः ॥

टिप्पणी—'उभयो हैतुकत्वार्थम्' (दोनों के हैतुक होने से)—कारिका के इन पदों का तात्पर्य यह है, कि यद्यपि भगवान् के इन्द्र के वृष्टि रूपी विघ्न से रक्षा कर लेने के, अनेक दृष्टि में न आने वाले भी, उपाय थे, तो भी गोवर्धन रूपी स्पष्ट दिखाई देने वाले साधन से ही रक्षा करने का कारण कहते हैं, 'तच्छेषेणोपजीवन्ति'—(बाकी बचे हुए भाग से जीवित रहते हैं) श्री नन्दरायजी ने जैसे पूर्वाध्याय में कहा था कि हम लोगों के जीवन के आधारभूत अन्न को उत्पन्न करने वाले इन्द्र का याग करना चाहिए । इसी प्रकार, वही श्री भगवान् ने भी—वयं गोवृत्तयोऽनिशं, वन शैल निवासिनः, गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः (हम गोपाल सदा वन तथा पर्वत पर

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी राजा से कहते हैं कि तब इन्द्र ने अपनी पूजा के नाश को जानकर, श्रीकृष्ण को अपना स्वामी मानने वाले नन्द आदि गोपों पर बड़ा क्रोध किया ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये इन्द्रयागभङ्गो निरूपितस्ततः क्रुद्ध इन्द्रो व्रजपीडार्थं वृष्टिं करोतीति निरूप्यते इन्द्र इतिदशभिः,

व्याख्यार्थ—पहले अध्याय में कहे गए इन्द्रयाग के भंग से कुपित हुआ, इन्द्र व्रज को पीड़ा देने के लिए वृष्टि करता है-यह यहाँ दश श्लोकों से वर्णन किया जाता है । इन्द्र के सारे इन ऐश्वर्य आदि छः गुण तथा धर्म आदि चार पुरुषार्थ-दशों का नाश दश श्लोकों से निरूपण किया है ।

कारिका—क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् ।
पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण हि ॥१॥

कारिकार्थ—प्रथम से लेकर दशवें श्लोक तक क्रम से क्रोध[1], उद्यम[2], चार वाक्य[3-6], आगे आने वाले श्लोकों से सम्बन्ध[7], पीड़ा[8], हेतु[9] और फल[10] का निरूपण है ।

सुबोधिनी-आदौ तस्य क्रोधमाहेन्द्र इति, तदा गोकुलगमनसमय एव, आत्मनः पूजां विहतां ज्ञात्वा नृपेतिसम्बोधनं राज्ञां तथात्वज्ञापनाय गोपेभ्यश्चुकोप, ननु गोपा अज्ञाः कथं कोपस्तेषु ? तत्राह नन्दादिभ्य इति, नन्दो हि महान्, तर्हि कोप उचित इति चेत् तत्राह, कृष्णनाथेभ्य इति, कृष्ण एव नाथो येषां, नन्विन्द्रः शुद्धसत्त्वपरिणामरूपः कथमेवं कृतवान् ? तत्राह स इति, निषिद्धभागभोक्ता ॥१॥

व्याख्यार्थ-पहले-इन्द्रः-इस श्लोक से इन्द्र के क्रोध का वर्णन किया है । गोकुल में जाने के समय में ही अपनी पूजा का भंग होना-विनाश-जानकर गोपों पर उसने क्रोध किया । नृप-यह सम्बोधन

रहने वाले हैं, गो, ब्राह्मण, पर्वत का यज्ञ प्रारम्भ करिए) गाय और पर्वत हम लोगों के जीवन का आधार होने से, इन्द्र याग न करके हमें गाय तथा पर्वत का याग करना चाहिए । इस प्रकार इन्द्रयाग तथा व्रज राजकुमार की युक्ति से सिद्ध पर्वत याग-दोनों ही हैतुक हैं ।

'एवं भगवता कृतम्' (भगवान् ने इस प्रकार किया) अर्थात् इन्द्रयाग के भंग से होने वाला अनिष्ट जैसे स्पष्ट दिखाई दिया, उसी प्रकार स्पष्ट दीखने वाले (दृष्ट) साधन से ही भगवान् ने इस अनिष्ट का निवारण किया । वास्तव में तो 'गोपाये स्वात्मयोगेन' (मैं अपने प्रभाव से रक्षा करता हूँ) रक्षा स्वयं भगवान् ने स्वात्मयोग से ही की थी, किन्तु और लोगों को ऐसा प्रतीत हो, कि गोवर्धन धारण करके रक्षा की इसलिए स्वयं गोवर्धन धारण किया । नहीं तो, भगवान् का स्वात्मयोग से रक्षण कहना विरुद्ध होगा । तात्पर्य यह है, कि जिस रूप से भोजन किया, उसी रूप से रक्षा की ।

'राजाओं' की प्रकृति ऐसी ही होती है-यह प्रकट करने के लिए कहा है । उन बेसमझ गोपों पर, इन्द्र ने कोप क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि यद्यपि गोप अज्ञानी थे, तो भी नन्दरायजी उनमें बड़े थे। उनने ऐसा अनुचित कार्य क्यों करने दिया। तो क्या इन्द्र का उन पर कोप करना उचित ही था ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गोप श्रीकृष्ण को ही अपना स्वामी मानते थे । नन्द आदि बड़े २ गोपों ने भी श्रीकृष्ण के कहने से ही इन्द्र की पूजा का विनाश किया था । इस कारण से इन्द्र का मुख्य क्रोध कृष्ण के ऊपर ही था । शंका होती है कि इन्द्र तो शुद्ध सत्त्व का परिणाम रूप देव था, उसने ऐसा क्यों किया ? इसके समाधान में कहते हैं कि वह इतने वर्षों से निषिद्ध-असमर्पित-अन्न खा रहा था इस से उसकी बुद्धि नष्ट हो गई थी । इसलिए उसने कृष्ण पर क्रोध किया ॥१॥

श्लोक—गणं संवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् ।
इन्द्रः प्राणोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥२॥

श्लोकार्थ—अपने आप को ईश्वर मानने वाले इन्द्र ने अत्यन्त कुपित होकर उसी समय प्रलय काल में जलवर्षा करने वाले संवर्तक नाम के मेघों को व्रजमण्डल पर घोर वर्षा करने के लिए भेजा और वह यों कहने लगा ॥२॥

सुबोधिनी—न केवलं कोपमात्रं किन्तु प्रयत्नमपि चकारेत्याह गणमिति, गणो हि बहूनां सङ्घातो भवति, संवर्तकः प्रलयकर्ता, नामेति प्रसिद्धो, अतः प्रसिद्ध एवायं संवर्तको गणः, समुदाय एव नाशशक्तिरितिपक्षनिराकरणार्थं प्रत्येकमपि मेघानां तथात्वमाह मेघानां चान्तकारिणामिति अन्तकारिणां मेघानां गणं संवर्तकं च गणं प्रेषयामास तथा सति प्रत्येकसमुदायाभ्यां सामान्यतो विशेषतश्च नाशो भवति, तस्याज्ञा कर्तव्येति-ज्ञापनार्थमिन्द्र इति, 'इदि परमैश्वर्ये', परमैश्वर्यं प्राप्तस्य वाक्यमनुल्लङ्घ्यमतः प्राणोदयत् प्रकर्षेण तदैवाविचारं प्रेषितवान्, तत्र हेतुः क्रुद्ध इति, एवं तस्य मानसदोषमुक्त्वा वाचनिकं दोषमाह वाक्यं चाहेति, यतोयमीशमान्यहमेवेशस्त्रैलोक्यस्येति मन्यते, उतापि वाक्यमप्याहेत्यर्थः, एतेनायुक्ततमत्वमुक्तं भवति ॥२॥

व्याख्यार्थ—इन्द्र केवल कोप करके ही नहीं रह गया, किन्तु उसने आगे प्रयत्न भी किया, यह 'गणं' इत्यादि श्लोक से कहते हैं। बहुतों के समूह को गण कहते हैं । संवर्तक एक प्रलय करने वाले मेघ का नाम है। यह अत्यन्त प्रसिद्ध संवर्तक गण है । अर्थात् प्रलय करने में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये सारे मेघ इकट्ठे होकर ही प्रलय करने में समर्थ हो सकते हों-ऐसा, नहीं है, किन्तु एक एक भी प्रलय कर सकता है-यह मूल में-मेघानां चान्तकारिणाम्-दिए पदों का तात्पर्य है। इन्द्र ने प्रलयकारी मेघों के गण और संवर्तक नाम के गण को भेजा। प्रत्येक मेघ के द्वारा सामान्य रूप से और मेघों के समुदाय के द्वारा विशेष रीति से नाश होता है । उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए थी; क्योंकि वह, इन्द्र परम ऐश्वर्य सम्पन्न है। परमैश्वर्य सम्पन्न की आज्ञा का उल्लङ्घन कभी नहीं किया जा सकता, अर्थात्, इन्द्र शब्द में-इदि-धातु परमऐश्वर्य का सूचक है । इसलिए उसने उसी समय बिना बिचारे शीघ्र ही मेघों को भेजदिया; क्योंकि वह अत्यन्त क्रोध युक्त हो रहा था। इस प्रकार, इन्द्र

के मानसिक दोष-(क्रोध)-का वर्णन करके आगे, 'वाक्यं चाह'-पदों से वचन कृत दोष का वर्णन करते हैं। वह अपने आपको तीनों लोकों का स्वामी मान रहा है। इसलिए वह केवल क्रोध करके ही नहीं रह गया, किन्तु कहने भी लग गया। इस कथन से यह सूचित किया कि यह उसने अत्यन्त अनुचित कार्य किया ॥२॥

॥ इन्द्र उवाच ॥

श्लोक—अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने कहा कि वन में रहने वाले गोपों के धन ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए अभिमान को तो देखो। उन्होंने एक साधरण बालक कृष्ण के बल पर मुझ देवता का अपमान कर डाला। कैसा आश्चर्य है?

सुबोधिनी—वाक्यमाह **चतुर्भिः**, परम्परया सिद्धो हेतुको न त्याज्य आधुनिकस्त्याज्य इति मन्यते, **अहो** अत्याश्चर्यं सर्वथा विवेकरहिता गोपाः कथमेवं मर्यादोल्लङ्घनं कृतवन्त इति स्वहृदय एवाह, **श्रीमदस्य माहात्म्यमहो** आश्चर्यं यतः श्रीमदाद् ये गोपा देवहेलनं चक्रुस्तत्रापि न महान्तः किन्तु **गोपा** न वा तेषां सत्सङ्गः सम्यग्देशस्थितिर्वा किन्तु **काननौकसः**, एतादृशानामपि श्रीर्मदं करोति, ननु न श्रीमदात् तैरेवं कृतं किन्तु भगवद्वाक्यादतस्तेषां को दोष इति चेत् तत्राह **कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्येति**, देवा अमर्त्या मनुष्या मर्त्याः, भगवान् सदानन्दोपि मनुष्यवेषं कृतवान्, तस्य परिग्रह एव तेषां दोषः, उप समीप **आश्रयण**, न केवलं यागान्तरं कृतवन्तः किन्तु **देवस्येन्द्रस्यैव हेलनं** तद्द्रव्यैरेव कृतमिति ॥३॥

व्याख्यार्थ—चार श्लोकों से इन्द्र के वचनों का वर्णन करते हैं। इन्द्र यह मान रहा है कि परम्परा से सकारण सिद्ध यज्ञ का त्याग करना उचित नहीं है और नवीन-(अभी)-आरम्भ किए का त्याग कर देना चाहिए। उसने अपने मन में ही कहा, कि अत्यन्त आश्चर्य है कि कोरे अज्ञानी गोपों ने इस प्रकार से मर्यादा उल्लंघन कैसे कर डाली? ऐश्वर्य के मद की महिमा आश्चर्यकारक है। उस लक्ष्मी के मद से गोपों ने मुझ जैसे देवता का तिरस्कार कर दिया। ये कोई महापुरुष थोड़े ही हैं, ये तो ग्वाल हैं। उनको न कोई सत्संग प्राप्त है और न वे किसी प्रसिद्ध स्थान-(देश)-में रहते हैं। वे तो वन में रहने वाले हैं। ऐसे तुच्छ पुरुषों को भी लक्ष्मी मदोन्मत्त कर देती है।

शंका—यदि यहां यह कहा जाय कि उन्होंने लक्ष्मी के मद से इन्द्रयाग का भङ्ग नहीं किया था। उन्होंने तो श्रीकृष्ण भगवान् के कथन से वैसा किया था? तो इसके समाधान में कहते हैं, 'कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य'-मर्त्य कृष्ण का उन्होंने आश्रय लिया। देव अमर हैं और मनुष्य मरण धर्म वाले हैं। भगवान् सदानन्द हैं; तो भी मनुष्य का वेष धारण कर रहे हैं। उन मर्त्य के वाक्यों का ग्रहण करना ही उनका दोष है। भगवान् का गोपों ने उप-(समीप)-में आश्रय ग्रहण किया।

उन्होंने केवल दूसरा याग ही नहीं किया; किन्तु देव इन्द्र की (मेरी) अवहेलना करके इन्द्र के (मेरे) लिए सिद्ध किए पदार्थों से ही किया। यह देवका (मेरा) अपमान किया ॥३॥

श्लोक—**यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नाम नौनिभैः ।**
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥४॥

श्लोकार्थ—जैसे कोई मन्द बुद्धि लोग, आत्म ज्ञान की विद्या को छोड़कर, अन्य नाम मात्र की नाव के समान पार लगाने में असमर्थ, कर्ममय यज्ञों के द्वारा अपार संसार सागर के पार जाना चाहे। (वैसे ही ये गोप हैं) ॥४॥

सुबोधिनी—ननु भगवता कर्ममार्ग एव समीचीन उक्तः कथं दूष्यत इत्याशङ्कयाह **यथादृढैरि**ति, **अदृढैः क्रतुभिर्ये भवार्णवं तितीर्षन्ति** ते मध्य एव निमग्ना भवन्ति, न हि स्वेन नीयमानया नोकया तरण सम्भवति **सापि स्वकर्मण्येव प्रेर्यत** इति द्विगुणः क्लेशः, तदाह **कर्ममयैरि**ति, **कर्मैव तेषां स्वरूपं तदप्यदृढं** प्रायश्चित्त-वाहुल्यात्, **क्रतुभिरि**ति **नाममात्रं** यतस्ते **नौनिभा नौकासदृशा दर्शनार्थमेव नौकातुल्याः**, तान्यपि कर्माणि **यदि चित्तशुद्धयर्थ कुर्यात् तदा भवतु** वारादुपकारकत्वं तदपि नास्तीत्याह **विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वेति, कर्म** त्वविद्या **विद्यान्वीक्षिकी,** अन्वीक्षणमन्वीक्षा श्रवणा-नन्तरं **पुनरात्मानुसन्धानं,** 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय सहे'त्यत्र केवलाविद्यायाः प्रतिषेधात् तदाह हित्वेति, यथा ते **तितीर्षन्ति** न तु तरन्ति तथैवैत ईश्वरवाद निराकृत्य **केवलकर्मवादेन स्वनिर्वाहेच्छामपि** न तरन्ति **निर्वाहं न प्राप्नुवन्त्यतः** कृतस्य **कर्मणो वैयर्थ्यात्** तेन पालयितुं न शक्यत इति सुखेन तद्विघातः **कर्तव्य** इतिभावः ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कर्म मार्ग को श्रेष्ठ कहा है फिर उसमें दूषण क्यों देते हो ? इस शंका के उत्तर में 'यथादृढैः'–यह श्लोक कहा है। अदृढ यज्ञों के द्वारा जो लोग संसार सागर को पार करना चाहते हैं, वे बीच में ही डूबजाते हैं। अपने द्वारा ही खेई-(चलाई)-हुई नाव से पार होना सम्भव नहीं है। वह कर्ममयी नौका भी अपने कर्मों से ही खेई-(प्रेरित की)-जाती है। इस कारण दुगुना कलेश होता है। यह बात मूल में-कर्ममयैः-पद से कही है। कर्म ही उन यज्ञों का स्वरूप है और वह भी दृढ नहीं है; क्योंकि उनमें प्रायश्चित बहुत से करने पड़ते हैं। वे तो केवल नाम मात्र के क्रतु-यज्ञ-हैं; क्योंकि वे नाव जैसे हैं। वह भी केवल दीखने मात्र के नाव हैं। वे भी कर्म यदि चित्त की शुद्धि के लिए किए जाँए, तब तो वे कभी कुछ उपकारक भी हो सकें, परन्तु ऐसा भी यहां नहीं हैं। यह मूल में-'विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा'-इन पदों का तात्पर्य है। कर्म तो अविद्या हैं और आन्वीक्षिकी अर्थात् अन्वीक्षण करना विद्या है। श्रवण के पीछे आत्मा का पुनः अनुसन्धान करना अन्वीक्षा है। 'विद्या और अविद्या-दोनों को साथ जाने'-इस श्रुति में जो केवल अविद्या का निषेध किया है, उसे यहाँ 'हित्वा' (त्याग करके) पद से कहा है। जैसे वे पार होना चाहते हैं किन्तु पार नहीं होते, वैसे ही ये गोप भी ईश्वरवाद का निराकरण करके केवल कर्मवाद से अपने निर्वाह की इच्छा को भी पार नहीं कर सकते, अर्थात् उनका निर्वाह भी नहीं हो सकता। उनका यह किया

हुआ कर्म (नया यज्ञ) व्यर्थ है। उसके द्वारा उनकी रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए उनका विघात[1] सुख से करो–यह अभिप्राय है ॥४॥

श्लोक—वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥५॥

श्लोकार्थ—वैसे ही इन गोपों ने आज वाचाल (बढ २ कर बातें बनाने वाले), बालक, अविनीत, पण्डिताभिमानी, अज्ञ, मनुष्य कृष्ण का आश्रय लेकर मेरा अप्रिय किया है ॥५॥

सुबोधिनी—तस्य भगवति दोषवशाद् विपरीता बुद्धिर्जाता षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने षड्दोषवचनात् तत्र भगवत ऐश्वर्यमप्रतिहतं तदनुसारेणैवान्यत्रैश्वर्यं दूरीकर्तुं यथार्थान्येव वाक्यान्युक्तानीन्द्रस्य तु बुद्धचानीश्वरस्तथोक्तवानित्यत आह वाचालमिति, बहुभाषी वाचालः, अनीश्वर ईश्वरवद् वक्ता, वैराग्याभावो वानेनोक्तः, स्वार्थं बहूक्तवानिति बालिशो ज्ञानरहितः, यस्तु वीर्यरहितोऽशक्यं कर्तुं वाञ्छति स तथोच्यते, ज्ञानाभावः स्पष्ट एव, स्तब्धोऽनम्रस्ताहृशस्य कीर्त्यभावः स्पष्टः, विनीतस्यैव तथा, आत्मानमेव पण्डितं मन्यत इति पण्डितमानी, न तस्य श्रीः, विपर्ययो वा, कीर्त्यभाव एवानेनोच्यत इति, अज्ञो ज्ञानरहितः स्पष्ट एव, मर्त्यो मनुष्यः, न स विरक्त ईश्वरो वा, कृष्ण इति प्रसिद्धः, एवं विपरीता बुद्धिरिन्द्रस्य, अथ वा कृष्ण सदानन्दमपि विपरीतषड्गुणं तत्त्वेनोपाश्रित्य भगवत्यपि विपरीतां बुद्धिं सम्पाद्य सर्वे गोपा अल्पबुद्धयो मेऽप्रियं यागभङ्गं कृतवन्तः, यदि भगवन्तं वा परमेश्वरं जानीयुस्तदापि न खेदः, वस्तुतस्तु वाचा अलं पूर्णं यत्र यत्र वाङ् न प्रवर्तते स पूर्णः सर्ववेदकर्ता सर्वथा नाश्रितः किन्तूप समीपेऽल्पमेवाश्रित इति, किञ्च बालिनोऽपि शं सुखं यस्मात्, स हि शत्रुपक्षपाती रावणमित्रं तस्यापि मोक्षदाता, बालमस्यास्तीति पुच्छवान् मर्कटः प्रतिपादितः, उत्कर्षस्तु वेदानामप्यगम्यः, कृपालुता तु बालिनमपि मोचयति, स्तब्धो ब्रह्मभूतो 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व'मितिश्रुतेः, यदि भगवान् नम्रः स्यात् सत्यादिलोकानां नाश एव भवेदतो भगवान् स्वयमनम्रोऽन्यान् नामितवान्, पण्डितान् मानयतीति पण्डितमानी विद्यावतः पूजयत्यतः पूजनार्थं विद्यामुपदिष्टवान्, न विद्यते ज्ञो यस्मात् सर्वज्ञोयं, यतोयं कृष्णः सदानन्दः, यत्र हि धर्मो तिष्ठति स धर्मसहित एव भवति, अतो गोपा मर्त्यं शरीरमुपाश्रित्य शरीरधारिणो भूत्वा मेऽप्रियं न विद्यते प्रियं यस्मान् न ह्यन्यस्ततः प्रियोऽस्ति तं भगवन्तं कृतवन्तः, यथा मम नित्यं प्रियजनको भवति तथोत्तरोत्तरं कृतवन्तस्तथा तथा धर्मान् सम्पादितवन्त इतिसरस्वती ॥५॥

व्याख्यार्थ—अपने दोष के कारण इन्द्र की भगवान् में विपरीत बुद्धि हो गई, जिससे षड्गुण ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् में छः दोष कह डाले। भगवान् का ऐश्वर्य अप्रतिहत है[2] उसके अनुसार ही भगवान् ने कहीं पर इन्द्र के ऐश्ववर्य को दूर करने के लिए यथार्थ ही वाक्य कहे थे। इन्द्र की बुद्धि से भगवान् में ऐश्वर्य नहीं था, अर्थात् भगवान् कृष्ण को ईश्वर नहीं मान रहा था। इसीलिए भगवान् के लिए वे वचन कहे थे। अपनी दोष बुद्धि के कारण इन्द्र के वचन, 'वाचाल' इस श्लोक से कहते

१—नाश। २—नष्ट किए जाने लायक नहीं है।

हैं। आवश्यकता से अधिक बोलने को वाचाल कहते हैं, ईश्वर न होते हुए भी ईश्वर की तरह बातें बनाने वाला भी वाचाल कहा जाता है, अथवा 'वाचाल' पद से वैराग्य का अभाव सूचित किया है। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए भगवान् बहुत बोले। इसलिए बालिश-ज्ञान रहित कहा है अर्थात् जो सामर्थ्यहीन होते हुए भी अशक्य कार्य को करना चाहता हो, उसे बालिश कहते है। यह पद स्पष्ट रूप से ज्ञान के अभाव का सूचक है। स्तब्ध[1] की कीर्ति का अभाव प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि विनीत ही कीर्तिमान् होता है। अपने आप को ही पण्डित मानने वाले पण्डितमानी को लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है। अथवा यहां 'स्तब्ध' पद से लक्ष्मी का और पण्डितमानी पद से कीर्ति का अभाव समझना चाहिए। 'अज्ञ'[2] स्पष्ट ही है। मर्त्य-मनुष्य-है। वह न विरक्त है और न ईश्वर ही है। कृष्ण नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार भगवान् में इन्द्र की विपरीत बुद्धि हो गई।

अथवा वाचाल आदि पदों का अर्थ यह है-कृष्ण सदानन्द को भी विपरीत छः गुण वाला मान कर भगवान् में भी विपरीत बुद्धि प्राप्त करके उन अल्प बुद्धि वाले सब गोपों ने मेरा अप्रिय-याग भङ्ग-कर दिया। यदि वे भगवान् को परमेश्वर जान कर ऐसा करते तो मुझे खेद नही होता वास्तव में तो, 'वाच+अलं' वह वाणी से पूर्ण अर्थात् जहाँ वाणी नही पहुँच सकती है और सब वेदों का कर्ता है। गोपों ने उसका आश्रय न करके-उप-समीप में अल्प का ही आश्रय किया है। बालिशं अर्थात् बाली को भी-शं-सुखदेने वाले हैं। बाली शत्रु का पक्षपाती और रावण का मित्र था-उसको भी वे मोक्षदेने वाले हैं। बाली-बालों वाला वानर। वाचालं-पद से-वेदों के भी अगम्य-यह उनका उत्कर्ष वर्णन किया और-'बालिश' पद से कृपालुता सूचित की। (जो मर्कट[3] को भी मोक्ष देदेते हैं।

'कोई एक जो आकाश में वृक्ष की तरह स्तब्ध स्थित है, उस पुरुष से यह सारा जगत् पूर्ण है"-इस श्रुति के अनुसार वह स्तब्ध-ब्रह्मभूत है भगवान् यदि नम्र (स्तब्ध नहीं) होते तो सत्य आदि लोकों का नाश ही हो जाता, इस कारण भगवान् स्वयं-स्तब्ध-अनम्र रह कर दूसरों को नम्र (झुकाने) करने वाले हैं। पण्डितमानी-पण्डितों को मानदेने वाले हैं। विद्या वालों की पूजा करते हैं। इसलिए पूजा के लिए विद्या का उपदेश दिया है। अज्ञ-जिनसे अधिक (ज्ञ) जानने वाला न हो। यह भगवान् सर्वज्ञ है, क्योंकि ये-कृष्ण-सदानन्द हैं। धर्मी जहां रहता है, वहां सब धर्म सहित ही होता है। इसलिए गोपों ने मर्त्य शरीर का आश्रय ले कर-शरीरधारी होकर-मेरा (इन्द्र का) अप्रिय (जिससे बढकर दूसरा प्रिय न हो) किया है अर्थात् उन प्रियतम प्रभु को मेरा कर दिया है। जिस तरह भगवान् मेरे प्रिय जनक होते रहें, उत्तरोत्तर वैसा ही किया है, वैसे २ धर्मों का ही सम्पादन इन गोपों ने किया है। यह सरस्वती का अर्थ है। (अर्थात् ऐसे महापुरुष का मर्त्य-अनीश्वर आदि रूप से आश्रय करके मेरा गोपों ने अप्रिय किया है ॥५॥

टिप्पणी—व्याख्या में-'अथवा कृष्णम्'। विपरीत षड्गुणम् आदि-विपरीत छः गुण-यह मर्त्य पद का अर्थ

१—नम्रता रहित। २—ज्ञान शून्य। ३—बन्दर।

श्लोक—**एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् ।**
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत सङ्क्षयम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ये गोप धन मद से गर्वित हो रहे हैं, फिर इन्हें कृष्ण ने और भी वढ़ावा दे रक्खा है । हे मेघों ! तुम शीघ्र व्रज में जाकर इनके श्री मद् को दूर करो और इनके पशुओं का विनाश कर डालो ॥६॥

सुबोधिनी—अतो विपरीतां बुद्धिमाश्रित्य भक्तद्रोहं कर्तुमाज्ञापयत्येषामिति, एषां गोपानां **श्रिया** धनेना-**वलिप्तानां** गर्विष्ठानां **कृष्णेनाध्मायित आत्मा** येषां, यथा स्तब्धो वायुरन्तः प्रविष्टो देहिनमाध्मापयति तादृश-स्योपवासेषु कृतेषु तदाध्मानं गच्छति, अतः **श्रीमदस्तम्भं धुनुत, श्रीमदस्यापि** मूलं **पशवोतो भवन्तो** गत्वा **पशून् सङ्क्षयं नयतातिवृष्टया** पाषाणवर्षणेन च सम्यक् क्षयं **नयत** ॥६॥

व्याख्यार्थ—विपरीत बुद्धि का आश्रय लेकर इन्द्र 'एषां' इस श्लोक से भक्तों का द्रोह करने की आज्ञा देता है । ये गोप धन मद से गर्विष्ठ हो रहे हैं । कृष्ण ने इन्हें और भी बढावा देकर फुला (गर्वित कर) दिया है । जैसे स्तब्ध-ठहरने वाली-वायु किसी के शरीर में घुस कर फुला देती है । फिर उपवास करने पर वह आफरा-आध्मान-दूर होता है । इस लिए धन के मद को दूर करो । उनके उस घनमद का मूल कारण पशु है । इसलिए अतिवृष्टि और पाषाण वर्षा करके पशुओं का पूर्ण विनाश करो ॥६॥

श्लोक—**अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।**
मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥७॥

श्लोकार्थ—मैं भी अभी नन्द के व्रज का नाश करने की इच्छा से महापराक्रमी उनचास मरुद्गणों को साथ लेकर ऐरावत हाथी पर सवार होकर वहीं आता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—गोपालास्तु कन्दरादिष्वपि स्थातुं शक्ता अतस्तेषां **वधार्थं** कृष्णेन सह **युद्धसम्भवादैरावतमारुह्या-हमागमिष्यामीत्याहाह चैरावतं** नागमिति, **ऐरावतोक्षयो गजो** जले स्थले च **युद्धसमर्थोतस्तमारुह्यानु** पश्चाद् **भवद्**गमनानन्तरं **व्रज** आगमिष्यामि, प्रसङ्गादागमनं निराकरोति **व्रजमिति**, ननु बहवो गोपालः एकस्त्वं

है । मर्त्य में अनीश्वरता आदि धर्म नियत होते हैं । उनको व्याख्या में विपरीत शब्द से कहा है । तात्पर्य यह है कि जैसे कामला-पीलिया-रोग का रोगी शख को पीला कहता है, उसी प्रकार से गोपों ने अपने मर्त्य आदि धर्मो का भगवान् कृष्ण में आरोप किया है । यह मेरा (इन्द्र का) अप्रिय किया है ॥५॥

बलभद्रश्च बल्यतः कथं युद्धमिति चेत् तत्राह **मरुद्गणै-रिति**, महावीर्यैरतिबलिष्ठैर्मरुद्गणैः सह, तत्र गतस्य प्रयोजनमाह **नन्दगोष्ठजिघांसयेति**, नन्दगोष्ठस्य घातने-च्छया, इच्छया गतस्तदिच्छां पूरयति, अतो मारयिष्या-मीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—गोपाल तो गुफाओं में भी रह सकते हैं। इस कारण उन के वध के लिए कृष्ण के साथ युद्ध की संभावना है। इस लिए ऐरावत पर सवार होकर मैं भी आऊंगा, यह 'अहं चैरावतं', इस श्लोक से कहते हैं। ऐरावत अक्षय हाथी हैं; क्योंकि अमृत मन्थन के प्रस्ताव में उत्पन्न होने के कारण इस में अमृत का धर्म भी है। इसलिए यह अक्षय है। पहले यह जल में था, अब इसकी पृथ्वी पर स्थिति है। इस कारण से यह जल और स्थल-दोनों युद्ध करने में समर्थ हैं। ऐसे ऐरावत हाथी पर सवार होकर अनु-आप लोगों के पीछे ही व्रज में आऊँगा। मूल में, 'व्रजं' पद का अभिप्राय यह है, कि किसी प्रसङ्ग वश नहीं आकर मुख्य व्रज में आने के उद्देश्य से ही व्रज में आऊँगा। वहां गोपाल असंख्य हैं और बलदेवजी अधिक बलवान् हैं। तुम-(इन्द्र)-तो एक हो। युद्ध कैसे करोगे ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि महाबली उनचास मरुद्गणों के साथ आऊँगा। वहां जाने का प्रयोजन, एक मात्र नन्द के गोष्ठ को नाश करने की इच्छा थी। किसी इच्छा को लेकर जाने वाला अपनी इच्छा को पूरी करता है। इससिए विनाश करूंगा-यह तात्पर्य है ॥७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार इन्द्र की आज्ञा पा कर बन्धनविहीन मेघ बडे वेग से व्रज में जाकर घोर वर्षा करने लगे। उस वर्षा से नन्द का सारा गोकुल पीड़ित और व्याकुल हो उठा ॥८॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाहेत्थमिति, **मघ-वतेन्द्रेणाज्ञप्ता** मेघाः पूर्वं शृङ्खलाबद्धास्ते **निर्मुक्तबन्धनाः** कृतास्ततो **नन्दगोकुलमासारै**र्धारासम्पातैरो**जसा** बलेन वायुसहिताः **पीडयामासुः** ॥८॥

व्याख्यार्थ—आगे जो हुआ, उसे, 'इत्थं' इस श्लोक से कहते हैं। इन्द्र के द्वारा आज्ञा दिए गए मेघ जो पहले सांकल से बंधे से थे, बन्धन रहित कर दिए गए। फिर वायु सहित वे नन्द के गोकुल को धारा सम्पातों-निरन्तर वर्षा-से बलपूर्वक पीड़ा देने लगे ॥८॥

श्लोक—विद्योतमाना विद्युद्भिर्नदन्तः स्तनयित्नुभिः ।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥९॥

व्याख्यार्थ—मेघ बरसने लगे, 'यह स्थूणा स्थूला:' श्लोक से कहते हैं। स्तम्भ के समान मोटी २ जलधाराओं के बरसाने से पृथ्वी पर गहरे गढहे पड़ गए थे। एक एक धारा से, मेघ के द्वारा एक २ गहरा गर्त[1] कर दिया जाने लगा। इस तरह सभी मेघों के बरसने से सारी व्रजभूमि में गर्त ही गर्त हो गए थे। क्षण क्षण में सारी पृथिवी जल के प्रवाहों से इस प्रकार डूब गई थी कि नीची भी ऊँची अथवा नीची ऊँची कुछ भी नहीं जान पडती थी। वास्तव में सभी जगह गढहे पड़ गए थे; तो भी नीची है या ऊँची-इस तरह पांव रखने के लिए विचार करने पर भी जल के पूरों से डूबी हुई-पृथिवी दिखाई नहीं पड़ती थी ॥१०॥

श्लोक—अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥११॥

श्लोकार्थ—मूसलधार वृष्टि और महाप्रचण्ड पवन के मारे पशुगण काँपने लगे। शीत से पीड़ित गोप और गोपियाँ गोविन्द की शरण में गए ॥११॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाहात्यासारेति, अत्यन्तं धारासम्पातेनातिवातेन च **पशवो जातवेपना** जातकम्पा जाताः, अतो **गोपा गोप्यश्च** त्रिविधा अपि **शीतपीडिता गोविन्दं** गवां गोपगोपीनां चेन्द्रं लौकिकेन्द्रेण पीड्यमानाः **शरणं ययुः** ॥११॥

व्याख्यार्थ—आगे जो हुआ, उसे इस-'अत्यासाराति-श्लोक से कहते हैं। अत्यन्त मूसलधार वर्षा और अत्यंत प्रचण्ड आंधी से पशुगण काँप उठे। इसलिए शीत के मारे और लौकिक-साधारण-इन्द्र के द्वारा सताए गए वे गायें, गोप, गोपियाँ-तीन प्रकार के जीव, 'गोविन्द' (गो, गोप, गोपियों के इन्द्र-स्वामी) भगवान् की शरण में गए ॥११॥

श्लोक—शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१२॥

श्लोकार्थ—बालकों को छाती में छिपाकर और अपने मस्तकों को शिलाओं की बौछार से बचाकर काँपते हुए, वर्षा से पीड़ित वे गोपों, गोपियों के समूह[2] भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की शरण में आ गए ॥१२॥

सुबोधिनी—एषां शरणगतावागमनप्रकारमाह **शिर** इति, स्वशिरः **सुतांश्च** स्वस्यैककायेन **प्रच्छाद्यासारेण पीडिताः** सन्तो **वेपमाना भगवतः पादमूलमुप** समीप एवाययुरागताः शिरोत्यन्तमुदरे समागतं **सुतांश्च**,

---

१—गढहा, खड्डा। २—झुण्ड।

शरीरेणोभयोः प्रच्छादनं भगवद्दर्शनार्थं दयार्थं च, आसारेण पीडिता भक्तिमार्गं त्वक्तवन्तोन्यथा भगवद्रक्षार्थमेव यत्नं कुर्युर्न तु स्वरक्षार्थं भगवन्तं प्रार्थयेयुः, किञ्च वेपमाना जाता अतो देहस्थितिं सन्दिग्धां मत्वा पादमूलमाययुस्तेषु कृपया भगवान् निकट एवागतस्तत उपेत्युक्तमासर्वतः पादयोर्मूलमन्तर्जातभक्त्या शरीरेण समीपमागता अपि मनसा पादमूले प्रविष्टाः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इन की शरणागति में शरण में जाने की रीति का वर्णन-'शिरः सुताश्च'–इस श्लोक में करते है । अपने मस्तकों और बालकों को शरीर के एक एक अंग से छिपा कर वर्षा से पीड़ित काँपते हुए वे भगवान् के चरण के मूल के निकट आए । शिर और बालकों को ठीक पेट पर लाकर अर्थात् शरीर से शिर और बालक दोनों को ढक कर भगवान् की दृष्टि के आगे दया करके रक्षा की आशा से भगवान् के अत्यन्त समीप आए। अति वर्षा से पीड़ित होकर, इन्होंने भक्ति मार्ग का त्याग कर दिया। यदि ये भक्ति मार्ग में स्थित रहते तो, वे भगवान् की रक्षा करने के लिए ही स्वयं प्रयत्न करते. अपनी रक्षा की भगवान् से प्रार्थना नहीं करते । वे काँप रहे थे, इसलिए अपने शरीर की स्थिति में सन्देह जान कर, भगवान् के चरणों के मूल में आगए। उन पर कृपा करके भगवान् भी स्वयं उनके समीप आगए। इसीलिए मूल में–उप (समीप में) यह पद दिया है । आययुः (आगए) इस क्रिया पद में 'आ' उपसर्ग का तात्पर्य यह है, कि वे सब प्रकार से भगवान् के दोनों चरणों के मूल में आगए। हृदय में उत्पन्न हुई भक्ति से शरीर के द्वारा समीप गए मन से तो चरण के मूल में प्रवेश किया ॥१२॥

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।
त्रातुमर्हसि देवान् नः कुपिताद् भक्तवत्सल ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग, हे प्रभो ! आप ही इस गोकुल के नाथ हो। हे भक्तवत्सलः–आप कुपित हुए इन्द्र से हमारी रक्षा करें ।

सुबोधिनी—तादृशानां विज्ञापनमाह कृष्ण कृष्णेति, सम्भ्रमाद् वीप्सा, गोकुलंत्रातुमर्हसीतिविज्ञापना, ननु स्तोत्रं कृत्वैव सर्वे विज्ञापनां कुर्वन्ति, ततः कथमस्माद् विज्ञापनमिति चेद् तत्राहुर्हे महाभागेति, महद् भाग्य यस्येति, के वयं वराकाः स्तोत्रे ? व्यासादय एव महान्तो निरन्तरं स्तुवन्त्यतो महाभाग्यवतोल्पैः किं कर्तव्यमिति, अथ वा यथा भवन्तो वेपमानास्तथाहमपीति न वक्तव्यं त्वं तु महाभागोलौकिकसर्वभाग्ययुक्तोतोलौकिकेन प्रकारेण त्रातुमर्हसीत्यर्थः, सर्वथा रक्षायां हेतुस्त्वन्नाथमिति, त्वमेव नाथो यस्य, किञ्च गवां कुलं गावः सर्वैरेव पाल्यास्त्वं च प्रभुः पालनक्षमः पालनसमर्थोतो बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् त्रातुमर्हसि, ननु लौकिक एवोपायः कर्तव्यः कम्बलवस्त्रादिभिर्गृहैर्गुहादिभिर्वा किं मत्प्रार्थनयेति चेत् तत्राहुर्देवादिति, प्राकृतापकारे हि प्राकृतैः प्रतिक्रियायं त्वपकारो दैव इन्द्रेण कृतः, तर्हि स एव प्रार्थ्यतामिति चेत् तत्राहुः कुपितादिति, स हि कोपं प्रापितोपकारकरणादतः कुपितो मारयत्येव, ननु दैन्यं दृष्ट्वा न मारयिष्यतीति चेत् तत्राहुर्हे भक्तवत्सलेति, भवानेव भक्तवत्सलः स तु निर्दय एवातस्त्वयैव वयं पालनीयाः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—उन शरणागतों की विज्ञापना-'कृष्ण ! कृष्ण !' इस श्लोक से कहते हैं। कृष्ण कृष्ण-यह पद दो बार भय से कहा है। आप गोकुल की रक्षा करने में समर्थ हो, रक्षा करो–यह विज्ञापना

है। शंका हो सकती है कि सभी लोग स्तुति करके ही प्रार्थना करते है. तो फिर यहाँ यह विज्ञापना कैसे मानी जाए ? इसके उत्तर में, कहते हैं कि-हे महाभाग ! आप बड़े भाग्यशाली हो। हम तुच्छ आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं। व्यास आदि महापुरुष आपकी निरन्तर स्तुति करते रहते हैं, उन महाभाग्यशाली आप का, हम तुच्छ क्या करने योग्य हैं । अथवा कदाचित् भगवान् यों कहें, कि जैसे तुम काँप रहे हो. मेरी भी तो वही दशा है, तो इसके उत्तर में कहते है. कि आप तो महाभाग हो, अलौकिक सभी भाग्य से युक्त हो। इसलिए अलौकिक रीति से हमारी रक्षा कीजिए।

रक्षा करने में प्रबल हेतु यह है, कि-त्वन्नाथं-गोकुल के आप नाथ हैं । गायों का कुल रक्षणीय होता है। गाएँ सभी को पालनीय हैं । फिर आप तो प्रभु हैं, सब प्रकार पालन करने में समर्थ हैं। इस प्रकार बहुत से कारणों के होने से रक्षा करनी ही चाहिए। यदि भगवान् उन गोपों से यह कहें. कि कम्बल, कपड़े, घर, गुफा आदि लौकिक उपायों से रक्षा करलो। मेरी प्रार्थना करने से क्या लाभ ? इस के उत्तर में कहते हैं, कि-दैवात्-यह दैविक आपत्ति है। लौकिक उपायों से लौकिक अपकार में रक्षा हो सकती है । यह तो दैविक-इन्द्र के द्वारा की हुई आपत्ति है। इसका प्रतीकार लौकिक उपायों से नहीं हो सकता है। यदि हम आप के कहने पर इन्द्र से ही रक्षा की प्रार्थना करने लगें तो वह रक्षा नहीं करेगा; क्योंकि वह तो कुपित हो रहा है । वह यागभङ्ग रूप अपकार से कुपित हुआ है अतः मार डालेगा । यदि आप यह कहें, कि-इन्द्र के सामने दीन हो जाओ, वह तुम्हारी दीनता को देखकर नहीं मारेगा; तो इसके उत्तर में गोप कहते हैं कि-हे भक्तवत्सल-आप ही भक्तवत्सल हो। इन्द्र तो निर्दयी ही है। इसलिए आपको ही हमारी रक्षा करना चाहिए ।।१३।।

श्लोक—**शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।**
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ।।१४।।

श्लोकार्थ—सारे गोकुल को शिलाओं की निरन्तर घोर वर्षा से पीड़ित तथा अचेतन देखकर, हरि भगवान् ने समझ लिया कि यह सब कुपित इन्द्र का ही काम है ।।१४।।

सुबोधिनी—एवं विज्ञापितः कर्तव्यं विचारितवान् किमिन्द्रो मारणीयो मेघा वा निवारणीया वृष्टिस्तम्भो वा कर्तव्य एतेभ्यो वालौकिकं सामर्थ्यं देयमन्यत्र वा नेया अन्यद् वा कर्तव्यमिति, तत्र प्रथममुपद्रवनिदान-निर्धारमाह शिलावर्षेति शिलानां वर्षणरूपो यो निपातो निरन्तरपतन सर्वतस्तेन हन्यमानं गोकुलं निरीक्ष्य कुपितेन्द्रकृतमेव मेने, यद्यपि तैरुक्तमेव तथापि किं वासनया वदन्त्याहोस्वित् सत्यमेव, लौकिकास्तु पौर्वापर्य-मेव दृष्ट्वाहेतुमपि हेतु मन्यन्ते तथैव किं यागभङ्गानन्तर-मेव वृष्टिर्जातेति वदन्त्याहोस्वित् तथैवेति भवति विचारणा, ज्ञानेप्यर्थनिराकरणार्थमनूद्यतेन्यथाविमृश्य-कारित्व शङ्क्येत ।।१४।।

व्याख्यार्थ—उनकी इस प्रकार विज्ञापना को सुनकर, भगवान् ने विचार किया, कि क्या इन्द्र को मार दिया जाए, मेघों को हटा दिया जाए, वर्षा को रोक दिया जाए अथवा इन्हें अलौकिक

सामर्थ्य देदीजाए या दूसरे स्थान पर ले जाया जाए अर्थात् अपने स्वरूप में प्रविष्ट करलूं अथवा इनकी रक्षा के लिए और कुछ उचित उपाय किया जाए । वहाँ पहले उपद्रव के कारण का निश्चय, 'शिलावर्ष' इस श्लोक से करते हैं । शिलाओं की वर्षा निरन्तर चारों ओर गिरने से विनष्ट हुए गोकुल को देखकर, उस उपद्रव को कुपित इन्द्र का किया हुआ ही समझ लिया । यद्यपि उन गोप लोगों ने पहले यह कुपित इन्द्र का कार्य निवेदन कर ही दिया था; तो भी क्या ये वासना (हृदयस्थ विचार) से कहते हैं अथवा सत्य ही कहते हैं । भगवान् ने इस का विचार किया (निर्णय किया)। लोग, एक के पीछे दूसरी वस्तु को होने वाली देखकर, उन का कार्य कारण का सम्बन्ध न होने पर भी, सम्बन्ध जोड़ लेते हैं । इस प्रकार यागभङ्ग के पीछे होने वाली वृष्टि को यागभङ्ग का कार्य कल्पना करलिया है, अथवा क्या वास्तव में यागभङ्ग ही वृष्टि का कारण है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है । यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् से यह बात छिपी हुई नहीं थी, तो भी, सर्वज्ञता का निराकरण करने के लिए यहाँ यह अनुवाद किया गया । यदि यहाँ ऐसा नहीं किया जाता तो भगवान् के इस कार्य में बिना बिचारे करलेने की शङ्का हो जाती ।।१४।।

श्लोक—**अपर्ताबुल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।**
स्वयागे निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ।।१५।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हम ने इन्द्र के याग का भङ्ग कर दिया, इसी कारण से, वह रुष्ट होकर आज प्रचण्ड आंधी के झोंके और शिलाओं की बौछारों वाली विना ऋतु की घोर वर्षा से व्रज को नष्ट कर देने के लिए उद्यत है ।।१५।।

सुबोधिनी—ततस्तेषामुपद्रव इन्द्रकृत इति निश्चित्य हन्यमानत्वाच् छीघ्रं प्रतीकारं कर्तुं विचारयतीत्याह—अपर्ताविति द्वाभ्यामचेतनत्वान्न तद्वचनापेक्षा क्षणमात्राविलम्बश्च भगवत्त्वात् सर्वसाधनपरिज्ञानं, वृष्टिरेतादृशी स्वाभाविक्यपि भवतीति तन्निराकरणार्थमपर्ताविल्युक्तं मर्यादाकालोयमतः कलाविव न यदा कदाचिद् वृष्टिस्तत्राप्यत्युल्बणमतिभयानकमृतावप्येतादृशं दुर्लभमिति, अत्यन्तं वातो यत्र, वायुना हि नीयन्ते मेघाः, तत्रापि शिलामयमल्पं जल करका बह्व्यः, एवं चतुर्भिर्दोषैरिन्द्र एव वर्षतीति ज्ञायते, आर्षज्ञाने नित्यज्ञाने वा तर्को यदि न सहकारी स्याद् विरुद्धो वा भवेत् तदा लोकानामार्षज्ञानप्रतीतिर्न भवेत् कार्ये जातेपि काकतालीयप्रसङ्गः स्यादतस्तर्को युक्तो ज्ञानसहकारी, तदाह स्वयाग इन्द्रयागे नितरां हते गोकुलनाशार्थमेवेन्द्रो वर्षतीति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—फिर उनके, उस उपद्रव को इन्द्र के द्वारा किया हुआ निश्चय करके, उनका विनाश होता देख कर शीघ्र ही उपाय करने का विचार करना, 'अपर्ती' इन दो श्लोकों से कहते हैं। सारा अचेतन होगया था, इसलिए उनके वचन की अपेक्षा नहीं थी और क्षण भर की विलम्ब करने की भी अपेक्षा नहीं थी । स्वयं भगवान् हैं । इस लिए सब साधनों का ज्ञान है । इस प्रकार की घोर वृष्टि कभी स्वाभाविक भी हो जाती है, किन्तु यह स्वाभाविक वृष्टि नहीं है; क्योंकि यह विना ऋतु की वृष्टि है । फिर यह मर्यादा का समय है । इसमें कलियुग की तरह चाहे जब ही वृष्टि

सम्भव नहीं है। इस पर भी ऐसी घोर और अत्यन्त भयानक वृष्टि का होना तो ऋतु में भी दुर्लभ है। इसमें प्रचण्ड पवन है, जो मेघों को उड़ा ले जाती है। इस में शिलाएँ बरस रही हैं, जल थोड़ा है और ओले बहुत हैं। इन चार दोषों से ज्ञात होता है, कि इन्द्र ही यह वर्षा कर रहा है।

यहां मूल उत्तरार्ध में तर्क[1] से वस्तु की सिद्धि करते हैं क्योंकि यदि आर्ष[2] ज्ञान अथवा नित्य ज्ञान में तर्क को सहकारी न मानें अथवा विरुद्ध मानें तो लोगो को आर्ष ज्ञान की प्रतीति[3] ही नहीं होगी और उस तर्क हीन कार्य के सिद्ध हो जाने पर काकतालीय-(अकस्मात् हो जाने का)--प्रसङ्ग (दोष) होगा। इसलिए तर्क उचित है और ज्ञान का सहकारी है। इस लिए कहते हैं, कि अपने इन्द्र याग का अत्यन्त भङ्ग होने पर, गोकुल का विनाश करने के लिए ही इन्द्र वर्षा कर रहा है ॥१५॥

श्लोक—**तत्र प्रतिविधिं सम्यक् साधये योगमायया।**
लोकेशमानिनो मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मैं अभी योगमाया से उसका पूर्ण प्रतिकार कर देता हूँ। ये इन्द्र आदि देवता मोहवश अपने को स्वतन्त्र ईश्वर मानकर, उसका अभिमान करते हैं। अभी मैं इनके ऐश्वर्य के मोह को दूर हटाए देता हूँ।

सुबोधिनी—तर्हि किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह तत्र प्रतिविधिमिति, नात्रेन्द्रो दूरीकर्तव्यस्तथा सति क्लिष्टकारित्वं स्यादधिकारस्यैव तथात्वेन स्वतो दोषाभावाद् वृष्टिनिवारणे तु स्वतो युद्धं कुर्यात् तत्र मारणामारणाभ्यां पूर्वन्दोषानिवृत्तेर्वृष्टिस्तम्भे मेघान् मारयेन् मेघनाशेऽग्रिमकार्यं न स्यादतः प्रतिविधानमेव कर्तव्यं, तदाह तत्र प्रतिविधिं साधय इति, यद्यन्यत्रैते नीयेरंस्तदा तत्रापि भवेत् स्थानच्युतिर्वा स्यादितराश्रयणं वा भवेदतोऽनेन गोवर्धनेनोदनो भुक्त इत्ययमेव साधनीकर्तव्यः प्रतिकृत्या तस्य बलसत्त्वात्, तदाह सम्यगिति, नन्वेते पाषाणाः समुदायीभूता पर्वतव्यपदेशं लभन्ते नात्रैकोवयव्यत उत्तोलनेपि पाषाणानां पातः स्यादवतीर्णस्य लौकिकन्यायेन प्रवृत्तस्य पुष्टिकार्यपरस्य न प्रशासनन्यायेन पर्वत उपरि स्थापयितुं शक्योऽतः कथमुद्धरणमिति चेत् तत्राह योगमाययेति, योगमायात्र कार्ये स्वीकृता यथा गर्भसङ्कर्षणे तदत्र पर्वतधारणेऽपि विनियोज्या यथा न कोऽप्यंशः पतेत्, तस्या बलसिद्ध्यर्थं स्वक्रियाशक्तिस्तत्र प्रयोजनीया, ननु किमेतावता क्लेशेन पूर्वमेवायमुपद्रवः कथं न विचारितः? तत्राह लोकेशमानिन इति, अहमेव लोकेश इति स्वात्मानं मन्यते न त्वधिकारिणमिति, ननु वस्तुत एवायं लोकेश इति चेत् तत्राह मौढ्यादिति, न ह्यधिकारीशो भवति, एतदुपपादित"स वै पतिः स्यादि"त्यत्र, स एक एवेतरथा मिथो भयमित्यत इन्द्रो नेश्वरो मौढ्यादेव तथा मन्यते तस्य स मोहः श्रीमदेन जातस्तमोऽज्ञानमेवातो हरिष्ये ॥१६॥

१—युक्ति। २—ऋषि सम्बन्धी। ३—भान।

व्याख्यार्थ—तब क्या करना चाहिए-इस आकाङ्क्षा में, 'तत्र प्रतिविधिं' इस श्लोक से कहते हैं। यहां इस प्रसङ्ग में इन्द्र को पदच्युत कर देने में तो क्लिष्टकारिता होगी, अर्थात् अपराध से दण्ड अधिक होजाएगा; क्योंकि इस में दोष तो केवल अधिकार का ही है। इन्द्रत्व में तो कोई दोष नहीं है। यदि वर्षा को रोक दिया जाएगा तो इन्द्र स्वयं युद्ध करने आजाएगा। युद्ध में मारने अथवा न मारदेने से अधिकार का दोष तो दूर-(निवृत्त)-नहीं हो सकेगा। अथवा बरसना बन्द कर देने पर (इन्द्र मेघों का विनाश कर देगा तो भविष्य में, मेघों का कार्य-(वर्षा)-ही कभी नहीं हो सकेगा। इसलिए इसका तो कुछ अन्य ही उपाय करना चाहिए। यह सोच कर, भगवान् कहते हैं कि-"मैं इसका उपाय करता हूँ"। यदि इन व्रजजनों को यहां से दूसरे स्थान पर लेजाया जाए तो वहां पर भी वर्षा होने लगजाएगी, स्थान का त्याग करना पड़ेगा अथवा अन्यत्र अन्य का आश्रय लेना पड़ेगा। इस लिए इस गोवर्धन पर्वत ने ही इन्द्र के लिए सिद्ध की गई चावल आदि सारी सामग्री को खाया है, इसको ही इनकी रक्षा का साधन-(उपाय)-बनाना चाहिए। भगवान् ने ऐसी (गोवर्धन उठाकर रक्षा करने की) कल्पना पहले ही करली थी-यह मूल में-सम्यक्-पद से ज्ञात होता है।

शङ्का—पत्थरों का समुदाय ही पर्वत कहा जाता है। इन में कोई एक अवयवी नहीं इसलिए पर्वत को उठालेने पर भी पत्थर गिरेंगे। प्रशासन-श्रुति के अनुसार-अक्षर भगवान् की आज्ञा से ही आकाश और पृथिवि ठहर रहे-(विधृत) हैं-(अलौकिक रीति से) भी पर्वत का ऊपर उठाना योग्य नहीं है; क्योंकि यहां भगवान् मनुष्य रूप से अवतार धारण किए हैं और लौकिक रीति से ही अनुग्रह कार्य करते हैं। तब गोवर्धन पर्वत का उद्धरण किस प्रकार किया जा सकता है? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि योगमाया से करूंगा। अर्थात् इस गोवर्धनोद्धरण कार्य में, मैं योगमाया का ग्रहण करूंगा। जिस प्रकार योगमाया द्वारा गर्भ को खींच कर रोहिणीजी में स्थापित किया, वैसे ही पर्वत को उठाने में भी योगमाया का विनियोग[1] करूंगा। जिससे पर्वत का कोई भी भाग नहीं गिरने पाएगा। इस योगमाया को बलवती बना देने के लिए मैं उसमें अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग करूंगा।

इतने भारी क्लेश करने का कारण ही क्या है, इससे पहले ही इस उपद्रव का विचार क्यों नहीं कर लिया गया? ऐसी शंका के उत्तर में कहते है कि इन्द्र अपने आप को लोकों का ईश्वर मान रहा है। यह वह भूल गया है कि वह तो भगवान् के द्वारा नियत किया हुआ एक अधिकारी मात्र है। यह इन्द्र की मूढता है; क्योंकि अन्य के द्वारा नियत किया गया अधिकारी स्वामी नहीं हो सकता है। यही-"स वै पतिः स्यात्"-श्रुति में बतलाया है, कि पति निश्चय रूप से वही हो सकता है, जो सब प्रकार से रक्षा कर सके। ऐसा एक वही है। अधिकारी को भी पति मान लेने पर तो परस्पर में-एक दूसरे को एक दूसरे से भय है। इस कारण से इन्द्र कोई ईश्वर थोड़ा ही है। वह तो मूढता से अपने को ईश्वर मान रहा है। उसको यह मोह लक्ष्मी के मद से हुआ है। इसलिए मैं उसके श्रीमद से होने वाले अज्ञान को दूर करूंगा॥१६॥

१—उपयोग।

श्लोक—न हि मद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः ।
मत्तोसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो मेरे भाव से युक्त देवता हैं उन्हें—हम ईश्वर हैं—ऐसा अभिमान कभी नहीं हो सक्ता है । असत् जनों के अभिमान का भङ्ग—दूर—होना उनके लिए हितकारी ही होता है; क्योंकि फिर वे शान्त हो जाते हैं । उनका भ्रम मिट जाता है ॥१७॥

सुबोधिनी—ननु किं तदज्ञानहरणेनेत्यत आह न हीति, मद्भावः शुद्धसत्त्वं देवत्व वा पूज्यत्वमैश्वर्यं वा, षण्णां यत्र स्थितिस्तत्राज्ञान न तिष्ठेदित्यन्यथा स न मद्भावः स्यात्, भक्तिस्तु नात्र विवक्षिता विस्मयसामानाधिकरण्याभावादत ऐश्वर्यसत्त्वादेरज्ञानसहकारित्वं न युक्तमित्युभयोरप्यन्यतरनिराकरणे कृपालुत्वात् तम एव हरिष्ये, ईशा वयमिति विशेषेण स्मयो गर्वो न हि लोकेपि भवति जाते वा सोधिकारी स्थाप्यते, लोकन्यायेन त्वकरणं कृपालुत्वादेवाक्लिष्टार्थं च, ननु मानभङ्गापेक्षयाविकाराभाव एव श्रेष्ठ इति चेत् तत्राह मत्तोसतामिति, यद्यय मानभङ्गोन्यतः स्यादयुक्तं स्यात् लज्जाकरश्च भवेत् मत्तः सर्वेश्वरात् मानभङ्ग उचित एव नात्यन्तं लज्जाकरः, यद्यप्येक एवेन्द्रस्तथा भवेत् तदा निराकर्तव्यः स्यात् सर्व एव तथा जाता इति प्रधानशिक्षया सर्व एव शिक्षणीयाः, तदाहासतामिति, सर्व एव लोकपाला असन्तो जाता इति, अन्यथान्योप्येतादृश एव स्यात् ततोनवस्थाभवेत्, तस्मादसतां मानभङ्गः एकद्वारा कृतः सर्वेषामेव प्रशमाय भवत्युप समीपे च कल्पते शीघ्रं च भवति, प्रत्येककरणे बहु कर्तव्यं स्यात् एतद् राजमन्त्रणम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—उनका अज्ञान हरने–(मिटाने)–से क्या लाभ होगा ? इस ऐसे प्रश्न का समाधान–'न हि'–इस श्लोक से करते हैं । मेरा भाव अर्थात् शुद्ध सत्त्व, देवत्व अथवा पूज्य भाव या ऐश्वर्य जहाँ ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः धर्म रहते हैं, वहां अज्ञान नहीं ठहरता-है । इन उक्त धर्मों की स्थिति नहीं होती, वह मेरा भाव (भगवद्भाव) नहीं है । यहां भक्ति के कथन की तो इच्छा नहीं है, क्योंकि विशेष गर्व जहां हो, वहाँ भक्ति नहीं रहती है अर्थात् विशेष अभिमान और भक्ति दोनों एक स्थान नहीं रह सकते हैं । इसलिए कहते हैं, कि भक्ति की बात तो बहुत दूर है, ऐश्वर्य, सत्त्व आदि का और अज्ञान का भी साथ २ रहना उचित नहीं है । इस कारण से, ऐश्वर्य और अज्ञान–दोनों में से किसी एक को दूर करना आवश्यक है । मैं दयालु हूँ, इसलिए दया कर के इनके तम–(अज्ञान) को ही दूर करूंगा ! हम अधिकारी हैं–इस प्रकार का विशेष गर्व लोक में भी किसी अधिकार प्राप्त व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं होता और यदि किसी को अपने अधिकार का विशेष गर्व हो जाता है तो वह अपने उस अधिकार से च्युत[1] कर दिया जाता है । इस लोक रीति के अनुसार, इन्द्र को इन्द्र पद से च्युत न करने में, मेरी दयालुता ही कारण है । अपनी दयालुता से ही मैं इन्द्र पद से दूर न करके, अज्ञान को ही दूर करूंगा । अधिकारी पद से भ्रष्ट करने में, एक कारण यह भी है, कि भगवान् किसी को क्लेश देने वाला कार्य नहीं करते हैं ।

१—दूर, हटा ।

महापुरुषों का तो मान ही धन है । इसलिए मानभङ्ग करने की अपेक्षा तो, अधिकारच्युत कर देना ही श्रेष्ठ होता है ? ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते है, कि यह मानभङ्ग यदि किसी दूसरे से होता तो अनुचित होता और इन्द्र के लिए लज्जाकारी भी होता । मुझ सर्वेश्वर से होने वाला मानभङ्ग तो उचित ही है और अत्यन्त लज्जाकारी भी नहीं है । यदि एक ही इन्द्र विशेष गर्व वाला होता तो उसे ही दूर करना पड़ता; परन्तु यहां तो सभी लोक पालक देवता गर्विष्ठ हो गए हैं । इसलिए मुख्य को शिक्षा देकर सभी को शिक्षित करना है । "असतां मानभङ्गः" सारे ही लोक पालक असत् हो गए हैं । यदि शिक्षा नहीं दी जाएगी तो एक के पीछे दूसरा, यों सभी असत् हो जाएँगे और अनवस्था-(अनन्तता)-दोष उपस्थित हो जाएगा । इसलिए एक का मानभङ्ग सारे ही असत् लोकपालों का होकर सभी का शीघ्र ही हितकारी सिद्ध होगा । एक एक को अलग २ शिक्षा देने में तो बहुत करना पड़ता । राजा लोग इसी प्रकार एक को शिक्षा देकर अन्य सभी को शिक्षित करते हैं । यह राजमन्त्र है ।

श्लोक—तस्मान् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोयं मे व्रत आहितः ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस व्रज-(गोकुल)-का मैं ही रक्षक और स्वामी हूँ । ये सब व्रजवासी मेरी शरण में आए हैं । मैं इनको अपने आश्रित और स्वजन समझता हूँ । इसलिए मैंने यह व्रत-निश्चय-पहले ही करलिया है कि अपने योगबल से मैं इन सब की रक्षा करूंगा ॥१८॥

सुबोधिनी—नन्वेतेभ्य एव आवश्यकत्वाल्लाघवादिदानीमेव कथं न मुक्तिर्दीयते मानभङ्गस्तु प्रकारान्तरेणापि भवति गोवर्धनस्य तूद्धरणमलौकिकं ज्ञानोपदेशो वा कर्तव्योलौकिक सामर्थ्यं वा देयं बृहस्पतिद्वारेन्द्रो वा निवारणीयोत एतावति प्रकारे सति गोवर्धनोद्धरणमेव कुतः क्रियत इत्याशङ्क्याह तस्मादिति, अहमेव शरणं यस्य नापि ज्ञानं नापि भक्तिरन्ययावतारप्रयोजनं न स्यात्, पुष्टिमार्गश्च न भवेत्, तत्रापि गोष्ठं, न हि गाव उपदेशयोग्याः, इदानीं तु मुक्तिर्भक्तिमार्गविरोधिनी, तदाह मन्नाथमिति, अहमेव नाथः स्वामी यस्यातः स्वामिसेवकभावनाशकत्वात् नेदानी मुक्तिर्युक्ता, किञ्च मत्परिग्रहमिति, मम परिग्रहो यत्र मया सर्वे सङ्घाता एव परिगृहीतास्तत्र यद्येकोप्यंशो गच्छेत् तदा प्रतिज्ञाविरोधः स्यात् तथा सति विशेषाभावात् सर्वनाश एव भवेदतो यथा ते जीवाः परिगृहीता एवं तेषां देहा अप्यतो गोपाये, साधनं तु स्वात्मयोगेनेति, पर्वतधारणे योगमायायाः करणत्वमेतेषां सर्वथा रक्षायां स्वात्मयोग एव, यथा वायुनिरोध इन्द्रियाणि सर्वोपद्रवरहितानि भवन्ति तथैतेष्वहमात्मानं स्थापयिष्यामि, ततो मयि स्थिता मदभ्यन्तरस्थितपूर्वभुक्तान्नभोजिनो भूत्वा सुखिता भविष्यन्तीत्ययमेव पूर्वकृतभोजनोपयोगः, ननु किमेतावत्क्लेशेन ? तत्राह, सोयं मे व्रत आहित इति,

व्याख्यार्थ—शङ्का होती है कि गोप गायें आदि को मुक्ति देना तो आवश्यक ही है, फिर इसी समय थोड़े से प्रयास से सिद्ध हो जाने वाली मुक्ति क्यों नहीं दे दी ? इन्द्र का मानभङ्ग तो किसी दूसरी रीति से भी हो सकता है । गोवर्धन का उद्धरण तो अलौकिक है । लोक में मनुष्य

रूप से अवतार लेकर ऐसा अलौकिक कार्य करना उचित प्रतीत नहीं होता । अथवा इनको ज्ञान का उपदेश ही दे देते । अथवा अलौकिक सामर्थ्य ही दे देते अथवा देवगुरु बृहस्पतिजी के द्वारा इन्द्र को ही रोक देना था । इतने उपायों के होते हुए फिर गोवर्धन का उद्धरण ही क्यों किया ? इसका उत्तर, तस्मात्' इस श्लोक से देते हैं । मच्छरणं-मैं ही इनका शरण, आश्रय हूँ । ज्ञान अथवा भक्ति इनका आश्रय नहीं है । यदि इन से ज्ञान अथवा भक्ति करने का उपदेश करूँ तो फिर मेरा अवतार लेने का प्रयोजन ही सिद्ध न होगा; क्योंकि, ज्ञान, भक्ति के बिना भी केवल मेरा आश्रय लेने वालों को मैं स्वरूप बल से ही वाञ्छित फल देता हूँ । पुष्टि-(अनुग्रह)-मार्ग भी नहीं रहेगा । फिर यह तो गोष्ठ है । गायों में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं होती । इसी समय मुक्ति दे देना भक्ति मार्ग के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि मैं ही इनका स्वामी हूँ । इनके लिए अभी मुक्ति दे देने में तो स्वामी सेवक भाव ही लुप्त हो-जाएगा । इसलिए अभी मुक्ति देना उचित नहीं है ।

फिर मैं इनको स्वजन-(आत्मीय)-मानता हूँ । और जब मैंने इनके सारे शरीरों का परिग्रह किया है, तो शरीर का एक अवयव भी यदि न रहे तो मेरी प्रतिज्ञा में विरोध भी आवे और अङ्ग तथा अङ्गी में अभेद होने के कारण एक अङ्ग का नाश होने से भी सर्वनाश ही होजाएगा । इसलिए इनकी आत्मा की तरह इनके शरीर भी मेरे ही परिग्रह-आश्रित-है, तो मैं इनकी रक्षा करूंगा । वह रक्षा स्वात्मयोग के द्वारा करूंगा । गोवर्धन को उठाने में तो, योगमाया साधन है और इनकी रक्षा करने में स्वात्मयोग-(प्रमेय बल)-ही साधन है । जैसे वायुनिरोध-प्राणायाम-से सारी इन्द्रियां शान्त एवं उपद्रव रहित हो जाती हैं, इसी प्रकार जब मैं इन में अपनी आत्म को स्थित कर-(रख)-दूंगा, तब मेरे भीतर रहने वाले ये गोपजन मेरे भीतर स्थित पहले मेरे भोजन किए हुए अन्न का भोजन करके सुखी हो जाएँगे । मेरे द्वारा पहले किए गए भोजन का इन्हें भोजन कराकर सुखी करना ही प्रयोजन-(उपयोग)-है । इतना क्लेश उठाने का कारण यह है, कि (सोऽयं मे व्रत आहितः) मैंने यह व्रत धारण कर रक्खा है; क्योंकि

कारिका—शरणागतसंरक्षा सर्वभावेन सर्वथा ।
'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥१॥
'सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥२॥

कारिकार्थ—शरणागत जीवों की सुरक्षा सर्व भाव से सर्वथा करना । हे अर्जुन तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता है । युद्ध में अथवा शरणागतों में से जो कोई-मैं आपका हूँ-ऐसा कहता है, उसे मैं सब प्राणियों से अभय देता हूँ यह मेरा व्रत है ॥१—२॥

सुबोधिनी—तस्माद् सर्वथा स्वव्रतं पालनीयमिति, स्वधर्मनिर्वाहार्थमेव गोपाये, नन्वेतद् व्रतमेव किमिति गृह्यते ? तत्राहायं व्रतः पूर्वमेव मयाहितः स्वीकृत आस्थितो वातो गृहीतस्य त्यागाभावाद् पालनमेवोचितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस लिए अपने व्रत का पालन मैं सब प्रकार से करूँ । अपने धर्म की रक्षा-(निर्वाह)-के लिए रक्षा करूँगा । यदि यह कहा जाए कि ऐसा व्रत ही क्यों ले लिया ? तो इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह व्रत मैंने पहले से ही ग्रहण कर रक्खा है । धारण किए हुए व्रत का त्याग नहीं किया जाता । व्रत का पालन करना ही उचित है ।

कारिका—**प्रथमं क्लेशसम्बन्धः पूर्वपाषण्डधर्मतः ।**
शरणागमने बुद्धिर्यागानुष्ठानतोऽभवत् ।।१।।

कारिकार्थ—व्रजवासी, इन्द्रयाग रूपो पाखण्ड धर्म का सेवन कर रहे थे । इस कारण से, उन्हें पहले क्लेश का सम्बन्ध प्राप्त हुआ । तदनन्तर भगवद् याग का अनुष्ठान करने से उनकी भगवान् के शरण जाने की बुद्धि हुई ।।१।।

कारिका—**मर्यादास्थापनार्थाय शरणागतिवर्णनम् ।**
अन्यथान्यगृहीतार्थं गृह्णीयाद् भगवान् कथम् ।।२।।

कारिकार्थ—मर्यादा की स्थापना के लिए यहां शरणागति का वर्णन किया है । यदि इनकी शरणागति का वर्णन नहीं करते तो अन्य--(इन्द्र)--के ग्रहण किए पदार्थों का ग्रहण भगवान् कैसे करते ।।२।।

कारिका—**अतो यागोपदेशश्च दूरोपायतया मतः ।**
भक्तिमार्गस्तथाक्लिष्टकर्मत्वं च ततो भवेत् ।।३।।

कारिकार्थ—इस लिए दूर के उपाय की रीति से, अर्थात् उन व्रजवासियों को स्वरूपानन्द का दान करने के लिए--भगवद्--याग करने का उपदेश किया, जिससे अनन्य भक्ति मार्ग और भगवान् का अक्लिष्ट कर्म करना सिद्ध होता है ।।३।।

टिप्पणी—'गोपाये स्वात्म योगेन'-इस श्लोक की व्याख्या में-'पर्वत धारेण'-से प्रारम्भ करके-'भविष्यन्ति'-इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है, कि यहां दो कार्य कर्तव्य हैं-एक तो यह, कि पर्वत धारण करके वर्षा से रक्षा और दूसरा यह, कि इनके देह, जीव आदि की भी रक्षा करना; क्योंकि यदि जीव, देहादि की रक्षा न की जाएगी तो पर्वत धारण कर लेने पर भी प्रलय काल के मेघों की घोर गर्जना आदि से इनके प्राण टिक नहीं सकेंगे । इसलिए अपने आत्मयोग से इनकी रक्षा कर्तव्य है । यही मूल में 'स्व' पद का तात्पर्य है ।

अथवा स्वयं और आत्मयोग (स्वशक्ति) दोनों ही प्रकार से रक्षा करना अभीष्ट है । वह स्वशक्ति यहाँ योगमाया ही कही गई है । अर्थात् (स्व) स्वयं तो–(क्षुत्तृड्व्यथां–इस तेबीसवें श्लोक के अनुसार)–भगवान् ने स्वरूपानन्द का दान करके इनके प्राणादि की और पर्वत उठाकर वर्षा से रक्षा की–यह भाव है ।

लेख – तस्मान्मच्छरणं–की व्याख्या में–अलौकिकं सामर्थ्यम्–इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि–ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यादिभ्यः (ब्र. सू–४–४–५) जैमिनी के मत के अनुसार जीवों को देहादि बिना लीला करने का सामर्थ्य देना उचित है ? इस शंका का समाधान–(मत्परिग्रहं) मैंने इनका परिग्रह–अंगीकृत–किया है–इस पद से और (बृहस्पति द्वारा-) बृहस्पति द्वारा इन्द्र को वर्षा करने से रोक दिया जाए ? इस शंका का समाधान–स्वात्मयोगेन–इस पद से किया है, न कि किसी दूसरे प्रकार से । ज्ञानोपदेशश्च–ज्ञान का उपदेश कहने से भक्ति का दान भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि ज्ञान और भक्ति एक ही है । स्वात्मयोग एवं–अपनी आत्मा अथवा स्वरूप का (योग) इनमें स्थापन करना । स्वरूप स्थापन के द्वारा रक्षा की रीति कहते हैं, कि जिस प्रकार प्राणायामों के द्वारा, वायु के भीतर रोकने से,–वायु के वशीभूत इन्द्रियां बाहर की गति रहित होकर अन्तर्निष्ठ हो जाती हैं, उसी प्रकार मेरी आत्मा (स्वरूप) का इन में स्थापन करने से, मेरे आधीन, ये व्रजजन उपद्रव रहित होकर अन्तर्निष्ठ अर्थात् मेरे भीतर इनकी स्थिति हो जाएगी । तब मेरे भोजन किए हुए अन्न के प्रभाव की शक्ति से ये–'सुखिताः–गर्जना आदि के प्रतिघात से रहित हो जाएंगे । इतीति–इस प्रकार स्वात्मयोग से रक्षा की ।।१८।।

टिप्पणी—'तस्मान्मच्छरणं', इस श्लोक की व्याख्या में की गई 'मुक्तिदान' आदि की शङ्का के समाधान मे कारिका मे–'प्रथमं क्लेश सम्बन्धः' से प्रारम्भ करके, 'ततो भवेत्' तक कही गई है ।

शङ्का—भगवान् ने जब नन्द आदि व्रजजनों का इस प्रकार परिग्रह करलिया था, तो फिर उनकी अन्य देव इन्द्र की पूजा में मन क्यों हुआ ? और यदि इनकी अन्य के भजन में रुचि हो भी गई थी, तो अन्य भजन से इन्हें निवृत करना ही उचित था, याग करने का उपदेश तो अनुचित था; क्योंकि जब इनका परिग्रह भगवान् ने स्वरूप से ही किया था, तब यागादि दूसरे साधनों की कोई अपेक्षा नहीं थी । यह भी नहीं है कि इनका परिग्रह अभी ही किया गया हो; क्योंकि–"स्वगोकुलमनन्यगतिं–गोकुल मेरा है, मेरे बिना इसका अन्य रक्षक नहीं है–इत्यादि वाक्यों से इनका भगवत्परिग्रह पहिले ही सिद्ध है । फिर भगवान् स्वयं सर्वज्ञ हैं और व्रज का परिग्रह सदा ही सिद्ध है, तब उनकी रक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर भी, तत्काल रक्षा न करना भी अनुचित है ? इत्यादि शंकाओं का उत्तर–प्रथमं क्लेश सम्बन्धः–इस प्रथम कारिका में दिया है, यहां यह अभिप्राय है । यहां भगवान् के परिग्रह से ही सकल सिद्धि है । वह परिग्रह भी किसी अन्य साधन से सिद्ध नहीं हो सकता । तभी तो, अर्थात् स्वपरिग्रह के कारण ही विपरीत साधन (इन्द्रयाग) करते देख, उन्हें उस विपरीत साधन से निवृत किया । इससे इनका परिग्रह ही सिद्ध होता है । पहले से ही विपरीत साधन का था–इस कथन से स्वपरिग्रह सिद्ध नहीं हो सकता । इसी से श्रुति में कहा है कि "भगवान् किसी साधन द्वारा प्राप्त नहीं होते । वे जिस जीव का वरण करते हैं, उसे ही वे प्राप्त होते है" इसीलिए 'प्रथम' इत्यादि आधी कारिका आज्ञा की है ।

'शरणागमने', इत्यादि आधी कारिका से याग के उपदेश का प्रयोजन कहा गया है, कि याग के अनुष्ठान से उनकी शरणागमन की बुद्धि हुई । यदि गिरियाग न करते तो–"भगवान् के वचन से इन्द्रयाग का भङ्ग करने से, हम पर यह क्लेश आया है"–इस प्रकार उनकी भगवान् पर ईर्ष्या, असूया, बुद्धि हो जाती और जिससे अब

तक किया हुआ सारा निरोध व्यर्थ हो जाता । भगवान् का परिग्रह स्वय ही बहुत प्रबल है,-यह बतलाने के लिए इन से, लोक साधारण रीति के अनुसार, याग करने से लिए कहा है । इसलिए अब तो ईर्ष्या के उत्पन्न होने की शङ्का ही नहीं रह जाती है । इसके पहले जब इनके देह, इन्द्रियां आदि इन्द्रयाग रूप पाखण्ड धर्म में विनियुक्त थे, तब तो असूया होना भी सम्भव था । अन्यत्र विनियुक्त हुई इन्द्रियों का निरोध भगवान् में सिद्ध नहीं होता इसी लिए-उनकी निरोध सिद्धि के लिए ही भगवान् ने उनका तथा उनकी वस्तुओं का अपने स्वार्थ कार्य-याग-में योग कर दिया । तब उस पूर्व दोष के दूर हो जाने पर उनने भगवान् पर दोषारोपण नही किया और उनकी बुद्धि भगवान् के शरण में जाने की हुई ।।का०।।१।।

भगवान् ने उनका परिग्रह तो स्वरूप बल से ही कर रक्खा है, फिर परिग्रह के लिए यह याग कराना व्यर्थ है ? ऐसी शङ्का करना उचित नहीं हैं; क्योंकि याग कराकर उनकी शरण जाने की बुद्धि उत्पन्न करने का हेतु परिग्रह ही तो है । वह परिग्रह उनका और उनकी वस्तुओं का सब का ही कहना चाहिए । परिग्रह करने वाले (उन) भगवान् पर यदि उनकी निष्ठा न हो तो, परिग्रह का स्वरूप ही सम्भव न हो । यहाँ यह कहना कि-शरणागमन से ही परिग्रह तो सिद्ध हो गया था-उचित नहीं है; क्योंकि इस परिग्रह के कारण ही भगवान् ने उनकी रक्षा की है । शरणागति का वर्णन तो केवल भक्ति मार्ग की इस मर्यादा को बतलाने के लिए है. कि भगवान् ने जिनका परिग्रह कर लिया है, वे अपनी इस लोक और परलोक की सिद्धि के लिए भगवान् की ही प्रार्थना करते हैं किसी दूसरे की नहीं करते । शरणागति के वर्णन का दूसरा कारण व्रजवासियों के इस प्रकार के कथन से इनके परिग्रह को पहले ही से सिद्ध बतलाना भी है; क्योंकि यदि परिग्रह पूर्व सिद्ध नहीं होता तो इन्द्र का अपराध करने से हुए-(आए)-अनिष्ठ को देखकर पुनः इन्द्र का ही याग करने की प्रतिज्ञा करके इन्द्र से ही रक्षा की प्रार्थना करते । इसीलिए दूसरी कारिका-में मर्यादास्थापनार्थाय-ऐसा कहा है ।

अथवा-मर्यादा स्थापनार्थाय-इस कारिकास्थ पद का दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि जैसे कोई मादक वस्तु के मद से मत्त होकर दूसरों की अवगणना[1] कर देता है, उसी प्रकार ये व्रजवासी भगवान् के परिग्रह के गर्व से अपने आप को निर्भय मानकर, तथा इन्द्र को तुच्छ समझ उसकी अवगणना करके गर्व से यदि भगवान् से भी रक्षा की प्रार्थना नहीं करते तो भी भगवान् तो रक्षा करते ही, किन्तु इनके भाव के अनुसार ही रक्षा करते । तब तो गोवर्धन का उद्धरण नहीं होता, केवल वर्षा का नाश करके ही रक्षा कर देते । इस प्रकार केवल वृष्टि का नाश करने से गोवर्धन के उद्धरण में होनेवाली-अन्य किसी की अपेक्षा न रखकर भगवान् के दर्शन करते रहना, केवल भगवदीयत्व का अनुभव करना, भगवान् का माहात्म्य जानना, गोविन्द नाम धारण करना, भगवान् पर अभिषेक-आदि लीलाओं का अनुभव व्रजवासियों को नहीं होता । उन लीलाओं की सम्भावना भी तब तो नहीं रहती और उन लीलाओं से होने वाला निरोध भी उनका नहीं होता तब व्रजवासियों के निरोध सिद्धयर्थ ही सारी लीला करना रूप नियम का भङ्ग हो जाता । इस लिए नियम रूप मर्यादा की रक्षा के लिए शरणागति का वर्णन किया है ।

दूसरी बात यह है, कि यह साधन प्रकरण है । यहां इस साधन प्रकरण में साधन मार्ग के अनुसार की हुई-भगवान् की-लीलाओं का ही वर्णन किया गया है । इसलिए अन्य-इन्द्र-याग का निषेध करना, स्वयाग

१—तिरस्कार ।

श्लोक —इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१९॥

श्लोकार्थ—यों कह कर श्रीकृष्णचन्द्र ने एक हाथ से गोवर्धन (पर्वत) को अचल करके लीला पूर्वक उठा लिया, जैसे कोई बालक खेलते खेलते (बरसाती सांप की छतरी) धरती के फूल को धरती से उखाड़ ले ॥१९॥

सुबोधिनी—अतो भगवानेवं विचार्य तान् प्रति तथोक्त्वा विश्वासार्थं श्रुतिविरोधपरिहारार्थमाधिदैविकसम्पत्त्यर्थं मायागोवर्धनादीनां प्रबोधनार्थं च तथोक्त्वा गोवर्धनोद्धरणं कृतवानित्याहेत्युक्त्वेति, अयं गोवर्धन उत्तोलितः संश्चलः स्यात् तथा सति स्वरूपनाशो भवेदचलो हि सोत एकेन हस्तेन गोवर्धनमचलं कृत्वा दधारेतिसम्बन्धः, गा वर्धयतीति गोवर्धन आधिदैविकस्य नामेति पूर्वं व्यवस्थापितः, स चलोपि भवेत् तस्याप्यचलता सम्पादिता धारणार्थमेकया क्रियाशक्त्या पालनलक्षणयान्यथा सेवायामपि प्रवृत्तश्चेच्चलनं स्यात्, अथ वाल्पो गोवर्धनो लम्बो विकृतश्च तमेकेन हस्तेन यादृश उद्धर्तव्यस्तादृशं कृत्वा पश्चाद् दधार, एवं सति क्लेशो भवेत् किं वा प्रयोजनमित्याशङ्क्याह लीलयेति, लीलायां क्लेशो रसाय भवति लीलामात्रेण कृतमित्यक्लेशश्च, ननु सर्वेश्वरो भगवान् कथमेवमचलं चलं विधाय स्वतः स्थितमन्यथाकृत्वा पालनं कृतवान् प्रकारान्तरेणापि पालनसम्भवात् ? तत्राह छत्राकमिव बालक इति, यथा बाला लीलायां छत्राकं स्थिरमपि राजलीलां बोधयितुं तत उत्पाट्य मस्तकोपरि स्थापयन्ति तथा सति बाललीला सा भवेदन्यथा मर्यादाभङ्गो

कराना, व्रजवासियों का भगवान् की शरण में जाना, तब भगवान् का उनकी रक्षा करना आदि का वर्णन उचित ही है। यदि उक्त प्रकार से वर्णन यहां नहीं होता तो, विपक्ष–(विरोध)–में आने–उपस्थित होने वाली बाधा का वर्णन–अन्यथा–इत्यादि द्वितीय कारिका के उत्तरार्ध मे कहते हैं। (अन्यथा–यदि ऐसा नहीं करते तो अर्थात् इन व्रजजनों को सबसे अलग करके मैं (इन्हें) आत्मीय करूंगा–यदि ऐसी इच्छा से भगवान् इन्द्रयाग भङ्ग आदि लीला नहीं करते) अन्यथा यदि भगवान् व्रजवासियों को सब से अलग करके आत्मीय करने की इच्छा से इन्द्रयाग का भङ्ग आदि लीला नहीं करते तो अन्य–इन्द्र के लिए सिद्ध किए हुए भोजन को भगवान् क्यों अरोगते ? दूसरे अन्न से भी गोसव–गायों के लिए यज्ञ–हो सकता था, परन्तु अन्य अन्न से यदि गोसव किया जाता तो इन्द्र का अंग–(भाग)–गोकुल में बना (स्थापित) ही रहजाता। इन्द्र का गोकुल में कुछ भी अंश शेष न रहे–इसी अभिप्राय से भगवान् ने अन्य नई सामग्री सिद्ध न कराकर उसी इन्द्रयाग के लिए सिद्ध की गई सामग्री से ही, स्वयाग करने का जो उपदेश दिया है, वह वजजनों को केवल आत्मीय करके स्वरूपानन्द का दान करने के लिए दिया है। इसी कारण से तीसरी कारिका मे याग के उपदेश को दूर के उपाय रूप से कहा है। ऐसा करने से अनन्य भक्ति मार्ग सिद्ध होता है। इन्द्र का अंश शेष रहने पर तो वह भक्ति अन्य से मिश्रित ही रह आती। आनुषङ्गिक (मध्य पतित) इन्द्र याग का भङ्ग आदि सब कुछ भक्तों को–काल कर्म स्वभाव से मुक्त होकर–केवल भगवदीयता तथा भगवान् की अक्लिष्ट कर्मता की सिद्धि के लिए किया है। तात्पर्य यह है, कि भक्ति मार्ग की स्थापना और भगवान् की अक्लिष्ट कर्मता सिद्ध हो–इसी उद्देश्य से यह लीला है। यह तीसरी कारिका के उत्तरार्ध में कहा है।

दोषाय स्यादत एवेन्द्रो न निवृत्तः पौरुषस्याप्रकटितत्वादनायासेपि दृष्टान्तः, वस्तुतो रक्षा भगवतैव कृता न तु गोवर्धनेनाप्युद्धृतेन न हि च्छत्राक क्वचिद् वृष्टिं वारयति वृष्ट्या नाशसम्भवाच्चातोप्रयोजकत्वमपि ज्ञापयितु दृष्टान्तः, तथोद्धृतवान् यथा मध्ये गर्तो भवति प्रान्तभागश्चोन्नतो गर्ताधिकप्रदेशे तद्गता छाया ॥१९॥

व्याख्यार्थ--इस कारण से भगवान् ने इस प्रकार विचार करके व्रजवासियों में विश्वास उत्पन्न कराने, विश्वासार्थ आने वाले श्रुति के विरोध को दूर करने, आधिदैविक सम्पत्ति सिद्ध करने तथा माया, गोवर्धन आदि को प्रबोध कराने के लिए ऊपर कथित प्रकार से कहकर गोवर्धन का उद्धरण किया-यह-'इत्युक्त्वैकेन'-इस श्लोक से कहते है। इस गोवर्धन को ऊँचा धारण किया तो यह चल हो जाएगा। इसकी अचलता मिट जाएगी, तब तो इसके स्वरूप का नाश हो जाएगा; क्योंकि पर्वत तो अचल है। इसलिए एक हस्त से गोवर्धन को अचल करके धारण किया-यह सम्बन्ध है। गोवर्धन गायों को बढाने वाला, यह आधिदैविक नाम पहले ही सिद्ध किया हुआ है। वह चल भी हो, उसकी भी-धारण करने के लिए एक हस्त से-पालन स्वरूप वाली एक क्रियाशक्ति में-अचलता का सम्पादन किया। यदि उसे अचल नही करते, तो भगवान् की सेवा में लगा हुआ भी गोवर्धन अचल न रहकर चल हो जाता। अथवा यह भी तात्पर्य है कि ऊँचे, नीचे, लम्बे विकृत गोवर्धन को एक हाथ से उठाया जा सकने योग करके फिर धारण किया। पर्वत उठाने में भगवान् को क्लेश होगा और ऐसा करने का प्रयोजन भी क्या है? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि, 'लीलया' लीला से ही उठा लिया। लीला में होने वाला क्लेश आनन्ददायक होता है, रस उत्पन्न करता है। लीलामात्र से किया हुआ होने से उसमें क्लेश भी नहीं है।

यहां यह शंका होती है, कि भगवान् तो सब के ईश्वर हैं। वे किसी दूसरे प्रकार से भी रक्षा करने में समर्थ है फिर इस अचल गोवर्धन को चल-करके-इसकी स्थिति मे परिवर्तन करके-ऊँचा २ उठाकर ही रक्षा क्यों की? इसका उत्तर-'छत्राकमिव बालकः'-मूल मे इन पदो से किया है। जैसे बालक खेलते २ वर्षा में उगने वाली छतरी के आकार वाली साँप की छतरो को उखाड कर राजा की सी लीला करने के लिए अपने शिर पर छत्र रूप से रख लेते हैं। ऐसा करने पर भी, वह बाल लीला ही कहलाती है, नहीं तो मर्यादा का भङ्ग दोष रूप होता। इसी लिए इन्द्र भी इस-गोवर्धनोद्धरण-को बाल लीला जानकर निवृत नहीं हुआ; क्योंकि भगवान् ने अपना कोई सामर्थ्य प्रकट किया नहीं। छत्राक के दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि इस लीला मे भगवान् को थोडा भी परिश्रम नहीं हुआ। वास्तव में तो रक्षा भगवान् ने ही की। गोवर्धन को उठा लेने से भी रक्षा होती नहीं! छत्राक से कभी वर्षा रुक नहीं सकती। छत्राक तो वर्षा से नष्ट हो जाता है। इसलिए गोवर्धन का धारण करना भी रक्षा करने में मुख्य कारण नही है। इसी अभिप्राय से, मूल में यहां छत्राक (साप की छतरी) का दृष्टान्त दिया गया है। भगवान् ने गिरिराज का उद्धरण इस प्रकार से किया कि बीच में गड्ढा, दोनों किनारे ऊँचे और गड्ढे के अधिक भाग में उसकी छाया बनी रहे।

टिप्पणी--'इत्युक्त्वैकेन'-श्लोक की व्याख्या में-विश्वासार्थ-का तात्पर्य यह है कि आगे के डेढ़ श्लोक से-भगवान् हमारी रक्षा करेंगे ही-व्रजवासियों को विश्वास उत्पन्न किया। भगवान् के कहने से इन्द्रयाग का भग करने से ही, यह उपद्रव आया है। इसलिए भगवान् इसका उपाय अवश्य करेंगे ही। यह-स्वयागे विहते-गत

श्लोक—अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—गोवर्धन पर्वत को ऊँचा धारण करके भगवान् ने गोपों और गोपियों

पन्द्रहवें श्लोक मे कह आए है। व्रजवासियों के विश्वास उत्पन्न होने का कारण यह है, कि भगवान् की आज्ञा से भगवद् याग करने पर गोवर्धन देव के प्रत्यक्ष दर्शन हुए । यह–'कृष्णस्त्वन्य–तमं रूप'–इस गत अध्याय के पैंतीसवें श्लोक से बतलाया जा चुका है। इन्द्र का दमन करते तो–इन्द्रस्ययुज्यः सखा–(भगवान् इन्द्र के सहयोगी सखा हैं) इस श्रुति से विरोध आजाता । इस श्रुति विरोध को दूर करने के लिए ही इन्द्र का दमन न करके उसके लक्ष्मी मद को दूर करना कहकर उसका हित करना ही बतलाया है।

सभी देवताओं का आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप है। इन्द्र का भी आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप ही है। उस आधिदैविक स्वरूप से युक्त इन्द्र को मद कभी नहीं हो सकता। इसको मद के होने से ज्ञात होता है कि यह इन्द्र आधिदैविक स्वरूप से रहित है। ऐसे इन्द्र का मानभङ्ग उस आधिदैविक स्वरूप इन्द्र का सम्मत ही है। इसीलिए 'न हि मद्भावयुक्तानां'–यह कहा है। यदि आधिदैविक इन्द्र को यह मानभग अभीष्ट नही होता, तो गत सत्रहवे श्लोक में भगवान्–मद्भावयुक्तानां–यह नहीं कहते । गोपाये स्वात्मयोगेन–इन अठारहवें श्लोक के पदों की व्याख्या में, माया और गोवर्धन के प्रबोधन करने का अभिप्राय यह कहा है, कि पर्वत के धारण करने में योगमाया और गोपों की रक्षा करने में स्वात्मयोग साधन है । यहां व्याख्या में–माया गोवर्धनादीनां–आदि पद से गिरिराज पर स्थित वृक्ष, पक्षी आदि को भी प्रबोध दिया। भगवान् यदि उन वृक्षों, पक्षियो को प्रबोधन नहीं करते, तो वे पर्वत की छाया में नही आते। तब तो उनका नाश होने से अनिष्ट ही होता । इसलिए उन वृक्ष पक्षियों में भी स्वयोग सूचित किया है, कि भगवान् ने अपने वाक्यों से उनको भी प्रबोध किया । यदि ऐसा न मानें तो–इत्युक्त्वा दधार ऐसा कह कर धारण किया । यों कह कर रक्षा करना नहीं लिखते; क्योंकि यों बिना कहे भी गोवर्धन के धारण से रक्षा तो सम्भव थी ही। फिर भी इन वचनों के कहने से उन वृक्ष पक्षियों को भी बोधन करना समझना चाहिए।

लेख—इत्युक्त्वा–इस श्लोक की व्याख्या में–पूर्व व्यवस्थापितः–(गोवर्धन–यह आधिदैविक नाम पहले ही स्थापित कर दिया है) इन पदों का अभिप्राय यह है, कि गत अध्याय के सैंतीसवें श्लोक–'एषोऽवजानतो मर्त्यान्, शर्मणे गवाम्' में गायों के कल्याण के लिए भगवान् ने गोपों से इस गोवर्धन पर्वत को नमस्कार करवाया है। इस कथन से इस पर्वत का गायों की वृद्धि करना सिद्ध है। अन्यथा–आदि पदों का तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् गोवर्धन पर्वत में अचलता का सम्पादन न करके उसे चल कर देते तो उसमें चलन धर्म प्रगट हो जाता। तब तो वह किसी अन्य कारण से चलन नही भी करता तब भी वह स्वय हरिदासों में उत्तम–हरिदासवर्य–होने के कारण भगवान् की सेवा मे प्रवृत होने पर चलन करने पर भी उसमें भगवान् के द्वारा की हुई अचलता को दूर न करदेने वाली सेवाएँ ही गोवर्धन करे । इसकी उस सेवा का स्वरूप वेणुगीत में, 'पानीयसूयवसकन्दर कन्दमूलैः' जल, सुन्दर घास, कन्दमूल उत्पन्न करना कहा है। भगवान् ने अचलता का सम्पादन करके ही गोवर्धन को धारण किया। इस कारण से उसमें चलत्व नहीं आया–यह भाव है ॥१९॥

से कहा--हे माता, हे पिता, हे व्रजवासियों, आप सब अपने गोधन सहित इस गिरिराज के गढहे में आकर सुख पूर्वक बैठिये ॥२०॥

सुबोधिनी -- एवं धृत्वा शरणागतानाहाथेति, उपायं कृत्वैव समाधानवचनमुक्तवान्न तु पूर्वमित्यानन्तर्यार्थोऽथशब्दः, भगवानिति पर्यवसानपरिज्ञानं, गोपानिति धर्मपरान्, अन्यथा भगवद्वाक्ये विश्वासो न भवेद् विपरीतक्लेशानुभवात्, अतस्तान् प्रत्याहेति वक्तव्ये गोपानाहेत्युक्त. तेष्ववान्तरभेदं वक्तुं स्थानविशेषनिर्देशार्थं स्नेहेन विशेषतः सम्बोधयति हेम्ब हे तात हे व्रजौकस इति, राजसादित्रैविध्य च प्रदर्शितं सर्व एव पाल्यन्त इतिज्ञापनार्थं, यथोपजोष यथासुखं गिरिगर्तं विशत, सर्वेषामेव स्थितौ महत् स्थानमस्तीति बोधितं, गोधनसहिता गाव एव धनानि येषां गोभिर्धनैश्च सह वा ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार गिरिराज को धारण करके अपने शरणागत व्रजवासियों से भगवान् के कथन का वर्णन् 'अथाह' इस श्लोक से करते हैं। उपाय करने के पश्चात् ही भगवान् ने समाधान के वाक्य कहे, पहले नहीं कहे-यह बतलाने के लिए यहां मूल में-अथ (आनन्तर्य अर्थ बोधक) शब्द भगवान् ने कहा है । स्वयं भगवान् है । इसलिए श्रीकृष्णचन्द्र को इस लीला से होने वाले सारे परिणाम का ज्ञान है । 'गोपान्'-यह पद गोपों की धर्म परायणता का सूचक है। यदि वे धर्म में परायण न होते, तो भगवान् के वाक्य पर उनका विश्वास नहीं होता; क्योंकि वे पहले (इन्द्र कोपरूप) विपरीत क्लेश का अनुभव कर चुके थे । इसी आशय से-तान् प्रति आह-ऐसा न कहकर (सर्वनाम पद से न कहकर) गोपान्-यह पद मूल में कहा गया है उनमें स्वरूप भेद कहने और स्थान विशेष का निर्देश करने के लिए स्नेह के कारण भगवान् विशेष रूप सम्बोधन करते है-हे माता ! हे पिता ! हे व्रजवासियो ! इस प्रकार राजस, सात्विक, तामस, आदि प्रकार का निर्देश भी कर दिया और वह इस बात को सूचित करने के लिए कि भगवान् इन सब का पालन करते हैं। यथोपजोषं-यथा सुख इस गिरिगर्त में प्रविष्ट हो जाओ । इस कथन से यह बतलाया, कि सब के रहने के लिए यहां विशाल स्थान है । गायें रूपी धन के अथवा गायें और धन के सहित इन पर्वत के नीचे गढहे में ठहर जाओ ॥२०॥

श्लोक—न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात् ।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं मया ॥२१॥

श्लोकार्थ—आप लोग मेरे हाथ से इस पर्वत के गिर जाने का भय न करें । अब इस घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधी से भी आप लोगों को कुछ भी भय नहीं है; क्योंकि उस विपत्ति से बचाने के लिए ही मैंने यह उपाय किया है ॥२१॥

सुबोधिनी -- उपरि मद्धस्त दृष्ट्वा त्रासो न कर्तव्य इत्याह न त्रास इति, इहास्मिन् गर्ते प्रविष्टैर्मद्धस्तादद्रिपातनाद्धेतोस्त्रासो न कार्यो न पतिष्यति यतः, ननूभयोर्भययोरेकमङ्गीकर्तव्यं ततो वरं वृष्टिभयमेवास्त्वित्याशङ्क्याह वातवर्षभयेनालमिति, वातवर्षभयं न कर्तव्यमलंशब्दो निवारणेतस्तद्भयं मास्त्वत्र तु शङ्का

न कर्तव्या, आगन्तव्यमित्याशङ्काभावमुपपादयति तत्त्राणं विहितं मयेति, तस्य भयस्य त्राणं रक्षणं प्रतीकारस्तन् मया विहित, न ह्युपायः कदाचिदप्यनुपायतामापद्यते, मयेतिवचनान् न भ्रान्तेन कृत कृतत्वान् न कर्तव्यम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ऊपर मेरे हाथ को देख कर आप लोग डरो मत–यह इस, 'न त्रास इह' श्लोक से कहते हैं। इस पर्वत के गढहे में बैठे हुए आप लोगों को मेरे हाथ से पर्वत गिरने का भय नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह नहीं गिरेगा। यहाँ शंका होती है; कि एक तो वात वर्षा का भय और दूसरा पर्वत के गिरजाने का भय–इन दोनों उपस्थित भयों में एक भय को स्वीकार तो करना ही है तो फिर, वर्षा का ही भय क्यों न हो ? अर्थात् वर्षा के भय को ही अंगीकार भले ही कर लें ? इस के उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि प्रचण्ड पवन और घोर मूसलधार वर्षा का भय नहीं करना चाहिए। यहाँ, 'अलं' शब्द का 'निवारण' अर्थ है। अर्थात् पर्वत के गिर जाने और वात, वर्षा के भय की शंका ही नहीं करना चाहिए। निःशङ्क होकर इस गढहे में–पर्वत की छाया में आजाओ–इसका प्रतिपादन करते हैं कि उस भय का उपाय मैंने किया है अथवा भय से मैंने रक्षा की है। जो उपाय होता है वह कभी अनुपाय नहीं होता। वह उपाय भी–मया–मैंने किया है। किसी भ्रान्त पुरुष ने नहीं किया है। उपाय कर दिया है, इसलिए अब कुछ कर्तव्य भी शेष नहीं है ॥२१॥

श्लोक—तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः ।
यथावकाशं सधनाः सप्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार श्रीकृष्ण के विश्वास पूर्ण वचनों के द्वारा आश्वासित होकर व्रजवासी लोग अपने गोधन, पुत्रादि, सेवक, पुरोहित आदि के सहित सुख से उस पर्वत के गढहे में चले गए। सबने अपनी २ सामग्री भी छकड़ों में भरकर वहीं रख ली। किसी के लिए स्थान की कमी नहीं रही ॥२२॥

सुबोधिनी—ततस्ते तथैव कृतवन्त इत्याह **तथेति**, पतनभयाभावार्थमाह **कृष्णाश्वासितमानसा** इति, **यथावकाश**मित्युक्तार्थस्थापनं **सधना** गोसहिताः पुत्रादिसहिता **उपजीवी** सेवकादिर्विप्रादिश्च तत्सहिताः, ततो वृष्टिः सप्तरात्र जाता भगवतो गुणानां च मर्यादायां प्रतीक्षार्थं यद्यग्रेपि भवेन् म्रियेतैवेन्द्रो मेघाश्च तदुपरिसहनं भगवतो नास्त्यत एव यो भगवदीयेभ्यो विचार्यापकारं करोति स सप्तरात्रं प्रतीक्षत एतन्मध्ये चेद् भगवता परिपालितस्तदा न करिष्याम्युपेक्षितश्चेत् करिष्यामीत्यविचार्यो पद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं करोति यदि तावत्कालं जीवितस्तदा निवर्तते स्वनाशभयात्, एवं व्यवस्था सर्वत्र ॥२२॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर उन गोपों ने वही किया यह, 'तथा' इस श्लोक से कहते हैं। पर्वत के गिर जाने का भय उनके मन में अब थोड़ा भी नहीं था; क्योंकि भगवान् कृष्ण ने उनके मन को आश्वस्त कर (आश्वासन दे) दिया था। यथावकाशं–अर्थात् स्थान की सङ्कीर्णता से नहीं। यहां इस, 'यथावकाशं' पद से बीसवें श्लोक में कहा गया सुखपूर्वक–यथोपजोषं–रहना सिद्ध होता है।

गायें, पुत्रादि, सेवक आदि, ब्राह्मण आदि–सब के साथ उस गर्त में चले गए । तब भगवान् (धर्मी) और उनके गुणों (छः धर्मों) की मर्यादा की प्रतीक्षा में सात रात्रितक वर्षा होती रही। यदि इसके आगे भी वर्षा होती ही रहती तो, इन्द्र और मेघों का नाश ही हो जाता; क्योंकि सात रात्रि से अधिक आगे भगवान् सहन न करते। इस कारण से ही, जो कोई भगवदीय का जान कर अपकार करता है, तो वह सात रात्रि तक यह बाट देखता है, कि यदि इस अवधि–(सात रात्रि) के बीच में भगवान् उस भगवदीय की रक्षा कर लेते हैं, तो मैं (अपकार कर्ता) भगवदीय का अपकार नहीं करूंगा। यदि इस अवधि तक भगवान् ने उसकी उपेक्षा करदी तो आगे भी अपकार करूंगा-इसतरह सात रात्रि तक राह देखता है । बिना विचारे उपद्रव करने वाला तो सात रात्रि तक ही उपद्रव करके देखता है, कि इस अवधि तक भगवदीय भक्त जीवित है तो वह उपद्रव करना रोक देता है; क्योंकि उसको स्वयं के नाश का भय हो जाता है । यह व्यवस्था सब स्थान पर ही समझने की है ॥२२॥

लेख—तथा इस श्लोक की व्याख्या में, 'प्रतीक्षार्थं' प्रतीक्षा करने के लिए। तात्पर्य यह है कि–धर्मी और धर्म–इन सातों में से कोई एक भी उपेक्षा कर देता है तो मैं (इन्द्र) उपद्रव करता ही रहूंगा–इस तरह सातों की प्रतीक्षा की। तदुपरि–इसके आगे रक्षक के न होने से वे नष्ट ही हो जाएँगे। तब तो भगवान् उस उपद्रव कर्ता को ही नष्ट कर देते हैं।

योजना—इस 'तथा निर्विविशुः' श्लोक की व्याख्या में–भगवतो गुणानां च प्रतीक्षार्थम् (भगवान् की और गुणों की प्रतीक्षा करने के लिए) कहे इन पदों का तात्पर्य यह है—जैसे कोई (अनेक) शक्ति वाला पुरुष अपनी शक्तियों से ही सब कार्य करता है और जैसे कोई अनेक आयुध वाला पुरुष सरलता से इच्छानुसार एक एक शस्त्र से हिंसकों को भगा कर दीनों की रक्षा करता है, इसी प्रकार से ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त भगवान् ने अपने प्रत्येक गुण से एक एक दिन उस वर्षा आदि के द्वारा हुए दुःख को दूर करके गोकुल की रक्षा की। इस तरह छः दिन तक तो छः गुणों से रक्षा की और सर्व गुण सम्पन्न भगवान् ने धर्मी रूप से सातवे दिन रक्षा की। रक्षण में इस तरह सात प्रकार हैं।

इन्द्र इस आशय से सात दिनों तक वर्षा करता रहा, कि जैसे भगवान् ने प्रथम दिन ऐश्वर्य गुण द्वारा रक्षा की, इस प्रकार दो, तीन अथवा चार दिन रक्षा करके यदि भगवान् फिर उपेक्षा कर देंगे, तो मैं वर्षा से व्रज का नाश कर ही दूंगा। यह है भगवान् और उनके गुणों की प्रतीक्षा करना । फिर आगे आठवें दिन वर्षा क्यों नहीं हुई ? ऐसी शंका करके व्याख्या में कहा है 'तदुपरि सहन नास्ति'–अर्थात् छः गुण और छः गुण पूर्ण धर्मी भगवान्–इस तरह सात प्रकार से की हुई रक्षा का इन्द्र अनादर करता और आठवें दिन भी वर्षा करता रहता, तो जैसे भगवान् ने छः दिन तक अपने छः गुणों से इन्द्रकृत अपमान को सहन कर लिया, इस तरह धर्मी स्वयं के आठवें दिन भी वर्षा करके–इन्द्र द्वारा किए जाने वाले अनादर को आगे सहन न करने से आठवें दिन इन्द्र का नाश ही हो जाता। यह व्याख्या में, 'यदि अग्रेपि भवेत् म्रिये तैव इन्द्रः' इन पदों का भाव है। भगवान् इन्द्र को मारना नहीं चाहते थे, इसलिए उसको आगे भी वर्षा करने की कुबुद्धि न देकर सद्बुद्धि प्रदान की। जिस सद्बुद्धि के कारण उसने सात प्रकार की रक्षा देखकर वर्षा का निवारण कर दिया। यह आगे–सप्तम-दिवसस्य रात्रि शेषे निवारणम्–इन पदों से कहा जाएगा।

श्लोक—क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ।
वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥२३॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण भूख, प्यास की व्यथा, सुख, विश्राम की अपेक्षा को त्याग कर, सात दिन तक बराबर इसी तरह गोवर्धन पर्वत को उसी हाथ पर धारण

व्याख्या में कहे--'अत एव'--से लेकर--'एवं व्यवस्था सर्वत्र'–इत्यादि पदों का स्पष्टीकरण करते हैं। विचार कर उपद्रवकारी तो पहले यह सोचता है, कि अमुक भगवद्भक्त ने अपराध किया है; किन्तु इसको दण्ड देना चाहिए या नहीं देना चाहिए--ऐसा सन्देह करके अन्त में निश्चय कर लेता है, कि जिसको रक्षा के लिए भगवान् ने उपाय किया है--उसको दण्ड नहीं देना चाहिए--ऐसा निश्चय करके उस भगवद्भक्त को--अपराधी को भी--दण्ड नहीं देता है। इस तरह सात रात्रि तक यहां भगवान् और उनके गुणों की प्रतीक्षा है। यहां पर विचार कर उपद्रव करने वाले तो देवता ही होते है; क्योंकि उनको भगवान् के द्वारा होने वाली भक्तों की रक्षा का तथा उपेक्षा का भी ज्ञान (हो जाता) रहता है। किसी साधारण पुरुष को ऐसा ज्ञान नहीं होने से वह विचार कर उपद्रव नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध है कि सात रात्रियों में जब कभी भगवान् भक्त की रक्षा के लिए उपाय करते हैं, तब तो भगवान् के द्वारा रक्षित उस भक्त का नाश असम्भव है--ऐसा समझकर, विचार कुशल तो भक्तों का उपद्रव कभी नहीं करता है।

शंका होती है, कि जब कोई किसी भक्त का उपद्रव करेगा तब ही तो भगवान् उसकी रक्षा करेंगे। पहले ही कैसे ज्ञान होजाएगा कि भगवान् ने रक्षा की या उपेक्षा? इसका उत्तर यह है, कि उपद्रव की सम्भावना मात्र से ही, भक्त की रक्षा के लिए भगवान् पहले ही रक्षा का उपाय कर देते हैं। 'प्राग्दिष्टं भक्तरक्षायां' (९।४।४८) इस श्री शुकदेवजी के वाक्य से भक्त अम्बरीष राजा की रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र का स्थापन भगवान् के द्वारा पहिले स्थापन करना सिद्ध होता है। उस भगवान् के द्वारा की हुई भक्तों की रक्षा का ज्ञान देवताओं को अलौकिक रीति से हो ही जाता है। इसी लिए तो चित्त से भगवान् का स्मरण करने वालों और स्मरण न करने वालों का ज्ञान यमदूतों को भी हो जाता है। तब ही तो भगवान् का स्मरण न करने वालों को ही यमलोक में ले जाते हैं। भगवान् का भजन करने वालों को नहीं ले जाते। छठे स्कन्ध में यमराज ने भी दूतों से–जीभ से भगवान् का नाम न लेने वाले, चित्त से स्मरण न करने वाले, मस्तक से एक वार भी भगवान् के चरणों में प्रणाम न करने वाले तथा भगवत्सम्बन्धी कुछ भी कार्य न करने वाले असत् पुरुषों को ही यमलोक में लाने का आदेश किया है। इस से सिद्ध है, कि देवता आदि को अलौकिक प्रकार से भगवत्कृत रक्षा किंवा उपेक्षा का ज्ञान है। इस प्रकार 'विचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं प्रतीक्षते'–विचार कर उपद्रव करने वाले देवता ही समझने चाहिए; क्योंकि उनकी अलौकिक दृष्टि है। व्याख्या में–'अविचार्योपद्रवकर्ता तु'–इत्यादि का तात्पर्य यह है कि विना विचार के उपद्रव करने वाले तो इस इन्द्र के समान हैं। यहां जो यह कहा गया है, कि विचार कर उपद्रव करने में सात रात्रि तक ही प्रतीक्षा करता है और बिना बिचारे उपद्रव कर्ता सात रात्रि तक ही उपद्रव करता है, उसमे ऐसा ही नियम नहीं है; किन्तु प्रतीक्षा करने तथा उपद्रव करने की सात रात्रियाँ परम अवधि होती है–यह समझना चाहिए।

करते रहे। एक पग भी इधर उधर नहीं हटे। सभी व्रजवासी जन आश्चर्य पूर्ण दृष्टि से भगवान् की ओर एक टक निहारते रहे ॥२३॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् सप्तरात्र तथा स्थित इत्याह **क्षुत्तृडिति, क्षुत्तृड्भ्यां** जायमानां **व्यथां** सोढ्वा सुखस्य निद्रादेरप्यपेक्षां त्यक्त्वा **तैर्व्रजवासिभिर्निरीक्ष्यमाणो भगवानद्रिं दधौ,** न दीर्यत इत्यद्रिः सोपि वृष्ट्या मध्ये न दीर्णो भगवानपि **पदादपि न चलितः,** अत्र हित्वेत्यनेनैव सम्बध्यते **क्षुत्तृड्व्यथामिति** दर्शनेनान्नभोजनेन वान्यथा गोपानां **कथं धैर्यं भवेत् ? एवं** सप्तरात्रं धृत्वा तान् व्रजस्थान् सर्वेभ्यः पृथक्कृत्य स्वीयानेव कृतवानिति निरूपितं, **सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति देवर्षिपितर आत्मात्मीया वैदिकः पारलौकिकश्चेति, यद्येतेषां मध्ये** कश्चिदप्येतान् पालयेत् तदा तेषां वा भवेयुर्यदि ते सर्वे एवाशक्ताः प्रतिपक्षा वा तदा नातःपरं तेषां सम्बन्ध इति, अत एव **प्राणान्तःकरणधर्मत्याग उक्तस्तेषां शुद्धभगवद्भावे बाधकत्वात्,** एतेन प्रभुस्वरूपातिरिक्तं स्मृतवन्तोपि नेत्युक्तं भवति भगवद्रक्षणमेतादृशमिति च ज्ञापितं, सपदि रक्षाग्रे च सुखमेतेन भविष्यतीत्यनुसन्धानेन **वीक्षणे** वीक्षणस्य तच्छेषत्वं **स्यात् तथा** सति **भक्तिमार्गीया** सा रक्षा न **भवेदिति सर्वमन्यथा स्यादत एव तैरिति** पूर्वोक्तं केवलभगवदधीनत्वमेतादृग् रक्षणे हेतुत्वेन परामृष्टं **पारम्पर्यागतस्यापीन्द्रयागस्य भगवद्वचनमात्रेण पूर्वं** त्यक्तत्वात्, दधाविति 'डुधाञ् धारणपोषणयो'रित्यस्य रूपं तेनाद्रिं धृतवान् **पोषितवांश्च, सप्ताहमित्य'त्यन्तसंयोगे** द्वितीया', अहःशब्दो रात्रिदिनवाची, अचलत्वस्थापनार्थं **नाचलदिति पदादीषदपि,** गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्टः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सात रात्रि तक पर्वत को उसी प्रकार धारण किए खड़े रहे, यह 'क्षुत्तृड्व्यथां' इस श्लोक में कहते हैं । भूख, प्यास से होने वाली पीड़ा को सहन कर सुख और निद्रा आदि की अपेक्षा को त्याग कर उन व्रजवासियों को दर्शन देते हुए भगवान् ने पर्वत को धारण किया। ("अद्रि" जो विदीर्ण न हो) वह अद्रि भी वर्षा से मध्य में विदीर्ण नहीं हुआ और भगवान् भी, एक पेंड भी नहीं चले । मूल में 'क्षुत्तृड्व्यथां' पद का, 'हित्वा' पद के साथ ही संबन्ध है । अर्थात् भगवान् के दर्शन से अथवा भगवान् ने अन्नकूट में किए अन्न के भोजन से भूख, प्यास का त्याग कर दिया । यदि ऐसा नहीं होता तो गोप जनों को धैर्य कैसे रहता ? इस प्रकार सात रात्रि तक पर्वत धारण करके उन व्रजवासियों को सब से अलग करके अपने (स्वीय) ही किए–यह निरूपण किया ।

देव, ऋषि, पितर, आत्मा, आत्मीय (पुत्रादि), ऐहिक (स्वदेह सम्बन्धी), पारलौकिक (यागादि धर्म)–ये सात प्राणी के अंग होते हैं । यदि इन सातों में से, कोई एक भी अंग व्रजवासियों की रक्षा कर लेता, तो वे उसी के होजाते; किन्तु जब वे सारे ही रक्षा करने में असमर्थ अथवा विरूद्ध होगए, तब व्रजवासियों का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा । इसीलिए प्राण का धर्म (भूख प्यास) और अन्तःकरण का धर्म (सुख की अपेक्षा) दोनों का त्याग करना कहा है; क्योंकि ये सब उनके भगवद्भाव में बाधक थे । इस कथन से यह सूचित किया, कि उन व्रजवासियों को तब भगवान् के स्वरूप के अतिरिक्त किसी का भी स्मरण नहीं हुआ और यह भी, कि भगवान् के द्वारा की हुई रक्षा का यही माहात्म्य है । भगवान् के वीक्षण से इसी समय (शीघ्र) रक्षा हो जाएगी और आगे इससे सुख मिलेगा–ऐसा विचार कर के यदि वे भगवान् के दर्शन करते । तो, वह दर्शन रक्षा और सुख का अंगभूत (गौण) हो जाता । तब तो वह रक्षा भक्ति मार्गीय रक्षा नहीं होती तथा सब ही विपरीत

हो जाता। ऐसा न हो–इसी लिए मूल में–तैः (उनने) पहले ही यह पद कहा है । इस से इस रक्षा में कारण एक मात्र उनको भगवदधीनता ही समझना चाहिए; क्योंकि परम्परा से चले आए (किए जाने वाले) इन्द्र–याग का भी त्याग पहले भगवान् के कथन से ही ये कर चुके थे। 'दधौ'–इस क्रिया पद के धारण और पोषण–दोनों अर्थ हैं । इससे पर्वत का धारण करना और गोकुल की रक्षा करना–दोनों ही समझने चाहिए। 'सप्ताहं' यह अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति है । इससे सात दिन और धारण–दोनों का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध सूचित होता है । मूल में 'अहः' शब्द रात दिन दोनों का वाचक है। पर्वत में अचलता को स्थापन करने के लिए एक पग भी इधर उधर नहीं हटे। पांव का कार्य–चलना–सहज है–इसलिए यह निरूपण किया है ॥२३॥

लेख—क्षुतृड्व्यथां–इस श्लोक की व्याख्या में--हित्वा–इस मूल पद का ही अर्थ--सोढ्वा--(सहन करके) यह किया है। इसलिए यहाँ--सोढ्वा--इस पद का अध्याहार नहीं है; क्योंकि आगे व्याख्या में ऐसा ही सम्बन्ध वर्णित है।

योजना—क्षुतृड्व्यथां–यहाँ भूख प्यास जनित व्यथा की निवृत्ति के उपाय की असम्भावना में--सोढ्वा-(सहन करके) पद का अध्याहार समझना चाहिए। अथवा अन्य पद का ('सोढ्वा' का) अध्याहार करने में दोष की शका करके दूसरी तरह से व्याख्या करते हैं कि--क्षुतृड्व्यथां–पद का सम्बन्ध--हित्वा–पद के साथ ही है। तब अर्थ यह है कि भूख प्यास की व्यथा का त्याग करके सात दिन तक पर्वत धारण किए रहे । व्रजवासियों की भूख तथा प्यास की व्यथा भगवान् के दर्शन अथवा भगवान् के द्वारा आरोगे गए भोजन से दूर हो गई। 'वीक्ष्यमाणः'-इस मूलस्थ पद से उनकी भगवान् में आसक्ति का निरूपण किया है । भगवान् में आसक्ति हो जाने पर प्रपञ्च--जगत्--की विस्मृति स्वतः हो जाती है। प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक चित्त वृत्ति का भगवान् में निरोध ही इस दशम स्कन्ध का अर्थ है। जब सारे ही प्रपञ्च का विस्मरण हो जाता है, तब भूख प्यास की याद कैसे रह सकती है ? इसी अभिप्राय से मूल में 'हित्वा'–(त्याग कर) पद दिया है।

अथवा--अन्न भोजनेन वा–भगवान् के अन्नकूट के भोजन से व्रजवासियों की भूख, प्यास, सुख की अपेक्षा दूर हो गई, वे सब तृप्त होगए क्योंकि भगवान् के भोजन कर लेने पर सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो जाती है। इसीलिए-शाकान्नशिष्टमुप भुज्य (१।१५।११) भगवान् के शाकान्न के शेष भाग के भोजन से शिष्यों सहित मुनी दुर्वासाजी की तृप्ति के साथ त्रिलोकी के तृप्त हो जाने का वर्णन है।

'सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति', व्याख्या में यहाँ–'प्राणिनः' यह पद षष्ठी विभक्तान्त है। प्राणी-(जीव)-के कल्याण में ये देव, ऋषि आदि--व्याख्या में कहे गए सात अङ्ग हैं। आत्मा भी अपनी शक्ति से अपना हित कर सकती है। इन सातों अङ्गों से रक्षा न होने पर व्रजवासियों की इन पर प्रीति नहीं रही; किन्तु उनकी रक्षा करने वाले श्री गोवर्धनधर पर ही उनकी प्रीति उत्पन्न हो गई।

'सप्ताहं ना चलत् पदात्', की व्याख्या में-'गतिः पादस्य सहजा', इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि व्रजवासियों ने जैसे भगवान् के लिए सहजधर्म भूखप्यास का त्याग कर दिया था, उसी प्रकार भगवान् ने उनके लिए पांव के सहजधर्म गति का त्याग कर दिया; क्योंकि गीता में-'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'-स्वयं भगवान् ने कहा है–कि "भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकार से भजता हूँ ॥२३॥

श्लोक—कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोतिविस्मितः ।
निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् सन्न्यवारयत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के इस अद्‌भुत योग के प्रभाव को देखकर; इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। उसका सारा सङ्कल्प भ्रष्ट हो गया। तब तो उसने अभिमान हीन होकर मेघों को पानी बरसाने से पूर्णतया रोक दिया।

सुबोधिनी—तत इन्द्रो युद्धार्थं समागत्यालोकिकं दृष्ट्वा भीतः सन् मेघान् न्यवर्तयदित्याह कृष्णेति, लीलार्थमवतीर्णस्य सर्वयोगाधिपतेरप्रच्युतस्वरूपस्य तं गोवर्धनोद्धरणलक्षणमनुभावं निशम्य श्रुत्वा मेघद्वारेन्द्रोतिविस्मितो जातस्ततो निःस्तम्भो गतगर्वो भ्रष्टसङ्कल्पोपि जातः स्वोत्कर्षमपि त्यक्तवान् मारयिष्यामीतिसङ्कल्पं च त्यक्तवांस्ततः स्वान् मेघान् सम्यङ् न्यवारयत् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—तब तो युद्ध करने को आकर भी, इन्द्र ने भगवान् के अलौकिक प्रभाव को देखकर, भयभीत हो मेघों को बर्षा करने से रोक दिया। यह, 'कृष्णयोगानुभाव' इस श्लोक से कहते हैं। केवल लीला के लिए ही अवतार धारण करने वाले सारे योगों के अधिपति तथा सदा एक रस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के उस गोवर्धन का धारण रूप अनुभाव (प्रभाव) को मेघों से सुनकर, इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ उसका गर्व और मनोरथ भी भग्न हो गया। तब तो उसने अपने उत्कर्ष और व्रज के नाश कर देने के सङ्कल्प को त्याग कर मेघों को सर्वथा रोक दिया।

श्लोक—खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ।
निशम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोब्रवीत् ॥२५॥

श्लोकार्थ—उसी समय आकाश में एक भी मेघ नहीं रहा। वह प्रचण्ड आंधी और वर्षा भी रुक गई। सूर्य देव भी निकल आए यह देखकर गिरिधारी श्रीकृष्ण ने गोपों से कहा ॥२५॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह खमिति, सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे निवारणं तत आकाशो व्यभ्रो जात उदित आदित्यो यस्य, एवमुपरितनवृष्ट्यभावं ज्ञात्वा गोवर्धनं धृत्वैव भगवानब्रवीत्, वातयुक्तं वर्ष चकारात् शिलावर्षं मेघांश्च दारुणमतिमारकमुपरतं निशम्य, गोपानिति पूर्ववद् धर्मपरान् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पीछे क्या हुआ? यह, 'खं व्यभ्र' इस श्लोक से कहते हैं। सातवें दिन की रात्रि के कुछ शेष रहने पर (पिछली रात में) मेघों का निवारण हुआ। आकाश में एक भी मेघ नहीं रहा। सूर्यनारायण उग आए। इस प्रकार व्रज के ऊपर होती (हुई) वर्षा को रुकी (हुई) जानकर भगवान्

गोवर्धन को धारण किए हुए बोले। वह वर्षा प्रचण्ड आंधी तथा पाषाणमयी थी। मेघ दारुण–नाश कर देने वाले थे । इन सब को शान्त देखकर भगवान् ने सदैव अनन्य धर्म परायण गोपजनों से कहा ।

श्लोक—निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे गोपगण ! भय छोड़ दो । अब आंधी और वर्षा का चिन्ह भी नहीं रहा । बरसाती नदियां उतर गईं । तुम अपनी २ धन सम्पत्ति, स्त्रियों और बालकों को लेकर बाहर निकलो ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमेवाह निर्यातेति, त्रासं च त्यजत वातवर्षकृत, गोपा इतिसम्बोधन गवां पालनमावश्यकमिति, प्रथमतो बहिर्दृष्ट्वा पश्चात् सामग्री नेयेतिशङ्कां वारयन्नाह स्त्रीधनार्भका इति, स्त्रियो धनान्यर्भका बालाश्चेति तैः सहिता एव निर्गच्छत यतो वातवर्षमुपारतं निम्नगाः सूक्ष्मनद्यो व्युदप्रायाः क्वचिद् गभीर एवोदकं नान्यत्रेति, तेषां जिज्ञासाभावादेतदुक्तम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के वचन, 'निर्यात' इस श्लोक से कहते हैं । अब वायु और वर्षा के भय को छोड़ दो । हे गोपाः ! इस संबोधन से सूचित किया कि गायों का पालन आवश्यक है; इसलिए बाहर निकलो । पहले बाहर यह सब देखकर ही सब सामग्री को गढहे से बाहर ले जाएँ ? इस शंका का निवारण करते हुए भगवान् ने कहा, कि स्त्रियों, धन और बालकों सहित ही बाहर निकल जाओ; क्योंकि वायु और वर्षा बन्द हो चुकी है । छोटी २ नदियां प्रायः सूखगई है । कहीं २ गहरी जगह पर ही जल है, और जगह पर नहीं है। इस प्रकार से वे गोप लोग स्वयं जिज्ञासा (विचार) नहीं कर सकते थे । इसलिए भगवान् ने यह स्वयं ही कहा ॥२६॥

श्लोक—ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥

श्लोकार्थ—तब स्त्रियों, बालकों और बूढों के साथ सब गोप लोग अपने २ गोधन को आगे लिए हुए और छकड़ों में सब सामान लाद कर धीरे २ गिरिराज के गड्ढे से बाहर निकल आए ॥२७॥

सुबोधिनी—प्रवेशवदेव निर्गता अपीत्याह ततस्त इति, तत्र सर्वं पृथगेव स्थितमिति ज्ञापयितुं स्वं स्वं गोधनमादाय सर्वे निर्गताः, शकटानामाटोपकरणं यथा भवति तथा यथा निर्भया हृष्टा निर्गमने महान्तं सम्भ्रमं

कुर्वन्ति तथा कृत्वा निर्गता इति तेषामानन्दः सूचितः, । ततोन्येपि स्त्रीबालस्थविराः शनैरेव निर्गता अव्यग्राः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार प्रवेश किया था, वे उसी तरह बाहर निकल आए यह, 'ततस्ते' इस श्लोक से कहते है । अपना अपना गोधन लेकर बाहर निकलने के इस मूलस्थ वर्णन से यह सूचित किया है कि इस गर्त मे वे सब अलग २ ही रह रहे थे । छकड़ों को सजाकर उनमें अपनी सारी वस्तुएँ भरकर बड़ी धूमधाम से वे बाहर निकले । वे अब निर्भय और बड़े प्रसन्न थे। इस कथन से यह सूचित किया, कि वे सब आनन्द विभोर थे । फिर अन्य स्त्रियां, बालक और वयोवृद्ध सभी निश्चिन्त होकर धीरे धीरे बाहर निकले ॥२७॥

श्लोक—**भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः ।**
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

श्लोकार्थ—प्रभु-सर्व शक्तिमान्-भगवान् ने भी सबके सामने ही गिरिराज को पहले की तरह लीलापूर्वक उसी स्थान पर स्थापित कर दिया ॥२८॥

सुबोधिनी—सर्वेषु निर्गतेषु भगवत्कृतमाह **भगवानपीति**, यथा ते स्वस्वकार्यार्थं निर्गता एवं **भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने** तस्यैव स्थाने **पूर्ववदेवानुपूर्वी** विधाय स्थापितवान्, अनेन प्रथनेनैकत्रकरणपक्षेपि यथापूर्वं स्थापितवानिति लक्ष्यते, अत्र स्थापने ग्रहणे वा न किञ्चिन् मायिकमिति ज्ञापयितुं **पूर्ववदेव** स्थापितवान्, तदाह **पश्यतां सर्वभूतानामिति**, यथा हस्तस्थितं पात्रं यथास्थानं स्थाप्यते तथैव **लीलया स्थापयामास** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—उन सब के बाहर निकल आने पर भगवान् ने भी गिरिराज को पहले के स्थान पर ही रखदिया । यह-'भगवानपि', इस श्लोक से कहते हैं । ज्योंही वे सब व्रजवासी अपने २ काम के लिए गड्ढे से बाहर होगए, भगवान् ने भी उस पर्वत को उसी के स्थान पर पहले जैसे ही ज्यों का त्यों करके स्थापन कर दिया। यदि यों भी कहाजाए कि धारण करते समय तो पर्वत को अधिक लम्बा कर दिया था और स्थापन करते समय उसका संकोच कर लिया था, तो भी इस 'पूर्ववत्' कथन से उसका यथा स्थान स्थापन ही लक्षित होता है । यहां पर्वत को उठाने और पीछा उसी स्थान पर रख देने में थोड़ा भी माया-(कपट)-नहीं थी; क्योंकि मूल में ही, सब प्राणियों के देखते हुए पर्वत का पहले की तरह ही स्थापन करना लिखा है । जैसे हाथ में लिए किसी पात्र को यथा स्थान रख देते हैं, उसी प्रकार लीला पूर्वक उसी पहले स्थान पर ही रख दिया ।

श्लोक—**तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।**
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

श्लोकार्थ—प्रेम के प्रवाह से पूर्ण, सभी व्रजवासी श्रीकृष्ण के निकट आए और यथा योग्य प्रणाम, आशीर्वाद, आलिङ्गन आदि से उनका सत्कार करने लगे। गोपियों

ने भी आनन्द से स्नेह पूर्वक दही, अक्षत और जल से भगवान् कृष्ण का पूजन किया और माङ्गलिक-(शुभ)-आशिर्वाद दिए ॥२६॥

सुबोधिनी—एतद् भगवता लीलया कृतमपि लोके चेत् तथात्वेन न प्रसिद्ध स्यात् तदा लीलात्वं न भवेदिति माहात्म्यदर्शनानन्तरमपि गोपाना पूर्ववदेव स्थितिमाह तमिति यदैव भगवान् गोवर्धन स्थापयामास तदैव त भगवन्तं **प्रेमवेगात् परिरम्भणादिभिर्यथा** यथावत **समीयुः**, ते हि भगवदालिङ्गनार्थं प्रतीक्षन्त एव स्थिता यतः, यतः **प्रेम्णो** वेगस्तेषु स्थितो हृदये पूर्णं प्रेम बहिरपि निस्सरतीति **प्रेम्णो वेगः**, अत एव यथावद् यस्य यथोचितं तथा स कृतवान् **प्रेम्णैव** नितरां **मृताश्च गोप्योपि**, तथा विशेपमप्याह **सस्नेहमपूजयन्निति**, तैः सर्वैरेवायं देव इति ज्ञातस्तेन लौकिकीमपि क्रियां वैदिकीं कृतवन्तो भावद्वयस्य विद्यमानत्वादतः **स्नेहपूर्वकं पूजां** कृतवन्तः, **मुदेति** पूजायामुत्साहस्तेन लौकिकीत्वेनान्यथाबुद्धिर्न वाधिकेति सूचित, **दध्यक्षताद्भिरिति** पूजासाधनानि, जलानि चरणक्षालनादौ **दध्यक्षता** अलङ्कारार्थे, **मार्जनार्था वापः**, **लौकिकी तद्देशप्रसिद्धेयं पूजा, दघ्ना तिलक दत्वा तदुपर्यक्षतान् स्थापयित्वाप उपरि भ्रामयित्वा पिबन्तीति, सदाशिषश्च युयुजु** "जीव पालये" त्यादिरूपाः सन्तोषादेव न तु स्वाधिकारेण देवत्वेन ज्ञातत्वात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि यह रक्षण भगवान् ने लीला पूर्वक ही किया था; तो भी लोक में यह प्रसिद्ध न हो, तो यह लीला न रहे । इस लिए भगवान् के माहात्म्य को देखलेने के पीछे भी, व्रजवासियों की स्थिति-(प्रीति)-भगवान् में पहले जैसी ही रही । यह, 'तं' इस श्लोक से कहते हैं । ज्यों ही भगवान् ने पर्वत को पीछा रक्खा, उसी समय गोपजन अपनी अपनी योग्यता के अनुसार आलिङ्गन आदि करने के लिए भगवान् के पास आए; क्योंकि वे ऐसा करने की प्रतिक्षा ही कर रहे थे । उनके हृदय में प्रेम का प्रवाह उमड़ रहा था । हृदय में रहा पूर्ण प्रेम उमड़ कर बाहर निकल जाता है । वह प्रेम का वेग है । इसी से, प्रत्येक गोपजन ने यथोचित आशीर्वाद, प्रणाम, आलिङ्गन आदि किए ।

प्रेम विभोर व्रजदेवियों ने भी, गोपों की तरह ही भगवान् का सत्कार किया । उनके किए सत्कार में विशेषता का वर्णन करते हैं, कि उन्होंने भगवान् का स्नेह पूर्वक पूजन किया । वे व्रजभक्त भगवान् को देव मानते थे । इसलिए उन्होंने लौकिक तथा वैदिक-दोनों प्रकार से ही अपने लौकिक वैदिक भावों के द्वारा ही प्रेमपूर्वक भगवान् का पूजन किया । 'मुदा' आनन्द मग्न होकर प्रीति पूजन करने के कथन से पूजा में उनका उत्साह सूचित होता है । उत्साह पूर्वक पूजन करने के कारण ही लौकिक रीति से अन्यथा-लौकिक बुद्धि उनकी उस पूजा में बाधक नहीं हो सकी । दही, अक्षत और जल-ये तीनों पूजा के साधन कहे हैं । जल चरण धोने के लिए और दही अक्षत अलङ्कार के लिए कहे गए हैं । अथवा जल मार्जन किं वा शुद्धि के लिए अपेक्षित हैं । यह लौकिकी पूजा व्रज में प्रसिद्ध है । व्रज में लौकिक पूजा में दही का तिलक करके उस पर अक्षत चिपकाते हैं । फिर नीरांजन (ऊपर जल घुमा)-कर उस जल को पीते हैं । इस प्रकार भगवान् का पूजन करके शुभ आशीर्वाद-

चिरायु होओ, हमारी रक्षा करते रहो–इस प्रकार दिए । हम बड़े हैं, यह हमारा अधिकार है–ऐसा मानकर ये आशीर्वाद नहीं दिए थे; किन्तु सन्तुष्ट होकर ही दिए थे; क्योंकि वे भगवान् को देवरूप से जान चुके थे ॥२९॥

श्लोक—**यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।**
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥

श्लोकार्थ—स्नेह से विह्वल नन्दजी, यशोदाजी, रोहिणीजी और महाबलशाली बलभद्रजी ने श्रीकृष्ण को गले से लगा कर शुभ आशीर्वाद दिए ॥३०॥

सुबोधिनी—एवं साधारणीं प्रतिपत्तिमुक्त्वा चतुर्भिः कृतां विशेषप्रतिपत्तिमाह **यशोदेति**, आदौ स्त्रीनिर्देशः स्नेहाधिक्यात्, अनयैवानुपूर्व्या स्नेहतारतम्यमपि ज्ञातव्यं, चकाराच् छ्रीदामाद्योपि, **बलिनां** मध्ये **वर** इति बलभद्रविशेषणं तस्याप्याश्चर्यमेतदिति ज्ञापयति, **कृष्णं** सदानन्दं, एते ह्यन्तरङ्गाः ज्येष्ठाश्चात **आलिङ्ग्याशिषो युयुजुः स्नेहेन च कातरा** जाताः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार साधारण सत्कार का वर्णन करके (यशोदादि चारों के द्वारा किए) चार श्लोकों से विशेष सम्मान को–'यशोदा'–इस श्लोक से कहते हैं । स्त्रियों में स्नेह अधिक होता है । इसी से यहां श्लोक में पहले स्त्रियों का निर्देश किया है । इसी क्रम से स्नेह की अधिकता, न्यूनता भी जान लेनी चाहिए । मूलस्थ 'च' शब्द से श्रीदामा आदि का ग्रहण है । बलभद्र के यहाँ–इस–'बलिनां वरः–बलवानों में श्रेष्ठ–विशेषण का आशय यह है कि भगवान् की यह लीला ऐसे बलरामजी को भी आश्चर्य करने वाली हुई । श्लोक में वर्णित ये सब अन्तरङ्ग और भगवान् से बड़े थे । इसलिए इन सब ने स्नेह से विह्वल होकर भगवान् का आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिए ॥३०॥

श्लोक—**दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।**
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग में देवगण, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि श्री कृष्ण की स्तुति करने लगे, प्रसन्न होकर पुष्पों की वृष्टि करनें लगे ॥३१॥

सुबोधिनी—माहात्म्यदर्शनाद् देवतानामपि स्वापराधनिवृत्त्यर्थमुत्सवकार्यमाह **दिवीति**, **देवगण** वस्वादय एकः कश्चिद् भक्तो भवतीति गणपदप्रयोगः, **साध्या** अपि देवभेदास्तथा **सिद्धा गन्धर्वा** अप्सरसश्च **चारणाश्च तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणि मुमुचुस्तुष्टाश्च** जाताः, वाचिककायिकमानसिकव्यापारा निरूपिताः, **पार्थिवेति**सम्बोधनं महत्कर्मकरणानन्तरं राज्ञामप्येवं तद्वश्यैः क्रियत इतिज्ञापनार्थम् ॥३१॥

'नृप' यह सम्बोधन यह सूचित करता है कि श्री शुकदेवजी को इस प्रकार से दर्शन हुए हैं। इसलिए राजा को उनके कथन पर विश्वास रखना उचित है ॥३२॥

श्लोक—ततोनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजान् स गोष्ठं सबलोव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥३३॥

श्लोकार्थ—इसके पीछे अपने अनुरक्त भक्त गोपों के बीच में विराजमान बलदेवजी सहित भगवान् श्रीकृष्ण व्रज में चले गए। इसी तरह समय २ पर किए श्री कृष्ण के मनोहर चरितों का आनन्द पूर्वक गान करती हुई गोपियाँ भी व्रज को चली गईं। उन्होंने हृदय में भगवान् का स्पर्श किया ॥३३॥

सुबोधिनी—एवं भगवल्लीलामुक्त्वोपसंहरति तत इति, देवादीनां शब्दादिश्रवणानन्तरमत्यन्तमनुरक्तैः पशुपैः परिश्रित एव सन् भगवान् गोष्ठमव्रजद् यतो हरिः, पशुपानां चारणार्थं गमन निषिद्धं गवां तेषां चापेक्षाभावात् तदुपपादितं, अतोनुरागबाहुल्यात् पशुपैः परिश्रित एव गतः, राजन्निति पूर्ववत्, प्रायेण क्लिष्ट इति पुनःपुनः सम्बोधनं, स इति तथा समर्थोपि, न हि तादृशो गोष्ठे स्थातुं युक्तो भवति, तत्रापि सबलः बलभद्रसहितस्तथाप्यव्रजद् यतो हरिः, अथ वैतादृशालौकिकसामर्थ्यवतो द्वारकावदिहाप्युत्कृष्टं स्थान निर्माय स्थातुमुचित न तु गोष्ठ इत्यत आह स इति, "ते ते धामानी"त्यादिश्रुतिभिर्वैकुण्ठादप्यधिकमस्य सहजं स्थानमस्तीति निरूपितमस्तीति तथा प्रसिद्धो वेद इति तत्रैव गमनमुचितमावश्यकमपीत्यर्थः, यथा राजान्यत्र कार्यं कृत्वा स्वराजधानीमेव गच्छति तथेतिज्ञापनाय सम्बोधन, गोपीनां गमने भगवत्सङ्गो नास्तीत्याशङ्क्याह तथाविधानीति, गोवर्धनोद्धरणसदृशानि पूतनासुपयःपानादीन्यनेनैव रूपेण कृतानि, गोपिका विशेषानभिज्ञा अतः कृतान्येव गायन्त्यो व्रजमीयुः, तत्र गतानां संसारनिवृत्त्यर्थमाह मुदिता हृदिस्पृश इति, मुदिता इति पूर्वंदुःखनिवृत्तिः, अद्भुतभगवल्लीलादर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहातिशयो गोपानामधुना जात इति प्रियनिकटगमने प्रतिबन्धं ते न करिष्यन्ति करणे वा सपदीवाद्भुतरीत्याप्यस्मान् पालयिष्यतीति ज्ञात्वापि मुदिताः, भगवतो हृदिस्पृशो जाता हृदि भगवन्तं वा स्पृशन्तीति, एतेनेतरेभ्योधिकोन्तरङ्गः सङ्ग एतासामुक्तः, एव दुःखनिवृत्तिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरूपिता ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवत सुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे चतुर्थस्य स्कन्धादितो द्वाविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की लीला का वर्णन करके 'ततः', इस श्लोक से उपसंहार करते हैं। देव, गन्धर्व आदि के शब्दों–स्तुति वाक्यादि के सुनने के अनन्तर भगवान् अत्यन्त अनुरागी गोपों के (मध्य में ही) झुण्ड से घिरे हुए ही गोकुल में पधारे। आप हरि हैं, गोकुल का दुःख दूर करने के लिए आपने अवतार लिया है। गोपों के झुण्ड के बीच घिरे हुए भगवान् के पधारने के कथन से यह बतलाया कि गोपों को गायें चराने जाने से रोक दिया था; क्योंकि गायों को उनकी

अपेक्षा नहीं थी। इस कारण अनुराग की अधिकता वश गोपों से घिरे हुए ही भगवान् पधारे। 'राजन्'-यह सम्बोधन पूर्ववत् विश्वासार्थ प्रयुक्त हुआ है। बार २ सम्बोधन का प्रयोग अक्लिष्टकर्मा भगवान् को-इस लीला में-स्वल्प भी क्लेश न होने का सूचक है। वे भगवान् स्वयं सर्वसमर्थ होकर भी और फिर बलशाली बलदेवजी के साथ होते हुए भी गोकुल जैसे-आपके विराजने के अयोग्य (हीन) स्थान में ही पधारे क्योंकि आप गोकुल के दुःख हर्ता हैं।

अथवा ऐसे सर्व शक्तिमान् भगवान् का द्वारका की तरह यहाँ ही कोई सर्वोत्तम स्थान निर्माण कर उसमें रहना उचित था; किन्तु गोष्ठ-(गोकुल)-में विराजना योग्य नहीं था। इसीलिए 'सः' सर्व समर्थ भी भगवान् का गोकुल में-(ऐसी लीलाएँ करने के लिए)-पधारना कहागया है। 'ते ते धामानि'-श्रुतियों में भगवान् के वैकुण्ठ से भी उत्तम सहज स्थान का निरूपण है और वेद में हरिनाम-भगवान् का-प्रसिद्ध है। इस से वहीं पधारना उचित और आवश्यक भी है। वहां से भगवान् व्रज में इस तरह पधारे, जैसे कोई राजा किसी दूसरे स्थान पर कार्य करके अपनी राजधानी में लौट आता है-यह सूचित करने के लिए, 'राजन्' सम्बोधन किया है। गोपी जनों को जाते समय, भगवान् का संग नहीं हुआ होगा? ऐसी शंका के समाधान में कहते हैं, कि गोवर्धन धारण रूप इस लीला के समान इसी रूप से की हुई पूतना के प्राण तथा स्तन्य पान आदि लीलाओं का गान करती गोपिकाएँ भी, भगवान् के साथ ही, व्रज में गई। उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। इसलिए वे चरित्रों का गान ही करती गईं। वहां जाने वालों की संसार निवृत्ति होगई थी-यह इस 'मुदिताः' पद से ज्ञात होता है। मुदित पद से उनके पूर्व दुःख को निवृत्त होना सूचित होता है। इस प्रकार भगवान् की अद्भुत लीलाओं का दर्शन करने से गोपों का अब भगवान् पर माहात्म्य ज्ञान पूर्वक अतिशय स्नेह होगया। अतः अब वे भगवान् के निकट जाने से गोपीजनों को नहीं रोकेंगे और यदि प्रतिबन्ध करेंगे भी तो भगवान् तत्काल ही अद्भुत रीति से हमारी रक्षा करेंगे ही, ऐसा समझ कर भी गोपीजन आनन्दित हुईं। 'हृदिस्पृशः'-वे भगवान् के हृदय में स्पर्श करनेवाली अथवा (अपने) हृदय में भगवान् का स्पर्श करने वाली हुईं। इस कथन से गोपिकाओं के दूसरों की अपेक्षा अधिक अन्तरङ्ग सङ्ग का वर्णन किया। इस प्रकार दुःख निवृत्तिपूर्वक भगवदासक्ति का निरूपण किया गया ॥३३॥

॥ इति शुभम् ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के २२ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी-अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

.. श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २६वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २३वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'पञ्चमोऽध्याय'

श्री नन्दरायजी से गोपों की श्रीकृष्ण के प्रभाव के विषय में वार्तालाप

कारिका—**अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते ।**
त्रयोविंशे समत्वाय निरुद्धानामशेषतः ॥१॥

करिकार्थ—तेईसवें अध्याय में निरोध प्राप्त व्रजवासियों के कृष्ण के विषय में अज्ञान तथा अन्यथा-(विपरीत)-ज्ञान को दूर किया जाता है; क्योंकि गोवर्धन पर्वत के उद्धरण से किया हुआ (उनका) विरोध उन सब का समान है ।

टिप्पणी—कृष्णगं (कृष्ण विषयक) समत्वाय गोवर्धन का उद्धरण करके किया निरोध सब व्रजवासियों का समान है–यह बतलाने के लिए निरूपण किया जाता है ।

कारिका—**पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः फलं चेति निरूप्यते ।**
अप्राकृतत्वं सम्बन्धो द्वयं स्थाप्यमिहोक्तिभिः ।।२।।

कारिकार्थ—इस अध्याय में पूर्वपक्ष–'ततो नो जायते'

शङ्का—अर्थात शङ्का का और सिद्धान्त–'श्रूयतां मे वचो गोपाः'—इत्यादि से समाधान का और–मुदितानन्दमा–नर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः–इत्यादि से गोपों के विस्मय का दूर होना रूप फल का निरूपण किया जाता है । इसमें वचनों के द्वारा भगवान् में अप्राकृतता--(अलौकिकता)--तथा गोपों के साथ सम्बन्ध (नन्द पुत्रत्वरूप) भी दोनों को स्थापित किया जाएगा ।

कारिका—**विरोधात् प्राकृतत्वेन सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा ।**
जातस्तादृश एवात्र न सन्देहस्तथापरः ।।३।।

कारिकार्थ—गोप स्वयं प्राकृत हैं, प्राकृतों के साथ अप्राकृत भगवान् के दैहिक सम्बन्ध को असङ्गत (विरुद्ध) मानकर पहले पूर्व पक्ष में सम्बन्ध का त्याग कहा जाएगा । फिर–यह बालक अप्राकृत अद्भुतकर्मा ही प्रकट हुआ है–इत्यादि गर्गोक्त नन्दजी के वाक्यों से सन्देह की निवृत्ति रूप सिद्धान्त--समाधान--का वर्णन किया है ।†

कारिका—**माहात्म्यदर्शनं हेतुः पूर्वपक्षे तथापरे ।**
गर्गवाक्यानि तज्ज्ञानं फलमित्येष निश्चयः ।।४।।

कारिकार्थ—व्रजवासियों को भगवान् का माहात्म्य देख कर सन्देह हुआ था, कि ऐसे विचित्र चरित्र वाला बालक नन्दपुत्र कैसे हो सकता है ? इस प्रकार उनके पूर्व पक्ष में सन्देह करने में, भगवान् का माहात्म्य दर्शन, कारण है । इसी तरह से नन्द-राय जी के द्वारा कहे गए, गर्गाचार्यजी के वाक्यों से उनका वह सन्देह दूर होगा । इसलिए समाधान पक्ष में गर्गाचार्यजी के वचन कारण हैं । व्रजवासियों को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हो गया–यही इन सब का फल है ।‡

---

† **टिप्पणी**—व्रजवासी जन स्वयं प्राकृत है और भगवान् अप्राकृत ही प्रकट हुए हैं । यहां भगवान् में अप्राकृतता और व्रजवासियों के साथ नन्दपुत्र रूप से दैहिक सम्बन्ध दोनों का (विरुद्ध धर्माश्रयता के कारण) विरोध नहीं होने से, सन्देह की निवृत्ति हो जाना रूप सिद्धान्त का वर्णन होगा ।

‡ **टिप्पणी**—पूर्व पक्ष (सन्देह) में भगवान् के माहात्म्य का दर्शन हेतु है । 'परे'–सिद्धान्त पक्ष में, गर्गाचार्यजी के वाक्य-'तथा'-हेतु हैं । तज्ज्ञानं-भगवान् के स्वरूप का ज्ञान फल है । ऐसा यहां इस अध्याय में निश्चय किया गया है ।।४।।

इति कारिकार्थ

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवांविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते ।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ! गोपगण भगवान् श्रीकृष्ण के पराक्रम और महिमा को नहीं जानते थे, इसलिए उनके इस प्रकार अनेक अद्भुत चरितों को देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ । वे एक दिन श्री नन्दजी के पास इकट्ठे होकर आए और कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्यायान्ते गोकुले समागताः सर्व इत्युक्त, आगतानां सन्देहो वर्ण्यते भगवति पूर्वपक्षरूपः, आदौ पूर्वपक्षनिरूपणार्थं तेषामुद्योगमाहैवंविधानीति, गोवर्धनोद्धरणरूपाणि बहूनि भगवतः कर्माणि दृष्ट्वा धर्मिस्वरूपमज्ञात्वा हेत्वभावेनैवैतत् कार्यमाहोस्विद् धर्मी हेतुः ? तथा सति न स नन्दपुत्र इति निश्चित्यातद्वीर्यविदो भगवतः क्रियाशक्तिमज्ञात्वा **सुविस्मिता** विकसितवदनाः सर्वे **सम्भूय** नन्दसमीपमागत्य **प्रोचुः** ॥१॥

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में उन सब व्रजवासियों का गोकुल में आजाने का वर्णन कर दिया है। यहां आकर गोपों के हृदय में भगवान् के विषय में सन्देह हो गया । इस पूर्वपक्ष का निरूपण करने के लिए पहले-'एवं विधानि' इस श्लोक से उनके उद्योग का वर्णन करते हैं । श्रीकृष्ण के इस गोवर्धन का उद्धरण आदि कई अद्भुत कार्यों को देखकर धर्मी भगवान् के स्वरूप को नहीं जानने वाले गोपों को यह शंका हो गई, कि ये अद्भुत किंवा अलौकिक कार्य कोई हेतु बिना ही हो रहे हैं अथवा इनको करनेवाले धर्मी भगवान् स्वयं ही हैं । यदि ये विचित्र कार्य स्वयं धर्मी भगवान् के ही किए हैं, तब तो यह नन्द-(साधारण गोप)-के पुत्र नहीं हो सकते ? ऐसा निश्चय करके भगवान् के ऐश्वर्य तथा क्रियाशक्ति को नहीं जानने वाले, वे गोप लोग विस्मित-विकसित मुख-होकर सारे ही इकट्ठे हो नन्दजी के पास आए और कहने लगे ॥१॥

श्लोक—बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥२॥

टिप्पणी—'एवंविधानि', श्लोक की व्याख्या में-हेत्वभावेनैतत्कार्यं-(हेतु के विना ही यह कार्य हुआ है क्या) इन पदों से ज्ञात होता है, कि उन गोपों की बुद्धि अत्यन्त प्राकृत थी । इससे भगवान् का माहात्म्य (सूचित होता है) अथवा हेतु रूप से प्रतीत होने वाले प्रभु और हेतु दोनों में परस्पर-किसी एक दूसरे के-अभाव में अर्थात् दोनों के विना यह कार्य नहीं हो सकता-यह सूचित होता है ।

श्लोकार्थ—इस बालक कृष्ण के सारे ही काम (चरित्र) बड़े ही अद्भुत हैं। हम ग्रामवासी गोपों के घर में, इसका जन्म कैसे हो सकता है ? गोप जाति में जन्म लेना स्वयं इसके लिए--योग्य नहीं जान पड़ता–निन्दित है ।।२।।

सुबोधिनी—कर्माणि तु दृष्टान्यहेतुकानि च न भवन्ति तस्मान्नायं नन्दस्य पुत्रो भवितुमर्हत्यलौकिक-कार्यकर्तृत्वात्, तदाहुर्यद् यस्मादेतानि **कर्माण्यत्यद्भुतानि बालकस्य दृश्यन्ते वै** निश्चयेन, किमतो यद्येवम् ? तत्राहुः **कथमर्हत्यसौ जन्मेति, ग्राम्येष्वस्मासु** कर्मग्रस्त इवात्मनो महतो **जुगुप्सितं** निन्दितं जन्म कथमर्हति ? कर्मणेन्द्राद्यपेक्षयापि महानिति निश्चीयते तथा सति कथमधमेष्ववतारः ? न हि स्वेच्छया कश्चित् **स्वस्य हीनतां सम्पादयति,** कर्माधीनता तु नास्त्येव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यात्, अतो **जुगुप्सितं जन्म नार्हति** ।।२।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण के जो चरित्र हमने देखे हैं, वे तो बिना हेतु के नहीं हो सकते। इसलिए ऐसे अत्यन्त अलौकिक कार्य करने वाला यह बालक, नन्दजी का पुत्र होने योग्य नहीं है–यह इस **'बालकस्य'** श्लोक से कहते हैं। इसके इन अनेक अत्यन्त ही अद्भुत कार्यों को देखते हुए हमें सन्देह होता है, कि ग्रामवासी हीन गोपों में कर्मग्रस्त की तरह, महान् आत्मा के लिए निन्दित (निन्दाजनक) जन्म कैसे हुआ ? चरित्रों को देखते तो निश्चय होता है, कि यह बालक इन्द्रादि की अपेक्षा भी महान् है, इसने हम अधम गोपों के यहां (जन्म) अवतार कैसे लिया ? अपनी इच्छा से कोई भी अपनी हीनता नहीं करता। यह कर्मों के आधीन भी नहीं है, क्योंकि यह तो करने, न करने तथा विपरीत करने में समर्थ है। इसलिए यह स्वयं ही हीनता का द्योतक गोप जाति में निन्दित जन्म लेने के उचित नहीं है ।।२।।

श्लोक—**यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।**
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ।।३।।

श्लोकार्थ—जैसे गजराज कमल को उखाड़ कर खेलते २ ऊपर उठा लेता है, उसी प्रकार यह सात वर्ष का बालक लीलापूर्वक बांये हाथ से इस भारी गिरिराज को उठाकर सात दिन तक एक पैर से कैसे खड़ा रहा ? ।।३।।

सुबोधिनी—अलौकिकानि कर्माण्याह **यः सप्तहायन इति,** षड्गुणा भगवांश्च तेषां तत्तच्चेष्टाः **सर्वा एवात्र** समागता अतश्चेष्टारूपः काल **एकेन करेण** स्वयं **सप्तहायनोपि** भूत्वा कथं **गिरिवरं बिभ्रज्** जातः ? तत्रापि **लीलया** कदाचिदङ्गुलीष्वपि समानयति, वेणुं वादयन्, अडभावो वा छान्दसः, **अबिभ्रदिति,** एते तु यथादृष्टमनुवदन्तीति नात्र विचारणीयं, **गिरिवरं** पर्वतश्रेष्ठं, अनायासे दृष्टान्तः **पुष्करं गजराडिवेति,** न हि मत्तगजस्य कमलधारणे कश्चन प्रयासोस्ति, अथ वा **सप्तहायन एकेन करेण गिरिवरं बिभ्रत् कथं बालक** इति तस्मान्नायं तव पुत्रो नापि बालकः ।।३।।

व्याख्यार्थ—इस 'यः सप्तहायनः' श्लोक से अलौकिक कर्मों का वर्णन करते हैं । छःगुण और भगवान्, तथा इन की भिन्न २ चेष्टाएँ–सभी यहां आकर एकत्रित होगईं । इस से चेष्टारूप काल ने एक ही हाथ से स्वयं सात वर्ष का ही (भी) होकर गिरिराज को–सात दिन तक–कैसेधारण करते रहा ? इस पर भी लीलापूर्वक ही कभी अंगुलियों पर भी लिए रहा, वेणु बजाता–'अबिभ्रत'–धारण कर रहा था । ये गोप तो जैसा देखते है; वैसा ही अनुवाद करते–कहते–हैं । इसीलिए यहां विशेष विचार करना नहीं है । गिरिराज–भारी पर्वत को सहज ही उठालेने में गजराज का कमल को उखाड़कर धारण करने का दृष्टान्त कहा है । मस्त हाथी को भी कमल लिए रहने में कोई परिश्रम नहीं होता । अथवा सात वर्ष का एक हाथ से भारी पर्वत को उठाए रहने वाला यह बालक कैसे है । इसलिए–नन्दजी–यह न तो तुम्हारा पुत्र ही है और न बालक ही है ।।३।।

श्लोक—तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ।।४।।

श्लोकार्थ—जैसे काल शरीर की आयु को हर लेता है वैसे हीं इसने बचपन में ही आँख मूंद कर अति समर्थ पूतना के प्राणों का दूध के साथ ही पान कर लिया ।।४।।

सुबोधिनी—अबालकत्वे हेत्वन्तरमाह तोकेनेति, आ समन्तात् मीलिताक्षेण तोकेनातिबालकेन पूतनाया महौजसोतिसमर्थायाः प्राणैः सह स्तन्यं पीतं, यद्यपि पूर्वं प्राणाः पीता इति न ज्ञातं तथाप्युत्तरोत्तरं सामर्थ्य-दर्शनात् पूर्वकार्याण्यप्येतद्धेतुकानीत्येवावधार्यंते, पाने तथापि न ज्ञातमित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह कालेनेव वयस्त-नोरिति, यथा तनोः शरीरस्य वयः प्रत्यहं क्षीयमाण-मपि कालेन पुरुषो न जानाति तथा भगवता पेपीयमानाः प्राणाः पूतनया न ज्ञाता अन्यथा प्रतिक्रियां कुर्यात् पलायेत वा, तस्मादेवमलौकिकं सामर्थ्यं बाल्येपि ।।४।।

व्याख्यार्थ—इस 'तोकेन' श्लोक से इसके बालक न होने में दूसरा कारण कहते हैं । जब इसकी आँखें भी पूरी नहीं खुली थीं, यह बहुत ही छोटा बालक था, तभी अत्यन्त बलवती पूतना राक्षसी के प्राणों के साथ दूध पान कर लिया । यहां यद्यपि गोपों को स्तन पान करने के पहले ही पूतना के प्राणों का पान करलेने का ज्ञान नहीं था, तो भी आगे किए के अनन्तर एक दूसरे असंख्य अलौकिक चरितों में भगवान् की सामर्थ्य को देख कर उनको पहले किए चरितों में भी भगवान् की अलौकिक सामर्थ्य से किए जाने का ज्ञान हो गया । पूतना को पता नहीं पड़ा कि भगवान् ने उसके (पूतना के) प्राणों का पान कर लिया । इसके लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे शरीर की आयु को प्रतिदिन काल के द्वारा क्षीण होती को, पुरुष नहीं जान पाता है, वैसे (ही) पूतना भी भगवान् के द्वारा किए उसके प्राणों के पान को, नहीं जान सकी, यदि उसे ज्ञान हो जाता, तो वह कुछ उपाय करती, अथवा भगजाती । इससे गोप लोग यह जानगए कि भगवान् में बचपन–(से ही)–में भी ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है ।।४।।

श्लोक—हिन्वतोधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ।
अनोपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—जब यह तीन ही महिने का था, उस समय छकड़े के नीचे सोते समय इसने रोते २ दोनों पांव ऊपर को उछाले और इसके सुकोमल पांवों के स्पर्श से उतना भारी छकड़ा उलट कर गिर पड़ा ॥५॥

सुबोधिनी—किञ्चाधःशयानस्य हिन्वतश्चरणौ चालयतो "हिम् चलन" इति, मास्यस्य मासत्रयपरिमितस्य सङ्ख्यानुक्तिर्वर्षाभावार्था नाद्यापि वर्षः परिच्छेदको नाप्ययनं किन्तु मासा एव परिच्छेदका अत एव चरणावुद् ऊर्ध्वं हिन्वतः सतः, न तु तदर्थं हिन्वतः, तथापि विपर्यस्तं सदनः शकटमपतत् पादचालने निमित्तमाह रुदत इति, अनेनाशक्तिर्द्दढीकृता, तत्रापि प्रपदेन पादाग्रेण, आ ईषद्धत सत् विपर्यस्तं विपरीतं सदपतत्, साधनाल्पत्वं कार्यमहत्त्वं चोक्तम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—एक वार जब छकड़े के नीचे सुला दिया था और पावों को ऊँचा हिला रहा था। हिम्-धातु का हिलाना अर्थ है, केवल यह तीन मास का ही था । यहां संख्या नहीं लिखी है। वर्ष अथवा अयन परिमाण का नहीं था, केवल मासों ही का था, तब स्वभाव से ही पाँवों के ऊपर हिलाने से छकड़ा उलट कर गिर गया। इसने यद्यपि छकड़े को औंधा करने की इच्छा से पाँव ऊँचे नहीं हिलाए थे, तो भी, भारी छकड़ा उलट गया। पाँव भी रोते २ हिलाए थे । इस कथन से बालक का अशक्त होना दृढ किया अर्थात् इस बात की पुष्टि की, कि बालक की छकड़ा उलट देने की शक्ति नहीं थी। छकड़े को दोनों पूरे चरणों से नहीं छुआ था, किन्तु चरण के केवल अगले भाग के स्पर्श मात्र से ही लदा हुआ छकड़ा उलट गया ! इस से थोड़े से साधन से बड़े भारी काम का होना वर्णित किया ॥५॥

श्लोक—एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जब यह बालक पूरे एक वर्ष का था, और बैठा था, एक दिन तृणावर्त दैत्य इसे उठाकर आकाश में ले उड़ा। किन्तु रास्ते में ही इसने दोनों हाथों से उसका गला घोंट दिया, जिसकी व्यथा से वह व्याकुल हो मर गया ॥६॥

सुबोधिनी—क्रमेण भगवच्चरित्रं वदन्तस्तृणावर्तवधमाहुरेकहायन इति, अयमेकहायन एकवार्षिक आसीन उपविष्टो न तु चलितुं समर्थस्तादृशोपि दैत्येन विहायसा नीतो निरालम्ब एवाकाशे तमहन् मारितवान्, तत्रापि न युद्धं किन्तु कण्ठग्रहेणैव, यदैव कण्ठे गृहीतस्तदैवातुरो जातः, मातुः प्रदर्शनादिकमप्रसिद्धमिति न तद्वर्णनम् ॥६॥

श्लोक—क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले ।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—किसी दिन यशोदाजी ने माखन चुराने के कारण इसको ओखली से बांध दिया । इसने घिसटते घिसटते बड़े बड़े यमलार्जुन वृक्षों के बीच में जाकर उन्हें गिरा (उखाड़) दिया ॥७॥

सुबोधिनी—ततः क्रमाज् जात यमलार्जुनभङ्गमाहुः **क्वचिदिति, हैयङ्गवस्य स्तैन्ये** निमित्ते शिक्षार्थं **मात्रोलूखले** योजितस्तादृशोऽप्यर्जुनयोर्मध्ये **बाहुभ्यां गच्छन्** पश्चादुलूखलस्य भारत्वात् पादद्वयेन सहोलूखलस्याकर्षणमेव गमनं तु बाहुभ्यामेव, **बाहुभ्यां वापातयत्, यथादृष्टवचना** हि ते, तेषामेतदेवाश्चर्यमुभयोः पातनमुभाभ्यामिति ॥७॥

व्याख्यार्थ—फिर क्रम से होनेवाले यमलार्जुन वृक्षों के भङ्ग को–'क्वचित्'–इस श्लोक से कहते हैं । माखन चुरालेने के कारण आगे चोरी न करने की शिक्षा के अभिप्राय से यशोदाजी ने जब ओखली से इसको बांध दिया था तब बंधे हुए ने ही हाथों के बल चलकर यमलार्जुन वृक्षों के बीच में जाकर उनको गिरा दिया । पीठ पर ऊखल का भार होने के कारण दोनों चरणों के साथ वह ओखली तो खिचती ही रही । यह बालक चलता तो हाथों के बल ही रहा । अथवा दोनों हाथों से उन वृक्षों को गिरादिया । वे गोजपन जैसा देखते हैं, वैसा ही कहते हैं । दोनों वृक्षों का दोनों हाथों से गिरादेना उनके लिए बड़ा आश्चर्यकारक हुआ ॥७॥

श्लोक—वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोरिमपाटयत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वन में बलराम और अन्य बालकों के साथ जब यह बछड़े चरा रहा था । उस समय मारने की इच्छा से आए बकासुर को इसने हाथों से उसकी चोंच को चीर कर उस शत्रु का संहार कर दिया ॥८॥

सुबोधिनी—ततो वृन्दावने बलभद्रसहितो वत्सांश्चारयन् **बालकैर्वृतो** विशेषसामर्थ्यमप्रकाशयन्नपि **हन्तुकामं बकमरिं** शत्रुभूतं, न तु प्रासङ्गिकं, **मुखत एवापाटयत्**, एतद् सर्वजनीन. **बालानां पलायनमप्यशक्यं**, स तु विपाटितवानेव, वत्सबकयोर्ध्यंत्यासेन कथनमनवधानात् क्रमाग्रहणात्, **नाप्येतेषां क्रमे तात्पर्यं**, बाहुभ्यां पातन बाहुभ्यामुत्पाटनमिति **बाह्वोः सामर्थ्यकथनार्थ**, यमलार्जुनयोर्भङ्गकथनानन्तरं बकनिरूपणमतः पश्चात् ॥८॥

व्याख्यार्थ—वृंदावन में बलभद्रजी और गोपों के बालकों से घिरे हुए बालक श्रीकृष्ण ने **अपनी विशेष शक्ति को प्रकट न करके भी** उसे केवल मारने की इच्छा से–किसी अन्य प्रसङ्ग से नहीं–आए हुए शत्रु रूप बकासुर की चोंच को दोनों हाथों से फाड़दिया । यह चरित्र सब के हित का

अथवा सर्व प्रसिद्ध है। बालक तो भग-(दौड़)-भी नहीं सकते किन्तु इसने तो उसको चीर ही डाला। इन गोपों का श्रीकृष्ण के चरितों का क्रम पूर्वक कहने का अभिप्राय नहीं है। इस कारण से वत्सासुर वध के पीछे किए चरित बकासुर वध का वर्णन अनवधानता से पहले कह दिया। दोनों हाथों से चोंच के चीर देने और वृक्षों के गिरादेने का वर्णन भुजाओं के सामर्थ्य का सूचक है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की भुजाओं में अनन्त बल है। इसीलिए यमलार्जुन के भङ्ग का वर्णन करने के पीछे ही बकासुर को चीर देने का वर्णन किया गया है।

श्लोक—**वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया।**
हत्वा न्यपातयत् तेन कपित्थानि च लीलया ॥९॥

श्लोकार्थ—एक दिन वत्सासुर इसे मारने की इच्छा से आया और बछड़े का रूप रखकर बछड़ों में मिलगया। इसने खेल ही खेल में अनायास उसके पिछले पाँव पकड़ घुमा--कर कैथों के वृक्षों पर फैंक दिया, जिससे वह मर गया और कैथ के अनेक फल पृथ्वी पर गिर पड़े ॥९॥

सुबोधिनी-एकहस्तसाध्य वत्सासुरवधमाहुर्वत्सेष्विति. वत्सरूपेण जिघांसया वत्सेषु प्रविशन्तं तदानीमेव ज्ञात्वा मारयितुमागत इति, प्रथमत एव तं परिभ्रामणेन हत्वा तेन कपित्थानि न्यपातयत्, चकारात् तमपि वृक्षशाखां वा, महाबलकार्यं तत्, तादृशमपि लीलया कृतवान् ॥९॥

व्याख्यार्थ—एक हाथ से किए वत्सासुर के वध का बर्णन, 'वत्सेषु' इस श्लोक से करते हैं। बछड़े का रूप धर कर मारने की इच्छा से आए और बछड़ों में घुल मिल गए वत्सासुर को उसी समय जानकर, कि यह मारने के लिए आया है-पहले ही उसको घुमा कर मारकर कैंथ के वृक्षों पर फेंक दिया, जिससे वह, कैथों की शाखा कि वा वृक्ष भी गिर गए। ऐसे महान् बल से किए जाने वाले कार्य को भी खेलते २ अनायास ही कर डाला ॥९॥

श्लोक—**हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।**
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—इसने बलदेव के साथ एक दिन गदहे का रूप धर कर आए धेनुकासुर और उसके बान्धव अन्य सब असुरों को मारकर पकेहुए फलों से परिपूर्ण तालवन को निर्भय स्थान कर दिया ॥१०॥

सुबोधिनी-ततो धेनुकवधमाहुर्हत्वा रासभदैतेयमिति, बहवो धेनुकसदृशा हता इति "प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती" तिन्यायेन बलभद्रेण सहभावमात्रं, वस्तुतो भगवतैव हत इति हत्वा रासभदैतेयमित्युक्तं, रासभो भूत्वा दैतेयो

धेनुकस्तद्बन्धवोपि रासभास्तानपि हत्वा बलभद्रसहितस्तालवन क्षेमं चक्रे, यो हि तत्र गच्छति स क्षेमं न प्राप्नोतीति, फलं तु स्वभावत एव प्राप्नोतीत्याह परिपक्वफलान्वितमिति, परिपक्वैः फलैरन्वितम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—अब, 'हत्वा' इस श्लोक के धेनुकासुर वध का वर्णन करते हैं। धेनुक जैसे अनेक असुरों का वध किया। सेना के विजय से राजा की जीत कही जाती है-इस प्रधान के व्यपदेश-(कथन)-न्याय से बलदेवजी का केवल सहभाव कहा गया है। वास्तव में तो, उसका वध भगवान् ने किया था। इसी से मूल में-'रासभ दैत्य को मारकर'-ऐसा लिखा है। बन्धुओं सहित गदहे के रूप में आए धेनुकासुर को सपरिवार मारकर बलदेवजी के साथ श्रीकृष्ण ने तालवन को निर्भय बना दिया। उस वन में जाने वालों को निर्भयता नहीं मिलती थी। इसलिए उसे निर्भय बना दिया। उस वन में जाने वालों को फलों का मिलना तो स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह वन पके हुए फलों से परिपूर्ण था ॥१०॥

श्लोक—**प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।**
अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥११॥

श्लोकार्थ—महाबली बलदेवजी के द्वारा प्रबल प्रलम्बासुर का वध करवा कर इसने वन में लगी हुई आग से व्रज के पशुओं और गोपों को बचा लिया ॥११॥

सुबोधिनी—एवं धेनुकवधोपि लोकानां हितार्थमेव न त्वहितार्थं, मारणक्रमाद् धेनुकवधानन्तरं प्रलम्बवधो निरूप्यते, मध्ये जातं कालीयदमनमग्रे वक्ष्यन्ति, उग्रमपि प्रलम्बं बलभद्रेण घातयित्वा बलभद्रे घातकशक्तिं दत्वा, स्वस्य मारकत्वे प्रयोजनाभावात्, व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितोमोचयद् दावानलान् मोचितवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार धेनुक का वध भी लोकों का अहितकार न होकर, कल्याण के लिए ही था। वध के क्रम से धेनुकासुर के वध के अनन्तर क्रमप्राप्त प्रलम्बासुर के वध का निरूपण करते हैं। बीच में किए कालियदमन के चरित का वर्णन आगे करेंगे। अत्यन्त भयानक भी प्रलम्बासुर को बलदेवजी के हाथों-उन्हें घातक शक्ति देकर-मरवा दिया; क्योंकि उसके वध में इस बालक कृष्ण का कुछ प्रयोजन नहीं था। इसी तरह, इसने व्रज के पशुओं और गोपों की दावाग्नि-(वन में लगी आग)-से रक्षा कर ली ॥११॥

लेख—'हत्वा' इस श्लोक की व्याख्या में-'बहवः'—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि यद्यपि इस धेनुकासुर का वध बलदेवजी ने किया था, तो भी यहां भगवान् के द्वारा उसके वध का वर्णन प्रधानता से व्यपदेश के न्याय से किया गया है। अर्थात् इन गोपों को बलदेवजी में भगवदावेश का ज्ञान तो था नहीं। इसीलिए सेना की जीत को राजा की जीत मानी जाने की तरह बलदेवजी के किए धेनुक के वध को भगवान् के द्वारा किया गया कहा है; क्योंकि भगवान् ने ऐसे बहुत से असुरों को मारा है। इससे इसके वध में भी मुख्य भगवान् ही हेतु है।

श्लोक—**आशीविषं तमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं हृदात् ।**
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—अति तीक्ष्ण विषवाले कालिय सर्प को दर्पहीन और अपने आधीन करके इसने उसे कालीदह से बलपूर्वक निकाल दिया । यमुना के जल को विष रहित और सबके पीने योग्य बना दिया ॥१२॥

सुबोधिनी—वह्निसाम्याद् विषाग्निमपि निरूपयन्त्याशीविषमिति, **आशी** नाम विषदंष्ट्रा तत्र विषं यस्य स्वाभाविकविषादधिकविषयुक्तोहीन्द्रः सर्पश्रेष्ठस्तं प्रसिद्धं कालियमन्यैः स्मर्तुमपि भीयते तादृशं हृदाद् हृदं प्राप्य हृदमध्ये **दमित्वा प्रसह्य** बलाद् **हृदादुद्वास्य** दूरीकृत्य **यमुनां निर्विषोदकां** चक्रे, अनेन यद् गरुडस्यासाध्यं यमादीनां देवानामपि, अन्यथा गरुडः शत्रुं मारयेद् यमुनां वा यमादिः शुद्धां कुर्यात्, **दमनं** च सुतरामशक्य निर्विषकरणं च ॥१२॥

व्याख्यार्थ—ऊपर वर्णित दावानल के वर्णन की तरह इस 'आशीविषं' श्लोक से विषानल का भी वर्णन करते हैं । आशी-विष-जिसकी दाढ में विष था, जो स्वाभाविक विष से अधिक विष वाला था, उस अहीन्द्र-सर्पों में श्रेष्ठ-प्रसिद्ध कालियनाग-जिसका और लोग स्मरण करते भी डरते हैं-को उसके दह में जाकर वहाँ ही दमन करके इसने बलपूर्वक उसे कालीदह से हटा दिया और यमुना को विषशून्य जल वाली (बना) कर दिया । इससे यह सूचित होता है कि जिस कार्य को गरुडजी तथा यमराज आदि देव नहीं कर सके उसको इस बालक ने कर दिया । यदि ऐसा नहीं होता तो गरुड़ ही अपने शत्रु कालिय को मार क्यों नहीं देता अथवा यमराज ही अपनी भगिनी यमुना को शुद्ध क्यों न कर देते । कालिय का दमन और यमुना का विषरहित करना तो उनके लिए नितान्त ही अशक्य था जिसे इस बालक ने अनायास ही कर दिया ॥१२॥

श्लोक—**दुस्त्यजश्चानुरागोस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।**
नन्द ते तनयेस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नन्दजी, आपके बालक पर हम सभी व्रजवासियों का ऐसा अटल अनुराग और इसका भी हम लोगों पर उत्पत्ति (जन्म) से ही ऐसा स्वाभाविक स्नेह क्यों है ॥१३॥

सुबोधिनी—एतत् सर्वं बाह्यं निरूप्यान्तरं निरूपयन्ति **दुस्त्यज** इति, **अस्मिन् कृष्णे सर्वेषामेव नोस्माकमनुरागोपि दुस्त्यजः**, न ह्यन्योद्भूते सम्बन्धिनि साधारणसम्बन्धमात्रेण वित्तात् पुत्रात् प्राणादप्यधिकः स्नेहो भवितुमर्हति, तर्हि पुत्र एवास्य न भवत्यकस्मादेवागत इति मन्तव्यं, तत्राहुर्नन्द **ते तनय** इति, **क्वचिद् गुर्वादिषु कस्यचित् स्नेहोपि भवेन् न तु सर्वेषां**, न वा **व्रजौकसां** ज्ञानमस्ति, अतो वस्तुसामर्थ्यादेवैवं जायत इति, किञ्च **तस्याप्यस्मा-**

स्त्रौत्पत्तिक एव स्नेहो नान्येषां बालकानां एतत् कथं भवेत् ? अतो वस्तुसामर्थ्यात् क्रियासामर्थ्याच्चा धर्म-विचारेण धर्मिविचारेण वा महान् भवतीति कथं तव पुत्रो भवेत् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार बाहर के चरित्र निरूपण करके इस–"दुस्त्यजः" श्लोक से हृदय के विचार को कहते हैं। इस कृष्ण पर हम सभी लोगों का दुस्त्यज-त्याग न करने योग्य-अनुराग भी है। किसी दूसरे साधारण सम्बन्धी (नन्दजी) के यहां उत्पन्न हुए बालक पर साधारण सम्बन्ध मात्र से धन, पुत्र और प्राण से भी अधिक स्नेह होना सम्भव नहीं है। इससे यह सहज ही मानलेना चाहिए कि, नन्दजी, यह तुम्हारा पुत्र ही नहीं है। यह तो अकस्मात् आगया है। मूल में यह बात–"नन्द ते तनये–इन पदों से कही है। गुरुजनों पर कभी किसी का स्नेह हो भी जाए तो भी सबों का तो नहीं हो सकता। फिर हम व्रजवासियों को तो इसके स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हैं, जो ज्ञान के द्वारा स्नेह कर सकें। इसलिए यह निश्चित है, कि वस्तु के (इस बालकके) सामर्थ्य से ही हमारा इस पर दुस्त्यज अनुराग है। इसी तरह इसका भी हम लोगों पर उत्पत्ति से ही जैसा स्नेह है, वैसा दूसरे बालकों का नहीं है। ऐसा क्यों है ? इसलिए वस्तु सामर्थ्य और क्रिया सामर्थ्य तथा गुणों और धर्मी के विचार से भी यह महान् है। इससे यह, नन्दजी, तुम्हारा पुत्र कैसे हो सके। अर्थात् तुम्हारा पुत्र यह नहीं है ॥१३॥

श्लोक—क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे व्रजराज, कहां तो सात वर्ष की आयु का बालक और कहाँ इतने बड़े पर्वत को उठा कर उसे सात दिन तक लिए खड़े रहना। यही सब देखकर हमको संदेह हो रहा है कि यह बालक कदाचित् तुम्हारा पुत्र न हो ॥१४॥

सुबोधिनी—आस्तां तावदन्यदिदमधुना जातमत्या-श्चर्यमित्याहुः क्व **सप्तहायनो बाल** इति, **सप्तहायनो बालः** क्व महाद्रिविधारणं च क्व ? अतः कार्यकारणयोर्लोकन्या-येन विरोधात् **तवात्मजे** नः शङ्का जायते, अस्माक-मेतददिसन्दिग्धं **तव पुत्रो** भवति न वेति, विधिपक्षे कृतार्था भविष्यामोविधिपक्षेपराधाः क्रियन्त इति को वेद किं भविष्याम इति भवति विचारणा ॥१४॥

व्याख्यार्थ—अन्य आश्चर्यकारी चरितों की बात को तो जाने दो; किन्तु अभी जो हुआ, वह तो अत्यन्त ही आश्चर्यकारी है। यह इस 'क्व सप्तहायनः' श्लोक से कहते हैं। कहां तो यह सात वर्ष का बालक और कहां विशाल गिरीराज का धारण करना। इससे कार्य (गिरिराज का धारण) और कारण (बालक) का विरोध होने से हम को तुम्हारे पुत्र के विषय में शङ्का होती है। हमें यह बड़ा सन्देह हो रहा है कि यह तुम्हारा पुत्र है अथवा नहीं। यदि यह तुम्हारा ही पुत्र है तो हम कृतार्थ होंगे और यदि नहीं है तो हम बड़ा अपराध कर रहे हैं। कौन जान सकता है कि हमारा क्या होगा ? इस लिए विचार प्राप्त हो रहा है ॥१४॥

॥ नन्द उवाच ॥

श्लोक—श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्कावचोर्भके ।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥

श्लोकार्थ—नन्दजी कहते हैं-हे गोपगण ! मैं कहूँ उसे सुनो, जिससे इस बालक के विषय की तुम्हारी शङ्का-यह मेरा पुत्र है अथवा नहीं-दूर हो। इस बालक के विषय में महर्षि गर्गाचार्यजी मुझे बतला गए हैं। वह मैं तुमसे कहता हूँ। सुनो। आश्चर्य है, कि वे गर्गजी कैसे जान गए ॥१५॥

सुबोधिनी-एवं पूर्वपक्षे कृते नन्दः सिद्धान्तमाह श्रूयतामिति, भगवानद्भुतकर्मेति पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यासोन्यथैतद् भगवच्चरित्रं न भवेत्, नन्दस्तु स तादृश एव कश्चिन् महापुरुषो मम गृहे जात इति मन्यते गर्गवाक्यात्, यथा भगवदवताराः क्वचिद् भवन्ति तथायमपि मम गृहेवतीर्ण इति, अतः सम्बन्धोप्यस्ति माहात्म्यं चोपपद्यत इति गर्गवाक्यानि वक्तुमुपक्रमते श्रूयतामिति, हे गोपा भवन्तो न विचारणक्षमा अतो मे वच एव श्रूयतां सर्वैरेव भवद्भिः, ततः किं स्यात् ? अत आह व्येतु शङ्कावचोर्भक इति, अर्भके बालके शङ्कावचनमपगच्छतु मत्पुत्रो भवति न वेति, ननु त्वद्वाक्यं कथं प्रमाणं वादिवाक्यस्याप्रमाणत्वात् तत्राहैनं कुमारमुद्दिश्येति, यदायं कुमारो बालक एव स्थितस्तदैव गर्गो मे मह्यं मां बोधयितुं किञ्चदुवाच हेत्याश्चर्यं कथमेवं ज्ञातवानिति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—गोपों के इस प्रकार पूर्व पक्ष करने पर नन्दजी-'श्रूयतां' इस श्लोक से सिद्धान्त कहते हैं। भगवान् अद्भुतकर्मा हैं। इस कारण से यहां पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की विपरोतता है अर्थात् नन्दजी का पुत्र न होना तो सिद्धान्त है और इनका पुत्र कहना पूर्व पक्ष है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो, यह चरित भगवच्चरित न रह कर एक साधारण गोप के पुत्र का चरित ही रह जाय।

टिप्पणी—इस-'श्रूयतां'-श्लोक की व्याख्या में-'पूर्व पक्ष सिद्धान्त योर्व्यत्यासः' (पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की विपरीतता) पदों का अभिप्राय यह है:-नन्दजी के शरीर से उत्पन्न न होने के कारण यह नन्दजी का पुत्र नहीं है-यह सिद्धान्त यद्यपि उचित है, तो भी ऐसा ही मेरा पुत्र है-ऐसी बुद्धि भगवान् ने लीला के लिए नन्दजी की कर दी थी। इससे यह मेरा पुत्र है-नन्दजी की यह बुद्धि भ्रमरूप नहीं थी, इस कारण यह सिद्धान्ताभास नहीं है, किन्तु सिद्धान्त ही है; क्योंकि भगवान् ने ही स्वयं लीला के लिए नन्दजी का पुत्रत्व स्वीकार किया है। नित्य भगवान् का अपने को नन्दजी का पुत्र मानते रहना क्या उचित है ? ऐसी शङ्का को दूर करने के लिए नित्य भी भगवान् का नन्दजी का पुत्र होने में कारण बतलाते हैं कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं। जहां लौकिक युक्ति नहीं ठहर सकती, उसको अद्भुत कहते हैं। इसी प्रकार यहां भी भगवान् के नन्दजी के पुत्र होने के सम्बन्ध में लौकिक युक्ति नहीं चल सकती; क्योंकि इसी से भगवान् के अद्भुतकर्मता स्वरूप की सिद्धि होती है। इसलिए यह भूषण ही है, दूषण नहीं है। इसी अभिप्राय से ही गर्गाचार्यजी ने नन्दजी से भगवान् को उनका पुत्र कहा है ॥१५॥

नन्दजी तो गर्गजी के वाक्यानुसार यही मान रहे हैं, कि कोई महापुरुष मेरे घर प्रकट हुआ है। जैसे किसी समय कहीं पर भगवान् के अवतार होते हैं, इसी तरह यह भी मेरे घर में कोई अवतारी प्रकट हुआ है। इस प्रकार पुत्र रूप सम्बन्ध भी है और माहात्म्य भी उचित है। इसलिए गर्गजी के वचन को कहना आरम्भ करते हैं:—

हे गोपजनों, आप विचार करने में समर्थ नहीं हो। इसलिए आप सभी मेरे वचन को ही सुनिए जिससे इस बालक के विषय में आपकी शङ्का का वचन-यह मेरा पुत्र है, अथवा नहीं-दूर हो। शङ्का-नन्दजी, तुम तो वादी हो। वादी का कहना प्रमाण नहीं माना जाता (फिर) तुम्हारे कहने से हमारी शङ्का के वाक्य दूर कैसे होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि जब यह कुमार बालक ही था। उसी समय गर्गाचार्यजी ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ बतलाया था, उसको सुनिए। मूल श्लोक में-ह-यह आश्चर्य अर्थ में अव्यय पद है अर्थात् आश्चर्य है कि गर्गाचार्यजी ऐसा कैसे जान गए ॥१५॥

श्लोक—वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—यह बालक प्रत्येक युग में अवतार लेता है। इसके श्वेत, रक्त और पीत-ये तीन वर्ण हो चुके। इस समय यह कृष्ण वर्ण से प्रकट हुआ है ॥१६॥

सुबोधिनी—गर्गवाक्यानि पूर्वं व्याख्यातान्यपि पुनरापाततो व्याख्यायन्तेनुवादात्, **वर्णास्त्रय** इत्यादीनि वाक्यान्यष्ट श्लोकैरुक्तानि, किलेति प्रसिद्धे, अस्य बालस्य पूर्वं **त्रयो वर्णा** जाताः, वर्णशब्दो रूपविशेषे जातिविशेषे च वर्तते तत आह **शुक्लो रक्तस्तथा पीत** इति, इदानीं कृष्णः कृष्णवर्णत्वं प्राप्तः, सत्यादिष्वेवं भवति रामो रामो-रामो वा, इदानीं त्वद्गृहे वर्तमानसमीपे कलौ वा कृष्णधर्मं कृष्णत्वं प्राप्तः, न तु कृष्णः, मध्यन्दिने सवितुः मण्डलस्थकृष्णत्ववदिति कृष्णनामनिरुक्ति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि गर्गाचार्यजी के वाक्यों की व्याख्या पहिले की जा चुकी है; तो भी अनुवाद रूप से उनका यहां फिर व्याख्यान (वर्णन) करते हैं। 'वर्णास्त्रयः'-इत्यादि आठ श्लोकों से गर्गजी के वाक्यों को कहते हैं। 'किल'-यह प्रसिद्ध अर्थ का बोधक अव्यय पद है। इस बालक के तीन वर्ण तो पहले हो चुके। वर्ण शब्द का अर्थ रूपविशेष और जाति विशेष होता है। इसलिए कहते हैं कि श्वेत रक्त और पीत वर्ण तो इसके हो चुके। कृष्ण इस समय अभी कृष्ण-श्याम-वर्ण को प्राप्त हुआ है। सत्य, त्रेता आदि युगों में जैसे परशुराम, राम, बलराम रूप से अवतारित होते हैं; उसी तरह अभी तुम्हारे घर में वर्तमान काल के समीप में अथवा कलियुग में यह कृष्ण धर्म कृष्णता को प्राप्त हुआ है। वास्तव में कृष्ण (श्याम) नहीं है। मध्याह्न के सूर्य में तेजो मण्डल के बीच में रहने वाले कृष्ण वर्ण की तरह वर्ण वाला यह बालक है। यह कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति है ॥१६॥

टिप्पणी—नाम करण संस्कार करते समय गर्गजी ने गद्य में ही वाक्य कहे थे और नन्दजी आदि ने भी गद्य में ही सब कुछ कहा था। उन्ही वाक्यों को व्यासजी ने पद्यों में कहा है। इसलिए-व्याख्या-में-

श्लोक—प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ।।१७।।

श्लोकार्थ—(गर्गजी ने मुझ से कहा था कि) इस तुम्हारे पुत्र ने पहले कहीं किसी
श अथवा काल में वसुदेवजी के यहां भी जन्म लिया है। इसी कारण जानकार-
मिज्ञ-लोग इसको श्रीमान् (लक्ष्मीपति) वासुदेव भी कहते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी—वासुदेवनिरुक्तिमाह प्रागयमिति, क्वचिद् शविशेषे कालविशेषे वा वसुदेवस्यायं पुत्रो जातः, अतो भिज्ञा एतन्मर्म जानन्ति ते वसुदेव इति प्रचक्षते, वस्तुतस्तु वसुशब्देन धनं वसुरूपी देवो वसुदेवो लक्ष्मीस्तस्याः पतिर्वसुदेव इति तदाह श्रीमानिति, इतीति तत्रापि सम्बध्यते, इतिशब्दस्तदन्ते वा योजनीय ।।१७।।

व्याख्यार्थ—"प्रागयं"–इस श्लोक से वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति कहते है। कभी देश विशेष
थवा काल विशेश में यह पहले वसुदेवजी का पुत्र हुआ है। इसलिए अभिज्ञ (इसके मर्म को जानने वाले)
ोक इसको वासुदेव कहते हैं। वास्तव में तो वासुदेव शब्द का अर्थ लक्ष्मी पति होता है; क्योंकि

वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानि"–वाक्यो का आठ श्लोकों में कथन है। यद्यपि यहाँ गर्गजी के वाक्यों का अनुवाद
ासन्' इत्यादि सात श्लोकों में ही है तो भी–मन्येनारायणस्यांशम्–इस श्लोक में गर्गजी के वाक्यों का
लितार्थ निरूपण किया होने से इसे भी गर्गजी का वाक्य रूप ही मानकर इसी आशय से आठ श्लोकों की
ख्या कही है।

लेख:—'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः'–इस श्लोक की व्याख्या में वर्ण शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति
वशेष का वाचक कहने का तात्पर्य यह है कि राम–परशुरामजी–ब्राह्मण, राम–रघुनाथजी–क्षत्रिय और
ाम–बलरामजी–वैश्य जाति में प्रकट हुए हैं। बलदेवजी का भगवान् के आवेश के कारण से व्रजेश सुत होना
हले सिद्ध किया जा चुका है। इस समय तुम्हारे घर में कृष्णता को प्राप्त हुआ है अर्थात् दास्य मार्ग को प्रकट
कया है–यह अभिप्राय है।

योजना—'वर्ण' शब्द का ब्राह्मण आदि अर्थ मान कर ही व्याख्या में–रामो रामो रामः–परशुराम,
शरथ पुत्र राम, बलराम–इनका क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातिपरक निर्देश किया है। बलदेवजी में
ीकृष्णजी का आवेश है, श्रीकृष्ण नन्दजी के पुत्र हैं, नन्दजी वैश्य हैं–इस कारण से बलदेवजी को वैश्य कहा
। 'यत्कृष्णं तदन्नस्य'–इस श्रुति में कहे गए अन्न–पृथिवि–के कृष्ण रूप की तरह श्रीकृष्ण में पार्थिव कृष्णरूप
हीं है; किन्तु मध्याह्न के सूर्य के तेजो मण्डल के मध्य में जैसा श्यामत्व है, वैसी श्यामता श्रीकृष्ण में है।
र्थात् जैसे मध्याह्न के सूर्य के तेजो मण्डल में स्थित श्यामता पार्थिव नहीं है, उसी तरह यह श्रीकृष्ण का
यामत्व भी पार्थिव नहीं है, किन्तु वस्तु के स्वभाव से ही ऐसी प्रतीति होती है। यह श्यामता औपाधिक–पृथिवी
ी उपाधि से होनेवाली–नहीं है; क्योंकि–'यदादित्यस्य नीलंभाः'–इस छन्दोग्य उपनिषद् की श्रुति में–आदित्यस्य-
म्बन्ध कारक (षष्ठी) सूर्य सम्बन्धी श्यामत्व को सूचित करता है, उपाधि सम्बन्ध को नहीं कहता ।।१६।।

वसु-शब्द का अर्थ धन है। वसुरूप देव-वसुदेव अर्थात् लक्ष्मी, लक्ष्मी के पति वासुदेव शब्द की यह व्युत्पत्ति है। इसी आशय से मूल में श्रीमान् (लक्ष्मीपति) शब्द का प्रयोग है। मूलस्थ 'इती' शब्द का सम्बन्ध, वासुदेव और श्रीमान्, इन दोनों के साथ है अर्थात् यह बालक वसुदेव का पुत्र भी है और लक्ष्मी पति है ॥१७॥

श्लोक—बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—गुणों और कर्मों के अनुसार तुम्हारे पुत्र के अनेक नाम और रूप हैं। उनको मैं जानता हूँ। अन्य साधारण लोग नहीं जानते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—न केवलं नामद्वयमेव भगवतः किन्त्वन्यान्यपि बहूनि सन्तीत्याह बहूनीति, रूपाण्यपि सन्ति, ते सुतस्येति सम्बन्धस्थापनार्थं, रूपनाम्नोर्हेतुमाह गुणकर्मानुरूपाणीति, तावन्तो गुणास्तावन्ति च कर्माणि प्रतिरूपनामभेदेन कर्तव्यान्यतस्तेषामनुरूपाणि, तत्र प्रमाणमाह तान्यहं वेदेति, बाधाभावमाह नो जना इति, जनास्तु न जानन्ति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के नाम वासुदेव और लक्ष्मीपति-केवल दो ही नहीं है; किन्तु और भी बहुत हैं। यह 'बहूनि' इस श्लोक से कहते हैं। जैसे इसके नाम असंख्य है, वैसे ही इसके रूप भी अनेक हैं। नन्दजी के साथ सम्बन्ध का बोध-स्थापन के लिए तुम्हारे पुत्र के (ते सुतस्य)-ऐसा कहा है। रूप और नामों के असंख्य होने का कारण बतलाते हैं कि वे गुण कर्मों के अनुरूप हैं इसलिए प्रत्येक गुण और कर्म के भेद से नामकरण होना चाहिए; क्योंकि वे नाम, उन असंख्य गुण और कर्मों के अनुरूप हैं। इस में प्रमाण यह है, कि उनको (नाम और रूपों को) मैं जानता हूं। दूसरे साधारण मनुष्य इस बात को नहीं जानते हैं। उनका नहीं जानना, इस कथन में कोई बाधक नहीं है; क्योंकि जिन्हें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है, वे ही तो, इसे जान सकते हैं, अन्य साधारण मनुष्य कैसे जान सकते हैं ॥१८॥

श्लोक—एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥

श्लोकार्थ—यह गायें और गोकुलवासियों को आनन्ददायक होगा; इसके द्वारा तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण होगा। इसकी सहायता से तुम्हारे सारे संकट सहज ही दूर होंगे ॥१९॥

सुबोधिनी—एवं नामान्युक्त्वा भगवतः कार्याण्याहैष | इति, एष एव वो युष्माकं श्रेय आधास्यदाधास्यति,

"छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इति भविष्यदर्थे लङ्, पूतना-दिवधस्य कृतत्वात् भूतार्थताप्यस्ति, किञ्च गोपगोकुलयोर्नन्दन आनन्दजनको भविष्यति, किञ्चानेनैव सर्वदुर्गाणि सङ्कटस्थानानि यूयं तरिष्यथ, परमनायासेनैव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार नामों का वर्णन करके-'एप व;'- इस श्लोक से भगवान् के कार्यों को बतलाते है। यह तुम्हारा कल्याण करेगा। मूल में आधास्यत्-यह पद भविष्यद् अर्थ का बोधक है। पूतना आदि का वध पहले कर दिया है। इसलिए भूतकाल का प्रयोग भी उचित ही है। यह बालक गोप और गोकुल दोनों को आनन्द देने वाला होगा। इस के ही द्वारा तुम लोग सभी सङ्कट के स्थानों को सहज ही पार कर लोगे। विना किसी परिश्रम के ही तर जाओगे ॥१६॥

श्लोक—पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजकेरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे व्रजराज, पहले जब साधु पुरुषों को दैत्यों ने सताया था, राजा के न होने से प्रजा का कोई रक्षक नहीं था, तब इस की कृपा से प्रजा ने अभ्युदय प्राप्त करके उस दस्यु गण पर विजय पाई है।

सुबोधिनी—अत्रार्थे पूर्वसम्मतिमाह पुरानेनेति, पृथुरूपेणान्येन वा, व्रजपत इतिसम्बोधनमज्ञानं नाश्चर्यमितिबोधनार्थं, साधवः सर्व एव दस्युभिः पीडिता दस्यून् जिग्युः, रावणादयोपि दस्यवोराजके चारक्ष्यमाणाः स्थितास्तदानेनैव समेधिता दस्यून् जिग्युः, पृथावेव तत् स्पष्टम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में 'पुरानेन' इस श्लोक से पूर्व की सम्मति का वर्णन करते हैं। इसने पृथु-स्थूल-रूप से अथवा किसी दूसरे रूप से रक्षा की है। व्रजपते-सम्बोधन से यह सूचित होता है कि तुम व्रज-साधारण छोटे से गांव के राजा हो। इसलिए तुम्हें इस का ज्ञान न होने में कोई आश्चर्य नहीं है। सभी साधु पुरुष दैत्यों से पीड़ित हो, उन पर विजय प्राप्त करते थे। रावण आदि भी दैत्य थे। जब कोई राजा नहीं था. प्रजाओं का कोई रक्षक नहीं था। राजा उस समय इसी की कृपा से परिपुष्ट हो, दैत्यों को परास्त किया था। यह बात भगवदंशावतार पृथु के चरित्र से स्पष्ट है।

श्लोक—य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जो भाग्यशाली लोग इस से प्रेम करते हैं, वे शत्रुओं से परास्त नहीं होते, जैसे विष्णु जिनके पक्ष में है उन देवों को दैत्य कभी जीत नहीं सकते ॥२१॥

सुबोधिनी—किञ्च य एतस्मिन् महाभागाः परमभाग्यव्यतिरेकेण परं नास्मिन् प्रीतिर्भवत्येतादृशे **प्रीतिं कुर्वन्ति** ते मानवा अपि भूत्वा शत्रून् जिग्युः, तदाह **नारय** इति, अरय एतान् नाभिभवन्ति यतो **विष्णुपक्षान्** विष्णुः पक्षे येषां वैष्णवानासुरा **असुरावेशिनो** यथा लोकेपि **नाभिभवन्ति, लौकिकी** यथेयमिति दृष्टान्तः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उत्कृष्ट भाग्य बिना, इसमें प्रीति नहीं होती है । इसलिए जो बड़ भागी जीव इस में प्रीति करते हैं, वे मनुष्य होते हुए भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं । शत्रु इनको जीत नहीं सकता, क्योंकि उनके पक्ष में विष्णु है । लोक में भी, जैसे वैष्णवों को असुरों के आवेश वाले नहीं जीत सकते हैं । यह कथा लौकिक है । इसलिए विस्णु आदि का दृष्टान्त दिया है ॥२१॥

श्लोक—**तस्मान् नन्द कुमारोयं नारायणसमो गुणैः ।**
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे नन्दजी इस कारण से यह तुम्हारा बालक गुणों में, श्री में, कीर्ति और प्रभाव में साक्षान्नारायण के समान है । नन्दजी कहते हैं, कि हे गोपों ! इसके अद्भुत चरित देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्सामर्थ्यमुपपाद्योपसंहरति **तस्मादिति**, अत्र पाठभेदः, **अयं कुमारो हे नन्द नारायणसमो गुणैः** कृत्वा नारायणतुल्यः **श्रिया कीर्त्यानुभावेन** च नारायणतुल्यः, एतावद् गर्गवाक्यं, स्वयमाह **तत्कर्मसु न विस्मय** इति, तस्य भगवतः **कर्मसु गोवर्धनोद्धरणा**दिषु **विस्मयो न** कर्तव्यः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के सामर्थ्य का उपपादन करके-'तस्मात्'-इस श्लोक से उपसंहार करते हैं । इस श्लोक में पाठ भेद है । यह कुमार-(हे नन्दजी)-गुणों के द्वारा नारायण के तुल्य है, श्री कीर्ति और प्रभाव से भी नारायण के समान है-यहाँ तक गर्गजी के वाक्यों का अनुवाद करके नन्दरायजी स्वयं कहते हैं, कि हे गोपों !-इस कारण से इसके विचित्र चरित्रों को देखकर गोवर्धनोद्धरण आदि चरितों पर विस्मय मत करो ॥२२॥

श्लोक—**इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।**
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२३॥

योजना—'विष्णुपक्षानिवासुरा' इस श्लोक में यह दृष्टान्त अनुचित है; क्योंकि भगवान् ही तो विष्णु हैं । इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक यहां एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं है ? इस शङ्का का समाधान व्याख्या में –लौकिकीकथेयम्–(यह लौकिक कथा है) इन पदों से किया गया है । तात्पर्य यह है, कि गर्गाचार्यजी ने लौकिक बुद्धि (का आश्रय लेकर) से यह कथा कही है । इसलिए इस दृष्टान्त में पूर्व पक्ष कथित दोष नहीं है ।

श्लोकार्थ—हे गोपों ! मुझ से यों कहकर गर्गाचार्यजी अपने घर को चले गए। तभी से मैं अक्लिष्ट कर्मा श्रीकृष्ण को नारायण का अंश मानता हूँ ॥२३॥

सुबोधिनी—एतादृश एवायं मम गृहेवतीर्ण इति ममाप्यत एवात्र न विस्मय इति सम्मत्यर्थं स्ववृत्तान्त-माहेत्यद्धेति, **प्रद्धा** साक्षान् **मां** प्रति सम्यगादिश्य भगवत्स्वरूपमुक्त्वा **गर्गे** स्वगृहं गते कृष्णं **नारायणस्यांश**-मेवाह **मन्ये**, चकारादहमपि गृहे गत्वा, पुरुषोत्र नारायणस्तस्यायमंशावतार इत्येतावज् ज्ञातवान् न त्वधिकं, अधिकमग्रे वक्ष्यति, ब्रह्मांशोयमित्यस्मिन्नर्थे न केवलं वाक्यं प्रमाणं किन्त्वनुभवोप्यस्तीत्याहाक्लिष्ट-कारिणमिति, न क्लिष्टं कदाचित् कृतवान् करोति वा, यदि जीवः स्यात् क्लिष्टं कुर्यात्, व्यसनैः पीडितो हि तथा करोति न त्वपीडितः, व्यसनाभावस्तु ब्रह्मण्येव यतः कृष्णो ब्रह्मे त्यहं **मन्ये** ॥२३॥

व्याख्यार्थ—यह ऐसा अद्भुत कर्मा ही मेरे घर में प्रकट हुआ । इसी कारण से मुझे भी इसके विचित्र इन गोवर्धनोद्धरण आदि चरित्रों पर विस्मय नहीं है । इस प्रकार अपनी सम्मति प्रदर्शित करने के लिए नन्दरायजी-'इत्यद्धा'-इस श्लोक से अपना वृत्तान्त कहते हैं। साक्षात् मुझ से, इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का भली भांति वर्णन करके, गर्गाचार्य के मेरे पास से गर चले जाने पर, तभी से मैं श्रीकृष्ण को नारायण का अंश ही मानता हूँ । मूल श्लोक में चकार कहने का तात्पर्य नन्दरायजी कहते हैं, कि फिर मैं भी घर जाकर इतना ही जान पाया कि पुरुष यहाँ नारायण हैं, उनका यह अंशावतार है । इससे अधिक कुछ नहीं समझा । अधिक का वर्णन यहीं आगे किया जाएगा । यह बालक ब्रह्म का अंश है-इस कथन में केवल वाक्य ही प्रमाण नहीं है, किन्तु अनुभव भी प्रमाण है, क्योंकि इसने किसी दिन कोई क्लेशदायक कार्य नहीं किया और न करता ही है। यदि यह जीव होता, तो क्लिष्ट कर्म करता, क्योंकि दुःखों से पीड़ित (जीव) ही क्लेशदायक कार्य करता है। अपीड़ित क्लिष्ट कर्म नहीं करता, दुःख का अभाव न होना, तो केवल ब्रह्म में ही सम्भव है। इस कारण से मैं कृष्ण को ब्रह्म ही मानता हूँ ॥२३॥

श्लोक—**इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।**
दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ॥
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार गर्गाचार्य के द्वारा पहले से ही वर्णन कर दिए गए अपरिमित तेजवाले, सदान्द श्रीकृष्ण सम्बन्धी, नन्दजी के वचनों को सुनकर कृष्ण के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखने और सुनने वाले वे व्रजवासी जन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने नन्दरायजी और श्रीकृष्ण की पूजा की और उनका सारा विस्मय दूर हो गया ॥२४॥

सुबोधिनी—एवमुपदेशे यज् जातं तदाहेतीति, गर्गेण पूर्वं **गीतं** वस्तुतो गर्गादपि पूर्वसिद्धं तदिदानी **नन्दवचः**, तच् **छ्रुत्वा व्रजौकसो**त्यन्तासम्भावनारहिता **मुदिता** जाता इतिसम्बन्धः, न केवलं वाक्यप्रामाण्यं स्वयमपि कृष्णं तथाभूतं दृष्टवन्त इत्याह **दृष्टश्रुतानु-भावस्येति**, दृष्टः, श्रुतश्चानुभावो यस्य, **अमितं च तेजो**

यस्य, स्वरूपतोपि सदानन्दस्य सम्बन्धि गर्गवाक्यं नच् छ्रुत्वा मुदिताः सन्तो नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाश्च जाताः, महान् नन्दो यस्यैतादृशः पुत्र इति नन्दपूजा भगवांस्तु पूजनीय एव, आश्चर्याभावः फलं, एवमध्यायत्रयेण सन्देहाभावपूर्वकमुपधर्मनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्माहात्म्यं भगवद्धर्मश्च स्थापितः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार नन्दजी से गर्गाचार्य के उपदेश को सुनने के पीछे जो कुछ हुआ, उसे-'इति नन्दवचः' इस श्लोक से कहते है। गर्गजी के द्वारा पहले कहे हुए, वास्तव में तो गर्गजी से भी पहले ही सिद्ध श्रीकृष्ण सम्बन्धी नन्दजी के वचनों को अभी सुनकर व्रजवासियों का सारा विस्मय और असंभव भाव मिट गया। वे बड़े आनन्दित हुए। केवल (गर्गजी अथवा नन्दजी) का वाक्य ही प्रमाण नहीं था; किन्तु गोप स्वयं भी कृष्ण के ऐसे ही प्रभाव को देख और सुन रहे थे। अगणित ऐश्वर्यशाली और स्वरूप से भी सदानन्द, श्री कृष्ण-सम्बन्धी गर्गजी के उस वाक्य को सुन, व्रजवासी जनों ने नन्दजी और कृष्ण की पूजा की। उनका सभी विस्मय दूर होगया। नन्दजी महान् है; क्योंकि इनके घर में ऐसे अद्भुतकर्मा भगवान् ने अवतार लिया। इस कारण से नन्दजी की पूजा की। भगवान् तो सबके पूजने योग्य हैं ही। इसका फल यह हुआ, कि व्रजवासियों का आश्चर्य दूर हो गया। इस प्रकार इन तीन अध्यायों से सन्देह का अभाव पूर्वक गौण धर्म का निरास करते हुए भगवान् के माहात्म्य और भगवद्धर्म की स्थापना की है ॥२४॥

श्लोक—देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपरुषानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ॥
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद् गोष्ठमपान् महेन्द्रमदभित् प्रीयान् न इन्द्रो गवाम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—यज्ञ भङ्ग होने से कुपित हुआ इन्द्र जब व्रज के ऊपर घोर वर्षा करने लगा। वज्रपात और शिलाओं की बौछार तथा प्रचण्ड आंधी से सारे गोपाल, बाल, वृद्ध, स्त्रियाँ और पशुगण व्याकुल हो उठे, तब बालक, जैसे खेलते २ धरती के फूल को हाथ से अनायास उखाड़ लेता है, उसी प्रकार जिन्होंने करुणावश होकर लीला पूर्वक हँसते हँसते गोवर्धन पर्वत को एक हाथ से उठा लिया और आप ही जिसके एक मात्र रक्षक थे, उस व्रज की रक्षा की। वही इन्द्र का अभिमान दूर करने वाले गोविन्द नामधारी भगवान् हम पर प्रसन्न हो ॥२५॥

सुबोधिनी—एतादृशधर्मप्रवर्तकं भगवन्तं शुको नमस्यति देव इति, स भगवान् गवामिन्द्रो नोस्माकं प्रीयात् प्रीतो भवतु, स एव प्रीतो भवति यः कस्यचित् कदाचित् प्रीतो भवति, अतस्तस्य प्रीतिलीलामाह देवे इन्द्रे वर्षति सति, वर्षणमपि न यादृच्छिकं किन्तु यज्ञविप्लवरुषेन्द्रयागस्य विप्लवो नाशस्तेन रुड् रोषो न केवलं वृष्टिमात्रं किन्तु वज्राश्मपरुषानिलैः सह वज्रोऽश्मा परुषानिलश्च सात्त्विकतामसराजसा निरूपिताः, ततः किमत आह सीदत्पालपशुस्त्रीति, सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यत्र व्रजे तत् सीदत्पालपशुस्त्रि तादृशमप्यात्म-

शरणमात्मैव शरणं रक्षको यस्य तादृशं दृष्ट्वानुकम्पी जातः कृपावान् जातः, ततस्तद्दुःखनिवृत्त्यर्थमुत्स्मयन्नूर्ध्वं स्मितं कुर्वन् गोपानामज्ञानं स्थापयन्नेवैककरेण शैलं गोवर्धनमुत्पाट्याबलो बालो यथा लीलयोच्छिलीन्ध्रमुत्पाट्य बिभर्ति तथा बिभ्रद् गोष्ठमपाद् रक्षितवान्, न केवलं गोष्ठरक्षैव फलं किन्तु महेन्द्रमदभिद् महेन्द्रस्यापि मदं भिनत्ति गवां चेन्द्रो गोविन्द इत्याख्यां बिभर्ति, भाग्यर्थोयं, स प्रीयादितिप्रार्थना ॥२५॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे पञ्चमस्य स्कन्धादितस्त्रयोविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के धर्मों के प्रवर्तक भगवान् को 'देवे वर्षति'—इस श्लोक से शुकदेवजी नमस्कार करते हैं । वह भगवान् गोविन्द (गायों के इन्द्र) हमारे ऊपर प्रसन्न होवें । प्रसन्न वही होता है, जो कभी किसी पर प्रसन्न होता रहता है । इसलिए उसकी प्रीतिलीला का वर्णन करते हैं, कि जब इन्द्र सहज ही नहीं; किन्तु स्वयाग के नाश के कारण उत्पन्न क्रोध-(रोष)-से, केवल वृष्टि नहीं; किन्तु वज्र, पाषाण और प्रचण्ड आंधी सहित घोर वर्षा कर रहा था, वज्र, पाषाण और पचण्ड पवन-ये क्रम से सात्विक, तामस और राजस निरूपण किए हैं, तब व्रज में गोपाल, पशुगण और स्त्रियाँ अत्यन्त व्याकुल होगए । व्रज को-जिसके एक मात्र आप ही रक्षक हैं-दुःखी देखकर कृपा परवश हो भगवान् ने उनके दुःख को दूर करने लिए जोर से मुस्कुराए और गोपों के बिना जाने ही, गोवर्धन पर्वत को एक हाथ से लीला पूर्वक, इस तरह उखाड़लिया जैसे एक बालक बरसाती धरती के फूल को खेलते खेलते अनायास ही उखाड़ लेता है । गोवर्धन को धारण करके, गोकुल की रक्षा की इस चरित्र का फल केवल गोकुल की रक्षा ही नहीं है किन्तु इन्द्र के मद का नाश करना और आगे गोविन्द नाम का धारण करना भी इसका फल है । वे भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न होवें । शुकदेवजी ऐसी प्रार्थना करते हैं ॥२४॥

गोवर्द्धन लीनो उचकाई । देख विकल नर नारि कन्हाई ॥१॥
अपने सुख व्रजजन वितताये । बूंद बहुत व्रज पर बरखाये ॥२॥
वे डरपत और हरषत मनमन । राखे रहे जहां तहां व्रजजन ॥३॥
घर के देख मनहिं सुख दीनों । वाम भुजा गिरिवर कर लीनो ॥४॥
सूर श्याम गिरि कर धर राख्यो । धीरज वचन सबन सों भाख्यो ॥५॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २३ वें अध्याय को श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण का पांचवा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २७वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २४वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'षष्ठोऽध्याय'

श्रीकृष्ण का अभिषेक

कारिका—**चतुर्विंशे भगवतो अभिषेको निरूप्यते ।**
स्तुतिः शिक्षा तथेन्द्रस्य कामधेन्वादिभिः कृता ॥१॥

कारिकार्थ—इस चोबीसवें अध्याय में काम धेनु आदि के द्वारा किए जाने वाले भगवान् के अभिषेक, इन्द्रकृत स्तुति और इन्द्र के लिए की (हुई) शिक्षा का भी निरूपण किया जाएगा ॥१॥

कारिका—**यथा रक्षा सुसंसिद्धा मदाभावस्तथा यदि ।**
तदैव भगवत्कार्यं सर्वं सफलता व्रजेत् ॥२॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार से घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधी से व्रज की बाल बाल

रक्षा सिद्ध हुई, उसी तरह से, इन्द्र के अभिमान का भी पूर्णतया अभाव हो जाने पर ही, भगवान् का सकल कार्य सफल हो ॥२॥

कारिका—**गोरक्षा चेद्धरिकृता नाधिदैविकगामिनी ।**
तया वा दासभावश्चेन् न चाप्यङ्गीकृतः क्वचित् ॥३॥
स्वयं वा स्वामिभावेन न स्वीकुर्यान् मुरद्विषम् ।
तदेयं भगवल्लीला प्रमाणं नैव जायते ॥४॥
अतो हेतूक्तिरप्येषा सत्फला वर्ण्यते स्फुटा ।
इन्द्रयागश्च भविता यस्मादिन्द्रो हरिः स्वयम् ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् के द्वारा की गई गोरक्षा यदि आधिदैविक पर्यन्त नहीं पहुँचे, यदि आधिदैविक कामधेनु अपने दास भाव और भगवान् के स्वामिभाव को स्वीकार नहीं कर लेती तब तक यह लीला भगवान् की लीलाओं में प्रमाण रूप नहीं हो सकती है, इसलिए यह हेतूक्ति भी स्पष्ट रीति से सत्फल वाली वर्णन की जाएगी इसी तरह भगवान् के इन्द्र होने पर, इन्द्र याग भी स्थिर रहेगा ही ॥३॥४॥५॥

टिप्पणी—'गोरक्षा' से 'जायते', तक तीसरी चौथी कारिकाओं का तात्पर्य यह है । आधिदैविक कामधेनु की शरणागति से यह बात प्रमाणित होती है, कि केवल गायरूप सजातीयता से भी, सारी लौकिक गायों की आधिदैविक गाय कामधेनु तक पहुँच जाने वाली ऐसी पालन लीला को श्री पुरुषोत्तम के अतिरिक्त कोई दूसरा केवल देखा देखी रूप से भी-करने में समर्थ नहीं हो सकता है । इस बात को स्वयं कामधेनु ने 'भवताऽलोकनाथेन' (अलोकनाथ आपसे ही हम गायें सनाथ हैं) इन पदों से कही है । अलोक–लोक भिन्न अर्थात् अलौकिक गोओं को पालन करने वाले आपके द्वारा हम भी सनाथ (रक्षित) हुई हैं । इस 'अलोक' पद से, यह भी सूचित किया गया है कि लीला सम्बन्धी सारे पदार्थों के विषय में भी यही व्यवस्था है, अर्थात् सारी लीला सामग्री अलौकिक ही है । यदि ऐसा नहीं होता तो 'अलोक नाथेन' ऐसा सामान्य पद का प्रयोग न करके, 'लोक नाथ', पद का प्रयोग किया जाता । इस में कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, धर्म से भी आप च्युति रहित हैं । इस कारण से, यदि आपका पालन करना रूप धर्म, हम आधिदैविक गायों तक नहीं पहुँच पाता, तब तो गोत्व की समानता से हमारी अंशभूत लौकिक गायों में आपके पालन धर्म की च्युति हो जाती किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि आप 'अच्युत' (च्युतिरहित) हैं ।

'तदेयम्' के पश्चात् आया, 'लीला' पद भाव प्रधान है और–भगवत्लीला प्रमाणं–यह एक ही समासयुक्त पद है इसलिए इस आधी कारिका का यह अर्थ है कि यह कही जानी वाली लीला भगवल्लीलापन में प्रमाण नहीं होती है ।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक—गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे ।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! जब भगवान् ने गोवर्धन पर्वत उठा कर वर्षा की धाराओं से व्रज की रक्षा की, तब गोलोक से सुरभि गाय, इन्द्र और सब देवगण श्री कृष्ण की सेवा में उपस्थित हुए ।।१।।

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये सन्देहाभावो निरूपितोतो भगवदुक्तमेव कर्तव्यमिति स्थापित, तद् यदि परम्परयेन्द्रयागत्वेन प्रसिद्धं कर्म नेन्द्रयागत्वमापद्येत तदा प्रसिद्धिविरोधः स्यादिति भगवत इन्द्राभिषेको निरूप्यते, न केवलं भगवानेव स्वयमिन्द्रो जातः किन्तु सर्वैरेवेन्द्राभिषेककर्तृभिरिन्द्रः कृत इति वक्तव्य तदर्थमिन्द्रस्य कामधेनोश्चागमनमाह **गोवर्धन** इति, **गोवर्धने शैले धृत** इन्द्रमानभङ्गादिन्द्रः समागतोन्यथा भगवान् गोवर्धनधारणेन क्लिष्ट इव तत् स्मृत्वेन्द्रं मारयेदतः क्षमापनीय इति, **आसाराद्** धारासम्पाताच्च **रक्षिते** गोकुले स्ववंशो रक्षित इति **सुरभिः** समागता, **न हि प्राकृतैः स्ववंशोयं**-भगवत्पूजा कर्तुं **शक्यात**: स्वयमागता चकारादन्येपि तदीया देवा उत्सवार्थं समागता इति ज्ञातव्यम् ।।१।।

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में भगवान् के विषय में जो जो सन्देह गोपों को थे, वे सब दूर करा के यह सिद्ध कर दिया कि भगवान् जैसी आज्ञा करें वैसा ही करना उचित है किन्तु यदि परम्परा

शंका—हेतुवाद से ही पूर्व प्रचलित लौकिक इन्द्रयाग का भङ्ग करके फिर 'भवताऽलोकनाथेन' इत्यादि के अनुसार रक्षा करना आदि हेतुवाद पूर्वक भगवान् का इन्द्र रूप सेअभिषेक होने पर कराया नया याग भी तो हेतुवाद सिद्ध ही है । अर्थात् हेतुवाद सिद्ध प्राचीन याग का भङ्ग करा कर फिर भी वैसा ही, हेतु सिद्ध नवीन याग कराने में क्या कारण है इसका उत्तर-'अतो हेतुक्ति', इत्यादि पदों से दिया गया है । इन्द्रयाग के भग कराने से, प्राप्त हुए दोष की शंका की निवृत्ति कराने के लिए लौकिक याग भङ्ग, अपूर्व याग प्रारम्भ और पालन—इन सबको लीला बतलाना है और यह इनके आधिदैविक तक पहुँचने का निरूपण करने से होता है । इसलिए ये सभी लीलारूप ही हैं । यह 'हेतूक्ति' भी लीला रूप ही है । इससे इस लीला को 'भवाय भव', इस बीसवें तथा—'कृष्णेऽभिषिक्ते'—इस सत्ताईसवें श्लोक में सत्फल वाली लीला कहा है । इस प्रकार परम्परा से चली आई मर्यादा का भङ्ग भी नहीं हुआ क्योंकि आगे भी प्रति वर्ष व्रज वासी लोग गोसव करते ही रहेंगे । इस कथन से यह सूचित किया कि लीला सम्बन्धी लोक पाल आदि भी भगवान् से भिन्न नहीं है ।

लेख—'गोरक्षा'—इत्यादि डेढ़ कारिका में सुरभि की स्तुति के तीन श्लोकों का अर्थ कहा है । 'तदेयं' यह गोरक्षा रूप भगवत्लीला सुरभि की शरणागति में प्रमाण भूत नहीं होती । अतः शरणागति के प्रमाण भूत होने से हेतु का कथन है ।

।। इति कारिकार्थ ।।

से चला आया इन्द्र याग नाम से प्रसिद्ध कर्म, पुनः (पीछा) इन्द्रयागरूप को प्राप्त नहीं करें तो प्रसिद्धि का विरोध होगा । इस लिए प्रसिद्धि का विरोध दूर करने के लिए इन्द्र रूप से भगवान् के अभिषेक का निरूपण करते हैं । भगवान् ही स्वयं इन्द्र हुए केवल इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र का अभिषेक करने वाले सभी देवों ने भगवान् का इन्द्राभिषेक करना कहने के लिए 'गोवर्धन' इस श्लोक से इन्द्र और कामधेनु का आगमन वर्णन करते हैं । जब भगवान् ने गोवर्धन पर्वत को धारण किया तब इन्द्र का मान भंग हो जाने से वह स्वयं भगवान् के पास आया । इन्द्र को यह भय हुआ कि यदि कृष्ण की सेवामें नहीं जाया जाएगा तो सम्भव है कि वह पर्वत को धारण करने में हुए क्लेश का स्मरण करके मेरा (इन्द्र का) अनिष्ट (नाश) कर दें । इस लिए, अपना अपराध क्षमा कराने के लिए वह भगवान् के पास आया । वर्षा की मूसल धाराओं से गोकुल में अपने वश (गोगण) की भगवान् ने रक्षा की । इस कारण से, सुरभि (कामधेनु) भी आई, काम धेनु के वंश की प्राकृत (लौकिक) गायें भगवान् की पूजा नहीं कर सकती । इस लिए सुरभि स्वयं भगवान् की सेवा में आई । श्लोक में कहे 'च' से यह सूचित किया है, कि सुरभि और इन्द्र सम्बन्धी सारे देवता उत्सव के लिए आए ॥१॥

श्लोक—विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥२॥

श्लोकार्थ—कृष्णचन्द्र का अनादर करने के अपराध से अत्यन्त लाज्जित हुए अपराधी इन्द्र ने आकर, अपराध क्षमा कराने के लिए सूर्य के समान प्रकाशमान क्रिरीट मुकुट से अलङ्कृत अपने शिर से एकान्त में भगवान् के दोनों चरणों का स्पर्श किया ॥२॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथममपराधनिवृत्तिः कारणेयेतीन्द्रस्योपाख्यानमुच्यते तत्र समागत इन्द्रो भगवन्तं प्रार्थितवानित्याह विविक्त इति, एकान्ते भगवत्समीपं गतो भक्ता अपकृता इति कदाचित् तेनिष्टं वदेयुः, लज्जां

टिप्पणी—व्याख्या में–नहि प्राकृतैः–इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि प्रकृत लीला सम्बन्धी गायें भगवान् की पूजा करती तो लीला रस का विरोध होजाता ।

लेख—इस–'विविक्त'–श्लोक की व्याख्या में 'तत्र' पद से लेकर 'आह' पद तक–श्लोक द्वयेन (दो श्लोकों से) इस पद का अध्याहार समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि इन्द्र का आगमन कहना तो पहले कह दिया गया होने से यहां अनुवाद मात्र है । विविक्त इस दूसरे श्लोक का अर्थ नमस्कार है जो प्रार्थना का अङ्ग है और अगले तीसरे 'दृष्टश्रुत' इत्यादि श्लोक से प्रार्थना की है इस प्रकार दूसरे और तीसरे श्लोकों का अङ्ग सहित प्रार्थना करना अर्थ है ॥१॥

च हेतुत्वेन वक्ष्यति, अप्रार्थिते सर्वनाशो भविष्यतीति प्रार्थनावश्यकी; अत एकान्ते निकटे गतः, तत्रापि व्रीडितो लज्जितः, कृतं हेलनं येनेति भीतश्च, अत एनं भगवन्तं पादयोः पस्पर्श, अर्कवर्चसा किरीटेन भुग्नपृष्ठः शिरो भगवत्पादयोः स्थापितवान्, महत एतत् सर्वापराधक्षमापकम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—वहां आकर पहले अपराध की निवृत्ति कराना चाहिए इसलिए इन्द्र का उपाख्यान कहते हैं। इन्द्र वहां आया और भगवान् से प्रार्थना करने लगा। यह 'विविक्त' इस श्लोक से कहते है'। इन्द्र एकान्त में भगवान् के पास गया, क्योंकि उसने भक्तों का अपराध किया था। वे भक्त कदाचित् इन्द्र से अनिष्ट सूचक वचन बोल दे। और लज्जा भी एकान्त में जाने का कारण कहा जाएगा। प्रार्थना न करने पर सर्वनाश हो जाएगा। इस लिए प्रार्थना करना आवश्यक है। इस लए लज्जित और अपराधी होने के कारण भयभीत हो एकान्त में भगवान् के निकट आकर इन्द्र ने भगवान् के चरणों का स्पर्श किया सूर्य के समान जाज्वल्यमान किरीट से अलङ्कृत अपने मस्तक को इन्द्र ने भगवान् के चरणों पर रख दिया यह सब बहुत भारी अपराध को क्षमा कराने का साधन (उपाय) है।।२।।

श्लोक—**दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।**
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ।।३।।

श्लोकार्थ—अतुलित तेज को धारण करने वाले श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रभाव को देख और सुन कर इन्द्र के मन से त्रिलोकों के ईश्वर होने का मद जाता रहा और वह हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा ।।३।।

सुबोधिनी—एवं नमस्कारं कृत्वा स्तोत्रं कर्तुमारेभे दृष्ट इति; ननु देवा नानृतं वदन्ति नाप्यारोपेणायं च भगवतो नोत्कर्षं जानात्यन्यथापराधं न कुर्याद् विपरीतबुद्धिश्चातः कथं स्तोत्रमिति चेत् तत्राह दृष्टश्रुतानुभावस्येति, दृष्टो गोवर्धनोद्धरणलक्षणः श्रुतः पूतनासुपयःपानादिरनुभावो यस्य, किन्च न केवलं दृष्टश्रुतानुभावमात्रत्वमन्यदप्यधिकमस्तीति ज्ञापयति, यथा जाज्वल्यमानोऽग्निः सर्वमेव धक्ष्यतीति ज्ञायते तथा भगवत्तेजोऽपि परिदृश्यमानं सर्वं कर्तुं समर्थमित्यवसीयते, तदाहामिततेजस इति, अत एव नष्टस्त्रिलोकेशोऽहमितिमदो यस्मात् इन्द्र इति नाममात्रं भगवदधिकारी कृताञ्जलिः सन्नाहाग्रे वक्ष्यमाणम् ।।३।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार नमस्कार करके इन्द्र 'दृष्टश्रुता-नुभावस्य', इस श्लोक से स्तुति आरम्भ करता हुआ कहता है। शङ्का-देवता झूठ नहीं बोलते हैं और न सीप में चांदी के भ्रम की तरह आरोप से ही कोई बात कहते हैं। इन्द्र भगवान् के उत्कर्ष को नहीं जानता है। यदि जानता होता तो भगवान् का अपराध नहीं करता और विपरीत बुद्धि वाला है तो फिर भगवान् की स्तुति कैसे करता हैं ? समाधान-इन्द्र ने अभी गोवर्धन का उद्धरण रूप भगवान् का प्रभाव देखा और पूतना के प्राण सहित स्तन्य पान, आदि प्रभाव सुने। इतना ही नहीं किन्तु और भी अधिक हैं-यह सूचित करते हैं कि जैसे जाज्वल्यमान धधकती हुई-अग्नि सभी को जला देगी-ऐसा जान पड़ता है। वैसे ही देदीप्यमान भगवान् का तेज भी सब कुछ करने में समर्थ है-ऐसा जाना जाता है क्योंकि,

भगवान् का तेज ग्रतुलित है। इसलिए उस (इन्द्र) का त्रिलोकी का स्वामी होने का अभिमान नष्ट हो गया। तब केवल नाम मात्र का वह इन्द्र (भगवद्दत्त) अधिकारी पद को प्राप्त हुग्रा, दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना पूर्वक इस प्रकार बोला ।।३।।

।। इन्द्र उवाच ।।

श्लोक—**विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।**
मायामयोयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ।।४।।

श्लोकार्थ—इन्द्र ने कहा–भगवान्, ग्रापका धाम (स्थान, तेज) विशुद्ध सत्वरूप है, शान्त ग्रौर तपोमय है। रजोगुण ग्रौर तमोगुण का नाश करने वाला है। गुणों के द्वारा प्रचलित यह मायामय संसार ग्रापका स्पर्श तक करने के योग्य नहीं है ।।४।।

सुबोधिनी—भगवन्तं स्तौति दशभिः प्राणश्लोकैः,

व्याख्यार्थ—इन्द्र दश प्राणरूप, दश श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है।

कारिका—**क्रियाशक्तिप्रधानोयं बाह्यश्चायं तथाविधः ।**
पुरुषार्थप्रसिद्धयर्थं षड्गुणं स्तौति माधवम् ।।१।।

कारिकार्थ—इस इन्द्र में तथा इस वेद बाह्य में भी क्रिया शक्ति प्रधान है। ग्रपने पुरुषार्थ की ठीक ठीक सिद्धि के लिए वह षड्गुण सम्पन्न माधव भगवान् की स्तुति करता है ।।१।।

सुबोधिनी—निर्दुष्टा भगवद्गुणा इति वक्तुं प्रथमं दण्डकरणेन प्राप्तं क्रोधं निवारयति द्वाभ्यां हेतुफलाभ्यां, तत्र प्रथमं भगवतः क्रोधे हेतुर्नास्तीत्याह **विशुद्धसत्त्वमिति**, परमार्थतस्तु सर्वात्मा सर्वकर्ता सर्वप्रेरकोतः क्रोधः सम्भावित एव न, ग्राविर्भावप्रकारेणापि लीलापि क्रोधे हेतुर्नास्तीत्युच्यते, तत्र क्रोधे रजस्तमसी हेतू ते त्वयि न स्त इत्याह **विशुद्धसत्त्वं तव धामेति, शुद्धं** रजस्तमोभ्यामसम्पृक्तं विशेषेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तं तत् **तव धाम** स्थानं "**सत्त्वं** विशुद्धं वसुदेवशब्दित"मिति, तत्र भगवानाविर्भवतीति वासुदेवः, किञ्च धाम तेजोपि सात्त्विकमेव भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा, किञ्चेदं सत्त्वं शुद्धसत्त्वान्तरेणाप्यमिश्रितं तज् जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवत्यत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह **शान्तमिति**, परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षो ज्ञानादयोवान्तरभेदा ग्रल्पविक्षेपरूपाः, ग्रन्यथा कथं बोधयेत् कथं वा त्यजेत् कथं वा भजेत् ? ग्रतः शान्तिरेव परमकाष्ठा नन्वज्ञानस्यापि शान्तिः परमकाष्ठा भवति वृक्षादिषु सुषुप्तौ च तथोपलम्भादतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **तपोमयमिति, तपस्तु** विहितज्ञानात्मकं तेजोरूपमत एव तेजोव्यतिरिक्तं सन्तापयति, सुतरां भगवत्तपस्तु ज्ञानमयं "यस्य ज्ञानमयं तप"इतिश्रुतेरतो मौढ्याद् या शान्तिरुपरतिरूपा सा नात्र ग्राह्यात एव 'शम उपशम' इति, ग्रात्मसमीपे यः

शान्तस्तिष्ठति स उक्तो न तु शान्तिमात्रे निरोधेनाज्ञानसमीपे वातस्तपोमयमित्युक्त, ननु "रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारते"ति यथा सत्त्वं प्रबलमेवं "रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथे"त्यपि, "न तदस्ति पृथिव्यां वे" ति च केवलसत्त्वस्य बाधः, तत्राह ध्वस्तरजस्तमस्कमिति, ध्वस्ते रजस्तमसी येन लोकानामपि रजस्तमसी यो नाशयति त को वा नाशयेत् ? ज्ञायतेन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात"इति न वदेत् सर्वदैव वसुदेव एव जायमानत्वादत इदानीं केवलोपि सत्त्वाश्रित उच्यते, पूर्वभ्रमापेक्षयायं भ्रम उत्तम इति स्तुतित्वमन्यथा ऽन्यापिवैकुण्ठे सर्वान् नेतुं न शक्नुयात्, सत्त्वं त्वाधारत्वेनैव गृहीतमिति विष्णोरपि तथा सामर्थ्यं क्वचिदुच्यते "ब्रह्मेव सगुणं बभा" वित्यत्रापि विष्णुरेव गृह्यतां तदवतारा भगवान् वा क्वचिदन्यथा

आधिदैविक एव तादृशस्य नाशको भवति, स च ऽन्यस्थया स्थापितस्ते गुणाश्चाप्राकृताः सच्चिदानन्दधर्मरूपाः प्राकृतेभ्यो भिन्ना अन्यथा "प्रकृतिजैस्त्रिभिर्मुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्ती" ति न वदेत् तस्यैवाप्रसिद्धत्वाद् गुणावताराश्च भगवतोप्राकृता न भवेयुः, किञ्च सत्त्वस्य सत्त्वसम्बन्धः कथं भवेद् भेदाभावेतस्ते त्रयो गुणा ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिता अतः सच्चिदानन्दधर्मत्वाद् यदा ब्रह्मादिष्वितरापेक्षा तदेतरभजनं सति सत्त्वं चिति रज आनन्दस्तमसीति भगवांस्तु कदाचिद् विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेन गृह्णाति यदि न केवलः समायाति, प्रकृते तु केवलोपीन्द्रेण भ्रमात् तथा कृष्णवद् बभावित्येव वदेदत इन्द्रो विष्णुं भगवन्त जानातीति स्वज्ञानानुसारेणाह, यदा भगवत्सत्त्वं सर्वरजस्तमोनाशकं तदा तदाश्रित्य स्थिता माया तत्र दुरापास्तेत्याह मायामयोयमिति, अयं सर्वोपि गुणानां सम्यक्प्रवाहो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपो मायामयो मायाप्रचुरो गुणानां कारणभूतत्वान् मायायाः, तत्र प्रमाणमाहायमिति, अन्यथा कथं दृश्यः स्यात् ? तस्मात् प्राकृतमेवैतत् सर्वमप्राकृत तु न दृश्यत इति तस्मादयं प्राकृतोपि प्रपञ्चस्ते ग्रहणस्य ज्ञानस्यानुबन्धरूपो न भवत्यतः प्राकृतदृष्टयायमपकारं कृतवानयमुपकारं कृतवानिति तव न सम्भवति ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के गुण निर्दुष्ट हैं यह कहने के लिए पहले दण्ड करने के कारण प्राप्त हुआ क्रोध भगवान् में नहीं है और उस (क्रोध) का कारण और फल भी उनमें नहीं है। इस प्रकार हेतु और फल के दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक 'विशुद्धसत्वं'-से भगवान् में क्रोध के हेतु का अभाव सूचित करते हैं। वास्तव में तो भगवान् सब की आत्मा, सब के कर्ता और प्रेरक हैं। इस लिए उनमें क्रोध की सम्भावना नहीं हो सकती आविर्भूत होकर की गई लीला भी क्रोध का कारण नहीं है क्योंकि क्रोध के कारण-भूत, रजोगुण और तमो गुण आप में नहीं है। आप का धाम-स्थान तथा स्वरूप-रजोगुण तमोगुण से ही केवल नहीं सत्वगुण से भी छुआ हुआ नहीं है। विशुद्ध सत्व वसुदेव है, और वसुदेव में अवतार लेने के कारण भगवान् वसुदेव कहे जाते हैं। भगवान् का धाम, 'तेज' भी सात्विक ही है अथवा सत्व ही भगवान् का तेज है। यह सत्व किसी अन्य शुद्ध सत्व से मिश्रित नहीं है जीवों में रहने वाला सत्व घटता बढ़ता रहता है 'न्यूनाधिक' होता है यह सत्व तो परमकाष्ठापन्न सर्वोत्कृष्ट ही है और शान्त है। परम शान्ति सत्वका उत्कर्ष है।

यद्यपि ज्ञान आदि भी सत्व के अन्य भेद हैं तो भी वे थोड़े-विक्षेपरूप हैं। यदि ज्ञानादिक अल्प विक्षेपक न होते तो इन्द्र कैसे बोध करता कैसे त्याग करता, और भगवान् का भजन भी कैसे करता। इसलिए शान्ति ही सत्व की पराकाष्ठा है।

शङ्का—अज्ञान में भी शान्ति की पराकाष्ठा होती है क्योंकि वृक्ष आदि और सुषुप्ति (गाढनिद्रा) में सभी परम शान्ति का अनुभव करते हैं ? इस के समाधान में कहा है कि 'तपोमय' आपका धाम तपोमय है। तप विहित ज्ञान रूप और तेज रूप होने से, वह तेज विहीन प्राणियों को सन्ताप

करता है। भगवान् का तप तो (यस्य ज्ञानमयंतप) इस श्रुति के अनुसार ज्ञान-मय है ही। इसलिए मूर्खता में होने वाली उपरतिरूप शान्ति यहां अभिप्रेत नहीं है क्यों कि 'शम उपशमे' उपशम अर्थ वाले शम धातु से शान्ति शब्द बनता है यहां उप-उपसर्ग समीप का अर्थ का बोधक है। तात्पर्य यह है कि जिस शान्ति के द्वारा आत्मा के समीप शान्त रहता है वही यहां शान्त कहा गया है न कि शान्तिमात्र में निरोध अथवा अज्ञान के पास रहने वाला शान्त कहा है इसी अभिप्राय से मूल में तपोमय विशेषण दिया है।

शङ्का—* गीता में कहा गया है कि गुणों में उपमर्द्य-उप मर्दक भाव होने के कारण ये आपस में कोई एक प्रबल होकर अन्य दोनों गुणों को दबा देते हैं। इस प्रकार, जैसे जब, सत्व गुण प्रबल होगा तो रजोगुण तमोगुण-दोनों का बाध हो जाएगा। इसी तरह रजोगुण प्रबल होकर सत्व को भी दबा देगा। वहीं यह भी कहा है कि इन गुणों से शून्य-बाहर कोई वस्तु नहीं है। इस कारण से यहां कहे गए सत्व को विशुद्ध अथवा केवल सत्व कैसे माना जाय ? इस के उत्तर में कहते हैं कि यह सत्व-ध्वस्तरजस्तमस्कम्-रजोगुण तमोगुण का नाशक है। सारे लोकों के रजोगुण तमोगुण का नाश करने वाले उस सत्व का नाश कोई कैसे कर सकता है। केवल आधिदैविक सत्व ही उस सत्व का उपमर्दक हो सकता है। इस व्यवस्था से उस आधि-दैविक सत्व को सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि वे आधिदैविक गुण अप्राकृत हैं सच्चिदानन्द भगवान् के धर्म रूप हैं और प्राकृत गुणों से भिन्न हैं। यदि इन प्राकृत गुणों से वे आधिदैविक गुण भिन्न नहीं होते तो गीता में-इन प्राकृत गुणों से मुक्त कोई सत्व पृथिवी आदि में नहि है-ऐसा नहीं कहा जाता: क्योंकि ऐसे सत्वके सर्वत्र सिद्ध होने से हेत्वाभावदूषण होजाता है। इस लिए भगवान् का सत्व अप्राकृत और सच्चिदानन्द धर्म रूप है। इसी कारण से भगवान् के गुणावतारों को भी अप्राकृत कहा गया है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सत्व मे प्राकृत अप्राकृत का भेद नहीं होतो एक सत्व का दूसरे सत्व के साथ सम्बन्ध कैसे हो सके। इस से भी भगवान् के अप्राकृत गुण प्राकृत गुणों से भिन्न ही हैं।

वे तीन गुण ब्रह्मा विष्णु और शिव में प्रतिष्ठित होकर रह रहे हैं। सत् में सत्व, चित् में रजोगुण और आनन्द में तमोगुण की स्थिति है। तमोगुण की प्रबलता में सब की विस्मृति हो जाने के कारण आनन्द का अनुभव होने से तमोगुण आनन्द का धर्म है। ब्रह्मादि देवों को जब अन्य गुण की अपेक्षा होती है तब वे विष्णु शिव आदि का परस्पर भजन करते हैं। भगवान् तो कभी विष्णु के सत्व का अवलम्बन (आधार) रूप से ग्रहण करते हैं और कभी सत्व का आधार न लेकर केवल ही अवतार धारण करते हैं। यहाँ तो ये भगवान् सत्व को आधाररूप से ग्रहण न करके केवल ही प्रकट हुए हैं तो भी इन्द्र तो भ्रम से यही जान रहा है, कि श्रीकृष्ण सत्व का अवलम्बन लेकर ही प्रकटे हैं। नहीं तो गर्गाचार्यजी-यह पहले कभी कहीं पर वसुदेव से उत्पन्न हुआ है-ऐसा नहीं कहते; क्योंकि वे तो सदा वसुदेव में प्रकट होते हैं तो फिर पूर्व पक्ष के अनुसार गर्गाचार्य का यह कथन असङ्गत हो जाता है इस-लिए यहां भगवान् केवल ही प्रकट हुए हैं किन्तु इन्द्र भ्रम से सत्व का आश्रय लेकर प्रकट होना मान रहा है।

---

* रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत। रजस्सत्वं तमश्चैव०। न तदस्ति०।

कृष्ण को इन्द्र पहले तो भ्रम से साधारण मनुष्य (बालक) ही मान रहा था । अभी यहां सत्व का आश्रय लेकर अवतरित हुए मानता है । इस प्रकार इन्द्र के पहले भ्रम की अपेक्षा यह भ्रम उत्तम है इसी से इन्द्र कृत भगवान् की स्तुति है । यदि ये केवल न होते, सत्व का आधार लेकर ही प्रकट हुए होते तो सारे गोकुल को व्यापि वैकुण्ठ में लेजाने में समर्थ नहीं हो सकते । कभी कभी विष्णु का भी ऐसा सामर्थ्य कहीं पर कहा गया है * "सगुण विशुद्ध सत्वरूप ब्रह्म विष्णु की तरह सुशोभित हुआ" यहां भी विष्णु का ही अथवा उनके गुणावतारों का और कहीं पर भगवान् का भी ग्रहण हो सकता है । यदि इन्द्र कृष्ण को केवल अवतारी समझ लेता तो कृष्ण की तरह शोभित होना वर्णन करता । इस कारण इन्द्र अपने ज्ञान के अनुसार भगवान् को विष्णु जान कर यह कह रहा है ।

जब भगवान् का सत्व सारे रजोगुण तमोगुण का नाशक है तो गुणों का आश्रय लेकर रहने वाली माया तो वहां ठहर ही कैसे सकती है । इस लिए कहते हैं कि देव पशु पक्षि मनुष्य रूप से चलता यह सारा गुणो का प्रवाह माया मय माया से प्रचुर है; क्योंकि गुणो का कारण माया ही है । इसी लिए मूल में-अयं-यह दिखाई देने वाला प्रवाह-ऐसा प्रमाणरूप से कहा है । यदि यह प्रवाह माया प्रचुर नहीं हो तो दृष्टि गोचर ही नहीं हो सके अतः दिखाई देने वाला यह सब मायामय-प्राकृत-है अप्राकृत पदार्थ के दर्शन नहीं होते । इस कारण यह प्राकृत प्रपञ्च-(जगत्)-आपका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । इस लिए प्राकृत-दृष्टि से-भगवान् ने अपकार किया, उपकार किया-यह कहना आप में सम्भव नहीं हैं ।।४।।

लेख—'विशुद्धसत्वं'-इस श्लोक की व्याख्या में 'परमार्थतस्तु' इत्यादि पदों का आशय यह हैं । भगवान् अवतार समय में ही सत्व का आधार रूप से ग्रहण करते हैं । फिर मूल रूप में भी क्रोध का अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् तो वास्तव में सबकी आत्मा सब के कर्ता और प्रेरक हैं । इसलिए उनमें क्रोध की सम्भावना ही नहीं है ।

'सत्वेनाप्यसम्पृक्तम्'-अर्थात् न्यूनाधिक भाव को प्राप्त होने वाले सत्व से 'वह विशुद्ध सत्व' मिला हुआ नहीं है भिन्न है ।

तपोमयम्-सामीप्य में भेद होता है । इसलिए आत्मा का सामीप्य सम्भव नहीं है । तब 'निरोधेन' इस पद से दूसरा पक्ष कहते हैं कि सारी इन्द्रियाँ का निरोध करने से । इस कथन से सुषुप्ति (निन्द्रा) में कही शान्ति का भी निषेध हो गया । इस तरह इसका परमात्मा के समीप ले जाने वाली शान्ति-यह अर्थ हुआ । परमात्मा तो-ज्ञाज्ञौ द्वावजौ-इस वाक्य के अनुसार ज्ञानवान ही है-इससे अज्ञान की समीपता का भी निषेध कर दिया । सुषुप्ति (निद्रा) में तो परमात्मा में लय होने के कारण सामीप्य रहता ही नहीं । इसलिए मूढ़ता से होने वाली शान्ति अग्राह्य है क्योंकि यह मूढ शान्ति अर्थ रूढि से हैं । पराकाष्ठा रूप शान्ति योगिक अर्थ है ।

---

* ब्रह्मेव सगुणं बभौ

लोकानाम्–पहले कहे वाक्य प्राकृत सत्व विषयक है–क्योंकि– हे धातः आपका सत्व–इत्यादि श्लोक व्याख्या में भगवान् के सत्व को अप्राकृत सिद्ध कर चुके हैं।

'सति इति'–सत् और चित् सत्व और रजस् में क्रम से रहने के कारण वे उनके धर्म है। तमस् आनन्द का धर्म है। तमोगुण में आनन्द इसलिए कहा गया है, कि तमस् सब की विस्मृति कर देता है। इससे उसमें आनन्द का अनुभव होता है और आनन्द का स्वरूप ही ऐसा है, कि उस में अन्य कुछ भी जानने योग्य विषय रहता ही नहीं।

भगवांस्तु–गुण के अवतार ब्रह्मा; विष्णु, शिव में ऐसा सामर्थ्य नहीं है–यह इस 'तु' शब्द से सूचित किया गया है।

'आधारत्वेन', देह रूप से अर्थात् अप्राकृत गुण तीनों का स्वरूप और प्राकृत गुण तीनों के गुण हैं–यह विभाग है आधारात्वेनैव–यहां 'एव' कार से यह सूचित किया है, कि आवेश वाले देह रूप से भेद रूप से नहीं। विष्णु तो सत्वात्मक होने से गुण रूप है सगुण नहीं है। इसलिए 'तदवताराः–सत्वदेह को ग्रहण करने वाले मत्स्य आदि अवतार से तात्पर्य है। जब भगवान् अंशावतार से प्रकट होते हैं तब भगवान् कृष्ण भी सत्व देह को धारण करते हैं इस प्रकार से भगवान् 'कृष्णश्च एतेवा गृह्यन्ताम्'–यह अन्वय–सम्बन्ध है यद्यपि यहाँ भगवान् अंशावतार रूप से नहीं प्रकटे हैं, तो भी इन्द्र रजोगुण तमोगुण के आश्रय वाली अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के धाम (स्थान) को विशुद्ध सत्व कहता है। गुण प्रवाह के मायामय होने में प्रमाण है 'अयम्' अन्यथा, यदि माया की प्रचुरता न हो और केवल ब्रह्म ही हो, तो, यहाँ माया शब्द का अर्थ प्रकृति है। 'तस्मात्' इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि दृश्य होने के कारण बन्धन करने का स्वभाव वाला यह प्राकृत प्रपञ्च (जगत्) आपके ज्ञान का अनुबन्धन नही कर सकता–आप के ज्ञान को अपना विषय नही कर सकता है इसलिए एक प्राकृत की तरह आपमें क्रोधादिक का सम्भव नहीं है।

योजना—व्याख्या में–'ज्ञानादय' से लेकर 'भजेत्' तक ग्रन्थका तात्पर्य यह है। शङ्का–परम शान्ति को ही सत्व का उत्कर्ष कहना उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञान तथा गीतोक्त सग * त्याग, धैर्य आदि में सत्व का उत्कर्ष उचित है। इस के समाधान में कहा है कि ज्ञानादिक अल्प विक्षेप रूप हैं और सत्व के अवान्तर भेद हैं। वे सत्व का उत्कर्ष रूप नहीं है, सत्व का उत्कर्ष रूप तो परम शान्ति ही है। इसलिए शान्ति रहित को ज्ञानादिक भी विक्षेपरूप ही है। इन्द्र सात्विक है और 'सत्वात्संजायते', सत्व के कारण उसे ज्ञान भी हुआ किन्तु वह विक्षेप-रूप ज्ञान शान्ति प्राप्त न होने के कारण उपयोगी नहीं हो सका। इसी से वह (इन्द्र) कभी तो भगवान् का बोध करता है (भगवान् मानने लगता है) कभी भूल कर वर्षा आदि उपद्रव करने लगता है और कभी–विशुद्ध सत्वं इस प्रकार स्तुति करने लगता है। इस से इन्द्र का किया हुआ बोध भगवत्त्याग और भजन–ये सब अस्थिर होने के कारण विक्षेपरूप ही हैं। इसीलिए आगे पराजित के प्रसङ्ग में उस (इन्द्र) को फिर मोह हो जाएगा।

'तपोमयं', पद की व्याख्या में, 'न तु शान्ति मात्रे निरोधेन' इत्यादि ग्रन्थ का अभिप्राय यह है, कि

---

* मुक्त संगोऽनह वादी।

इन्द्रियों के निरोध मात्र से प्राप्त हुई शान्ति से ही–'यह शान्त पुरुष है'–। पुरुष के शान्त बन जाने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, किन्तु आत्मा के समीप स्थिति होनेपर हि शान्त पद की चरितार्थता शास्त्रसम्मत है। वह आत्मा के पास स्थिति ज्ञान के द्वारा होती है इसलिए, 'तपोमयं' इस विशेषण से अज्ञान से होने वाली शान्ति का निवारण किया है इस कथन मे यह तपोमय विशेषण ही प्रमाण है क्योंकि 'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुति में तप को ज्ञानरूप कहा है। इसलिए लोक में शान्ति शब्द से शान्ति मात्र का ग्रहण हो जाने पर भी यहाँ तो ज्ञान से प्राप्त हुई शान्ति का ही ग्रहण है।

'यदा ब्रह्मादिषु इतरा पेक्षा'–इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मा को सत्व अथवा तमस, की अपेक्षा होती है, तब वह क्रम से विष्णु अथवा शिव का भजन करते है इसी तरह अन्य गुणों को, अपेक्षा होने पर विष्णु, ब्रह्मा और शिव का तथा शिव भी विष्णु और ब्रह्मा का भजन करते हैं इसी कारण से पुराणो मे विष्णु † को शिव का और शिव को विष्णु का हृदय कहा है। यह गुणावतार विष्णु और शिव के परस्पर भजन की व्यवस्था है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण तो गुणावतार ब्रह्मा–विष्णु शिव–इन तीनो के अवतारी परब्रह्म परम काष्ठापन्न है। यही व्याख्या में–'भगवांस्तु कदाचित्', इत्यादि पदों से कहा है। यहाँ तो यह केवल निरावरण पूर्ण पुरुषोत्तम शुद्ध सत्व का आधार न लेकर ही प्रकट हुए है। यदि यह अवतार भी विशुद्ध सत्व के आश्रय में होता तो गर्गाचार्यजी का–'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातः', कथन असङ्गत हो जाता क्योंकि सदा ही शुद्ध सत्व का, आश्रय रहने पर, 'क्वचित् जातः क्वचित् न जातः–क्वाचित्क प्राकट्य नहीं कहते। कारण कि–'विशुद्ध सत्वं वसु देवशब्दितम्'–वसुदेव शब्द का अर्थ ही तो शुद्ध सत्व है।

शङ्का—यहाँ वसुदेव शब्द से शूर पुत्र का तात्पर्य है। इसलिए शूरपुत्र वसुदेव जी के घर कभी पुत्र होने का कथन उचित ही तो है। इस के उत्तर में कहा है, कि वसुदेव आधिदैविक विशुद्ध सत्वरूप है और विशुद्ध सत्व में सदा ही आविर्भाव का स्वीकार है। अतः क्वाचित्क प्राकट्य कथन असङ्गत ही बना रहता है इसलिए कभी शुद्ध सत्व में आविर्भाव होता है और जब पूर्णावतार होता है, तब विशुद्ध सत्व में आविर्भाव नहीं होकर केवल ही होता है–यह तात्पर्य है। इस प्रकार यहाँ यह पूर्णावतार होने से सत्व में आविर्भाव नहीं है किन्तु इन्द्र भ्रम से इसको भी सत्व में ही आविर्भाव जान रहा है। जब कृष्णावतार पूर्णावतार नहीं होता है, तब सत्य के व्यवधान–(आधार)–होने के कारण कृष्ण सगुण ग्रहण करने चाहिए–तभी, 'ब्रह्मेव सगुणं बभो'-सगुण कहना सङ्गत होता है। नहीं तो ब्रह्म–विष्णु-पूर्ण का उपमान और सगुण--दोनों कथन विरूद्ध हो--असङ्गत हो जाते हैं। तब तो, 'कृष्ण वद् बभौ' ऐसा अनन्वय करते। इस लिए सगुण पद से विष्णु तथा गुणावतारों का ग्रहण ही है।

'प्राकृतमेवैतत सर्वम्'–इन पदों का अभिप्राय यह है, कि यह दृश्यमान जगत् प्रकृतिसम्बन्ध वाला है इस का समवायि कारण प्रकृति नहीं है इसीलिए प्राकृत इन्द्रियाँ इस को देख सकती हैं क्योंकि 'यक्ष बलि न्याय' से–(जैसा देव वैसी पूजा) जगत् भी प्रकृति का सम्बन्धी और इस को देखने वाली इन्द्रियां भी प्राकृत--(प्रकृति के सम्बन्ध वाली) हैं। वास्तव में दृश्यमान जगत् ब्रह्म समवायि कारण होने से मायिक मिथ्या--नहीं है--यह निष्कर्ष है। लीला प्रपञ्च में जहां प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है जो अप्राकृत है, वह प्राकृत इन्द्रियों से ग्रहण भी नहीं किया जासकता। व्याख्या में 'प्राकृत' शब्द की प्रकृति शब्द से शैषिक (सम्बन्ध) अर्थ में अण् प्रत्यय द्वारा हुई है। इसलिए औपनिषद पुरुषः (उपनिषदों से जाना जाएगा) चाक्षुषं रूप (नेत्रों से ग्रहण किया जाए) की तरह प्रकृति से सम्बद्ध प्राकृत शब्द का अर्थ है।

---

† शिवस्य हृदयं विष्णु विष्णोश्च हृदयं शिवः।

श्लोक—कुतो नु तद्धेतव ईश मन्युलोभादयो येबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् विभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥५॥

श्लोकार्थ—हे ईश्वर जब आपमें अज्ञान और अज्ञान से होने वाला देहसम्बन्ध नहीं है, तव अज्ञान और शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दूसरे शरीर के बन्धन में डाल देने वाले और अज्ञान के चिन्हभूत ये क्रोध लोभ आदि भाव भला आप में कैसे रह सकते हैं । तथापि आप धर्म की रक्षा और दुष्टों का निग्रह करने के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हो । आप भगवान् हैं । इस लिए क्या करने से क्या होगा ? इस का ज्ञान आप को ही है ॥५॥

सुबोधिनी—यद्येषा वैषम्यबुद्धिरेव नास्त्यन्येषामपि तादृशबुद्धिनाशकत्वात् तदा वैषम्यबुद्धिकृतानि कार्याणि क्रोधादीनि न भवन्तीति किं वक्तव्यमित्याह कुत इति, न्विति वितर्के तद्धेतवो ग्रहणहेतवो मायाहेतवो वा कुतो भवेयुः ? किञ्च हे ईश यदि तवापि ते स्युस्तदा तत्पारवश्यादीशत्वं नोपपद्येत यद्यपि बहव एव दोषा

टिप्पणी—इन्द्र स्तुति की व्याख्या में–दशभिः प्राणश्लोकैः—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है–इन्द्र ने भगवान् का अपराध किया है । इस कारण उस के आधिदैविक सर्वस्व और आधिदैविक दश प्राणों का तिरोभाव (नाश) होजाने से वह मृतप्राय सा होगया । इस लिए अब आधिदैविक प्राणों को प्राप्त करके अपने जीवन लाभ के लिए दशविध प्राणों की संख्या के अनुसार दश श्लोकों से स्तुति करता है । यह स्तुति के दश श्लोकों की संख्या का तात्पर्य कहा है । शङ्का–'गोवर्धने वृति शैले'–(गोवर्धन पर्वत को उठा लेने पर) इस वाक्य से जिस तरह भगवान् ने क्रिया शक्ति प्रकट इन्द्र को अभी बोध कराया, इसी तरह पहले ज्ञान शक्ति प्रकट करके बोध क्यों नहीं करा दिया । यदि पहले ज्ञान शक्ति का भी बोध करा देते तो, अभी और आगे भी भगवान् का महात्म्य जान कर, अपराध नहीं करता यद्यपि यह माना, कि इन्द्र भगवान् की भुजारूप होने से, क्रियाशक्ति प्रधान है, तो भी प्रयोजन सिद्धि के लिए उसमें ज्ञान शक्ति का आविर्भाव भी कर देना उचित ही था । इस के उत्तर मे कहते हैं, कि तथाविध यह इन्द्र हेतुक कर्म का सम्बन्धी होने से, वेदबाह्य है, ज्ञान का अधिकार उस को नहीं है तभी इस ने गोओं आदि का नाश करदेने कि आज्ञा मेघों को दी थी फिर भगवान् ने प्रयोजन के लिए जितनी क्रियाशक्ति प्रदान की थी उसके उपयोगी ज्ञान भी प्रदान किया, तभी इन्द्र को ज्ञान हुआ कि भगवान् का अपराध करने से उसके चारों पुरूषार्थ और भगवत्प्रदत्त ऐश्वर्य वीर्य आदि छः गुणों का तिरोधान होगया है । इन दशों की सिद्धि के लिए दश संख्या के श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है यह कारिका में कहे, 'पुरूषार्थ सिद्ध्यर्थम्'–इत्यादि पदों का स्वारस्य है ।

लेख—पुरूषार्थ और धर्म आदिगुणों की उत्कर्षयुक्त सिद्धि की अभिलाषा से इन्द्र छः ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् की स्तुति करता है । स्तुति के इन दश श्लोकों में चार श्लोक चारों पुरूषार्थ की और छः श्लोक ऐश्वर्य आदि गुणों की सिद्धि के लिए हैं । इस अभिप्राय से दस श्लोकों से स्तुति करता है ॥४॥

निराकर्तव्यास्तथापि प्रकृते द्वयं प्रतिभात्यपकारिणि कोपो द्रव्ये लोभश्चेत्यत आह मन्युलोमादय इति, मन्यू राजसो लोभस्तामस इति वा, नन्वेते दृष्टाः कथं निराक्रियन्ते ? तत्राहाबुधलिङ्गभावा इति, अबुधानामज्ञानां लिङ्गभावो लिङ्गत्वं येषां ते ह्यज्ञानिनं ज्ञापयन्ति न तु सर्वज्ञा धीरास्तज्ज्ञापका वातः श्रुतिविरोधान् न तेङ्गीकर्तव्याः, न हि क्रोधादयो भगवति कैश्चिदनुभूताः कार्येण कल्पनं त्वन्यथाप्युपपद्यते ये प्राकृतेषु क्रोधादिभिर्जायन्ते ते भगवतीति स्वत एव न हि दोषेणैव कार्यं भवति गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यं दुःखादप्यश्रूण्यानन्दादप्यश्रूणि तथा प्रकृतेपि क्रोधादपि निग्रहोनुग्रहादपि निग्रह इत्यतः प्रमाणयुक्तिबाधान् न भगवति क्रोधादयः, एवमपि सति भगवान् दण्डं बिभर्त्यतो ज्ञायते धर्मरक्षार्थं खलानां निग्रहार्थं च तत् करोतीति लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः, एकत्र फलाभावोपरत्र लौकिकसाधनाभाव इति साधनं भगवानेव तत्र साधनं स्वरूपमेवेतिसिद्धान्तः, फलं अप्रतिपन्नमन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यात्, यदि भगवानेव न कुर्यात् पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यात्, स च सर्वेषा श्रेयोरूपः, किञ्च यदि स्वानुभाव न प्रकाशयेद् गोवर्धनोद्धरणादिना तदा खला न निगृहीताः स्युः, अत्र दण्डद्वयं पूर्वस्थितस्य नाशोधिकताडन च, एकस्तु दण्डत्वेन न व्यवहियत इत्येकवचन. एव कृत एवैतद् भवतीति तवैव ज्ञानं नान्यस्येतिभगवानित्युक्तं, अतस्तस्य फलसाधकत्वेन प्रमाणान्तरं न मृग्यम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् दूसरों की बुद्धि की विषमता (दोष) का नाश करते हैं । उन में विषय बुद्धि और उस से होने वाले (परिणाम) कार्य क्रोध आदि का सम्भव कैसे हो सकता है। भगवान् में क्रोध, लोभादि का नितान्त (सर्वथा) अभाव ही है । यह–'कुतो नु'–इस श्लोक से कहते हैं। 'नु' यहाँ वितर्क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ग्रहण और माया के कार्य (परिणाम) क्रोधादि आप (भगवान्) में हो ही नहीं सकते। हे ईश (सर्वसमर्थ) यदि आप में भी क्रोधादि हो. तब तो आप भी उन के हेतु मायादि के पराधीन होकर ईश्वर ही न रहें, आप तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर है। सभी आप के वश में हैं आप किसी के वशीभूत नहीं हैं।

दूर किए जाने योग्य दोष यद्यपि बहुत हैं, तो भी यहां प्रकरणगत दो दोष–अपकारी इन्द्र पर कोप और यज्ञ के द्रव्य-पदार्थों का लोभ–स्पष्ट दिखाई देते हैं । इसी अभिप्राय से 'मन्युलोमादयः'–मूल केवल दोनों का ही निर्देश है । क्रोध राजस और लोभ तामस है। शङ्का–ये दोनों दोष तो स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस लिए प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का निषेध कैसे हो सकता है ? इस के उत्तर में कहते हैं कि ये अज्ञानी पुरूषों की अज्ञानता के चिन्ह–सूचक–हैं । अर्थात् क्रोध करना और लोभी होना-यह अज्ञानी पुरूषों के लक्षण हैं सर्वज्ञ और धीरों के ये चिन्ह नहीं हैं। श्रुतिविरोध के कारण क्रोध लोभादि दोष भगवान् में नहीं मानने चाहिए । किसी का भी यह अनुभव नहीं है कि भगवान् में क्रोध लोभ दोष हैं केवल कार्य अथवा परिणाम इन्द्र याग भङ्ग आदि से भगवान् में क्रोध आदि की कल्पना कर लेना तो अनुचित ही है क्योंकि याग भङ्ग आदि कार्य, क्रोध के बिना भी हो सकते हैं । प्राकृत पुरूषों के जो कार्य क्रोधादि के द्वारा होते दिखाई देते है वे भगवान् में स्वभाव से ही स्वतः ही हो जाते हैं। ऐसे कार्य, दोष से ही हो सकते हैं, गुण से नहीं हो सकते–यह तो नियम से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दुःखरूप दोष से जैसे आँसू आते है, वैसे आनन्दरूप गुण से भी तो, आँसू आते हैं । इस तरह यहाँ भी इन्द्र पर क्रोध से भी निग्रह और अनुग्रह से भी निग्रह संभव होसकने के कारण से भगवान् में क्रोधादिक के होने में कोई भी प्रमाण नहीं है और न कोई युक्ति ही है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान् मे क्रोधादि नहीं हैं।

क्रोधादि के न होने पर भी भगवान् जो दण्ड करते हैं-इस से ज्ञात होता है, कि धर्म की रक्षा और दुष्टों के निग्रह के लिए ही भगवान् दण्ड देते हैं । इसलिए लौकिक और भगवान् में यह अन्तर है, कि लौकिक दण्ड का फल धर्मरक्षा नहीं होता और भगवान् में लौकिक (दण्ड का) साधन रूप क्रोधादि होते नहीं हैं । साधन भगवान् ही है और वहां भगवान् का स्वरूप ही साधन है । यह सिद्धान्त है । फल भ्रमयुक्त है निश्चित नहीं है । नहीं तो फल के अभाव में कोई किसी काम में प्रवृत ही नहीं हो । भगवान् यदि इस तरह याग भङ्ग नहीं करते, तो पाखंड-के प्रचार के द्वारा धर्म का नाश हो जाए । धर्म तो सब का कल्याण कारक है और भगवान् यदि गोवर्धन धारण करके अपना प्रभाव प्रकाशित नहीं करते तो दुष्टों का निग्रह नहीं होता । यद्यपि यहाँ-पूर्वप्रचलित केन्द्र के यज्ञ स्वामित्व का नाश और मान का भङ्ग रूप अधिक शिक्षा-ये दो दण्ड हैं, तोभी याग भङ्ग रूप एक दण्ड की दण्ड रूप में गणना न करके एक (मानभङ्ग) को ही दण्ड रूप मान कर, मूल श्लोक में-दण्ड-एक वचन प्रयुक्त हुआ है । ऐसा करने पर ही यही होता है-यह ज्ञान आप-को ही है क्यों कि आप भगवान् हैं । भगवान् हो वही ऐसा जान सकता है । इसलिए उस के फल की साधकता में किसी दूसरे प्रमाण के अन्वेषण की अपेक्षा रहती ही नहीं ॥५॥

लेख—व्याख्या में-फल भावः-इत्यादि का तात्पर्य यह है कि दण्ड के फल धर्मरक्षा और दण्ड के लौकिक कारण क्रोध का अभाव है । राजा के दण्ड का भी धर्मरक्षा फल होता है । याग भङ्ग धर्म की रक्षा के लिए है और गोवर्धन के उद्धरण का दुष्ट निग्रह फल है । यागभङ्ग करने से याग के स्वामित्व का अभिमान दूर किया और गोवर्धन के उद्धरण का मान भङ्ग रूप अधिक शिक्षा फल है ।

योजना—व्याख्या में 'अनु ग्रहादपि निग्रह' अनुग्रह से भी निग्रह किया जाता है क्योंकि 'देवस्य कोपोपि वरेण तुल्यः' देव का क्रोध भी वरदान के बाराबर है । लौकिक 'भगवतोः एकत्र अपरत्र'-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि लौकिक में दण्ड देने की इच्छा वाला भी यदि असमर्थ हो, तो क्रोध का फल दण्ड नहीं होता है और भगवान् में लौकिक दण्ड का कारण क्रोध के न होने पर भी केवल अनुग्रह से ही भगवान् दण्ड देते हैं । शङ्काः-भगवान् किसी को दण्ड देते हैं तो उसकी सम्पत्ति का नाश अथवा कंस आदि की तरह उस की मृत्यु हो जाती है । इसलिए फल से साधन का अनुमान करने पर तो अनिष्ट फल का साधन क्रोध ही सिद्ध होता है अनुग्रह का अनिष्ट फल कैसे हो सकता है । इस के समाधान में कहते हैं कि 'फल भ्रमप्रतिपन्नम्', सम्पत्ति आदि का नाश अथवा मरण का दण्ड फल नहीं है । किन्तु मुक्ति ही दण्ड का फल है, जो भगवान् के द्वारा उसे आगे दी जाएगी इसलिए सम्पत्ति के नाश अथवा मरण को दण्ड का फल भ्रम से समझा जा रहा है ।

शङ्का—भगवान् को यदि कंसादिकों के लिए भी मुक्ति देना अभीष्ट है, तो फिर भक्तों की तरह ही मुक्ति न देकर मार ही कर उन्हें मुक्ति क्यों देते हैं । इस के उत्तर में कहते हैं कि 'अन्यथा प्रवृति र्नस्यात्' कि दुष्कर्म करने वाले दुष्टों को भी भक्तों की तरह ही मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति और शरीर का नाश न करें तो फिर सन्मार्ग में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी क्योंकि सज्जनता और दुर्जनता का फल जब समान ही होगा तो कोई सन्मार्ग में क्यों चलेगा ? 'यदि भगवानेवं न कुर्यात्', और यदि भगवान् दुष्कर्म करने वालों को भी भक्तों की तरह सुख से हि मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति अथवा शरीर का नाश न करें तो फिर अनिष्ठ फल की प्राप्ति का भय न रहने से सब ही निषिद्ध कर्म करने लग जाँए और तब पाखण्ड की प्रवृति से धर्म का नाश ही

श्लोक—पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वन् जगदीशमानिनाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—आप जगत् के पिता, गुरु, स्वामी और दुर्निवार दण्ड–धारी काल रूप हैं। अपने आप को ही लोकों का ईश्वर मानने वाले मुझ जैसे मूढों के मिथ्या अभिमान को दूर करके उनके कल्याण और मोक्ष की इच्छा से ही समय समय पर स्वेच्छा से अवतार धारण कर दण्ड देते हो ॥६॥

सुबोधिनी—एवं श्लोकद्वयेन दण्डः कृतः परं प्रयोजनार्थमिति निरूपितमिदानीं शिक्षैवैषा न तु दण्ड इत्याह पितेति, पुत्रा हि पितृभिस्ताड्यन्ते गुरुभिश्च शिष्या राजभिश्च प्रजाः कालादिभिश्च पुरुषा न चैते दण्डं कुर्वन्ति किन्तु शिक्षामेव, त्वं तु सर्वेषां सर्वरूपो जनकत्वात् पिता वेदकर्तृत्वाद् गुरुः सर्वेषामेव जगतामधीशः स्वामी ब्रह्मादीनामप्यधिकारसम्पादकोतो-धीशो दुरत्ययः कालो मृत्युः कालमृत्युर्हि न केनाप्यति-क्रान्तो भवति, उपात्तो दण्डो येन स यमः, परलोकेपि दुःखदाता तवैवाधिकारिणस्त इति कर्मकारणात् प्रेरणाद्वातः सर्वत्राधिकृतो भवानेवेतीच्छातनुभी राजा-दिशरीरैर्लोकानां हितायैव दण्ड समीहसे जगदीशमानिनां मानं च विधुन्वन्, इच्छातनवो मत्स्यादयोपि, पुरुषः पिता मत्स्यो गुरुरधीशः कूर्मो वराहश्च मृत्युदण्डधारिणौ नृसिंहवामनौ तथान्यत्रापि ज्ञेय, चकारात् मोक्षाय च तेषां जगतश्च ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार दो श्लोकों से यह निरूपण किया, कि भगवान् ने प्रयोजन के लिए ही इन्द्र पर दण्ड किया है। अब 'पिता'–इस श्लोक से यह कहते हैं कि यह तो इन्द्र के लिए शिक्षा ही की है। दण्ड नहीं किया है। पिता पुत्रों को, गुरु शिष्य को, राजा प्रजा को और काल आदि पुरुषों को जो ताड़ना देते और मारते भी हैं, किन्तु वह मारना दण्ड नहीं है, शिक्षा ही है। आप तो सब के सर्वरूप हो। जन्मदाता होने से पिता हो, वेद के कर्ता होने से गुरु और सब जगत् के अधीश्वर होने से स्वामी हो। ब्रह्मादि को भी अधिकार आप ही देते हो। इस लिए आप ही अधीश्वर हो। दुर्निवार काल–(मृत्यु)–हो। काल मृत्यु का अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है। दण्डधारी यमराज हो। परलोक में भी आपके अधिकारी देव हो दुःख देने वाले हैं इस प्रकार कर्म[1] कराने तथा कर्म करने[2] की प्रेरणा देने वाले[3] होने से[4] आप ही सब के अधिकारी हो और इच्छानुसार शरीर धारण करके राजा आदि का शरीर धर कर लोकों के कल्याण के लिए ही आप दण्ड करते हो और अपने को ही लोकों का ईश्वर मानने वालों के अभिमान को विशेषरूप से दूर कर देते हो। 'इच्छातनु' पद से मत्स्य आदि का ग्रहण है। पुरुषावतार पितारूप है, मत्स्यावतार गुरु रूप, कुर्म और वराह अवतार अधीश्वर, नृसिंह और वामन अवतार मृत्यु और दण्ड करने वाले

होजाए। 'स च सर्वेषां श्रेयोरूपः' वह धर्म तो सब का ही मङ्गल करने वाला है। यहाँ 'स' वह पद से–पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा–तस्य (उसकी) पद से पटोल की तरह धर्म नाश पद के अन्तर्गत धर्म शब्द का परामर्श है ॥५॥

हैं। इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। श्लोक में कहे 'च' शब्द का अर्थ यह है, कि उन को और जगत् को भी मुक्ति देने के लिए भगवान् शिक्षा देते हैं ॥६॥

श्लोक—ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य काले भयमाशु तन्मदम् ।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेनुशासनम् ॥७॥

श्लोकार्थ—जो मेरे समान अज्ञानी लोग अपने को जगदीश मान कर मदान्ध हो जाते हैं, उनका वह मद अन्त काल में आपके भयानक स्वरूप दर्शन करके तुरन्त ही–नशे की तरह–उतर जाता है, और वे अहङ्कार रहित होकर सन्मार्ग में लग कर आप का निरन्तर भजन करने लग जाते हैं। इसलिए आप की गोवर्धनोद्धरण आदि रूप चेष्टा भी दुष्टों के लिए शिक्षा रूप है ॥७॥

सुबोधिनी—तत्र हितं सन्दिग्धमिति स्वदृष्टान्तेन विवृणोति **ये मद्विधा** इति, अहमिन्द्रो यथैवमेव वरुणादयोऽज्ञा **मूर्खा** अन्यथा कथं नन्दं नयेयुः ? तेषामज्ञानस्थानमाह **जगदीशमानिन** इति, यद्यपि भगवदाज्ञा क्रियत इतिबुद्ध्यभावे सर्वमेव मौढ्यकृतं तथापि **जगदीशा** वयमित्यभिमानः स्पष्टः, मोहकार्यत्वेन तादृशाः, **काले स्वावसरेन्तकाले** भयरूपं त्वां **वीक्ष्याशु** शीघ्रं वयमीश्वरा इति **तन्मदं** परित्यज्यार्यमार्गं **नामस्मरणा**दिक तुलसीगोपीचन्दनादिधारणं च प्रपद्यन्ते, यथेदानीमहं नमस्कारे प्रवृत्त एवमपि केचित् प्रपद्यन्ते, यावत् पुनर्भयात्मकमपि त्वां न प्रपश्यति तावन्नार्यमार्गं प्रपद्यन्त इति धर्मरक्षार्थं दण्ड उपपादितः, प्रकर्षेण भजनं पुनः पूर्वावस्थान न गृह्णन्ति, **अपगतः स्मयो** गर्वो येषां, **आर्यमार्गस्य गर्व एव बाधकः,** अतो यद्यपि कौतुकार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं कृतं तथापि **खलानामनुशासनरूपं** जातमतस्तव चेष्टामात्रमपि सफलमेव ॥७॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के श्लोक में कहा है, कि भगवान् हित के लिए ही दण्ड देते हैं, वहाँ–किस हित के लिए दण्ड करते हैं–हित शब्द में सन्देह है। इस लिए इन्द्र अपने दृष्टान्त से–'ये मद्विधाज्ञा'- इस श्लोक से विवरण करता है. मेरी–(इन्द्र की)–तरह वरुण आदि भी अज्ञानी–(मूर्ख)–हैं। अज्ञानी नहीं होते तो वे नन्दरायजी को क्यों ले जाते ? उन के अज्ञान का कारण यह है, कि वे अपने आप को ही जगत् का ईश्वर माने बैठे हैं। यद्यपि वे भगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे है, तो भी उनको ऐसा ज्ञान नहीं है, इस कारण से, उनके सारे कार्य मूर्खता से ही होते हैं। तथापि उन्हें जगत् के स्वामीपन का अभिमान स्पष्ट है। मोह के कारण ही वे इतने अभिमानी हो रहे हैं। वे अन्त काल में भय स्वरूप आप के दर्शन करके उसी समय अपने स्वामी भाव के मद को छोड़ देते हैं और आर्य मार्ग–भगवान् का नाम स्मरण तथा तुलसी, गोपी चन्दन आदि धारण करने लग जाते हैं। कई तो मेरी तरह से आप को नमस्कार करने लग जाते हैं। परन्तु जब तक वे आप के भयानक स्वरूप का दर्शन नहीं करते, तब तक उनकी आर्य मार्ग में प्रवृति नहीं होती। इस से यही सिद्ध होता है, कि धर्म की रक्षा के लिए ही आप दण्ड देते हैं। 'प्रभजन्ति'–प्र–प्रकर्ष से वे आप को भजते हैं। तात्पर्य यह है, कि इतने प्रकर्ष से वे आप को भजने लग जाते हैं, कि जिससे उन्हें पहली अभिमान की सी अवस्था फिर प्राप्त न हो सके। उनका गर्व दूर हो जाता है। गर्व ही आर्य मार्ग में प्रवृत्ति

नहीं होने देता। इस लिए कौतुक मात्र से की हुई भी आपकी गोवर्धनोद्धरण लीला दुष्ट लोगों के लिए शिक्षा-रूप ही हुई। इस कारण से आप की यह चेष्टा मात्र भी सफल ही हुई ॥७॥

श्लोक—स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतांहसस्तेविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेसती ॥८॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो मैं आप के प्रभाव को भूल गया, इसी कारण मुझ से यह अपराध बन गया है। हे जगदीश्वर मुझ मूढमति के अपराध को क्षमा कर के ऐसी कृपा कीजिए कि फिर मेरी ऐसी कुबुद्धि कभी न हो ॥८॥

सुबोधिनी—एवं शिक्षार्थतामुपपाद्य कदाचिज् ज्ञानवत्त्वेन कृतं कर्म चित्तेपराधत्वेनैव भासेतातस्तन्निषेधार्थं प्रार्थयति स त्वमिति, **एश्वर्यमदेन प्लुतस्यात एव कृतांहसः** कृतापराधस्य, उभयत्रापि हेतुस्ते **प्रभावमविदुषः**, **क्षन्तुमर्हसि**, अथ भिन्नप्रक्रमेण मदीयानधर्मानविचार्य केवलोयं दीन इति भ्रान्त इति, यतस्त्वं **प्रभुः**, न हि **प्रभोश्चेतसि क्षुद्रकृता भासन्ते मूढचेतसो** म इतिवचनान् मौढ्यं सिद्धमेव, नन्वज्ञानं निर्वर्तितं शिक्षा च कृता कातः परं क्षमा या कर्तव्येति चेत् तत्राह **मैवं पुनर्भूदिति**, एतादृशी मतिः पुनर्माभूदिति, यदि भगवान् क्षमां न कुर्यात् मदपराध स्मरेत् तदा सत्यसङ्कल्प इति नित्यविषयज्ञान इति मदाश्रयोप्यपराध उत्पद्यते स्मरणे तु नोत्पद्यते साधनाभावात् पूर्वसाधनस्य निवृत्तत्वाच्च, यत इय मतिरसती सम्बन्धिनमप्यसति योजयत्यतस्तन्निवृत्तिप्रार्थनोचितैव ॥८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो कुछ किया, वह शिक्षा के लिए ही किया है-यह निरूपण कर के ज्ञान से भी किया हुआ कार्य चित्त में कदाचित् अपराध रूप से भासमान-(प्रतीत)-हो जाए तो अब इस सन्देह की निवृति के लिए-'स त्वं'-इस श्लोक से प्रार्थना करता है। मैं एश्वर्य के मद से फूल गया। इसी से मुझ से अपराध बन गया। ऐश्वर्य मद और अपराध-इन दोनों का कारण यह है कि मैं आपके प्रभाव को नहीं जानता था, प्रभो, आपके माहात्म्य को न जानने वाले मुझ अज्ञानी के अपराध को क्षमा करिए। दूसरे प्रकार से भी क्षमा प्रार्थना करता है कि आप प्रभु (सर्वसमर्थ) हैं, इस लिए मेरे अधर्म पर विचार न करके और मुझे निरादीन तथा भ्रान्त बुद्धि वाला समझ कर क्षमा कीजिए, क्योंकि स्वामी-(प्रभु)-क्षुद्र पुरुषों के किए दोषों (अपराधों) को तनिक भी मन में नहीं लाते हैं। स्वयं मूढ चित्त वाला स्वीकार करने से मूढता सिद्ध ही है।

यदि यहां ऐसी शंङ्का हो, कि भगवान् ने अज्ञान की निवृति करके शिक्षा भी कर दी। अब क्षमा करने की बात क्या बाकी रही? इस के उत्तर में प्रार्थना करता है, कि मेरी ऐसी बुद्धि फिर से न होवे। यदि भगवान् क्षमा न करें और मेरे अपराध का स्मरण किया ही करें तो सत्य संकल्प तथा नित्यविषयज्ञान वाले भगवान् के स्मरण मात्र से मेरे में रहा हुआ अपराध भी उत्पन्न होता ही रहे। सत्यसङ्कल्प भगवान् जिस विषय का स्मरण करते हैं, वह तत्काल उपस्थित होजाता है। इस लिए क्षमा न करें और मेरे अपराध का स्मरण करते रहें तो अपराध भी उत्पन्न ही होता रहे। यदि भगवान् मेरे अपराध का स्मरण नहीं करेंगे तो फिर वह उत्पन्न भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि

भगवान् का स्मरण (करना) ही तो उसके (अपराध के) उत्पन्न होने का साधन है। जब साधन (स्मरण) ही नहीं होगा तो फिर वह उत्पन्न ही कैसे हो सकेगा। अपराध का पहला कारण ऐश्वर्य मद तो दूर हो ही चुका है। यह बुद्धि असती (दुष्ट) है, यह स्वसम्बन्धियों को भी असत् (बुरे) मार्ग में प्रवृत्त कर (लगा) देती है। इस से ऐसी दुर्बुद्धि की निवृत्ति की प्रार्थना उचित ही है ॥८॥

श्लोक—तवावतारोयमधोक्षजेह भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम्।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥९॥

श्लोकार्थ—हे अधोक्षज देव, पृथ्वी के लिए स्वयं भाररूप हो रहे तथा पृथ्वी पर और अनेक पापरूप भार लादने वाले आसुरी प्रकृति के सेनापतियों का विनाश और आपके चरण सेवकों के कल्याण-(मोक्ष) के लिए ही आपने नर रूप से यह अवतार लिया है ॥९॥

सुबोधिनी—किञ्चैतदर्थमेव तवावतारो दुष्टा निराकर्तव्या अशक्यनिराकरणदोषाः स्वरूपतोन्ये तु दोषसम्बन्धादतो वयं निवार्यदोषा इत्यस्मद्दोषा एव निराकार्या न तु वयमित्यभिप्रायेणाह तवावतारोयमिति, **विशेषेणायमवतारो भुवो भाररूपाणां चमूपतीनामभवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय**, अन्ये त्ववतारा **एकमेव कार्यं** साधयन्ति भारनिराकरणं वा सद्रक्षां वा, कालभेदेन यद्येक एवोभयात्मकः स्यात् तदा द्वयमपि कर्तव्यं, इदानीमहं प्रपन्न इत्युद्भवोपि कर्तव्यो निग्रहस्तु कृत एवान्यथोभयार्थमवतारो न भवेद्, उभयार्थत्वे हेतुरधोक्षजेति, **अधोक्षजं** ज्ञानं यस्मादेतादृशो यः प्रकटो जातः स उभयसम्पादनार्थमेव, एकैकं तु पूर्वमपि क्रियत इति, तत्रापीह **गोकुले भुव उरुभारार्थमेव जन्म येषां** जन्मकारणेषु भुवो दुःखार्थं जन्म स्वस्य तु नाशार्थं स्वयमेव भारभूता अधिकं च भारं जनयन्ति लोकारूढेष्वेतद् द्वयं पृथक् प्रसिद्धं, **उरुभारस्य वा जन्म येषु**, एतेन दोषत्रयमुपपादितं, **भाररूपा** उच्छृङ्खला भारजनका इति तादृशा **अपि सेनापतयः, जननमात्रेणैव तन्नाश** इत्यभवायेत्युक्तं यथान्धकारस्य सूर्योदये, देवेतिसम्बोधनमतःपरं **पूजार्थं, युष्मच्चरणमेवानुवर्तितुं** शीलं येषां तेषामुद्भवाय मुक्तये वा संसाराभावाय वा ससाराय वा भवानेव तथा भवतीति ॥९॥

व्याख्यार्थ—दुष्टों के निराकरण के लिए ही आपका अवतार है। दुष्ट दो तरह के हैं-एक तो स्वरूप से ही दुष्ट और दूसरे दोषसम्बन्ध से दुष्ट। इन में प्रथम स्वरूप से दुष्टों के दोषों का तो निराकरण हो ही नहीं सकता। दूसरे दोष के सम्बन्ध दुष्ट हुए हम लोगों के दोषों का ही निराकरण करना उचित है, हम लोग निराकरण (नाश) करने योग्य नहीं हैं-इस अभिप्राय से-'तवावतारोयं', यह श्लोक कहते हैं। आपका यह अवतार मुख्यरूप से भूमि के भार भूत सेनापतियों का विनाश और आपके चरणसेवकों का भव (स्थिति या कल्याण) के लिए है। अन्य अवतार तो एक ही-भार-निराकरण अथवा सज्जनों की रक्षा कार्य करते हैं। कोई एक ही पुरुष पहले दुष्ट हो और समय पाकर आप के चरणों का आश्रय ले ले तो उस पर आप को निग्रह और अनुग्रह दोनों ही करने चाहिए। अब मैं आप की शरण में आया हूँ। इस लिए शरणागत पर अनुग्रह कर्तव्य

है। निग्रह (दण्ड) तो आप कर ही चुके हो। यदि अब रक्षा नहीं करोगे तो आपके इस अवतार का निग्रह अनुग्रह दोनों के लिए होना सिद्ध नहीं होगा।

आप अधोक्षज हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान आप से नीचा है, आप तक नहीं पहुँच सकता है। आप का यह अधोक्षजरूप से प्राकट्य उक्त दोनों कार्य के सम्पादन के लिए है। अर्थात् अधोक्षज रूप का कार्य तथा इस प्रकटरूप का कार्य दोनों कार्यों के लिए है। एक एक कार्य तो आपने पहले भी किया है, परन्तु यहाँ गोकुल में तो आप को ये दोनों ही कार्य करना है। पृथ्वी पर अधिक भार करने के लिए ही जिनका जन्म है, जिनके जन्म लेने के कारणों में पृथिवी को दुःखित करना और अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देना ही एक कारण है। जैसे नाव में बैठा हुआ दुष्ट नाव में स्वयं भार रूप है और अपनी उच्छ्रंखलता से नाव को डिगमिगा कर उस में बैठे सभी जनों को व्याकुल तथा नाव के डूब जाने पर सभी का और अपना भी नाश कर देता है। अथवा अधिक भार का ही जिनमें जन्म है। इस प्रकार भाररूपता उच्छ्रंखलता और भार जनकता रूप तीनों दोषों से परिपूर्ण हो कर भी जो सेनाओं के नायक बने बैठे है उनका आपके प्राकट्य मात्र से ही सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की तरह नाश हो जाता है। इसी से श्लोक में, 'अभवाय' (नाश के लिए) पद दिया है। श्लोक में-हे देव-इस सम्बोधन पद का अभिप्राय यह है, कि अब तो आप की देव रूप से पूजा करना चाहिए। जिन का शील-स्वभाव-आप के चरणों का अनुवर्तन करने का है उन को मुक्ति देने अथवा उन के संसार का प्रभाव करने किंवा उनके योग्य संसार के लिए आप ही वैसे-देव रूप-होते हो ॥९॥

श्लोक—**नमस्तुभ्यं भवते पुरुषाय महात्मने।**
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान्, पुरुष, महान्, वासुदेव, श्री कृष्ण और यादवों के स्वामी आप के लिए बार बार नमस्कार हो ॥१०॥

सुबोधिनी—एव प्रार्थनामुक्त्वा क्षमापनार्थमेव नमस्यति नम इति, भगवदीयत्वाय वा, भक्तिमार्गं प्रकटीकुर्वन् सामान्यतो दशविधलीलायुक्तमाह **नमो भगवत** इति, आवेशादिपक्षव्यावृत्त्यर्थं तुभ्यमिति, योयं दृश्यते स एव भगवानिति, अनेनैव षड्विधा लीला निरूपिता स्थानादिनिरोधान्ता, **पुरुषाय महात्मन** इति कार्यकारणरूपाय, पुरुषः प्रथमतो महान् महत्तत्वं, अन्तर्बहिर्वा साधकाय, **वासुदेवायेति** मोक्षदाता, **कृष्णायेति** फलं सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्च, किञ्च न केवलं दशविधामेव लीलां करोत्यवतीर्णस्त्वधिकमपि करोतीत्याह **सात्वतां पतये नम** इति, यादवानामयं स्वामी, दशविधलीलावद् भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कारः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार प्रार्थना करके अपराध क्षमा कराने अथवा अपने भगवदीय भाव की सिद्धि के लिए नमस्कार करता है भक्ति मार्ग को प्रकट करता हुआ वह दशविध लीला युक्त भगवान् को नमस्कार करता है। तुभ्यं-सामने दर्शन दे रहे आप के लिए नमस्कार हो। तात्पर्य यह है,

श्लोक —स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥

श्लोकार्थ—भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए अवतार लेने वाले विशुद्ध चिद्रूप स्वरूप वाले सर्वरूप और सब के बीजरूप तथा सब प्राणियों को आत्मा चिद्रूप आप को नमस्कार है ॥११॥

सुबोधिनी—एवं परमार्थतो नमस्कारं कृत्वा मोहकलीलासहितमपि भगवन्तं लौकिकरसार्थं नमस्यति स्वच्छन्देति स्वा भक्तास्तेषां छन्द इच्छा तदर्थं तेषामिच्छापूर्त्यर्थमुपात्तो देहो येन, ते हि यथा भावयन्ति तथा रूपं करोति नटवदेव, रूपं तु विशेषेण शुद्धं चिद्रूपमेव तदाह **विशुद्धज्ञानमूर्तय** इति, ननु विशुद्धस्याभिलषितरूपत्वं कथं ? तत्राह **सर्वस्मा** इति, **सर्वरूप** एव जातस्तत्राभिलपितरूपभवने कः प्रयास इत्यर्थः, किञ्च **सर्वबीजाय** सर्वेषां कारणभूताय, अतोनन्तप्रकारेण भवति, अनेन सद्रूपतानन्दरूपताप्युक्ता, सत् सर्वमानन्दो बीजमिति, **सर्वभूतानामात्मने** चिद्रूपाय नमः, अतः

व्याख्यार्थ—इस प्रकार परमार्थतः भगवान् के परम (साक्षात्) स्वरूप को प्रणाम करके लौकिक रस के लिए मोहक लीला युक्त भगवान् को-'स्वच्छन्दोपात्तदेहाय'-इस श्लोक से नमस्कार करता है। भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए भगवान् ने देह धारण किया है। भक्तों की भावना के अनुसार आप नट की तरह रूप धारण करते हो। रूप तो आप का विशेषतया चित्स्वरूप ही है। आप सर्वरूप ही हुए हो इस कारण से आप का वह विशुद्ध चिद्रूप सभी अभिलषित रूपों का कारण है; क्योंकि सर्वरूप हुए आप को भक्तों का अभिलषित रूप धारण कर लेने में कुछ भी प्रयास नहीं है। आप सब के बीज-कारण भूत-हो, इस लिए अनन्त प्रकार के रूप धारण किए हुए हो। यहां 'सर्वशब्द' का अर्थ सत् और बीज शब्द का अर्थ आनन्द होने से सदानन्दरूपता का भी वर्णन किया है। सब भूत प्राणिमात्र के आत्मा और चिद्रूप आपके लिए नमस्कार है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि,

---

लीला का वर्णन किया है और भगवद् शब्द से छः प्रकार की लीला का वर्णन यहीं ऊपर कर ही आए हैं। इस प्रकार मिलाकर आठ लीलाओं का निरूपण किया, (वासुदेवायेति मोक्षदाता)-वासुदेव पद से मुक्ति लीला और (कृष्णाय सदानन्दत्वादाश्रयश्च)-कृष्ण-'सदानन्द'-पद से आश्रय लीला का निरूपण है। भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ्-नमस्कारः-इन पदों का अभिप्राय कहते हैं। यद्यपि इस श्लोक में पहले एक बार कहे नमः शब्द से ही नमन सिद्ध था फिर भी-'सात्वतां पतये नमः यहाँ 'नमः'--पद की आवृति से यह सूचित किया है कि दशविध लीलाओं की तरह एक भक्ति भी उद्धार कर देने में स्वतन्त्र है। यहां ऊपर भगवान् पद से छः प्रकार की लीलाओं के निरूपण में इशानुकथा रूप भक्ति का निरूपण हो जाने के उपरान्त भी फिर भक्ति के वर्णन से सूचित होता है, कि भक्ति उक्त सब लीलाओं की तरह ही स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु सर्वतन्त्र स्वतंत्र है। जैसे प्रथम स्कन्ध में चौबीस अवतारों के वर्णन में कृष्णावतार वर्णन करके फिर भी अंशित्व और पूर्णता सूचित करने के लिए--कृष्णस्तु भगवान् स्वयं--कृष्ण का दुबारा निर्देश किया गया है। इसी तरह यहा भी दश विध लीला के अन्तर्गत वर्णित भक्ति से इस स्वतन्त्र भक्ति को भिन्न बताने के लिए (भक्तिका) दुबारा निर्देश है ॥१०॥

कारिका—सच्चिदानन्दरूपाय भक्तेच्छापूरकाय हि ।
शुद्धज्ञानस्वरूपाय फलसाधनरूपिणे ॥१॥

कारिकार्थ—इन्द्र सच्चिदानन्दस्वरूप भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने वाले शुद्ध ज्ञानस्वरूप और फल तथा साधन रूप को

सुबोधिनी—नम इत्युक्तं भवति ॥११॥

व्याख्यार्थ—नमस्कार करता है ॥११॥

**श्लोक—मयेदं भगवान् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहिते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥**

श्लोकार्थ—मेरी पूजा का नाश देख कर मुझ अभिमानी को प्रचण्ड क्रोध हो आया था । इसी लिए मैंने मूसल धार जल की वर्षा और प्रचण्ड पवन तथा ओलों से व्रज को नष्ट कर डालने की चेष्टा की ॥१२॥

सुबोधिनी—स्वापराधं प्रकटीकरोति **मयेदमिति**, को वेद भगवान् न विचारयतीत्यन्यथा कालान्तरे विशेषपर्यालोचनायामपराधं भावयेदतः कथयति, **इदं** वृष्टयादिरूपं **गोष्ठनाशायासारवायुभिर्मया चेष्टितं यज्ञे विहित** इति निमित्तं वस्तुतस्त्वस्मिन्नेव यज्ञे मया भुक्तं न पूर्वं कदापि भगवता भुक्तमिति हस्तेन भुक्तमित्यतो **यज्ञे विहित** एव, तथाप्यभिमानादन्यथाङ्गीकृतं तदाह **मानिनेति**, ननु तृप्तिः कथं न प्रतिबन्धिका जाता ? तत्राह **तीव्रमन्युनेति**, शीघ्रमेव क्रोध उत्पन्नोतो जातापि तृप्तिर्विस्मृतेति, अन्यथा **गोष्ठनाशे** कश्चित् किं प्रवर्तेत ? गवामुपजीव्यत्वात् सुतरां ममोपजीव्याः, **भगवन्निति**सम्बोधनं स्वस्य दासत्वख्यापकं, इदानीं निर्दुष्टत्वख्यापकं वा ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इन्द्र 'मयेदं' इस श्लोक से अपने अपराध को प्रकट करता है । कौन जानता है कि भगवान् अपराध का विचार नहीं करते हैं । यदि भगवान् ने कालान्तर में-(कभी)-अपराध का स्मरण कर लिया तो विशेष शिक्षा की आशङ्का कर के, स्वयं ही अपनी कृति का वर्णन करता है ।

योजना—व्याख्या में-सद्रूपता-आदि पदों का अभिप्राय कहते हैं । सर्व पद से भगवान् की सद्रूपता का वर्णन किया है क्योंकि सद्रूप से अंश रूप से भगवान् सर्व रूप हैं । आनन्द सब का बीज है इस से बीज पद से भगवान् की आनन्द रूपता कही है क्योंकि * श्रुति में सब की, आनन्द से ही उत्पत्ति कही है । सर्वभूतात्मपद से भगवान् की चिद्रूपता का वर्णन किया है । इस सारे अर्थ का सार-सच्चिदानन्द रूपाय-इत्यादि कारिका में संगृहित किया है ॥११॥

---

* आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

गोकुलवासियों के द्वारा मेरे यज्ञ का भङ्ग कर देने से, मैंने गोष्ठ-(गोकुल)-का नाश कर देने के लिए वर्षा वायु आदि से चेष्टा की थी। वास्तव में तो, मैंने और भगवान् ने इसी अन्नकूट यज्ञ में भोजन किया है; पहले कभी नहीं खाया क्योंकि भगवान् ने इसमें भुजा (इन्द्र) से भोजन किया है। इस कारण से यह अन्नकूट यज्ञ वेद विहित ही है। अभिमान से मैंने विपरीत मान लिया था। शङ्का-जब इस अन्नकूट यज्ञ में भोजन कर के इन्द्र भी तृप्त हो गया, तो उस तृप्ति ने जल और ओले बरसाने से इन्द्र को क्यों नहीं रोका? इसके उत्तर में कहते हैं कि शीघ्र ही प्रचंड क्रोध के उत्पन्न हो जाने से उस हुई तृप्ति को मैं सर्वथा भूल गया। यदि ऐसा न हो (भूल न जाय) तो गोष्ठ का नाश करने में कोई क्यों प्रवृत्त हो। व्रजवासी जन गायों के रक्षक हैं, इस कारण मेरे भी वे सेव्य हैं। श्लोक में-'भगवन्'-इस सम्बोधन पद से इन्द्र अपने दास भाव अथवा अपनी निर्दुष्टता को सूचित करता है ।।१२।।

श्लोक—त्वयेशानुगृहीतोस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ।।१३।।

श्लोकार्थ—हे ईश्वर! आपने मेरे अभिमान का ध्वंस कर दिया-यह मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह किया है। मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मा रूप आप की शरण आया हूँ ।।१३।।

सुबोधिनी—तथापि स्वामिनानुग्रहः कृत एवेत्याह त्वयेति, ईशत्वादनुग्रहकरणं, न ह्युपजीवकेषु क्रुद्धेषूपजीव्योपि क्रुध्यति तथा सति तेषां नाश एव स्यादत एवानुगृहीतोस्मि, गोवर्धनधारणेन मान एव हतो न

योजना—'मयेदं'-श्लोक की व्याख्या में-न कदापि पूर्वं भगवता भुक्तम्, 'हस्तेन भुक्तम्'-इत्यादि ग्रन्थ का आशय यह है, कि नन्दजी युक्ति से ही इन्द्रयाग करते आरहे थे, वह वेद विहित नहीं था। इस से, उस में भगवान् ने और भगवान् की भुजा रूप होने से इन्द्र ने भी कभी भोजन नहीं किया था। यह अन्नकूट उत्सव भगवान् का बताया हुआ होने से, वेद विहित हो गया। इस में भगवान् ने भोजन किया है और भोजन श्री हस्त से किया है, इस लिए हस्त रूप इन्द्र (मैंने) भी अभी इसी अन्नकूट में ही भोजन किया है। इस से यह सिद्ध हुआ, कि वह इन्द्रयाग युक्ति पूर्वक होने से वेदविहित नहीं था। इस कारण से वह यज्ञ ही नहीं था। इस लिए उस का भगवान् के द्वारा विघात कर देने पर भी-वेदोक्त न होने से, उस में यज्ञत्व के अभाव से यज्ञ का विघात हुआ ही नहीं यज्ञ अविहत ही है।

जब इन्द्र याग का-यज्ञत्व न होने के कारण-यज्ञ नाश ही नहीं हुआ तो इन्द्र ने-'चेष्टितं विहते यज्ञे'-(याग भङ्ग होने से मैंने यह चेष्टा की) ऐसा क्यों कहा? इस शंका के उत्तर में कहते हैं, कि उस युक्ति कल्पित अवैदिक इन्द्र याग में मुझे (इन्द्र को) अपने याग का अभिमान था। इस से इस (कल्पित) याग के भंग होने पर मैंने अपने यज्ञ का नाश होना मान लिया-यह अभिप्राय है ।।१२।।

त्वहं हत इति मानहृतिमेवाह ध्वस्तस्तम्भ इति, स्तम्भो गर्वोनम्रता ध्वस्तो यस्य, तत्र हेतुर्हतोद्यमइति, तथापि न मम लज्जा यतस्त्वमीश्वरो गुरुरात्मा च लोकतो वेदतोनुभवतश्च त्वच्छिक्षायां नापमानं भवतीत्यतस्त्वां शरणं गतः, यथोचितं विधेयमितिभावः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—तो भी स्वामी भगवान् ने मुझ पर अनुग्रह ही किया । यह इस, 'त्वया'-श्लोक से कहता है । ईश्वर होने के कारण, भगवान् अनुग्रह करते हैं । सेवकों के क्रोध करने पर भी स्वामी तो उन पर क्रोध नहीं करते हैं । यदि स्वामी (भगवान्) उन पर कुपित हो जाए तब तो सेवकों का नाश ही निश्चित है । सेवक की रक्षार्थ ही आपने मुझ पर अनुग्रह किया है । गोवर्धन पर्वत को धारण कर के आपने मेरे गर्व अनम्रता को ही दूर किया मेरी तो रक्षा ही की है । वर्षादि के द्वारा नाश करना रूप मेरा प्रयत्न निष्फल हो गया है तब भी मुझे लज्जा नहीं हैं क्योंकि आप ईश्वर, गुरु और आत्मा हैं । लोक, वेद और अनुभव से भी मैं इस विषय में लज्जित नहीं हूँ, क्योंकि आपके द्वारा दी गई शिक्षा में मेरा कुछ भी अपमान नहीं है । में आपके शरण में आया हूँ, जो आप उचित समझें, करे–यह भाव है ।।१३।।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक—एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।।१४।।

श्लोकार्थ—इन्द्र ने जब इस प्रकार भगवान् की स्तुति की तब भगवान् कृष्ण ने हँसते हँसते मेघगर्जन के समान गम्भीरवाणी से उसे यों कहा ।।१४।।

आभास—तदा प्रसन्नो भगवांस्तस्य मनःपीडां दूरीकृतवानित्याहैवमिति चतुर्भिः;

आभासार्थ—इन्द्र की की हुई स्तुति को सुन कर भगवान् ने प्रसन्न हो उस के मन की पीड़ा को दूर किया–यह–'एवं'–इत्यादि चार श्लोक से कहते है ।

कारिका—उपक्रमः कृतं चैव हेतुश्चापि तथाकृतौ ।
प्रसादश्चेति भृत्याय भगवान् स्वयमुक्तवान् ।।१।।

कारिकार्थ—इन चार श्लोकों में प्रथम, 'एवं' इत्यादि प्रथम श्लोक से भगवान् के अनुग्रह का–शुकदेवजी ने–उपक्रम किया है । 'मया' इत्यादि दूसरे श्लोक से भगवान् ने अपने द्वारा किए इन्द्र याग के भङ्ग का वर्णन किया है । 'मामैश्वर्य', इत्यादि तृतीय श्लोक से इन्द्र-याग भंग करने का कारण बतलाया है और 'गम्यतां शक्र' इत्यादि चौथे श्लोक से भगवान् ने अपने सेवक इन्द्र पर कृपा करने का निरूपण किया है ।

सुबोधिनी—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सङ्कीर्तितः कृष्णः फलात्मा मघोनेन्द्रेण पूर्णः सर्वतो भगवान् मेघगम्भीरया वाचा तस्य तापं शमयन् प्रहसन् मोहयन्निदं वक्ष्यमाण-मब्रवीत्, अत एवाग्रेपि तस्य मोहः ।।१४।।

व्याख्यार्थ—इन्द्र के द्वारा इस प्रकार स्तुति किए गए परिपूर्ण ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न भगवान् फलात्मा कृष्ण ने मेघगर्जन के समान गम्भीर वाणी से उस के ताप को दूर करते हुए हँस कर उसे मोहित करते हुए इस प्रकार कहा । भगवान् के हँस कर मोहित करने के कारण से ही इन्द्र को आगे भी मोह होगा ।।१४।।

।। श्रीभगवानुवाच ।।

श्लोक—मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोनुगृह्णता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा–हे इन्द्र ! तुम अपने इन्द्र पद के ऐश्वर्य के मद से मतवाले–(अत्यधिक उन्मत्त)–हो गए थे । तुम नित्य मेरा स्मरण करते रहो–इसीलिए मैंने तुम्हारे यज्ञ का भङ्ग किया है ।।१५।।

सुबोधिनी—स्वकृतमाह मयेति, काकतालीयव्यावृत्त्यर्थं स्वकृतं ज्ञापयति हे मघवन्ननुगृह्णता मया मखभङ्गोकारि, अनुग्रहमेवाह मदनुस्मृतय इति, ममानुस्मृतिरेवानुग्रहः, यागभङ्गाभावेनुस्मृतिर्न स्यादिति, हेतुमाह नित्यमिन्द्रश्रिया मत्तस्येति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् अपने कृत कार्य का वर्णन स्वयं,–'मया ते'–इस श्लोक में करते हैं । हे इन्द्र यह तुम्हारे याग का भङ्ग काकतालीय न्याय से (काकस्यागमनं तालस्य पतनं) कौए का आना और ताल का गिरना) अकस्मात् ही नहीं हो गया है, किन्तु तुम्हारे ऊपर कृपा करके ही मैंने ऐसा किया है । मेरा अनुग्रह यही है कि तुम्हें मेरा स्मरण सदा बना रहे, तुम मुझे कभी न भूलो । यदि मैं तुम्हारे याग का इस तरह भङ्ग नहीं करता, तो तुम्हें मेरी अनुस्मृति नहीं होती । क्योंकि तुम तो नित्य अपने (इन्द्र के) वैभव में मदोन्मत्त थे । फिर मेरा स्मरण कैसे होता ।।१५।।

श्लोक—मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—जो ऐश्वर्य और लक्ष्मी के मद से अन्धा हो रहा है, वह दण्ड देने वाले मुझ ईश्वर को नहीं देख पाता । ऐसे मदान्धों में से जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्य और सम्पत्ति से भ्रष्ट कर देता हूँ ।।१६।।

सुबोधिनी—नाप्येतत् त्वया प्रार्थनीयं ममैवायं सहजो धर्म इत्याह **मामैश्वर्येति, ऐश्वर्यं श्रीश्चान्यतराभावे** न मदः पुष्टो भवतीतरमापेक्षत्वात्, न ह्येकाक्षिविकलोन्धो भवत्यत ऐश्वर्येण **श्रिया च यो मदस्तेनान्धः दण्डपाणि** घातकमपि **मां न पश्यति, अतस्त सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि** शिक्षार्थमवश्यं मारणीयः, तदैव मारणे शिक्षा भवति यदि जानीयादतो ज्ञानार्थं **सम्पद्भ्यो भ्रंशयाम्यन्यथानुग्रहो** न भवेत्, इयं साधारणी व्यवस्था, विशेषमप्याह **यस्य चेच्छाम्यनुग्रहमिति, यस्य** चानुग्रहमिच्छामि, अयमनुग्रहं प्राप्नोत्विति **विषयैर्बुद्धिभ्रंशो भवतीत्यतिवाते दीपवद् विषयैरनुग्रहोपि न स्थिरो भवति, अल्पेनैव कार्यसिद्धौ** महाननुग्रहो न कर्तव्योतो यथाल्पेनैव कार्यं भवति तदर्थं **सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि,** तदनन्तरमनुग्रह इति पूर्वमिच्छैवोक्ता, अत्रत्यः क्रमोग्रे वक्तव्यो "यस्यानुग्रहमिच्छामी"त्यत्र, अतः शिक्षार्थं प्रसादार्थं चैश्वर्यभ्रंशः कार्यते, अत एकदेश एव स कृतो यागमात्रैश्वर्यनिराकरणात् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में तुम्हारे प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो मेरा स्वाभाविक धर्म है यह, 'मामैश्वर्य' इस श्लोक से कहते हैं । ऐश्वर्य को लक्ष्मी की और लक्ष्मी को ऐश्वर्य की परम्परा अपेक्षा होने के कारण से, ऐश्वर्य और लक्ष्मी दोनों के ही होने पर मद पुष्ट होता है । इन में केवल एक के ही होने पर मद की पुष्टि नहीं होती । जैसे एक आंख से विकल (काणा) अन्धा नहीं कहा जाता दोनों नेत्रों के अभाव में ही अन्धा कहलाता है, इसी तरह ऐश्वर्य और श्री-दोनों के मद से अन्धा जो हो जाता है वह हाथ में दण्ड धारण करके हनन-(नाश)-करने वाले मुझ व भी नहीं देखता है । इस से उस की सम्पत्ति-(लक्ष्मी)-का नाश कर देता हूँ, क्योंकि शिक्षा के लिए दण्ड अवश्य देना ही चाहिए ।

मारने पर भी, शिक्षा तब ही लगती है जब कोई समझे । इस लिए उस को समझ पड़ने-(ज्ञान होने)-के लिए मैं उस की सम्पत्ति का नाश करता हूँ । यदि ऐसा नहीं करूँ तो उस पर मेरा अनुग्रह नहीं होवे-यह एक साधारण व्यवस्था कृपा करने की है । विशेष व्यवस्था को कहते हैं, कि जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, अर्थात्, यह मेरी कृपा को प्राप्त करे-(ऐसी इच्छा करता हूँ) उस को निर्धन करता हूँ, क्योंकि विषयों से बुद्धि का नाश हो जाता है । तब जैसे प्रचण्ड हवा में दीपक नहीं ठहरता उसी तरह से विषयों से अनुग्रह भी स्थिर नहीं रह सकता है । इसी से विषयों के कारण भूत वैभव का नाश करता हूँ । जब थोड़े से ही कार्य सिद्ध हो, तब विशेष-(महान्) अनुग्रह करना आवश्यक नहीं होता । इसी तरह से थोड़ी कृपा से कार्य सिद्ध करने के लिए पहले उस की लक्ष्मी का नाश करता हूँ । पीछे अनुग्रह होता है । इसी लिए पहले इच्छा का वर्णन किया । यहाँ बतलाया हुआ यह इच्छा और अनुग्रह का क्रम आगे यस्यानुग्रहमिच्छामि' इस श्लोक में कहा जाएगा । इस लिए शिक्षा और कृपा के लिए ऐश्वर्य का नाश किया जाता है । यहां तो केवल इन्द्र याग रूप ऐश्वर्य का निराकरण वर्णन से, केवल एक का ही निरूपण है ।।१६।।

श्लोक—**गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेनुशासनम् ।**

स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे इन्द्र ! तुम अपने लोक को जाओ, तुम्हारा कल्याण हो । तुम सब

लोक पाल–दिक्पाल–अपने ऐश्वर्य का अभिमान छोड़ कर मेरी आज्ञा पालन करते हुए अपना अपना काम करो ॥१७॥

सुबोधिनी—अतस्त्रैलोक्यमवशिष्टमस्तीति तदर्थं गच्छेत्याह गम्यतामिति, अत्र शिक्षामात्रमेव ज्ञापनीयं, तदल्पेनापि भवतीति न सर्वैश्वर्यभङ्गः, तदाह शक भद्रं च इति, इन्द्रत्वमग्रे स्वास्थ्यं च प्रयच्छति, अन्यथा भक्तिर्वा तन्नाशयेत् भक्तापकारित्वात्, भगवद्वाक्यात् तु न नाशः, अग्रे मोहाभावायाह क्रियतां मेनुशासनमिति, मदाज्ञाकरणे न मोहः स्यादिति, इन्द्रद्वारा सर्वानेवाज्ञापयति प्रधानत्वात् स्वाधिकारेषु स्थीयतां वो युष्माकमेव सम्बन्धिषु, यत्र यस्याधिकारः स तत्र तिष्ठत्वित्यर्थः, युक्तैरित्याज्ञायां योजितैः पर तथापि स्तम्भो मास्तु, अनम्रतयाज्ञापि न कर्तव्या, न हि कृतिमात्रेण भगवांस्तुष्यत्यपि तु नम्रत्वसहितया, एवमाज्ञापितोपि पूजां कर्तुं विलम्बमानो जातः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—हे इन्द्र तुम्हारे केवल याग का ही भङ्ग–(नाश)–किया । त्रिलोक के अधिपति तो तुम अभी बने हुए ही हो इस लिए तुम जाओ, यह 'गम्यतां'–इस श्लोक से कहते हैं । यहाँ तुम्हें केवल शिक्षा ही देना अभिष्ट था और वह शिक्षा का ज्ञान तुम्हें थोड़े से दण्ड से ही करा दिया (हो गया) इस से तुम्हारे सभी ऐश्वर्य का भङ्ग नहीं किया है–यह कहते हैं, कि–हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो–इस प्रकार भगवान् इन्द्र के इन्द्रपन का भङ्ग न करते हुए उसे स्वास्थ्य का दान भी करते हैं। यदि स्वास्थ्य दान भगवान् न करते तो उनके भक्तों का अपराध करने से, भक्तों और गोपों में रही भक्ति ही इन्द्रपन का नाश कर देती । भगवान् के–'भद्रं वः' (तेरा कल्याण हो) वाक्य से उसके इन्द्रत्व का नाश नहीं हुआ । आगे मोह न हो–इस लिए कहते हैं कि मेरी आज्ञा का पालन करो, जिससे आगे मोह नहीं होगा । इन्द्र सारे दिक्पालों में प्रधान है–इस कारण से इन्द्र के द्वारा सभी अधिकारी देवों को, आज्ञा देते हैं कि तुम सब अपने अपने अधिकार पर रहो जहाँ जिस का अधिकार है उन अपने अपने सम्बन्धी अधिकारों ही काम करो । मेरी आज्ञा का पालन करो औरअपने अधिकार ऐश्वर्य का अभिमान मत करो । नम्र न हो कर तो आज्ञा पालन नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवान् केवल आज्ञा पालन से प्रसन्न नहीं होते हैं, नम्रतापूर्वक किए हुए आज्ञापालन से ही वे सन्तुष्ट होते हैं । भगवान् के द्वारा–इस प्रकार जाने की आज्ञा दिया हुआ भी इन्द्र–भगवान् की पूजा करने के लिए–जाने में विलम्ब करने लगा ॥१७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—अथाह सुरभिः कृष्णमभिनन्द्य मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेव जी कहते हैं--इस के बाद, मानवती कामधेनु ने अपनी सन्तानों के साथ गोप रूप भगवान् कृष्ण चन्द्र के निकट आकर उनका अभिनन्दन कर के कहा ॥१८॥

सुबोधिनी—एवमिन्द्रप्रसादमुक्त्वा कामधेन्वाः प्रसादार्थं तदभिषेकः प्रस्तूयतेथेति, अयमभिषेको नेन्द्राद्यभिषेकवत् स्वतन्त्रतया कर्तुं शक्यते भगवतो हीनभावात् प्रार्थनया तु कर्तुं शक्यो हीन भावेनैव लीलायाः क्रियमाणत्वादतः प्रार्थनार्थमादौ स्तोत्रं कृतवतीत्याहाथेति, अथेन्द्रवाक्यानन्तरं **सुरभिः** कामधेनुः **कृष्णमभिनन्द्य** साधु गोरक्षा कृतेन्द्रश्च साध्वनुगृहीतोयमप्यस्मत्पुत्रप्राय इति, स्वयमपि **मनस्विनी महामानवती** सम्मानपात्रमतो भगवांश्चेन्न मानयेत् मत्क्रियमाणमभिषेकं नाङ्गीकुर्यात् तदा न जीविष्यामीतिनिर्बन्धयुक्ता सर्वेरप्यर्थे निर्बन्धः कारणीय इति **स्वसन्तानैर्गोभिः** सहोपामन्त्र्य निकटे सम्मन्त्रणं कृतवाह य इन्द्रोपकरोति सोस्माकमिन्द्रो मा भवतु न हि वयं भवानिव निरभिमाना यतो **वयं मनस्विन्यः**, ननु कथमेव धाष्टर्यं कर्तुमिच्छसि न हि सर्वेश्वर इन्द्रो भवितुमर्हति, तत्राह **गोपरूपिणमिति**, स ह्यस्मान् पाति लोकवत् पालकास्तूपसर्जनीभूताः, यत्र स्वत एतावदवलम्बते तत्रास्मतुक्तमैश्वर्यं कथं न स्वीकरिष्यति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार इन्द्र पर की गई भगवान् की कृपा का वर्णन कर के, कामधेनु पर भी कृपा करवाने के लिए भगवान् पर कामधेनु कृत अभिषेक और स्तुति का वर्णन, 'अथाह' इस श्लोक से करते हैं। यह अभिषेक इन्द्रादि के अभिषेक की तरह स्वतन्त्र रीति से नहीं किया जासकता, क्योंकि यहाँ भगवान् का–गोपरूप से–हीनभाव है। भगवान् यहाँ हीनभाव से ही लीला कर रहे हैं। प्रार्थना से संगति ग्रहण करके तो, अभिषेक किया जा सकता है। इस कारण प्रार्थना करने के लिए पहले स्तुति, 'अथाह' करती है। इन्द्र के वाक्यों के बाद कामधेनु ने–प्रभो आपने गायों की रक्षा की, मेरे पुत्रों के ही तुल्य इस इन्द्र पर भी कृपा की–यह बड़ा ही उपकार किया–इस प्रकार भगवान् का अभिनन्दन किया।

कामधेनु स्वयं मनस्विनी–(महामानवती)–तथा सम्मान करने योग्य है। इस लिए वह ऐसा दृढ संकल्प किए हुई है कि यदि भगवान् उस के किए अभिषेक को स्वीकार न करें तो वह जीवित न रहेगी। उस का ही केवल ऐसा आग्रह नहीं है। किन्तु सभी को ऐसा आग्रह करना चाहिए–इस अभिप्राय से उसने वह अपनी सन्तान गायों के साथ निकट में मंत्रणा करके कहा, कि गोकुल का अपकार करने वाला इन्द्र हमारा इन्द्र न रहे। हे प्रभो! हम आप की तरह अभिमान रहित नहीं हैं हम तो महामानवती हैं।

शङ्का—भगवान् कदाचित यह कहें कि–ऐसी धृष्टता क्यों करती हो, मैं तो सबका ईश्वर हूँ, केवल इन्द्र ही होकर कैसे रहूँ–तो इस के उत्तर में कहती है, कि–गोप रूपिणम्–आप हमारे पालक है। लोक में जैसे पालक पाल्य गायें आदि का अनुसरण करते हैं इसी तरह लीला में भी पालक आप पाल्यो (हम गायें) का अनुसरण करते हो। इस लिए जब आप इस प्रकार गौण पालक भाव धारण कर रहे हो तो हमारे किए ऐश्वर्य–इन्द्र रूप से अभिषेक–को स्वीकार क्यों नहीं करोगे? स्वीकार करोगे ही ॥१८॥

॥ सुरभिरुवाच ॥

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥

श्लोकार्थ—सुरभि ने कहा—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्व रूप ! और विश्व को उत्पन्न करने वाले जगन्नाथ अच्युत भगवान् आप से ही हम सब सनाथ हैं ॥१९॥

सुबोधिनी—किञ्च पूर्वमप्ययं इन्द्र ईश्वरो यज्ञ इन्द्रो जात इत्यैश्वर्यमेतदीयमेवेत्यतो नास्माभिरलौकिकं किञ्चित् सम्पाद्यते किन्तु विद्यमानमेव लोके प्रकटीक्रियतेतो युक्तमेवाभिषेचनमिति विज्ञापयितुं स्तुतिमाह **कृष्ण** कृष्णेति द्वाभ्यां, आदरे वीप्सा, **योग्युपायविन् महायोग्यलौकिकोपायकर्तान्यदेव** करोत्यन्यत् सम्पद्यत इन्द्रेण क्लेशं प्रापित एव ज्ञातोपीन्द्रमेव क्लेशं प्रापितवान्, अथ वा **महायोगिनो** लीलार्थं प्रवृत्तस्य न किञ्चिदनुचितमुचितं वात इन्द्रत्वमपि गृह्यतामित्यभिप्रायः, किञ्च विश्वात्मा त्वं, अनेन प्रमेयोत्कर्ष उक्तः, पूर्वेणैव साधनोत्कर्षः, **विश्वस्यापि सम्भवो** यत्रेतिप्रमाणोत्कर्षः, फलोत्कर्ष वक्तुं तस्य स्वस्मिन् पर्यवसानमाह, **भवतैव लोकनाथेन** सर्वलोकरक्षकेण **वय** सनाथा न त्विन्द्रेण घातकत्वात्, किञ्च प्रतिमन्वन्तरं भिन्न एवेन्द्रोतोव्यवस्थितत्वात् कालपरिच्छेदात् स्वभावतस्तस्य जीवस्यापि नियम्यत्वात् **भवानेव लोकनाथः**, अत एव वयं **सनाथाः**, यो हि जीवयति स एव नाथः "स वै पतिः स्यादि"तिन्यायेन, भवानच्युतश्च ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यह तो पहले भी इन्द्र था, ईश्वर और यज्ञ में इन्द्र हुआ था। इस लिए ऐश्वर्य तो इस इन्द्र का ही है। हम कुछ भी अलौकिक–(नई)–बात नहीं कर रही हैं। अतः इन्द्र रूप से किया जाने वाला अभिषेक उचित ही है। इस कारण को विज्ञापन करने के लिए–कृष्ण कृष्ण–इत्यादि दो श्लोकों से भगवान् की स्तुति करती हैं। आदर से–कृष्ण कृष्ण–यह सम्बोधन दो बार किया है। उपाय जानने वाला योगी और अलौकिक उपाय का करने वाला महायोगी होता है। महायोगी के किए एक ही काम के फल भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे यहाँ गोकुल पर घोर वात वर्षा से इन्द्र का क्लेश देना जान कर भी भगवान् ने परिणाम में उसी को क्लेश प्राप्त कराया।

'महायोगिन्' सम्बोधन का दूसरा अभिप्राय यह भी है, कि लीला में लगे हुए महायोगी के लिए अनुचित उचित कुछ नहीं होता, महायोगी को सब फबता है। इस लिए हमारे इन्द्र पद को भी आप ग्रहण करिए। आप विश्व के आत्मा हो। इस 'विश्वात्मन्', सम्बोधन से प्रमेय का उत्कर्ष सूचित किया है। सब साधनों में योग के मुख्य साधन होने से, पूर्वकथित, 'महायोगिन्' सम्बोधन पद से साधन का उत्कर्ष वर्णित है। सारे विश्व का सम्भव भी आप से ही है। विश्व के अन्तर्गत वेद भी आजाते हैं, इस से वेदों के कर्ता और विश्व के आधार भी होने के कारण, 'विश्व सम्भव' सम्बोधन पद से प्रमाण की उत्कर्षता कही है। फल के उत्कर्ष का वर्णन सुरभि स्वयं अपने में ही करती है, कि सारे लोकों के रक्षक आप से ही हम सनाथ हैं, इन्द्र से हम सनाथ नहीं हैं। इन्द्र तो हमारा घातक है। दूसरी बात यह भी है कि इन्द्र तो प्रत्येक मन्वन्तर में बदलता रहता है, वह व्यवस्थित नहीं है और स्वभाव से यह जीव है, इस कारण से, वह तो नियम्य है, नियामक नहीं है। इन्द्र तो वास्तव में वही है, जो सबका नियामक है। इस लिए आप ही लोक नाथ हैं, आप ही हमारे नाथ हैं आप से ही हस सनाथ हैं। इन्द्र तो न लोक नाथ ही है और न हम उस से सनाथ ही हैं। रक्षा करने में समर्थ ही, उचित पति होता है। इस लिए जीवन दान देने वाले आप ही नाथ हैं। आप अच्युत हैं, आपकी सामर्थ्य में कभी अभाव होता नहीं है। सदा एक रूप हैं ॥१९॥

श्लोक—**त्वं नः परमकं देवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।**
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥

श्लोकार्थ—आप ही हमारे परमदेव हो । हे जगत के स्वामी ! आप ही हमारे इन्द्र हो । इसलिए आप गायों, ब्राह्मणों, देवताओं और भगवद्भक्तों के भी अभ्युदय और रक्षा करने वाले होवें ॥२०॥

सुबोधिनी—एवं नाथत्वमुपपाद्य देवत्वमुपपादयति **त्वं न** इति, त्वमेव नोस्माकं गवां **परमम**ुत्कृष्टं **देवम**-स्माकं भाग्यरूपोपि त्वमेवास्माकं नियामकश्च, अस्मासु क्रीडतीन्द्रात् पृथक्कृत्यास्मान् विजयतेस्माभिर्व्यवहरत्य-स्माकं कान्तिस्तत एवास्माभिः स्तूयते चास्माकं च तत एव सौन्दर्यं गतिरपि सर्वातो भवानेव देवः, किञ्च न केवलं देवमात्रं किन्तु देवेन्द्रोपि भवानेव **त्वं न इन्द्र** इति, परमैश्वर्यं नान्यस्यास्ति जगत्पतित्वाभावात्, यो ह्यन्तर्बहिर्नियामकः स **पतिरतो जगत्पतित्वात्** त्वमेवे-न्द्रोतो **गोविप्रदेवानां** हविर्मन्त्रहविर्भुजां **भवायोद्भवाय भव** यज्ञपरिपालको **भव**, एवं पूर्वकाण्डानुवर्तिनां तत्प्रतिपाद्यधर्मस्योद्भवजनकत्वं प्रार्थयित्वा निवृत्तिपराणां भगवद्भक्तानां चोद्भाव भवेति प्रार्थयति **ये च साधव** इति, तेषामपि **भवाय भवे**तियोजना ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् नाथ हैं-इस का उपपादन करके आप हमारे देव भी हैं यह-'त्वं नः' इस श्लोक से कहते हैं । आप हम गायों के उत्कृष्ट देव हो, हमारे भाग्यरूप भी और नियामक भी आप ही हैं । † आप हमारे मध्य में क्रीड़ा करते हो, इन्द्र से हमें अलग कर के हमारा विजय करते हो, हमारे साथ व्यवहार करने वाले और हमारी कान्ति (शोभा) हो । इसी लिए हम आप की स्तुति करती हैं । हमारी सुन्दरता और सारी गति रूप आप ही हो । इस कारण आप देव हैं । आप केवल देव ही नहीं है, किन्तु देवेन्द्र भी आप ही हैं, क्योंकि परम ऐश्वर्य सम्पन्न केवल आप ही हैं और आप ही जगत् के भीतर, बाहर नियामक होने से पति हैं । जगदीश होने के कारण से आप ही हमारे इन्द्र हो । इस लिए आप यज्ञ का (घृत, दधि, दूध द्वारा) मुख्य साधन गायें, मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों, और यज्ञ भोक्ता देवों के रक्षक होवें । यज्ञ के परिपालक बनें ।

इस प्रकार कर्मकाण्ड में प्रदर्शित धर्म का आचरण करने वालों के पूर्वकाण्ड में बताए गए धर्म की रक्षा के लिए प्रार्थना करके आगे निवृत्ति परायण भगवद्भक्तों की रक्षार्थ प्रार्थना करती हैं । साधु-भगवद्भक्तों की रक्षा करने वाले भी आप होवें ॥२०॥

श्लोक—**इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।**
अवतीर्णोसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे विश्व की आत्मा ! आप ने भूमि के भार को दूर करने (उतारने)—के

† दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहारद्युति स्तुति–कान्ति गतिषु–इदि परमैश्वर्ये ।

लिए अवतार लिया है । ब्रह्मा जी की प्रेरणा से हमारे इन्द्र रूप से मैं आप का अभिषेक करूँगी ॥२१॥

सुबोधिनी—किञ्चानभिषिक्तः शास्त्रत इन्द्रो न भवत्यभिषेकस्य संस्काररूपत्वात्, अभिषेके तु कृते नान्यः पतित्वं मन्यतेन्यथा मोहाद् यः कश्चिन् मन्येत, नन्विन्द्राधिकाराभिषेके ब्रह्माधिकृतः कथमन्येनाभिषेक इति चेत् तत्राह **ब्रह्मणेति**, ब्रह्मा स्वयं लज्जते कथं स्वस्वामिनं गवामिन्द्रपदेभिषेक्ष्यामीति, अयुक्तश्च भवत्यस्माकं तु युक्तं, हीनोपि महान्तं पतित्वेन वृणुते, सम्मत्यर्थं ब्रह्मप्रार्थना तेन च प्रेरिता **वयं**, भगवदधिष्ठितासु गोषु सर्वोत्कृष्टं हविर्भवेदित्यतः शीघ्रं प्रेरितवान्, शीघ्रप्रेरणायां हेतुरवतीर्णोसीति, भूभारहरणार्थमवतीर्णः शीघ्रं भूभारं हृत्वा तिरोभवेदतः शीघ्रं गवामिन्द्रः कर्तव्य इति, हीनतादूषणं तु नास्ति विश्वात्मकत्वाद् व्यापिवैकुण्ठादधः समागतः पदान्तरं च प्राप्नोत्यत इन्द्रत्वमुचितम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—अभिषेक एक संस्कार है, इस लिए अभिषेक बिना शास्त्रानुसार इन्द्र (पति) नहीं होता है । अभिषेक होजाने के बाद फिर दूसरा कोई अपने को पति नहीं मानता है । यदि अभिषेक नहीं किया जाए तो मोह से चाहे कोई अपने को पति मान बैठे ।

शङ्का—इन्द्र के अधिकार का अभिषेक करने का अधिकार तो केवल ब्रह्माजी को ही है, तब अन्य-(कामधेनु)-ने अभिषेक कैसे किया ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आप तो स्वभाव से इन्द्र हो ही, फिर भी ब्रह्माजी की प्रेरणा से, हम आप का गोकुल नाथ-(पति)-रूप से अभिषेक करती हैं । अपने पति-(स्वामी) को गायों के पति-(इन्द्र)-हीन पद पर अभिषेक करने में ब्रह्माजी को लज्जा आई । इस कारण से वे स्वयं नहीं आए । स्वयं हीन हम तो अपने से महान् आप का पति रूप से अभिषेक कर सकती हैं । इस कार्य में सम्मति के लिए हमने ब्रह्माजी से प्रार्थना की थी । तब उन ने हम को इस कार्य में प्रेरित किया है ।

ब्रह्माजी ने भी यह सोच कर कि-'भगवदधिष्टित गायों में हवि (होम द्रव्य-दूध घी) सब से उत्कृष्ट होगा-हमें शीघ्र प्रेरित कर दिया । ब्रह्माजी के द्वारा हमें आप का अभिषेक करने की शीघ्र प्रेरणा देने का एक यह भी कारण है, कि आपने पृथ्वी के भार को उतारने के लिए अवतार लिया हैं। अतः शीघ्र ही पृथिवी के भार को दूर करके आप तिरोहित हो जाँए, अपने अक्षर धाम में पधार जाँए । इस लिए जल्दी से, गायों के इन्द्र रूप से, अभिषेक कर देना चाहिए। अखिल पति होकर केवल गायों के पति रूप से आपका अभिषेक करने से आप में हीनता दोष नहीं आसकता, क्योंकि आप तो विश्व रूप हो रहे हो और व्यापि वैकुण्ठ से नीचे पधार कर दूसरी स्थिति को प्राप्त हो ही रहे हो । इस लिए हमारे इन्द्र होना (बनना) आप को उचित ही है । आप स्वभाव से तो इन्द्र हैं ही अभिषेक से भी मैं आपको इन्द्र करूंगी ॥२१॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धतैः ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि काम धेनु ने इस प्रकार भगवान् का आमन्त्रण करके (पूछ कर) अपने दूध से और ऐरावत हाथी की सूँड से लाए आकाश गङ्गा—मन्दाकिनी के जल से अभिषेक किया ।।२२।।

सुबोधिनी—एवं प्रार्थनां कृत्वाभिषेकं कृतवतीत्याहैवमिति, फलरूपमपि देवतात्वेनोपामन्त्र्याङ्गीकृते भगवत्यभ्यषिञ्चदितिसम्बन्धः, भगवतोङ्गीकारे दया हेतुरिति वदंस्तस्या अभिषेकावश्यतामाह **सुरभिरिति**, सुराद् बिभेतीति **सुरभिः**, देवा एव तां भक्षयन्ति किं **पुनर्देवेन्द्रोतो भगवन्तं शरणं गच्छन्ती व्याजेनेन्द्राभिषेकं** कृतवत्यत एव ततः**प्रभृति सर्ववेदसिद्धोपि गोवधो निवृत्त उपपातकत्वं तद्वधे महापातकादप्यधिकविगानं च**, प्रथमत **आत्मनः पयसा** दुग्धेनाभ्यषिञ्चदत एव तदिन्द्रियं जातमिन्द्रं यातीति, ततो जलाभिषेकोपि जात इत्याह **जलैरिति**, **आकाशगङ्गा** नित्या या शिशुमारे प्रसिद्धा, तत् नित्यं जलं **तत्तरणादेव तारकात्वं, आकाशगङ्गा** चोदरत इत्युपपादितं, **ऐरावतो गजस्तस्य करोभिषेके प्रशस्तः**, तथा सति पुष्करजलत्वमापद्यते, तत्सम्बन्धेपि जलं **नोपहतं भवति प्रत्युत पवित्रमेव, अन्यस्य तत उद्धारोशक्य इति** तथोक्तम् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार प्रार्थना करके कामधेनु ने भगवान् का अभिषेक किया, यह 'एवं कृष्णमुपामन्त्र्य'–इस श्लोक से कहते हैं । फल रूप भी भगवान् का देवता रूप से उपामंत्रण करके भगवान् के स्वीकार कर लेने पर, अभिषेक किया–ऐसा सम्बन्ध है । भगवान् की स्वीकृति में दया को कारण बतलाते हुए अभिषेक की आवश्यकता को कहते हैं कि वह सुरभि है, देवों से वह डरती है । देव भी उसे खा जाते हैं, तो देवेन्द्र उसका भक्षण कर ले, तो इस में कहना ही क्या है । इसलिए भगवान् के शरण जाती हुई वह बहाने से उनका इन्द्र रूप से अभिषेक करने लगी । इसी कारण से, सब वेदों से सिद्ध भी गोवध उसी समय से बन्द होगया । वह उप पातक (अल्पपाप) माने जाने लगा और उस के वध में महा पातकों से भी बढकर–(अधिक)–निन्दा होने लग गई ।

पहले अपने दूध से अभिषेक किया । इस से, वह दूध इन्द्रिय–इन्द्र के योग्य शक्ति वाला और इन्द्र को प्राप्त होने वाला हुआ । फिर जल से भी अभिषेक किया । आकाश गङ्गा शिशुमार चक्र के उदर में प्रसिद्ध है, जिस का पंचम स्कन्ध में वर्णन आचुका है । वह और उस का जल भी नित्य है । उस के जल में तैरने से ही तारा कहे जाते हैं । ऐरावत हाथी की सूँड अभिषेक करने में उत्तम गिनी जाती है । हाथी की सूँड को पुष्कर कहते हैं और पुष्कर एक महा तीर्थ प्रसिद्ध है । इस श्लेष से हाथी की सूँड का जल पुष्कर तीर्थ के जल के समान पवित्र होजाता है । हाथी की सूँड के सम्बन्ध से जल अपवित्र नहीं होता किन्तु परम पवित्र हो जाता है । ऐरावत के अतिरिक्त आकाश गंगा के जल को कोई और ला भी नहीं सकता । इसीलिए ऐरावत का लाना कहा है ।।२२।।

श्लोक—**इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं प्रहितो देवमातृभिः ।**
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ।।२३।।

श्लोकार्थ—देवर्षि नारदादि के साथ देव माता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदि

की आज्ञा से इन्द्र ने भक्तों की रक्षा करने में समर्थ भगवान् का अभिषेक किया और उनका गोविन्द नाम रखा ।।२३।।

सुबोधिनी—एवं तस्याभिषेकसमय एकदेशभूतास्ते देवा ब्राह्मणा अप्यभिषेकं कृतवन्त इत्याहेन्द्र इति, सुरर्षिभिर्नारदादिभि: सहित इन्द्रस्तैर्वा यथेष्टं प्रेरितो देवमातृभि: सहितोदित्यादिभि: श्रद्धादिभिर्वा, सर्वसम्मत्या सर्वैरेव सहिता सुरभिरिन्द्रश्च दाशार्हं सेवकरक्षणक्षमं रक्षणपरं वाभ्यषिञ्चत् नामान्तरं च धारितवतीत्याह गोविन्द इति चाभ्यधादिति, गवामिन्द्र:, अत्रामृतबीजस्य वकारस्य मध्य उपादानं "भूवादय" इतिवत्, रन्प्रत्ययो नात्रोपात्त:, रूढिजनकत्वेन धात्वर्थस्य गौणत्वापादकत्वादतोच्प्रत्ययान्त एव निर्दिष्ट:, स तु धात्वर्थपर एव भवतीति गोविन्द इत्येव शब्द: साधुर्न तु गवेन्द्र इति, चकारादिन्द्रेन्द्रो देवेन्द्र: सुरभीन्द्र इत्यादिनामान्यपि स्वस्वनामपुर:सरं सर्वैर्धृतानि, तेन व्रजेन्द्रो गोपेन्द्र इत्याद्यपि भवति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कामधेनु ने अभिषेक किया, तब एक ओर स्थित देवों और ब्राह्मणों ने भी भगवान् का अभिषेक किया । वह, 'इन्द्र:', इस श्लोक से कहते हैं । देवर्षि नारदादि के साथ अथवा नारदादि के द्वारा प्रीति से प्रेरित इन्द्र ने देव माता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदि के साथ सब की सम्मति से सभी के साथ सुरभि और इन्द्र ने सेवकों की रक्षा करने में समर्थ तथा सदा पालन करने वाले भगवान् का अभिषेक किया और गोविन्द (गायों के इन्द्र) यह उनका दूसरा नाम प्रसिद्ध किया । गोविन्द शब्द में 'भूवादय:' (धातव) की तरह अमृत का बीज 'वकार' मध्य में दिया है । यह नाम रूढिजनक है, इस लिए धातु का अर्थ रूढि से गौण हो गया है । इसी कारण से यहां रन् प्रत्यय का प्रयाग न करके अन्त में धातु के अर्थ में अच् प्रत्यय से गोविन्द शब्द निष्पन्न-सिद्ध-होता है । इस तरह गोविन्द शब्द ही रूढ़ि से उचित है, गवेन्द्र नहीं है । श्लोक में आए 'च' अव्यय पद से, सबों ने अपने अपने नाम के आगे इन्द्र शब्द का प्रयोग कर के इन्द्रेन्द्र, देवेन्द्र, सूरभीन्द्र, इत्यादि नाम रक्खे इस से व्रजेन्द्र, गोपेन्द्र आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं ।।२३।।

श्लोक—तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः सन्ननृतुर्मुदान्विताः ।।२४।।

श्लोकार्थ—तुम्बुरू, नारद आदि प्रधान गन्धर्व विद्याधर सिद्ध चारण आदि उस स्थान पर उपस्थित हो कर, सकल लोक के पाप को हरने वाले हरि के यश को गाने लगे । अप्सराएँ आनन्दमग्न होकर नृत्य करने लगीं ।।२४।।

लेख—इन्द्र:-इस श्लोक की व्याख्या में-यथेष्टं प्रेरित:-पदों का तात्पर्य यह है कि अपनी अपनी रूचि के अनुसार देवेन्द्र, सुरभीन्द्र आदि नाम प्रसिद्ध करने की प्रेरणा की । अदिति के अतिरिक्त दूसरी देव माता नहीं है, किन्तु श्लोक में-देव-मातृभि:-बहुवचन से श्रद्धा आदि का ग्रहण करने पर यह अर्थ है कि-शुभ आदि धर्म पुत्र और सत्व के परिणाम हैं । इसलिए वे शुभ आदि भी देव हैं ।।२३।।

सुबोधिनी—एवं भगवतोभिषेक उत्सववाद्यानि जातानीत्याह तत्रागता इति, तुम्बुरुर्मध्यमः पूर्वमुभयात्मको निरूपित इति तुम्बुरुर्नारदश्चादिर्येषां, गन्धर्वा गायका विद्याधरा वादकाः सिद्धा अद्भुतप्रदर्शकाश्चारणाः पुरुषनर्तका एते सर्व एव भगवतो यशो जगुः, ननूत्सवे सर्वेभ्योभीष्टं देयं किं गानमात्रेणेति चेत् तत्राह लोकमलापहमिति, सर्वेषां सर्वदुःखे निदानभूतं मलमेव दूरीकरोति, सुराङ्गनाश्च हर्षेणान्वित सम्यङ्ननृतुस्ता हि कृष्णेन सह रमणोत्सुक्यो देवादिन्द्राच्च भीताः स्थिता अधुनेन्द्रत्वे सम्पन्ने यान्निवृत्ता आगमनं चावश्यकं जातमिति मुदान्विता जाता भावपूर्वकं च नृत्यं कृतवत्यो यथा च भगवान् वशे भवति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् का अभिषेक होने पर उत्सव सूचक बाजे बजने लगे । यह, 'तत्रागताः'-इस श्लोक से कहते हैं। मध्यम भी तुम्बुरु का नाम प्रथम लेने का तात्पर्य यह है, कि तुम्बुरु गायन और वादन दोनों गुण वाला है । तुम्बुरु नारद आदि गन्धर्व (गायक) विद्याधर (वादक) सिद्ध (विचित्र इन्द्र जाल दर्शक) और चारण (नृत्यकला कुशल)-ये सब वहाँ आकर (भगवान्) जीवों के सारे दुःखों का कारणभूत मलों (पापों) का नाश कर देने वाले भगवद्यश को गाने लगे । पापों का फल दुःख है । भगवान् के यश का गान करने से, वह केवल गान मात्र ही नहीं रहा, किन्तु सारे दुःखों के कारण मल का नाश हो जाने से, सब को ही अपने वाञ्छित फल की प्राप्ति होगई। अप्सराएँ अत्यन्त प्रसन्न होकर मनोहर नृत्य करने लगीं। वे भगवान् के साथ रमण करने को उत्सुक थीं. किन्तु देवों से डरती थी । अब जब भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक हो गया, तो वे निर्भय हो गई और इस अवसर पर उनका भी आना आवश्यक था । इसलिए वे आकर आनन्दमग्न हो भाव पूर्ण इस प्रकार नृत्य करने लगीं कि जिस से भगवान् उनके वशीभूत हो जाए ।।२४।।

श्लोक—तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—प्रधान प्रधान देव गण भगवान् पर दिव्य पुष्पों की वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे । तीनों लोकों में परम आनन्द छा गया । उमङ्ग के मारे गायों के थनों से दूध की धाराएँ बह चली, जिससे पृथिवी भीग गई (दूध से गीली हो गई) ।।२५।।

लेख—तत्रागताः-इस श्लोक की व्याख्या में, 'मुदाताहि', इत्यादि पदों का तात्पर्य इस प्रकार है । 'मुदा' पद का दूसरा अर्थ कहा है कि वे अप्सरायें पहले श्रीकृष्ण के साथ ही स्थित थीं और अब भय मिट जाने से वे भली भाँति नृत्य करने लगीं । 'कृष्णरमणोत्सुक्यः (श्रीकृष्ण के साथ रमण करने में उत्सुक) पद से उन की श्रीकृष्ण के साथ स्थिति का निरूपण किया है । अर्थात् उनके मन में श्रीकृष्ण पहले ही स्थित है । यहाँ, 'मुदा' पद की दो बार आवृति अभीष्ट है, क्योंकि एक 'मुदा' पद तो आनन्द का वाचक होने से श्रीकृष्ण परक है । और द्वितीय-मुदा-पद नृत्य में उन की प्रसन्नता का बोधक है । इसी प्रकार-सनन्नृतुः-पद में-सम्-उपसर्ग के भाव पूर्वक नृत्य और भगवान् को वशीभूत कर लेने वाला नृत्य-दोनों अर्थ अभिप्रेत (लिए गए) हैं ।

सुबोधिनी—इन्द्रत्वे जाते सर्व एव स्वर्गलोकः समागतस्तदा देवसमूहे ये केतव इवोन्नता देवोत्तमा ब्रह्मादयो मन्त्रा वेदा वा तं भगवन्तमिन्द्रं तुष्टुवुः, अत एव वेद इन्द्रो महान् स्तूयते भगवानिन्द्रो जात इति, ननु प्राकृतानामिन्द्रत्व आधिदैविके"प्यर्धेन्द्राणि जुहो" तीति नोपपद्यत इन्द्रत्वेनार्धता भगवत्त्वेन तु सर्वत्वं, अद्भुतपुष्पवृष्टिभिश्च विशेषेणावाकिरन् पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, एवं दिविष्ठाना वाचनिकं कायिकं चोक्त, मानसिकमाह सर्वे लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवन्निति, त्रयोपि लोकाः परमानन्द प्राप्ताः, तदा गावोन्ता रसपूर्णा बहिरपि रस त्यक्तवत्य इत्याह गावस्तदा गां पृथिवीं पयोद्रुतां पयसा पिच्छिलामनयन् कृतवत्यः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक होने पर सारा स्वर्ग लोक वहाँ आगया। देवों में ध्वजा रूप प्रधान प्रधान ब्रह्मादि देवोत्तमों अथवा देवोत्तमरूप मंत्रात्मक वेदों ने इन्द्र रूप से भगवान् की स्तुति की। भगवान् स्वयं इन्द्र हुए हैं, इसी कारण से वेदों में इन्द्र की स्तुति प्रधान देव रूप से की जाती है। वेदों में इन्द्र शब्द यदि प्राकृत इन्द्र का वाचक हो तो आधिदैविक यज्ञ में आधे हविर्भाग का इन्द्र के लिए होम और आधे का सारे देवों के लिए हवन लिखना सङ्गत नहीं होता। इन्द्र शब्द भगवत्परक मानने पर ही आधा या सारा भाग दिया जाना, सभी सङ्गत हो सकता है। श्रुति ने भी अर्धभाग की अधिकता कह कर, इन्द्र का उत्कर्ष श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके ही कहा है। भगवान् सर्वरूप हैं, सर्वशक्तिमान् और विरुद्ध सर्वधर्मों के आश्रय हैं इस लिए उनके इन्द्रत्व में तो कुछ भी असङ्गत नहीं है।

ब्रह्मादि देवों ने विचित्र पुष्पों की–भगवान् के ऊपर–विशेष वर्षा की। इस प्रकार स्तुति और पुष्पवृष्टि के कथन से देवों की वाणी और शरीर की क्रिया का वर्णन करके, अब मानसिक क्रिया का वर्णन करते हैं कि तीनों लोक परम आनन्दित हो गए। हृदय में रस पूर्ण–(आनन्दित)–हुई गायों ने बाहर भी रस–(दूध)–से पृथिवी को कीचड़-मयी–(चिकनी)–कर दिया ।।२६।।

श्लोक—नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो व्यसृजन् मणीन् ।।२६।।

श्लोकार्थ—नदियों में भाँति भाँति के रसों के पूर आगए। वृक्षों के कोटरों में से मधु झिरने लगा। बिना जोते-बोंए अन्न उत्पन्न होने लगे। पर्वतों में खान के भीतर के रत्न बाहर निकल आए ।।२६।।

सुबोधिनी—सरितश्च नानारसानां घृतक्षीरादीनामोघो यासां तादृश्यो जाता वृक्षाश्च मधुच्युत औषधयो व्रीह्यादयः कर्षणव्यतिरेकेणैव पक्का जाताः, अकृष्टपच्याश्च ता औषधयश्च गिरयः पर्वताश्च स्वाभ्यन्तः-स्थितान् मणीन् व्यसृजन्, एवं स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामेवोत्सवो निरूपितः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—नदियों में घी, दूध आदि अनेक भांति के रसों के पूर आए। वृक्षों में से मधु झिरने लगा। औषधियाँ और धान्य बिना जोते बोए ही पकने लगे। पर्वत अपने भीतर खानों में छिपे रत्नों को बाहर निकालने लगे। इस प्रकार जड़-चेतन-सभी के उत्सव का निरूपण किया ।।२६।।

श्लोक—कृष्णेभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन ।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे कुरूनन्दन ! कृष्ण का अभिषेक होने के समय स्वभाव से ही आपस में बैर रखने वाले क्रूर जीवों ने भी बैर-भाव छोड़-दिया ॥२७॥

सुबोधिनी—तमुपसंहरन् पूर्वेन्द्रेभ्यो भगवतीन्द्रे वैलक्षण्यमाह कृष्णेभिषिक्त इति, सदानन्देभिषिक्ते सति स हि सर्वानभिषिञ्चति स्वानन्देन यदि सोप्यभिषिक्तः सर्वैस्तदा महदाश्चर्यं जातमिति, एतानि परिदृश्यमानानि सर्वाण्येव निसर्गतोपि क्रूराणि शाश्वतिकविरोधयुक्तान्यपि निर्वैराण्यभवन्, तदा शुकस्तामवस्थां प्राप्त पशून् पश्यन्नाहैतानीति, कुरुनन्दनेतिसम्बोधन विश्वासार्थं सद्वंशोत्पन्नस्यैव विश्वासो भवतीति, तातेतिसम्बोधनं स्नेहसूचकं तेनाप्रतारणापि सूचिता ॥२७॥

व्याख्यार्थ—अभिषेक वर्णन का उपसंहार करते हुए पहले के इन्द्रों की अपेक्षा भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक होने पर, जो विलक्षणता हुई, उस का वर्णन-'कृष्णेभिषिक्ते'-इस श्लोक से करते हैं। कृष्ण सदानन्द का अभिषेक होने पर, वह तो अपने आनन्द से सब को अभिसिञ्चन करने वाला होकर भी, सब के द्वारा अभिषिक्त होता है-यह बड़े-आश्चर्य की बात हुई। ये सब ओर दिखाई देने वाले, स्वभाव से ही क्रूर जीवों ने अपने जन्म सिद्ध बैर का त्याग कर दिया। उस समय शुकदेवजी भी-निर्वैर भाव की अवस्था (स्थिति) को प्राप्त करके पशुओं के विरोध को प्रत्यक्ष देखते हुए-'एतानि'-इन्होंने बैर छोड़ दिया-ऐसा कह रहे हैं।

कुरूनन्दन, यह संबोधन पद विश्वास के लिए कहा है; क्योंकि उत्तम वंश में उत्पन्न होने वाले का ही इसमें विश्वास होता है। तात, इस से स्नेह सूचित होता है जो इस चरित्र में निष्कपटता का बोध कर रहा है ॥२७॥

श्लोक—इति गोगोकुलपति गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस तरह गोपों और गायों के स्वामी गोविन्द का अभिषेक करके, उनसे आज्ञा लेकर इन्द्र भी देवर्षियों के साथ अपने स्वर्ग लोक में चला गया ॥२८॥

सुबोधिनी—एवमभिषेकमहोत्सवमुक्त्वाभिषेककर्तुः स्वर्गप्राप्तिमाहेतीति, पूर्वं गोगोकुलपतिमित्यमुना प्रकारेण गोविन्दं कृत्वाभिषिच्य स प्रसिद्धो भगवदनुगृहीतो वा भगवतैवानुज्ञातो देवादयोत्र स्थास्यन्तीति सन्दिह्य तैर्वृतः सन् दिवं ययौ, भगवांस्तु स्वस्थान एव वर्तत इति नात्र प्रत्यापत्तिः कर्तव्या ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरसाधनप्रकरणे षष्ठस्य स्कन्धादितश्चतुर्विशाध्यायस्य विवरणम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अभिषेक के महोत्सव का वर्णन करके अभिषेक करने वाले इन्द्र का पुनः स्वर्ग को लौट जाने का वर्णन-इति-इस श्लोक से करते हैं। पहले ही से गायों और गोकुल के पति भगवान् का इस प्रकार गोविन्द रूप से अभिषेक करके वह प्रसिद्ध अथवा भगवान् के द्वारा अनुग्रहित इन्द्र उन (भगवान्) की आज्ञा लेकर देवादिकों के साथ पीछा स्वर्ग में चला गया। उसके मन में ऐसा संदेह हो गया, कि देवगण यहाँ भगवान् के पास ही रह जाँए। इसलिए उन्हें इन्द्र ने अपने साथ ही ले लिया। भगवान् तो अपने ही स्थान में विराजते हैं। इसलिए आप के लिए पीछा लौटने का कोई प्रश्न ही नहीं है ॥२८॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २४ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण का छठ़ा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २८वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २५वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

'सप्तमोऽध्याय'

वरुण लोक से नन्दरायजी को छुड़ा कर लाना

कारिका—**पञ्चविंशे तु वरुणान् नन्दं मोचयिता हरिः ।**
ततः **सर्वान् स्ववैकुण्ठे नेष्यतीत्युच्यते फलम् ॥१॥**

कारिकार्थ—इस पच्चीसवें अध्याय में हरि नन्दरायजी को वरुण के पास से छुड़ावेंगे । फिर सब को अपने वैकुण्ठ में लेजाएँगे । इस प्रकार अवान्तर--(गौण)--फल का वर्णन होगा ॥१॥

कारिका—**अभिषेकश्च तैर्दृष्टो देवस्तोत्रादिकं श्रुतम् ।**
ज्ञाते देवोत्तमत्वे तु द्रष्टव्यं पौरुषं परम् ॥२॥

कारिकार्थ—उन व्रजजनों ने भगवान् का इन्द्र कृत अभिषेक देखा और देवों के

द्वारा की गई भगवान् की स्तुति सुनी। जिस से वे जान गए कि भगवान् सब देवों में उत्तम हैं। तदनन्तर पुरुष सम्बन्धी सब से श्रेष्ठ महात्म्य का दर्शन होना चाहिए ॥२॥

कारिका—**अन्यथा नन्दविज्ञानं भवेत् पर्यवसायि तत्।**
अतस्तन्निग्रहो वाच्यो वरुणस्तेन सेवकः ॥३॥

कारिकार्थ—यदि ऐसा न होता, तो नन्दरायजी को केवल इतना ही ज्ञान हो पाता कि श्रीकृष्ण केवल देवोत्तम नारायण का अंशरूप है। यह ज्ञान भक्तिमार्ग का विरोधी है। इस विरुद्ध ज्ञान के कारण ही श्री नन्दजी का निग्रह--(बन्धन)--कहना चाहिए। इस से वरुण ने भगवान् के सेवक का सा काम किया ॥३॥

कारिका—**कालाद्युपासकश्चेत् स्याद् भगवत्सेवकः क्वचित्।**
ततः क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् का सेवक यदि कहीं कभी काल आदि का उपासक हो जाता है, तो वह क्लेश को प्राप्त करता है। उस भक्त को उस क्लेश से भगवान् ही मुक्त करते हैं ॥४॥

कारिका—**ततो माहात्म्यविज्ञानं पूर्णं तस्य भविष्यति।**
ततश्चिन्तनमात्रेण भगवान् स्वपदं नयेत् ॥५॥

कारिकार्थ—तदनन्तर भक्त को भगवान् के पूर्ण महात्म्य का ज्ञान हो जाएगा। इसी से, केवल चिन्तन करते ही, भगवान् उस भक्त को अपने स्थान में ले जाते हैं ॥५॥

टिप्पणी—'अन्यथा नन्दविज्ञानम्'-इत्यादि कारिका का तात्पर्य यह है, कि वरुण का ऐश्वर्य, वरुण का भगवान् के आगे दास भाव और नन्दरायजी को वरुण के पास से लोटा लाना, यह सब पुरुष सम्बन्धी उत्कृष्ट महात्म्य का द्योतक है। इस प्रकार का परम-उत्कृष्ट महात्म्य जान लेने पर ही, भगवान् के पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान होता है। भगवान् यदि नन्दरायजी को अपने परमोत्कृष्ट महात्म्य का दर्शन नहीं कराते, तो वे पहले कि तरह ही भगवान् को केवल देवोत्तम नारायण का अंश ही मानते रहते। पुरुषोत्तम को इस प्रकार नारायण का अंशरूप जानना भक्ति मार्ग का विरोधी ज्ञान है। इस प्रकार के ज्ञान से, आगे भजनानन्द का अनुभव नहीं हो सकता है। नन्दरायजी का भगवान् के विषय में अभी तक ज्ञान, भक्ति मार्ग के विरुद्ध है। इसी कारण से, उनका निग्रह (बन्धन) कराना चाहिए और तब उन्हें अपने निरवधि अनन्त माहात्म्य और पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान उत्पन्न

कराना चाहिए । ये दोनों कार्य भगवान् ने वरुण के द्वारा कराए । इसलिए भगवान् वरुण को सेवक रूप से मानते हैं ।

लेख:—प्रथम कारिका में–मोचयिता–यह 'तृन्' प्रत्ययान्त पद है । 'स्व–वैकुण्ठे नेष्यति' (अपने वैकुण्ठ में ले जाएंगे) । यद्यपि अभी भी यह लीला–'रमाक्रीडमभूत्'–के अनुसार–व्यापिवैकुण्ठ में ही हो रही है, तथापि जब भगवान् ने मानुषभाव ग्रहण किया, तब उस व्यापिवैकुण्ठ का भी लौकिक भाव हो गया था । अभी अर्जुन को अलौकिक स्वरूप के दर्शन की तरह इन्हे दिव्य वैकुण्ठ के दर्शन कराएगे । नहीं तो नन्दरायजी श्रीकृष्ण को नारायण का अंश ही जान पाते । उन को भगवान् में पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान नहीं होता ।

योजना—'उच्यते फलम्'–वैकुण्ठ में गोपों को ले जाना रूप गौण फल कहा जाएगा । 'पर्यवाथि'–इत्यादि पदों का अभिप्राय लिखते है । इन्द्र कृत स्तुति और अभिषेक तथा देव आदि के दर्शन से श्रीकृष्ण को देवोत्तम जान लेने के बाद पुरुष सम्बन्धी उत्तम माहात्म्य का दर्शन करना चाहिए, जिस से भगवान् को पूर्ण पुरुषोत्तम जान सके । इन्द्र का दमन करना रूप सामर्थ्य देखने से तो भगवान् मे केवल इन्द्रदमन की शक्ति होने का ही ज्ञान, सीमित ही ज्ञान होगा । इसलिए, 'परमोत्कृष्ट' सर्वैश्वर्य का ज्ञान कराने के लिए नन्दरायजी का निग्रह कहना आवश्यक है । इस श्री नन्दजी के बन्धन के वर्णन से वहाँ वरुण लोक में वरुण के पृथिवी पर कभी नहीं देखा ऐसे लोकोत्तर वैभव को देख कर और ऐसे वैभवशाली वरुण को भी श्रीकृष्ण के आगे दास भाव से शरण में आना देख कर नन्दरायजी को यह ज्ञान हुआ कि श्रीकृष्ण भगवान् सब से श्रेष्ठ है । (तेन सेवकः) इसलिए वरुण ने नन्दजी का बन्धन किया, नन्दजी ने वरुण के वैभव को देखा । इस वरुण–वैभव को देख कर नन्दरायजी के मन में भगवान् के परम वैभव को देखने की इच्छा हुई और तब भगवान् ने उन्हें वैकुण्ठ के दर्शन कराए । इस प्रकार, वरुण कृत बन्धन से इतना उपकार हुआ । इसलिए वरुण ने भक्त गोपजनो का उपकार किया । यह उपकार करके वरुण ने भगवान् के आगे अपना सेवक भाव प्रकट किया ।

कालाद्युपासकश्चेत–से लेकर–'क्लेशमवाप्नोति'–तक कारिका के पदों का भाव यह है, कि भगवान् के सेवक श्रीनन्दजी ने द्वादशीरूप काल विशेष के उपासक होकर वरुण–सेवक द्वारा बन्धन रूप क्लेश उठाया ।

यहां इन पाँचों कारिकाओं का निष्कर्षार्थ लिखते है । इस २५ वें अध्याय में गोपों को वैकुण्ठ में ले जाना रूप अवान्तर (गौण) फल का वर्णन है । इन्द्र कृत अभिषेक, इन्द्रादि देवों का दर्शन, उनके द्वारा भगवान् की स्तुति का श्रवण, भगवान् का इन्द्र को शिक्षा देना, आदि के द्वारा इन्द्रदमनादि कार्य से भगवान् को गोपजनों ने देवोत्तम तो जान लिया, किन्तु आगे वरुण का ऐश्वर्य, उस ऐश्वर्यशाली वरुण का श्रीकृष्ण के आगे दास भाव, नन्दजी को वहां से ले आना रूप अलौकिक सामर्थ्य को देखकर, पुरुषोत्तम रूप से जानना है । यदि वरुण कृत स्तुति आदि को नन्दजी नहीं देख पाते, तो वे श्रीकृष्ण को प्रथम ज्ञान की तरह, नारायण का अंश ही माने रहते । पुरुषोत्तम का ज्ञान उनको नहीं होता । वह 'मन्ये नारायणस्यांशम्' श्रीकृष्ण को नारायण के अंश रूप से ज्ञान भक्तिमार्ग के विरुद्ध है । इस कारण से वरुण के द्वारा नन्दजी का निग्रह कहना आवश्यक है । वरुण भगवान् का सेवक है । इस प्रकार इस लीला से–भगवान् ने अपना अनन्त माहात्म्य का ज्ञान तथा भक्तिमार्ग के विरुद्ध नारायण का अंशरूप ज्ञान का निराकरण–दोनों कार्य करा दिए । इसलिए भगवान् वरुण को अपना सेवक मानते हैं । कालाद्युपासकश्चेत्–भगवान् का सेवक यदि द्वादशी आदि काल साधन, तत्पर हो जाता है, तो वह

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्त्रातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा--हे राजन्, नन्दरायजी ने एकादशी के दिन निराहार व्रत रह कर मोक्षदाता जनार्दन भगवान् की पूजा की और द्वादशी के दिन बहुत ही थोड़ी द्वादशी होने के कारण (द्वादशी में ही पारणा करना चाहिए इस लिए) वरुणोदय से पहले ही--आसुरी वेला का विचार न करके--स्नान करने के लिए यमुना के जल के भीतर प्रवेश किया ॥१॥

सुबोधिनी—भगवतः सम्पूर्णमाहात्म्यज्ञानार्थं निरुद्धानां वैकुण्ठे गमनमुच्यते तदर्थं प्रथमं धर्मबुद्धया मर्यादायां प्रवृत्तस्य सर्वथा भगवन्तमभजतो नन्दस्यानर्थसम्बन्धमाहैकादश्यामिति, स हि विष्णुव्रतपरायणो धर्मनिष्ठश्चान्यस्य माहात्म्यज्ञान न स्यादिति तथोच्यते माहात्म्यज्ञापनार्थमेव नयनमतो न वरुणो निगृहीतः, **एकादश्यां निराहारः** सन् **जनार्दनं** मोक्षदातारं **सम्यगभ्यर्च्य** नन्दो व्रते स्वधर्ममपि कर्तुं वैष्णवं पक्षमाश्रित्य वैदिकपक्षं त्यक्त्वार्धरात्रसमये द्वादश्यां जातायां कालिन्द्यां प्रवाहमध्ये जलमाविशत्, "मुहूर्तार्धविशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति निशीथात् सम्यगुत्थाय क्रियाः कुर्याद् यथोचितम् अग्निहोत्रादिकर्माणि तथा नैमित्तिकानि च आ मध्याह्नात् क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुचोदना"दिति वैष्णवधर्मविश्वासात् स्नातुं प्रवृत्तः ॥१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के सम्पूर्ण माहात्म्य का ज्ञान कराने और भगवान् में निरोधप्राप्त भक्तों को वैकुण्ठ प्राप्ति का वर्णन करने के लिए प्रथम धर्मबुद्धि से मर्यादा में लगे, सर्वथा भगवान् का भजन न करने वाले नन्दरायजी के अनर्थ के सम्बन्ध का वर्णन-एकादश्यां-इस श्लोक से करते हैं। नन्दरायजी विष्णु के व्रत में परायण एवं धर्मनिष्ठ हैं। दूसरे को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान न हो-इस लिए ऐसा कहा है। माहात्म्य का ज्ञान कराने के लिए ही इन्हे वरुण के पास लेजाया गया है। इसी कारण से भगवान् ने वरुण का निग्रह नहीं किया। एकादशी का उपवास रह कर मोक्ष के दाता जनार्दन की विधिपूर्वक पूजा करके नन्दरायजी ने व्रत में अपने धर्म के भी अनुसार वैष्णव पक्ष का आश्रय करके वैदिक पक्ष को छोड़कर अर्धरात्रि के समय में द्वादशी के आजाने पर यमुनाजी के प्रवाह के भीतर जल में प्रवेश किया। वैष्णवधर्म में कहा है कि-आधा मुहूर्त बाकी रहने

श्री नन्दजी की तरह क्लेश पाता है और कृष्ण ही उस क्लेश से मुक्त करते हैं। इस प्रकार क्लेश दूर करके स्वमहात्म्य का ज्ञान कराकर मनोरथ करते ही स्वपद वैकुण्ठ को लेजाने का वर्णन किया है ॥

॥ इति कारिकार्थः ॥

पर द्वादशी में पारणा के लिए मध्य रात्रि में ठीक उठकर यथोचित क्रियाएँ करे । मध्याह्न तक अग्निहोत्रादि नित्य, नैमित्तिक कर्म कर लेने चाहिए-ऐसा शम्भु का आदेश है । इस वैष्णव धर्म के वचन पर विश्वास होने के कारण नन्दरायजी स्नान करने में प्रवृत्त हुए । जल में प्रवेश ही नन्दरायजी को अनर्थ से सम्बन्ध कराने वाला हुआ ।।१।।

श्लोक—तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरान्तिकम् ।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ।।२।।

श्लोकार्थ—रात्रि में आसुरी वेला को न जान कर, स्नानार्थ जल में प्रवेश करने वाले नन्दरायजी को पकड़कर वरुण का सेवक वरुण के निकट लेगया ।।२।।

सुबोधिनी—तद्रक्षको वरुणस्य सेवकोन्यायं करोतीति मत्वा वैष्णवधर्मापरिज्ञानात् तं बद्ध्वा नीतवानित्याह तं गृहीत्वेति, वरुणस्यैव भृत्यो वरुणस्यान्तिकमनयत, तस्य नयनेभिप्रायमाहाविज्ञायेति, सासुरी वेला यस्तत्र धर्मं करोति तदसुरगामि भवतीममर्थं नन्दोज्ञात्वा जलं प्रविष्ट इति विज्ञायानयत्, वस्तुतोयमपि न जानाति तदग्रे वक्ष्यति वरुणोजानतेति ।।२।।

व्याख्यार्थ—वैष्णव धर्म को नहीं जानने वाला, उस जल का रक्षक वरुण का सेवक, इस को नन्दरायजी का अन्याय समझ कर, उनको पकड़कर वरुण के पास लेगया-यह इस-'तं गृहीत्वा'-श्लोक से कहते हैं । वरुण का सेवक ही उनको वरुण के समीप लेगया । उस का, उन को ले जाने का, अभिप्राय यह था कि वह आसुरी वेला है और आसुरी वेला में किया हुआ धर्म कर्म असुरगामी-(आसुरी)-हो जाता है । इस बात को नन्दरायजी ने नहीं जानकर ही, जल में प्रवेश किया है । ऐसा मान कर, वह उन्हें, अपने स्वामी वरुण के पास लेगया । वास्तव में तो यह वरुण का सेवक भी अज्ञानी था । यह आगे सातवें श्लोक में कहा जाएगा ।।२२।।

श्लोक—चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्णरामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ।।३।।

श्लोकार्थ—नन्दरायजी को जल से बाहर निकलते न देखकर गोप लोग कृष्ण और बलदेवजी को ऊँचे स्वर से पुकारने लगे । उनके उस करुण क्रन्दन को सुन कर और पिताजी को वरुण के द्वारा ले जाए गए जान कर, निजजनों को अभय दान करने वाले सर्व शक्तिमान भगवान् उस वरुण के निकट गए ।।३।।

सुबोधिनी—ततस्त मोचयितुं सर्वे गोपालाश्चुक्रुशुः कृष्णरामेति, अकस्माज्जले प्रविष्टःपश्चान्न दृष्ट इति तं नन्दमपश्यन्तः सर्वावस्थासु सर्वकार्येषु चोपायान्तरमलभमाना भगवन्तमेव विज्ञापयन्ति यतो गोपका अल्पा गोपास्तदा भगवान् गृह एव स्थितः शयानो दूरादेव कृष्णरामेतिवचनमाकर्ण्य पिता वरुणेन हृत इति ज्ञात्वेत एव वरुणान्तिकं गतः प्रायेणोक्त्वा गतोऽन्यथा महद् भयं स्यात्, भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयत्यन्यथैवं न कुर्यात् तत् साधनदशायां च वक्तव्यं, आवश्यकफले पूर्व कृते कर्मणि सति कर्मणोनिवृत्तत्वान्न प्रवेशः सम्भवतीत्यतो वरुणस्यान्तिकं स्वयमपि गतः, अन्यथा वरुणमेवाकारयेन् नन्दं वा कर्षेद्, माहात्म्यं च ज्ञापनीयमतः स्वयमेव गतः, राजन्निति सम्बोधनं राजधर्म एतादृश इति ज्ञापयितुमनुपेक्षणीयाः सेवका इति, किञ्च स्वानामभयदो यदि शीघ्रं न गच्छेदिदानीं भक्तानां भयं न निवर्तेत, विभुरिति सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थः, न हि भूमावतीर्णोत्रैव किञ्चित् करोति नान्यत्रेति, अन्यथा लीलाया अन्ते तान् वैकुण्ठे न नयेदवतारान्तरवदत कृष्णःसर्वत्र सर्वसामर्थ्ययुक्तः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तब उन-नन्दरायजी-को छुड़ाने के लिए सब गोप लोग-हे राम ! हे कृष्ण ! इस प्रकार जोर से आक्रन्दन करने लगे-यह-'चुक्रुशु' इस श्लोक से कहते हैं । गोपों ने अकस्मात् जल में डूबे हुए नन्दरायजी को जल से बाहर निकलते नहीं देखा । सब स्थितियों और सब कामों में गोपों को जब कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता है, तब वे भगवान् से ही प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे (गोपकाः) तुच्छ गोप हैं । तब घर में ही सोए हुए भगवान् उनके करुण क्रन्दन से पिताजी का वरुण के द्वारा पकड़ मँगवाना जान कर, वहाँ से ही वरुण के पास चले गए । वास्तव में गोपों से कह कर ही गए । बिना कहे जाने पर, तो गोपों को अत्यन्त भय बना रहता ।

भक्तों के सभी कार्यों में प्रवेश करके, उन कार्यों को अपने कार्य करके, उन को (भक्तों को) उन कार्यों से मुक्त करने के लिए ही निरोध लीला की है । यदि ऐसा नहीं होता, तो इस प्रकार नहीं करते । इस बात-(प्रसंग)-को साधन दशा, तथा इसी तरह से फल दशा में भी कहना उचित होता । पूर्वकृत कर्म का फल आवश्यक होता है, किन्तु उस कर्म के पूर्ण न होने पर, अर्थात् पूर्वकृत कर्म की निवृत्ति न होने से, उस में प्रवेश नहीं हो सकता । इसी कारण से, भगवान्-वरुण को अपने निकट न बुलाकर, अथवा, नन्दरायजी को ही वरुण के पास से न मँगवाकर-स्वयं ही वरुण के निकट गए । भगवान् को अपना माहात्म्य प्रकट करना है । इस लिए भी स्वयं ही गए । 'राजन्', इस सम्बोधन पद से, यह सूचित किया है, कि राज धर्म ऐसा ही है, जिस में सेवकों की उपेक्षा नहीं की जासकती । भगवान् तो भक्तों के लिए अभय दान देने वाले हैं, यदि वे स्वयं शीघ्र नहीं जाते तो भक्तों के भय की निवृत्ति नहीं होती । श्रीकृष्ण विभु-सब प्रकार से सब जगह सब कुछ करने में समर्थ हैं । पृथ्वी पर अवतार धारण करने से यहीं पर कुछ कर सकने की सामर्थ्य हो, ऐसा नहीं है । यदि ऐसी ही बात होती, तो अन्य अवतारों की तरह भगवान् कृष्ण भी इसी लीला के अन्त में गोपों को वैकुण्ठ में नहीं लेजाते । इस से सिद्ध हो जाता है, कि श्रीकृष्ण सर्वत्र सर्व सामर्थ्य युक्त हैं ॥३॥

लेख—'चुक्रुशुः'-श्लोक की व्याख्या में-निरोधलीला-पद का तात्पर्य 'अनुशयन' लीला से है । साधन दशा, अर्थात् याग दशा । फले अर्थात् वृष्टि दशा में । साधन दशा में प्रवेश का कारण, आवश्यक आदि पदों से कहा है ।

पहले तो प्रयोजन के न होने से प्रवेश नहीं किया और पीछे तो, कर्म की निवृत्ति हो जाने से वरुण के द्वारा नन्दरायजी का हरणरूप फल की दशा में ही प्रवेश किया । 'लीलाया-अन्ते' अर्थात् वरुण का निग्रह रूप लीला के अन्त में गोपों को वैकुण्ठ में ले गए ।

योजना—'चुकुशुः'–इत्यादि श्लोक की व्याख्या में–तदन्तिकं गतः–इत्यादि का अभिप्राय कहते हैं । शङ्का–वरुण तो सेवक है । स्वामी भगवान् का स्वयं सेवक के घर पर नन्दरायजी को लाने के लिए जाना तो उचित नही है । फिर भगवान् का–वरुण को अपने पास न बुलाकर–उस के पास जाने का क्या कारण है ? इसके समाधान में कहते है, कि भगवान् ने इन नन्द आदि गोपों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही निरोध लीला की है, जिससे प्रपञ्च की विस्मृतिपूर्वक उनकी भगवान् में आसक्ति हो जाए । भगवान् ने भक्तों के लिए वरुण के घर जाने की लीला की; जिससे, नन्दरायजी आदि यह जान गए कि भगवान् उनके लिए स्वयं नहीं करने योग्य तथा अत्यधिक परिश्रमयुक्त कार्य को भी करते है । इस प्रकार के ज्ञान से उनकी भगवान् में ही अत्यन्त आसक्ति हो गई, यह अभिप्राय है ।

भक्त गोपों को निरोधदानार्थ ही, भगवान् वरुण के पास गए थे । यह कैसे जाना जाए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् कुमारिकाओं के व्रत कर्म, याज्ञिकों के यज्ञ कर्म, श्री नन्दजी के इन्द्र याग कर्म, आदि भक्तों के सभी कर्मों में स्वयं प्रविष्ट हो कर, उन उन कर्मों की सिद्धि के पदार्थों का स्वयं के लिए अङ्गीकार कराकर निरोद्धव्य भक्तों के कर्मो में पूज्यरूप से स्वयं प्रवेश करते हैं । अर्थात् उन उन अन्य देवों के लिए दिए जाने वाले पदार्थो को भगवदीय करने के लिए, इतने आग्रह से उन में पूज्य रूप से प्रविष्ट हुए है । इससे ज्ञात होता है, कि यहाँ भी निरोध प्राप्ति के योग्य भक्तों के लिए निरोध सिद्ध करने के लिए ही भगवान् वरुण के पास गए हैं । तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा' अन्य देवों के लिए किए गए कर्म–भगवत्कर्म–अपने लिए कर लेते हैं । देखिए–कुमारिकाओं के प्रसङ्ग में कात्यायनी की पूजा में कात्यायनी के स्वरूप में भगवान् ने स्वयं प्रवेश करके अपनी पूजा करवाई, यजमान पत्नियों के द्वारा उनके पदार्थों का अपने लिए विनियोग कराया और इन्द्र याग के भङ्ग के प्रसङ्ग में, श्री गोवर्धन में रहने वाले स्वरूप से भगवान् ने सारी सामग्री को अंगीकार किया । इस प्रकार भक्तों के सभी कर्मो में भगवान् प्रविष्ट हो जाते हैं । इस कारण से, यहाँ भी यही जाना जाता है कि श्री नन्द-रायजी को लाने के लिए भगवान् स्वयं वरुण के पास गए । 'तेभ्यः तान् मोचयति'–तात्पर्य यह है कि दूसरों के उद्देश्य से किए–कर्मों में भगवान् भक्तों को छुड़ाते हैं, क्योंकि, यदि भक्तों को अपना स्वकीय (भगवदीय) करने का प्रयोजन नहीं होता, तो भगवान् अन्य देवतों के उद्देश्य से किए कर्मो में पूज्य भाव से प्रवेश न करके, उन में विघ्न ही करते । भगवान् यदि भक्तों के–अन्य देवताओं के उद्देश्य से किए–कर्मों में विघ्न करते, तो कभी कालान्तर में भक्त उन कर्मो को फिर भी करलेते । इस लिए अन्य देवों के स्थान में स्वयं भगवान् के प्रविष्ट हो जाने पर भक्त लोग सदा भगवत्कर्म ही–(अन्नकूट की तरह)–करते रहते हैं ।

सब गोपों में नन्दरायजी मुख्य हैं । इस लिए मुख्य के द्वारा अन्य सभी व्रज वासियों को ज्ञान देने के लिए नन्दरायजी को मुक्त करने का वर्णन दो बार–साधन दशा और फल दशा में–किया है । यहाँ साधन दशा में द्वादशी के व्रत में वरुण के द्वारा किए उपद्रव से और फल प्रकरण में अम्बिकावनगमन के प्रसङ्ग में सुदर्शन सर्प से मुक्त करके, भगवान् ने नन्दरायजी को अन्य देवों के उद्देश्य से किए कर्मो से छुड़ाया है । तात्पर्य यह है, कि सुदर्शन सर्पजनित दुःख का नन्दरायजी ने अनुभव किया और उस दुःख से भगवान् ने उन को छुड़ाया । इस कारण से, फिर आगे नन्दरायजी ने भगवान् के सन्तोष के ही कर्म किए, और देवों के भजन को त्याग दिया ।

श्लोक—प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ।।४।।

श्लोकार्थ—भगवान् को आए हुए देख कर--(दर्शन करके)--अत्यन्त प्रसन्न हुए लोकपाल वरुण ने हृषीकेश भगवान् की बड़ी धूमधाम से पूजा की ।।४।।

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह **प्राप्तं वीक्ष्येति,** ननु पूजात्र न वक्तव्या मोचयितुमेव गतोपकारिगृहे च पूजा न ग्राह्यातः कथ पूजां कृतवानित्याशङ्क्याह **प्रकर्षेणाप्तं समागतं भगवन्तं वीक्ष्य पूजयामास** तत्र हेतुर्हृ**षीकेश**मिति, इन्द्रियाधिपतिरयं, यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगःपश्चात् तस्य न स्यात्, अनिवेदितभोगे दोषश्च स्यात्, यथा देवेष्विन्द्र एवं दैत्येषु वरुणः, यत्र-त्रैव तां श्रियं गृह्णीयाद् दैत्या न हृता भवेयुरतस्तत्रैव गत्वा गृहीतवान्यथा **भिन्नसत्ताके** जाताः **पदार्था भगवद्भक्तानां शुद्धिहेतवो न भवेयुः,** जीवास्तु त्रिविधा एव "देवमानुषदानवा" इति, तत्र मानुष्याकृत्या देवो-भिषेकेण दैत्येश्वरपूजां च गृहीतवानतस्तस्मिन् **समये सर्वमेव पुष्ट्युपयोगि फलसाधकं च** भवति, तस्य सर्वस्व-निवेदनपूर्विकां पूजामाह **लोकपालः सपर्ययेति,** स हि सर्वेषामेव दैत्यानां लोकान् पालयतः स्वस्य यावती **सपर्या पूजासामग्री ततोप्यधिका कृताग्रे** जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य पूजां कृतवान्, तदाह महत्येति, न केवलं कायिकीमेव सेवां कृतवान् किन्तु वाचनिकीमपि, 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूप'मिति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति, वक्ष्यमाणमाह **किञ्च तस्य दर्शनेनैव महानुत्सवो यस्य,** समागते महानाह्लादो मानसिकी पूजा ।।४।।

व्याख्यार्थ—आगे की बात, 'प्राप्तं वीक्ष्य', इस श्लोक से कहते हैं । शङ्का-श्रीकृष्ण तो वरुण के पास नन्दरायजी को छुड़ाने के लिए गए थे । वरुण उपकार करके नन्दरायजी को छोड़ेगा । इस लिए उपकार करने वाले वरुण के घर पर भगवान् को पूजा ग्रहण नहीं करना चाहिए । फिर वरुण ने पूजा कैसे की ? इस के उत्तर में कहते हैं कि (भली भाँति) सौभाग्य से पधारे हुए भगवान् के दर्शन करके वरुण ने पूजा की, क्योंकि भगवान् हृषीकेश-(इन्द्रियों के स्वामी)-हैं । यदि वरुण स्वयं कृपा करके पधारे हुए भगवान् की पूजा नहीं करता तो पीछे वह अपनी इन्द्रियों से वरुण लोक

यहां पर यह प्रश्न होसकता है, कि इन्द्र याग का भङ्ग की तरह यहाँ भी पूज्य देव रूप से, भगवान् ने उस कर्म में प्रवेश क्यों नहीं किया ? इस का उत्तर 'व्याख्या में'-आवश्यक फले-से आरम्भ करके 'सम्भवति' तक के पदों से देते हैं । द्वादशी व्रत नाम का कालप्रधान कर्म पहले ही हो गया और कर्म पूरा पीछे हुआ । इस कारण से, इस कर्म में भगवान् का प्रवेश सम्भव नहीं होने से-इस कालप्रधान कर्म में भगवान् का आवेश नहीं होने के कारण इस कर्म से नन्दरायजी की निवृत्ति नहीं होगी । उन को इस काल प्रधान कर्म से, छुड़ाने के लिए इस कर्म में वरुण के द्वारा उपद्रव करने पर नन्दरायजी को छुड़ाने के लिए भगवान् स्वयं वरुण के पास गए । इस तरह दुःख का अनुभव होने से कर्म में अनादर और दुःख से छुड़ाने के कारण भगवान् में आदर हो जाएगा तब नन्दरायजी आदि सभी गोप भक्ति मार्ग की रीति के अनुसार भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म ही करते रहेंगे । इस प्रकार व्रजवासियों को कर्म बन्धन से मुक्त करने का भाव सिद्ध होता है ।।३।।

का उपभोग नहीं कर पाता और भगवान् के निवेदन नहीं किए पदार्थों का भोग करने से दोष भी लगता। देवों में जैसे इन्द श्रेष्ठ है, वैसे ही दैत्यों में वरुण श्रेष्ठ है। उक्त वरुण की लक्ष्मी को भगवान् यदि व्रज में विराजे ही ग्रहण कर लेते तो दैत्य भी भगवान् के शरण हो जाते तो उनका हनन नहीं होता। इस लिए वरुण के पास जाकर ही पूजा सामग्री को अंगीकार किया यदि भगवान् वहां नहीं पधारते तो, वरुण लोक में उत्पन्न हुए पदार्थ भगवद्भक्तों के उपयोग में लेने योग शुद्ध नहीं होते।

जीव तो देव, मनुष्य और दानव भेद से तीन प्रकार के हैं। इन में मनुष्य की आकृति से देवराज इन्द्र-कृत अभिषेक और दैत्यों के राजा वरुण के द्वारा की पूजा का भगवान् ने ग्रहण कर लिया तब सारे ही पदार्थ पुष्टि के उपयोगी और फलसाधक हो गए। लोकपालः सपर्यया-अर्थात् वरुण ने अपना सर्वस्व निवेदन करके, भगवान् की पूजा की। श्लोक में 'महात्म्या'-पद का अभिप्राय यह है, कि दैत्यों के लोक का पालन करने वाले वरुण ने अपनी सारी पूजासामग्री से भी अधिक और आगे भविष्य में अपने (वरुण के) उपभोग में आने वाली सारी पूजा सामग्री को मध्य में रख कर भगवान् की पूजा की। वरुण ने केवल कायिकी सेवा ही नहीं की, किन्तु वाचनिक सेवा भी की मन पूर्वरूप और वाणी उत्तर रूप है। प्रत्येक वस्तु प्रथम मन में उत्पन्न होकर ही वाणी में आती है। इस न्याय से मानसिक सेवा भी वाचनिक सेवा से ही हो जाएगी। भगवान् का दर्शन करके वरुण को बड़ा उत्सव हुआ। भगवान् के पधारने पर अत्यधिक आनन्द होना ही मानसिक पूजा है। वरुण को जो कुछ कहना है, उसे आगे के श्लोक में कहते हैं ।।४।।

लेख—व्याख्या में-'दैत्या न हता भवेयुः'-इस वाक्य का यह भी तात्पर्य है कि यदि दैत्य यहाँ व्रज में आजाते तो भगवान् के शरणागत हो जाने के कारण वे फिर मारे नहीं जाते। अन्यथा-यदि भगवान् स्वयं वरुण लोक में नहीं पधारते तो, वरुणलोक की शुद्धि नहीं होती।

योजना—वरुण यदि हृषीकेश भगवान् की पूजा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों से वरुण लोक का भोग नहीं कर सकता था, क्योंकि भोग इन्द्रियों से सिद्ध होता है और इन्द्रियाँ-हृषीकेश-(इन्द्रियों के स्वामी) भगवान् के नियन्त्रण में रहती हैं। यह श्लोक में हृषीकेश पद का अभिप्राय है। यदि 'अत्रैव तां गृहीयात्' इत्यादि व्याख्यास्त पदों का तात्पर्य यह है, कि यदि व्रज में विराजे ही भगवान् सेवा ग्रहण कर लेते तो दैत्य व्रज में आते, भगवान् की पूजा होती देखते और सत्सङ्ग से उन का मन शरण आने का हो जाता, तो वे फिर भगवान् के द्वारा मारे नहीं जासकते थे अर्थात् फिर, भगवान् शरणागत उन दैत्यों को नहीं मारते।

'अन्यथा भिन्नसत्ताके'-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि यदि वरुण के द्वारा की गई पूजा को भगवान् स्वीकार नहीं करते तो, उन पदार्थों की भगवत्सम्बन्धी भाव से होने वाली शुद्धि नहीं होती और न वे पदार्थ वरुण आदि भगवद्भक्तों की शुद्धि-के कारण ही हो सकते थे। इसलिए मानुषी आकृति स्वरूप सौन्दर्य से भगवान् ने उन्हें अंगीकृत किया। 'देवोभिषेकेण-अर्थात् इन्द्र देव के किए अभिषेक से भगवान् ने अंगीकार किया। इन्द्र मुख्य देव है। इसलिए इन्द्र के ग्रहण से सभी देवों का ग्रहण किया इसी प्रकार, 'दैत्येश्वर पूजाम्' दैत्यों के

॥ वरुण उवाच ॥

श्लोक—अद्य मे विधृतो देहोद्यैवार्थोधिगतः प्रभो ।
यत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥५॥

श्लोकार्थ—वरुण ने कहा--नाथ ! विशेष करके आज ही मैंने देह धारण की, अर्थात आज ही मेरा जन्म सफल हुआ । आज ही मुझे परम पुरुषार्थ प्राप्त हुआ । हे भगवान् ! आप के श्री चरणों की सेवा करने वाले लोग ही संसार सागर के पार होते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—स्तुति योग्यः स्तुतिं कुर्याद् भगवद् गुण वर्णनम् अशक्तौ स्वोपकारमात्र वक्तव्यमतस्तदेवाहाद्य **मे विधृतो देह** इति, यद्यपि देवयोनिः प्राप्ता तथाप्याधिपत्य दैत्येष्वतस्तत्सङ्गान्न भगवत्परता भवत्यतः प्राप्ताप्युत्तमा योनिरप्राप्तप्राया तदिदानीं स्वामिदर्शनाज् जाते फले साधनाभावेपि सफलजन्मत्वं, तदाहाद्यैव मे मया विशेषेण धृतो देह इति, साधनपरत्वं निराकुर्वन् हेतुमाहाद्यैवार्थः पुरुषार्थः प्राप्त इति ननु साधनाभावेन कथं फलं भवेत् साधने च पुनरङ्गीक्रियमाणेद्यैवेतिवचनं बाधितं स्यात् ? तत्राह **प्रभो** इति, **समर्थो भवान् साधनाभावे फलं दातुं साधनतापि स्वकृतैवेति,** ननु कथमेवमलौकिकं भवेत् ? तत्राह **यत्पादभाज** इति, त्वत्सेवकानामेवालौकिककर्तृत्वं यत्र त्वयि तत्र किं वक्तव्यमिति, यस्य भगवतश्चरणारविन्दं ये भजन्ति तेध्वनः **पारमवापुर्नातःपर** गन्तव्यमस्ति, लोके चरणसमागता गच्छन्ति यथा पादुकादयः, अन्यथा तांश्चरणे नानयेदतो यथैतद् विपरीतमेवं फलमपि, अत एव **स्वामिदर्शनं भवितः पूजेत्यपि साधन भवतीति निराकृतमानन्दनिधेरन्यस्य प्राप्तव्यत्वाभावात् ॥५॥**

व्याख्यार्थ—जो स्तुति करने में समर्थ हो, उसे भगवान् की स्तुति करना चाहिए और जो

स्वामी वरुण की पूजा का ग्रहण करने से, उस का भी अंगीकार और उस (वरुण) के अंगीकार से अन्य भक्तों के भी निरोध की सिद्धि होना सूचित किया ।

'अग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य'-पूजा करने से सारे पदार्थों, की शुद्धि हो जाती है, क्यों कि पूजा में उन सारे पदार्थों को भगवदुच्छिष्ट कर के ही भगवदीयजन उन को ग्रहण करते हैं, ऐसी मार्ग की मर्यादा है । इसीलिए भोग्य पदार्थों को पहले भगवान् के समर्पण कर के पीछे भक्त वैष्णव उन का भोग करते हैं । वरुण तो अपने-(उसके)-भोग्य पदार्थों को-स्वयं भोग न कर के-भगवान् के अर्पण करके पीछे भगवदुच्छिष्ट का भोग करेगा-इसी आशय से, मूल श्लोक में-महत्या (बहुत सामग्री से) पद कहा है । 'वाचनिकीमपि'-इस पद का अर्थ यह है, कि वचन से भी, स्तुतिरूप पूजा की । मानसिकी पूजा का तो वाचनिकी पूजा में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्यों कि मन पूर्वरूप है और वाणी उत्तर रूप है । वह उत्तर रूप वाणी पूर्वरूप मन के बिना सम्भव नहीं हो सकती, उस में मानसी का प्रवेश होजाता है । इसी से यहाँ मानसी पूजा को अलग नहीं कहा है । अथवा भगवान् के दर्शन से वरुण को जो महोत्सव हुआ, वह महोत्सव ही मानसिकी पूजा रूप है । इस प्रकार वरुण ने भगवान् को त्रिविध (कायिकी, वाचिकी तथा मानसिकी) पूजा की ।

भगवान् के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हो, अर्थात् भगवान् के गुणों का वर्णन करने की शक्ति जिस पुरुष में न हो, उसे अपने ऊपर किए भगवान् के केवल उपकार का ही वाणी से स्वीकार करना चाहिए-यह-'अद्य में विधृतो देह':-इस श्लोक से कहते हैं। वरुण कहता है, कि यद्यपि मुझे देवयोनि मिली है तो भी, दैत्यों पर ही मेरा आधिपत्य है। दैत्यों के संग से मैं भगवान् से बहिर्मुख था। इस लिए प्राप्त हुई भी, यह उत्तम योनि नहीं मिली जैसे ही थी। अभी स्वामी आप के दर्शन से मुझे फल की प्राप्ति हुई। अब किसी साधन के विना ही मेरा जन्म सफल हो गया। आज ही मैंने विशेष करके देह धारण की। मैंने विना किसी साधन के ही आज परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया। प्रश्न उठता है, कि साधन किए विना फल की प्राप्ति कैसे होवे और यदि साधन करना स्वीकार करलें तो आज ही किए साधन से आज ही फल कैसे मिल जाएगा ? इस के उत्तर में कहते हैं कि, 'प्रभोः' आप साधन किए विना ही फल देने में समर्थ हैं क्योंकि साधन कराना भी तो आप के ही हाथ है।

तब तो विना साधन किए मिला फल अलौकिक कैसे हो सकेगा ? इस के उत्तर में कहते हैं, कि-यत्पादभाजः-जब आप के भक्त भी अलौकिक कार्य कर सकते हैं तो फिर, आप-(भगवान्)-अलौकिक कार्य करदें-इस में आश्चर्य ही क्या है। जो भक्त भगवान् के चरणारविन्द को भजते हैं, वे मार्ग के पार चले जाते हैं, उन के लिए आप के चरणारविन्द से उत्कृष्ट कोई गन्तव्य (जाने योग्य) स्थान शेष-नहीं रहता। जैसे लोक में पाँव के समागम से पादका-(खड़ाऊँ)-आदि जड़ पदार्थ भी चलने लगते हैं। यदि वे न चलें तो फिर उन को कोई क्यों धारण करे (पहने)। किन्तु भगवान् के चरणारविन्द का आश्रय लेने वाले भक्त तो इसके (भ्रमणके) विपरीत और गतिहीन हो जाते हैं, उन्हे फिर कहीं जाने का रहता ही नहीं है। जैसे यह विपरीत है इसी तरह फल भी विपरीत है। इस कथन से यह सिद्ध किया, कि स्वामी का दर्शन, भक्ति, पूजा आदि भी, साधन नहीं है, किन्तु फल रूप ही है, क्योंकि आनन्द निधि भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद दूसरी कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रहती ही नहीं है ॥५॥

श्लोक—नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।

न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आप का ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट--सब के ऐश्वर्य से बढ़कर है। आप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। भ्रम उत्पन्न करने वाली, लोकसृष्टि का कारण माया

योजना—व्याख्या के-'लोके चरणसमागता गच्छन्ति अतो यथैतद् विपरीतम्-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि लोक में पाँव के सम्बन्ध से जड़ पादुका आदि भी गति वाले-हो जाते है, किन्तु भगवान् के चरणों का सम्बन्ध वाले भक्त तो भ्रमणशील चलते फिरते भी गति रहित हो जाते हैं। जैसे यह बात लोक से विपरीत है, इसी तरह फल भी विपरीत है, क्योंकि आप-(भगवान्)-का चरणाश्रित भक्त गतिहीन होकर भी, मार्ग के पार को प्राप्त कर लेता है।

ग्राप में नहीं है । ग्रर्थात् ग्राप पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता है । ग्राप को प्रणाम है ॥६॥

सुबोधिनी—ग्रतः सफलजन्मवता प्राप्तफलेन भगवति यत् कर्तव्यं तदाह नमस्तुभ्यमिति, नमस्कारो न जीवानां कर्तव्यस्तुल्यत्वाद् देहादेरागन्तुकत्वादतो भगवानेव नमस्कर्तव्यः, सोपि सर्वसिद्धान्तसिद्धश्चेत्, विवादे सत्सु विषयदौर्बल्यमेव कल्पनीयमतः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यत्रैकवाक्यता स नमस्कर्तव्यः, तत्रापि यदि तथानुभवो न भवेत तदा महताम'प्यन्तःकरणं प्रमाण'मिति नमस्कर्तव्यो न भवेदतश्चतुष्टयमाह तुभ्यमिति साक्षात्कृताय भगवत इति वैष्णवसिद्धान्तसिद्धाय ब्रह्मण इति श्रौताय परमात्मन इति स्मार्ताय, श्रुतिव्यतिरिक्तपक्षेषु मायायाः सृष्ट्युपयोगः करणत्वेन प्रधानत्वेन वा पाषण्डेषु निमित्तत्वेनापि, सा चेद् भगवति नास्ति तदा तत्कृता दोषाः कामादयः सुतरामेव न भवन्ति तत ग्रात्मन ग्रात्मत्वस्य सिद्धत्वाद् दोषाणामभावाच्च ते न किञ्चिद् विज्ञाप्यमित्यभिप्रायेणाह न यत्र श्रूयते मायेति, लोकानां सृष्ट्यर्थं सृष्टिरूपेण वा विशेषेण कल्पना यया सा कार्यकारणरूपिणी सर्वा चेन्निषिद्धा तदा न किञ्चि विज्ञाप्यम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से, सफल जन्म वाले ग्रौर फल को प्राप्त कर लेने वाले को भगवान् प्रति क्या करना चाहिए, यह इस, 'नमस्तुभ्यं'-श्लोक से कहते हैं। जीव ग्रापस में एक से (समान है। इस लिए जीवों को नमस्कार करना उचित नहीं है। इसी तरह देह भी नमस्कार के योग्य नहीं है क्यों कि शरीर ग्रादि ग्रागन्तुक हैं। इस लिए सारे सिद्धान्तों के एक मत से सिद्ध भगवान् के लि ही नमस्कार करना चाहिए । उपास्य रूपों में (भगवान् के विषय में) सन्त पुरुषों (उपासकों) व यदि विवाद हो, तो उन उपास्य स्वरूपों में-भक्ति मार्ग में सेव्य पुरुषोत्तम की ग्रपेक्षा-दुर्बलता ग्र जाती है। इस लिए श्रुति, स्मृति ग्रौर पुराणों में एक मत (एक वाक्यता) से सिद्ध उपास्य देव को ह नमस्कार करना उचित है। फिर भी यदि सारे सिद्धान्तों से सिद्ध हुए भी उपास्य रूप में स्वयं व वैसा न हो, तो वहाँ भी नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि महा पुरुषों का † ग्रन्तःकरण-(ग्रनु भव)-भी तो प्रमाण रूप है । इस लिए 'तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'-ये चार पद श्लोक कहे हैं। वैष्णव सिद्धान्त सिद्ध भगवान् श्रुति-(वेद)-सिद्ध, ब्रह्म, स्मृति द्वारा सिद्ध परमात्मा ग्रौ मेरे-(वरूण के)-प्रत्यक्षसिद्ध-जिनका मैं प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ-ग्राप के लिए नमस्कार है। वे से भिन्न पक्षों में किंवा पाखण्ड-पक्षों में सृष्टि की उत्पत्ति में माया का करण-साधन रूप से, प्रकृ रूप तथा निमित्त रूप से भी उपयोग है। वह माया ही, जब भगवान् में नहीं है, तब माया से उत्प होने वाले काम, क्रोध ग्रादि दोष भगवान् में नहीं है-इस में कहना ही क्या है। इसलिए ग्रात्म (भगवान्) की ग्रात्मारूप से सिद्धि ग्रौर दोषों का ग्रभाव होने के कारण, ग्राप-(भगवान्) से कु भी विज्ञापन करना बाकी नहीं है। इसी ग्रभिप्राय से श्लोक में, 'न यत्र श्रूयते माया' ये पद कहे हैं तात्पर्य यह है, कि लोकों की सृष्टि करने, सृष्टि रूप से, ग्रथवा कार्य कारण रूप से, विशेष कल्पन कारण माया का जब भगवान् में सभी भाँति निषेध है, तो फिर ग्राप से कुछ भी विज्ञापन करना शे नहीं है ॥६॥

---

† प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः ।

टिप्पणी—'नमस्तुभ्यं' श्लोक की व्याख्या में–विवाद सत्सु–इत्यादि पदों का अभिप्राय कहते हैं। शङ्का–जब कर्म काण्ड में ※ जीवन भर अग्निहोत्र करने का विधान है, इस के विपरीत ‡ जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन, सन्यास लेलेना (कहा है) और गीता में † अनेक कर्मों को करने के लिए कहने वाली पुष्प जैसी सुन्दर वाणी–इत्यादि कहा है। इस प्रकार परस्पर विरोध होने पर भिन्न भिन्न सभी उपास्य रूपों के लिए नमस्कार क्यों नहीं करना ? इस शंका की निवृत्ति के लिए–विवादे–इत्यादि पदों से विषय की व्यवस्था करते हैं कि जिस विषय पर सत्पुरुषों में विवाद हो, उस को दुर्बल समझना चाहिए।

कर्म तो इस कारण से हीन है, कि देहादि के अध्यास से कर्म में अधिकार माना जाता है और कर्म का मूल अज्ञान है तथा भगवान् के इन वचनों से–मेरी भक्ति वाले और * मेरे रूप योगी का ज्ञान तथा वैराग्य यहाँ पूर्ण कल्याण नहीं कर सकते–भक्ति मार्ग की अपेक्षा अन्य मार्ग दुर्बल हैं और उन के उपास्य रूप भी भक्ति मार्ग में सेव्य श्री पुरुषोत्तम के रूप की अपेक्षा दुर्बल हैं; क्योंकि जब तक भक्ति मार्ग का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही उनकी उपासना कराई जाती है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने आज्ञा की है कि ★ जब तक मेरी कथा का श्रवण आदि में श्रद्धा नहीं बढे तब तक ही अन्य कर्तव्य रहते हैं।

चार्वाक आदि तो ईश्वर को मानते नहीं है। इस कारण से ईश्वर भी सारे सिद्धान्तों से सिद्ध नहीं है। ईश्वर को मानने वाले भी सभी इन कृष्ण के स्वरूप को शुद्ध ब्रह्म रूप नहीं मानते हैं। ऐसी दशा में यह स्वरूप भी, सर्व सिद्धान्तों से सिद्ध नहीं है ? इस शंका के समाधान में कहा गया है, कि मोहक शास्त्रों से उत्पन्न हुए मोह से रहित सन्त महापुरुषों में जिन उपास्य रूपों के विषय में विवाद है, वह विषय दुर्बल है। इसीलिए व्याख्या में आगे बतलाया है, कि श्रुति स्मृति और पुराणों में जिस की एक वाक्यता हो, जो स्वरूप इन तीनों का सम्मत हो–उस के लिए ही प्रणाम–(नमस्कार)–करना चाहिए। लोकानां–माया से मोहित हुए पुरुष ही ऐसी कल्पना करते हैं कि सृष्टि के लिए अथवा सृष्टि रूप से माया है। कार्य अर्थात् मोह और कारण अर्थात् माया–यह कार्य कारण रूपिणी पद का अर्थ है।

लेख—प्रधानत्वेन–प्रकृति रूप से
निमित्तत्वेन–कर्ता रूप से

योजना—'तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'–इन चार पदों से श्रुति, स्मृति, पुराण, और अनुभव–ये चार कहे है। इन में–साक्षात्कृताय–यह अनुभव सिद्ध, 'वैष्णव सिद्धाय–पद से पुराण सिद्ध भगवान्, ब्रह्मणे–पद से श्रुति सिद्ध ब्रह्म और–स्मार्ताय पद से स्मृति सिद्ध परमात्मा है ॥६॥

※ यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्।

‡ यदहरेव विरजेत्तद हरेव प्रव्रजेत।

† यामिमां–गीता २–४३।

* तस्मान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनोवै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।

★ तत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।

श्लोक—**अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।**
आनीतोयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥७॥

श्लोकार्थ—धर्म के तत्व को तथा आप के साथ नन्दरायजी के सम्बन्ध को भी न जानने वाले, और क्या करना चाहिए, क्या नहीं–इस से भी अनभिज्ञ महा मूढ मेरा सेवक आप के पिताजी को यहाँ ले आया है। हे प्रभो, इस अपराध को क्षमा करें ॥७॥

सुबोधिनी—तथापि स्वापराधो निवेदनीयोन्यथा स्वकृतादेव नश्येदत आहाजानतेति, **मामकेन** सेवकेन धर्मतत्त्वमजानता भवत्सम्बन्धं **चाजानतायं तव पिता** लीलयां पितृत्वेन कृतः **समानीतः**; यदि स्वरूपतोस्मिन्नुत्कर्षः स्यात् तदाज्ञोपि नानयेत् सम्बन्धस्तु न ज्ञातस्तदज्ञानादेव वैष्णवधर्मोप्यज्ञातः, अज्ञापने हेतु**र्मामकेनेति**, अयं दैत्यो यदि भगवद्धर्मान् जानीयात् तदा दैत्यत्वमेव गच्छेत् ततः कोपि सेवको न भवेत्, स्वतस्त्वस्य न ज्ञानं तदाह **मूढनेति**, ननु तथापि सेवकेन स्वाम्युक्तमेव कर्तव्य ततः कथमानीतवान् ? तत्राहा**कार्यवेदिनेति**, नास्य **कार्यवेदनं** कार्यज्ञानमस्ति किं कार्यं किमकार्यमित्यतः सामान्यत उक्तमपि कर्त्रा विशेषाकारेण कर्तव्यमतोस्य स्वाभाविक एव दोषः, **अयं च तव पिता** त्रेपमानः पुरो वर्ततेतः स्वामिन् लीलायामपराधः कृतो वर्तते तद् **भवान् क्षन्तुमर्हति**, तव पितेतिवचनादपराधः सोढव्यो लीलायां प्रविष्ट इति, न हि **लीलाप्रविष्टानामपराधो भवति**, अतो **भवानित्यप्युक्तं**, **भवानेव क्षन्तुमर्हति** न त्वहं क्षमापयितुं योग्यः, **'गोविन्द नीयता'**मिति **विगीतं**, तथा चेद् वदेदपराधी स्यात् ॥७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि इस प्रकार माया का निषेध कर देने के बाद फिर कुछ विशेष विज्ञापना शेष नहीं रहती, तो भी अपना अपराध तो निवेदन करना चाहिए। यदि अपने अपराध को निवेदन न करें, तो अपने कर्म से ही अपने स्वयं नष्ट हो जाँय । इस लिए, 'अजानता' इस श्लोक से अपने अपराध को कहता है। धर्म के तत्व से अनभिज्ञ तथा आप के नन्दरायजी के साथ सम्बन्ध को न जानने वाला मेरा सेवक इन नन्दरायजी को–(जिन्हें आपने लीला में पिता रूप से सम्मानित कर रखा है)–यहाँ ले आया है। नन्दरायजी स्वयं उत्कृष्ट तथा प्रभावशाली होते, तो मेरा ज्ञान हीन भी सेवक उन्हे यहां नहीं ले आता। आप के साथ इन के सम्बन्ध को इसने नहीं जाना। वैष्णव धर्म को भी यह नहीं जानता; क्योंकि यह तो मेरा–(दैत्य का)–सेवक है । यदि यह दैत्य सेवक भगवान् के धर्मों को जान जाए तो इस का दैत्य भाव दूर हो जाए, तो फिर कोई भी मेरी सेवा न करे (मेरा सेवक न रहे)। यह मूढ है, इस कारण इस को स्वतः ज्ञान है ही नहीं।

सेवक को तो स्वामी की आज्ञा का ही पालन करना चाहिए, स्वामी की आज्ञा के बिना, वह सेवक नन्दरायजी को कैसे ले गया ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि–'अकार्यवेदिना'–क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए–इस प्रकार का कर्तव्याकर्तव्य का इस को ज्ञान नहीं है। सामान्य आज्ञा पाकर भी सेवक को विशेष विचार पूर्वक कार्य करना चाहिए । वह विचार शक्ति इस सेवक में नहीं है। यह इस का स्वाभाविक ही दोष है । ये आपके पिताजी सामने कांपते हुए (धूजते) खड़े हैं। इसलिए, हे स्वामिन्। मैंने लीला में अपराध कर दिया है, उसे आप क्षमा कीजिए।

श्लोक में-तव पिता (आप के पिता) इस वचन से जैसे लीला में ही पिता रूप से स्वीकार किया है, इसी प्रकार लीला में ही किया हुआ, यह मेरा अपराध सहन करने योग्य है। वास्तव में तो, लीला में प्रविष्ट होने पर, फिर उन से अपराध होता ही नहीं है। श्लोक में-'भवान्' (आप) पद का तात्पर्य-(अर्थ)-यह है, कि आप स्वयं ही क्षमा करने योग्य हैं, मैं तो क्षमा कराने योग्य (भी) नहीं हूँ।

(इस के आगे-गोविन्द नीयताम्-इत्यादि श्लोक से कई ग्रन्थों में है, किन्तु वह विगीत-(प्रक्षिप्त) है। यदि इस श्लोक के अनुसार वरुण कहे तो वह अपराधी हो जाए ॥७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः ।
आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम् ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं-वरुण ने इस प्रकार नम्रता से ईश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान् को प्रसन्न किया। भगवान् ने वरुण लोक से पिताजी को साथ लेकर व्रज में आकर अपने बन्धु-बान्धवों को आनन्दित किया ॥८॥

सुबोधिनी—एवं प्रार्थनायां कृतायां तत्सिंहासन उपविष्टस्तं कृतार्थीकृत्य तत आगत इत्याहैवमिति, प्रसादितो भृत्यापराधेनातो दण्डमकृत्वैव **कृष्णः** सदा-नन्दस्तस्याप्यानन्दमुत्पाद्य ततः समागमने समानयने वा प्रार्थनीयरहितो **भगवान्** सर्वशक्तिः **स्वपितरमादायागात्**, भगवत्स्पर्शेन दैत्यसम्बन्धकृतो दोषो निवर्तितः, ननु

टिप्पणी—'आनीतोऽयं तवे पिता', यहाँ, 'अयं' इस इदम् शब्द का प्रयोग न होता तो भी अर्थ में संगति थी ही। फिर भी-इदम्-शब्द का प्रयोग श्लोक में किया है। व्याख्या में इस का अर्थ-'अयं च तव पिता वेपमानः' (ये तुम्हारे पिता कांपते (धूजते हुए खड़े हैं) इत्यादि वाक्य से लिखा है। यहाँ नन्दरायजी के धूजने का कारण भगवान् के ऐश्वर्य के दर्शन से उत्पन्न सात्विक भाव समझना चाहिए।

योजना—व्याख्या में-'तव पिता'-'इति वचनादपराधः-सोढः' इत्यादि वाक्य में योजनाकार-सोढव्यः-के स्थान पर-सोढः-ऐसा पाठ अङ्गीकार करते है। तुम्हारे पिता-ऐसा कहकर, वरुण ने लीला की प्रधानता को स्वीकार किया है, क्योंकि लीला में ही नन्दरायजी का पितृ भाव है। यदि केवल ब्रह्म धर्मो को ही भगवान् में वरुण स्वीकार करता तो भगवान् का तो जन्म ही न होने से व्रजपति नन्दरायजी का पिता होना ही सम्भव नहीं है। किन्तु तो भी भगवान् ने लीला में नन्दरायजी को पिता रूप से स्वीकार किया है और वरुण ने भी 'आपके पिता' कह कर भगवान् का अंगीकार किया 'पितृ' भाव ही स्वीकार किया है। इसलिए भगवान् ने सन्तुष्ट होकर वरुण के अपराध को सहन कर लिया-यह अर्थ है।

तथापि वरुणेनागन्तव्यमनुवृत्तिश्च कर्तव्या तत् कथं नागत इति चेत् तत्राहेश्वरेश्वर इति, ईश्वराणामपि वरुणादीनामीश्वरो नियन्तातोनुल्लङ्घ्यशासनत्वात् स्वामिलीलास्थाने न गन्तव्यमितिनीतिशास्त्रान् नागतः, साधनादिकं तु नापेक्षते, एवं स्मरणमात्रेणैव गोकुलप्राप्तः, आगत्य बन्धूनां मुदं चावहत्, आवहन्, ना समागतः ॥८॥

व्याख्यार्थ—वरुण के इस प्रकार प्रार्थना करने पर, इस के सिंहासन पर विराजमान, भगवान् वरुण को कृतार्थ करके वरुणलोक से पीछे आए–यह इस–'एवं'–श्लोक से कहते है । वरुण ने नम्र निवेदन से भगवान् को प्रसन्न कर लिया । इस कारण से उसके सेवक के अपराध का कोई दण्ड न देकर, सदानन्द श्रीकृष्ण वरुण को आनन्दित करके, वहाँ से लौट आए । वहाँ से आने अथवा पिताजी को ले आने में भगवान् को किसी से कुछ प्रार्थना नहीं करनी पड़ी, क्योंकि भगवान् तो ईश्वरों के ईश्वर सर्व शक्तिमान् है । पिताजी को लेकर वहाँ से लौट आए । भगवान् के स्पर्श से नन्दजी का दैत्य के सम्बन्ध से हुआ दोष दूर हो गया ।

वरुण को भी भगवान् के साथ आना चाहिए तथा भगवान् का अनुवर्तन करना चाहिए था । वरुण ने ऐसा क्यों नहीं किया ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि भगवान् ईश्वरों के भी ईश्वर है, और नियन्ता हैं । इस लिए उनकी आज्ञा का उल्लंघन वरुण आदि कोई भी नहीं कर सकते और स्वामी के लीला स्थल में जाने का नीतिशास्त्र में निषेध है, इस कारण से वरुण नहीं आया । वहाँ से लौट कर आने में भगवान् को किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, केवल स्मरण मात्र से ही गोकुल में पधार आए और आकर बन्धुओं को आनन्दित किया अथवा आनन्दपूर्वक व्रज में लौट आए ॥८॥

श्लोक—नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालं महोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोब्रवीत् ॥९॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी को लोकपाल वरुण के अपूर्व वैभव को, अतीन्द्रिय वरुण लोक को और वरुण के द्वारा किए भगवान् के आदर सत्कार, पूजन, प्रणाम को देख कर बड़ा विस्मय हुआ । व्रज में आकर नन्दजी ने ज्ञातिबन्धुओं से सब समाचार कहे ॥९॥

सुबोधिनी—यथैकं वचनं बहु कार्यं करोति तथेयं कृतिरपि बहु कार्यं कृतवतीत्यग्रिमं वृत्तान्तमाह नन्दस्त्विति, नीतोपि नन्दः पूर्वं तत्रैव स्थापितोपि न किञ्चित् दृष्टवान् पश्चाद् भगवदागमनानन्तरं सर्वं दृष्टवानतोतीन्द्रियदर्शनोतीन्द्रियत्वे हेतुं वदन् सर्वमेवातीन्द्रियमित्याह लोकपालस्य महान् उदयो यत्रेति, किञ्च योस्माभिः कृष्णो यथाकथञ्चिद् व्यवह्रियते तादृशे ते सम्यङ् नतास्तदग्रेदासा इव, इदं च तत्रत्यानां स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषामेव सेवनं दृष्ट्वा ज्ञातिभ्य उपनन्दादिगोपेभ्योब्रवीत्, नन्वतीन्द्रियं भगवता स्वार्थमेव प्रदर्शितं नान्येभ्यो वक्तव्य तत् कथमुक्तवानिति चेत् तत्राह विस्मित इति, तस्याश्चर्यरस एवोत्पन्नोतो भगवन्तं पुत्रत्वेन नाङ्गीकृतवान् नाय सर्वथा पुत्रो गर्गश्छलवादी भ्रान्तो वात एव सति किं कर्तव्यमिति विचारणीयं किञ्चित् प्रार्थनीयमाहोस्विदधिका प्रतिपत्तिः कर्तव्येति, तत्र प्रतिपत्त्यर्थं फलार्थं वादो भगवतो निर्णीतं स्वरूपं

ज्ञातव्यमवान्तरभेदा एवैत उत्कर्षा अतः परमोत्कर्षो ज्ञातव्यस्ततः फलप्रार्थना प्रतिपत्तिर्वा कर्तव्येति निश्चित्य प्रथमतो भगवदुत्कर्षदर्शनार्थमुत्सुका जाताः ॥६॥

व्याख्यार्थ - जिस प्रकार एक वचन, बहुत काम करता है इसी तरह से, भगवान् के इस कर्म से भी कई कार्य हुए-यह इस-'नन्दस्त्वतीन्द्रियं'-श्लोक से कहते हैं । यद्यपि वरुण के सेवक ने नन्दरायजी को ले जाकर वरुण लोक में ही बैठा दिया था, तो भी पहले उन्हें वहाँ कुछ भी नहीं दीखा । भगवान् के वहाँ पधारने के बाद तो नन्दरायजी को वहाँ सभी ऐसे पदार्थों के दर्शन हुए जो प्राकृत इन्द्रियों से नहीं देखे जासकते हैं । नन्दरायजी वहाँ अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन कर सके-इस का कारण यह था कि वहाँ सभी अतीन्द्रिय था । वहाँ लोकपाल वरुण के अलौकिक वैभव को देखा और यह भी देखा कि जिस कृष्ण के साथ, हम गोप चाहे जैसा (अनादर का भी) साधारण बालक सा व्यवहार करते रहे हैं, उन श्रीकृष्ण को वे गर्भ से ही दास की तरह साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे थे । वहाँ के सारे ही स्त्री पुरुषों का इस प्रकार दासभाव देख कर नन्दरायजी व्रज में ज्ञाति के उपनन्द आदि गोपों से कहने लगे ।

यद्यपि उस अपने अतीन्द्रिय वैभव का दर्शन भगवान् ने नन्दरायजी को केवल उनके लिए ही कराए थे, किसी और से अथवा उन गोपों से कहने के लिए तो नहीं कराए थे, तो भी वे विस्मित हो कर, उस को ज्ञाति बन्धुओं से नहीं छिपा सके (उन्होंने सब कह ही दिया) । उन्हें आश्चर्यरस उत्पन्न हो गया था, जिस से वे अभी भगवान् को अपना पुत्ररूप से स्वीकार नहीं कर सके । उन को यह पूरा निश्चय हो गया, कि यह श्रीकृष्ण मेरा पुत्र नहीं है, गर्गाचार्यजी ने मिथ्या ही कह दिया अथवा उन्हें भी भ्रम हो गया होगा । नन्दरायजी विचार करने लगे कि ऐसी परिस्थिति में उन्हें (नन्दरायजी को) क्या करना चाहिए ? भगवान् से कुछ प्रार्थना करूँ अथवा विशेष शरणागति करूँ । इन दोनों में शरणागति किंवा फल के लिए सब से पहले भगवान् के निर्णय किए हुए स्वरूप का जानना आवश्यक है, क्योंकि अपने देखे हुऐ ये सारे उत्कर्ष तो अवान्तर भेद-(गौण)-हैं । इस लिए पहले भगवान् का परम उत्कर्ष-(वास्तविक स्वरूप)-समझना (जानना) चाहिए और पीछे फल की प्रार्थना अथवा शरणागति करना उचित है । ऐसा निश्चय करके वे सब गोप प्रथम भगवान् के उत्कर्ष के दर्शन करने के लिए उत्सुक हुए ॥६॥

टिप्पणी—व्याख्या में-'यथैकं वचनम्'-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि जैसे गायों के लिए यज्ञ कराने का बोधक भगवान् के एक वचन से व्रज को अनन्य करना, इन्द्र का मान भङ्ग, गोवर्धनोद्धरण, व्रज जनों की क्षुधातृषानिवृत्ति, भगवन्माहात्म्य, ज्ञान, इन्द्र कृत सम्मान, अभिषेक तथा गोविन्द नाम धारण रूप अनेक कार्य हुए, इसी प्रकार, भगवान् की एक कृति भी अनेक कार्य करती है ।

लेख—व्याख्या में-नीतोऽपि-इत्यादि का आशय यह है, कि वरुण लोक में लेजाए गए नन्दरायजी को वहाँ का वैभव लौकिक इन्द्रियों से दिखाई दे देता तो वहाँ के वे पदार्थ अतीन्द्रिय नहीं होते । इसलिए भगवान् के वहाँ पधारने पर भगवद् दृष्टि से ही नन्दरायजी को दर्शन हुए ।

श्लोक—ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।
अपि नः स्वर्गातं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन्। गोपों ने जान लिया कि कृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं। यह जान कर उन के मन में अभिलाषा और उत्कण्ठा हुई कि भगवान् कभी हमको भी अपनी सूक्ष्म गति, वैकुण्ठ धाम तक पहुँचा देंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—ततो निःसन्दिग्धं तं परमेश्वरं ज्ञात्वा यावन्न दृश्यते तावत् सम्यक् प्रतीतिर्न भवतीति, **गोपा** विशेषज्ञानरहिताः किञ्चित् प्रार्थितवन्त इत्याह ते **त्विति, तुशब्देन** न तेषामन्यः पक्ष उद्गतो नाप्यसम्भावना किन्त्वौत्**सुक्यधिय** एव दर्शनार्थं जाता., **राजन्निति** तथोत्सुका राजानोपि भवन्तीतिज्ञापयितु **अयमीश्वरो** भवतीति निश्चितं तथा सति, **अपीति**-सम्भावनायामीश्वरे मित्रे जाते स्वकीयं प्रदर्शयिष्यत्यथ यद्यस्मान् न मन्यते तदा दण्डं करिष्यतीति निश्चित्य **सूक्ष्मां स्वर्गातं** वैकुण्ठाख्यामधीश्वरः स्वामी नोस्मभ्यमुप समीप **एवाधास्यद्** धास्यति किम् ? अस्मन्निकट एव तं किं प्रकटीकरिष्यतीतिमनोरथं कृतवन्तः, **स्वस्य तथा-साधनाभावेपि** फलं भविष्यतीत्यत्र **भगवदैश्वर्यमेव** हेतु ॥१०॥

व्याख्यार्थ—तब वे निश्चित रूप से जान गए कि कृष्ण परमेश्वर है, किन्तु जब तक परमेश्वर रूप से दर्शन न हो तब तक पूरा विश्वास नहीं होता। इस लिए विशेष ज्ञान हीन गोपों ने भगवान् से जो कुछ प्रार्थना की वह 'तेतु' इस श्लोक से कहते हैं। श्लोक में 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि उन गोपों के मन में कोई शंका नहीं हुई और न उन्हें असम्भव ही लगा, किन्तु वे दर्शन के लिए उत्कण्ठित ही हुए। 'राजन'-शब्द से सूचित होता है कि राजा लोग भी इस प्रकार से उत्सुक होते हैं। तब उन गोपों को निश्चय होगया कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर है। श्लोक में-अपि-पद सम्भावना अर्थ का बोधक है। ईश्वर जब मित्र हैं तो अपने स्थान के दर्शन हमें करावेंगे ऐसी सम्भावना है। यदि प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो (हम उन्हें) दण्ड देंगे-ऐसा निश्चय करके उन गोपों ने मन में यह मनोरथ किया कि अपने स्वामी श्रीकृष्ण वैकुण्ठ नाम से अपने सूक्ष्म धाम को क्या हमारे पास लावेंगे, हमारे निकट अपने धाम को प्रकट करेंगे ? यद्यपि गोपों के पास उन का कोई ऐसा साधन नहीं था, तो भी भगवान् के ऐश्वर्य से ही यह वैकुण्ठ दर्शन रूप फल मिलैगा-ऐसा उन्होंने समझ लिया ॥१०॥

श्लोक—इति स्वानाँ स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥११॥

श्लोकार्थ—सर्वज्ञ अन्तर्यामी भगवान् स्वयं उन अपने भक्तों के मनोरथ को जान गए और उनकी अभिलाषा को सिद्ध करने के लिए कृपा पूर्वक यों विचारने लगे ॥११॥

सुबोधिनी—एवं तेषां चिन्तनानन्तरं यद् भगवांश्चकार तदाहेतीति, स्वा भक्ताः, **भक्तेष्टं पूरणीयं यतः स** **तेषामेवार्थं समागतो** नापि तस्याशक्यं किञ्चिद् यतो **भगवान्**, ते तु स्वमध्य एव **सङ्कल्पं** कृतवन्तो न तु

प्रार्थितवन्तस्तथापि भक्तकामनापूरक इति तद् **विज्ञायैतद्** वक्ष्यमाण**मचिन्तयदि**तिसम्बन्धः, ज्ञाने उपायान्वेषणादौ च सामर्थ्यमखिलदृगिति, सर्वमेव सर्वदैव स्वयमेव पश्यति न तु करणाद्यपेक्षाप्यतस्तेषा सङ्कल्पसिद्धये सङ्कल्पनिर्वाहार्थमेतद् वक्ष्यमाणमचिन्तयत् किमेते साधने योजनीया आहोस्विन् मर्यादामुल्लङ्घ्य फलमेव देयमिति, तत्र **साधनप्रवृत्तो तेषां क्लेशः स्यादिति कृपया द्वितीयमेव पक्ष कर्तव्यत्वेनाचिन्तयदित्यर्थः** ॥११॥

व्याख्यार्थ—गोपों के ऐसा मनोरथ करने पर भगवान् ने जो कुछ किया-वह इस-'इति स्वानां' श्लोक से कहते हैं। गोप भक्त हैं। अपने भक्तों की इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिए, क्योंकि भगवान् भक्तों के लिए ही पधारे हैं। भगवान् ऐश्वर्य आदि पूर्ण छः गुणों से युक्त हैं, इसलिए भगवान् के लिए कुछ अशक्य नहीं है। गोपों ने तो अपने (उनके) मन में ही विचार किया था, प्रार्थना तो की ही नहीं थी, तो भी निज भक्तों की कामना को पूर्ण करने वाले उनके संकल्प को जान कर इस प्रकार विचार करने लगे। मन की बात को जान लेने और उपाय को ढूँढ लेने में भगवान् स्वयं समर्थ हैं, क्योंकि वे अखिल दृष्टा हैं। वह सब को ही, सदा ही, स्वयं ही, बिना किसी साधन की अपेक्षा से ही, देखने वाले हैं। गोपों के मनोरथ को सिद्ध करने के लिए भगवान् ने सोचा कि गोपों से-वैकुण्ठ का दर्शन रूप फल की सिद्धि के लिए कोई साधन कराना चाहिए अथवा मर्यादा का उल्लघंन करके-बिना किसी साधन कराए ही-फल की प्राप्ति ही करा देनी चाहिए। साधन में लगाने से तो, इनको कष्ट होगा। इसलिए कृपा करके दूसरा पक्ष-बिना साधन के ही फल दान-को ही कर्तव्य रूप से विचारा ॥११॥

श्लोक—**जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।**
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने विचार किया कि इस लोक में अविद्या (अज्ञान) जनित कामनाएँ और कामनाओं से उत्पन्न कर्मों के द्वारा ऊँची नीची गतियों में घूमता हुआ मनुष्य अपनी वास्तविक गति (स्वरूप) को नहीं जानता है ॥१२॥

सुबोधिनी—चिन्तामेवाह जन इति, **एतस्मिँल्लोके** यो जायते स सामान्यत एव न स्वगतिं जानाति, **स्वगतिज्ञानानन्तरं दोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं ततः क्रमेण यथाशास्त्रं साधनानुष्ठानं तत आत्मप्राप्तिस्ततो ब्रह्मात्मभावस्ततो भक्तिस्ततो भगवज्ज्ञानं ततो** मत्स्थानदर्शनमित्येतावदेतेषां जन्मकोटिभिरपि न भवति यतः प्रथम एव पक्षे एतेनधिकृता इति, तदेवाह **वै** निश्चयेनास्मिँल्लोकेतितामसे जातोमेध्यपर्यवसायी न **स्वां गतिं** जानाति, तत्र हेतु**रविद्याकामकर्मभिः**, प्रथमतः पञ्चपर्वाविद्या जीवमात्रस्य तिष्ठति ततस्तत्सम्बन्धात् कामस्ततो नानाविधानि **कर्माणि** तैरयं जायते तेन मूलाशुद्धः कथमुत्कृष्टां गतिं गच्छेत् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इस 'जनो वै-श्लोक से भगवान् के विचार का वर्णन करते हैं। जो इस लोक में जन्म लेता है प्रायः वह अपनी गति को नहीं जानता है। अपनी गति को जान लेने के बाद अपने दोष को निवृत्त (दूर) करके उस (गति) की प्राप्ति के साधन का ज्ञान करना चाहिए। फिर क्रम से शास्त्र में कहे साधनों के करने से आत्म प्राप्ति होने पर, ब्रह्मात्मभाव होकर भगवान् में भक्ति हो और भक्ति

के द्वारा भगवान् का ज्ञान हो । इसके बाद मेरे (भगवान् के) स्थान का दर्शन हो सकता है। यह सब इन गोपों से करोड़ जन्मों तक भी नहीं हो सकता। इसलिए प्रथम-साधन-पक्ष में इनका अधिकार नहीं है। इसी बात को कहते हैं कि पूर्णरूप से इस अत्यन्त तामस लोक में जन्म लेने वाला दुष्टता के फल को प्राप्त करता हुआ मनुष्य अपनी गति को नहीं जानता है। इसका कारण यह है, कि पहले तो पंच पर्वा अविद्या ने जीव को घेर रखा है। फिर अविद्या के सम्बन्ध से कामनाएँ होती हैं और इससे अनेक प्रकार के कर्मों को करता है। उन कर्मों के द्वारा यह उत्तम, अधम योनि में जन्म लेता रहता है। इस कारण से, जो मूल से अशुद्ध है, वह उत्कृष्ट गति को कैसे प्राप्त कर सकता है ॥१२॥

श्री गुसांईजी का स्वतन्त्र लेख:—

शङ्का—व्रजवासी जन तो स्वरूपानन्द का अनुभव करते थे और जिस स्वरूप का वे अनुभव करते थे, उस वस्तु का ज्ञान भी उन को होना ही चाहिए। ऐसी दशा में फिर उनके मन में दूसरी वस्तु की अभिलाषा का होना कैसे संङ्गत हो सकता है? कदाचित् यों कहा जाए कि स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए भी वे जैसे घर में स्थिति करके रह रहे थे, इसी प्रकार से, उनको दूसरी वस्तु की अभिलाषा करना भी संगत हो सकता है। तो प्रश्न होता है, कि फिर तो, उनकी घर में स्थिति भी संगत नहीं होसकती, क्योंकि अनुभव की वस्तु स्वरूपानन्द तो सब से ही अधिक है। दूसरी शंका यह है, कि यदि व्रजजनों को किसी दूसरी वस्तु की अभिलाषा हो, तो भगवान् को वह पूरी करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है, कि * जो मनुष्य जिस प्रकार से मेरी शरण आते हैं मैं उन का उसी प्रकार से भजन करता हूँ। तब फिर उन को वहाँ से निकाल कर अर्थात् उनकी अभिलाषा को पूरी न करके भगवान् ने स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें भजनानन्द का दान (किस कारण से) क्यों दे दिया? इन शंकाओं को दूर करते हुए कहते हैं, कि व्रजजनों का यह मनोरथ प्रसङ्गवश है; क्योंकि, व्रज में रहने वाले सभी की भगवान् के सिवाय दूसरी गति ही नहीं है-यह, इस-'जनो वै', श्लोक से कहते है। इस समय में व्रज में रहने वाला मनुष्य मेरे सिवाय अपनी इस लोक तथा परलोक की गति दूसरी जानता ही नहीं है, वे तो निश्चित रूप से एक मुझे ही अपनी गति जानते हैं।

जब यह कहा जाता है, कि व्रज जन भगवान् को ही एक मात्र अपनी गति जानते हैं, तो फिर उन्होंने-'अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मां'-इसी अध्याय के दशवें श्लोक में, दूसरी गति सम्बन्धी हृदय की अपनी अभिलाषा क्यों प्रकट की? इस शंका का उत्तर-'उच्चावचासु गतिषु भ्रमन्'-इन पदों से कहते हैं। उच्चा-उच्चगति वैकुण्ठ नामक मनोरथ रूप गति, अवचा-नीची गति तो लीला के अनवसर में निर्वाह के लिए घर आदि के सम्बन्ध वाली गति। अथवा गीता में † भगवान् के वाक्यानुसार उच्च अर्थात् पुरुषोत्तम और अवच (नीची) अक्षर तथा क्षर। इस प्रकार उच्च-पुरुषोत्तम से (अक्षर) वैकुण्ठ आदि सारी गतियां नीची है। उन गतियों में-वैकुण्ठ में मानसिक अभिलाषा से और घर आदि शरीर से भ्रमण करता हुआ भी व्रजजनकमल पत्र की तरह निर्लेप रह कर उन, वैकुण्ठ, घर आदि स्थानों में अपनी गति को नहीं जानता है। यह भाव है।

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता।

† यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। -प्रथितः पुरुषोत्तमः। गीता १५ अध्याय।

श्लोक—इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—यों विचार करके करुणासिन्धु, सर्व समर्थ भगवान् ने अपने भक्त गोपों को माया से परे अपने लोक के दर्शन कराए ॥१३॥

सुबोधनी—किञ्चोच्चावचासु गतिषु परिभ्रमन्नपि वर्तते न तृत्तमं प्राप्य ततोप्यग्रे गच्छति किन्त्वधमतामेव प्राप्नोत्यत: कारणविचारेण कार्यविचारेण वा न कोप्यस्याधिकार आत्मज्ञाने तस्माद् यदेते वाञ्छन्ति तदेतेषामयोग्यमेवेति निश्चित्यापि प्रमेयबलमाश्रित्यापि किञ्चित् प्रदर्शितदानित्याहेतीति, एवमनधिकारं सञ्चिन्त्य भगवान् सर्वकरणसमर्थोपि मर्यादारक्षकस्ततो महाकारुणिकश्च, करुणायां परमकाष्ठामापन्न उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्योभयमपि कर्तुं समर्थो विभुः स्वलोकं दर्शयामास, एतादृशं वैभवं ममास्तीति ज्ञपयितुं तत्रैव

विना कारण ही भ्रमण कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर-'अविद्याकाम कर्मभिः'-इस पद से देते हैं। यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ भगवान् के महात्म्य ज्ञान का अभाव है, भगवान् की शक्ति अथवा स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान (अर्थ) नहीं है। अविद्या शक्ति तो माया से निर्मित हुई है और वह माया भगवान् की शक्ति है जो स्वयं भी † लज्जा से भगवान् के दृष्टिपथ में-(सामने)-ही नहीं ठहर सकती, तो उस माया से निर्मित हुई अविद्या भगवान् के सम्बन्धी व्रजजनों को व्यामोह कैसे कर सकती है। तब तो अविद्या का कार्य अज्ञान तो इनमें उत्पन्न ही नहीं हो सकत. है। माहात्म्यज्ञान का अभाव तो भगवान् ने अपनी इच्छा से किया है और वह लीला में उपयोगी है। इस लिए वह अज्ञान नही है । वास्तव में तो जैसे ब्रह्म ज्ञान में ब्रह्म से भिन्न पदार्थों के ज्ञान का अभाव (ज्ञान न होना) भी, ज्ञान रूप ही है, इसी प्रकार यहाँ भी भगवान् के स्वरूप, भजन में, माहात्म्यज्ञान प्रतिबन्धक होने से उस (माहात्म्य ज्ञान) का अभाव भी, भगवान् के स्वरूप का अंश ही मानना चाहिए।

उस अविद्या-(माहात्म्य ज्ञान के अभाव) से, मनुष्य को दूसरे लोक की अभिलाषा रूप काम होता है और काम से लोक, जाति आदि में कहे गए गृह सम्बन्धी कर्मों को करता हुआ, प्रत्येक जीव इस प्रकार दोनों लोकों में भ्रमण करता रहता है। माहत्म्य ज्ञान हो जाने पर तो न अन्य लोककी कामना, न लौकिक कर्म अथवा लीला रस का अनुभव भी नहीं होता, किन्तु मुक्ति ही हो, इस कारण से, यह निश्चय होता है, कि ऐसा अज्ञान उत्पन्न करके भगवान् ने ही यह सब इतना किया है। अन्यथा (नहीं तो) अपने से भिन्न अपने भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए स्वय प्रयत्न भी न करें और देने योग्य स्वरूपानन्द का दान भी नहीं करें। फिर आगे भजनानन्द दान की तो बात ही क्या ? इसलिए भ्रमण करने में व्रजजनों का कोई दोष नहीं है, यह तो स्वयं भगवान् ने ही किया है-ऐसा मान कर श्री शुकदेवजी ने-व्रजजनों की भगवान् के धाम के दर्शन करने की इच्छा के अनुसार वैकुण्ठ के दर्शन कराना और वहाँ से उन का उद्धार करने के लिए स्वयं अत्यन्त करुणा पूर्ण होना-यह कहने के लिए-इस श्लोक से भगवान् के अभिप्राय का वर्णन किया है। इस लिए ये सब उचित ही है।

लेख—'जनोवै', इस श्लोक की व्याख्या में-'ते तु ब्रह्महृदं'-इस पन्द्रहवें श्लोक की टिप्पणीजी में द्वितीय व्याख्या में साधारण रीति प्रकट की। ऐसा कहा गया है।" इस कारण से यहाँ यह कहा है।

---

† विलज्जमानयाऽमुष्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।

स्थित्वा न तु क्वचिद् गत्वा यतस्ते गोपा मित्राणि धर्मपराश्च, यत्र ते भगवन्तमेव पश्यन्ति तत्र किमाश्चर्यं तस्य लोकं द्रक्ष्यन्तीति, भगवतो बहवो लोकाः सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तमसः परमिति प्रकृतेरप्युपरि 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेत' मितिश्रुतेः, तस्यापि तमसो वस्तुविचारेण भगवत्त्वमुक्तं, ततोऽप्यग्रे व्यापिवैकुण्ठाख्यं तत् प्रदर्शितवान् ।।१३।।

व्याख्यार्थ--ऊँची नीची गतियों में भ्रमण करता हुआ भी जीव, किसी उतम गति को प्राप्त करके, उस से आगे तो जाता नहीं किन्तु अधमता को ही प्राप्त करता है । इसलिए कारण अथवा कार्य के विचार से इस मनुष्य का आत्म ज्ञान में कुछ भी अधिकार नहीं है । इस कारण से, ये व्रजवासी जो चाहते हैं, उस के लिए तो ये अयोग्य ही हैं-ऐसा निश्चय करके प्रमेय बल का आश्रय लेकर भी भगवान् ने उन्हें कुछ दर्शन कराए-यह इस 'इतिसंचिन्त्य' श्लोक से कहते हैं । इस प्रकार उन व्रज जनों को अनधिकारी सोच कर सब कुछ करने में समर्थ भी भगवान् ने-मर्यादा की रक्षा और अपनी अतिशय करूणा पूर्णता-दोनों की रक्षा करते हुए ही अपने लोक के दर्शन करा दिए । भगवान् ने व्रज में रहकर ही व्रज जनों को वहाँ ही अपना वैभव दिखला दिया । वे गोप, मित्र और धर्म परायण हैं । इस कारण से, उन्हे कहीं वैकुण्ठ आदि में न लेजा कर व्रज में ही निज लोक के दर्शन करा दिए । जब वे साक्षात् भगवान् के ही दर्शन करते हैं तो फिर उन के लोक के वे दर्शन करें-इस में आश्चर्य ही क्या है ?

भगवान् ने अपने असंख्य लोकों में से किसी एक साधारण लोक के ही दर्शन नहीं करा दिए, किन्तु (तमसः परम्) प्रकृति से भी ऊपर के लोक का दर्शन कराया । तमस-(अन्धकार)-था और उस से गूढ आगे ज्ञान था-इस श्रुति के अनुसार वस्तु विचार से तमस् को भगवद्रूप ही कहा है । उस से भी आगे स्थित व्यापि वैकुण्ठ के दर्शन कराए ।।१३।।

श्लोक—सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ।।१४।।

श्लोकार्थ—जो ब्रह्म लोक सत्य, ज्ञान, अनन्त, स्वयं प्रकाशमान और नित्य सनातन है । जिस का मुनिजन भी मनन के द्वारा निर्गुण और एकाग्रचित होकर ही दर्शन कर सकते है ।।१४।।

योजना—'इति संचिन्त्य'-इस श्लोक की व्याख्या में-'उभयो-रन्यतरनाशमाशङ्क्य'-पदों का अर्थ यह है, कि मर्यादा की रक्षा करना और महाकारूणिक भाव-दोनों में से एक के न रहने की शंका करके, अर्थात् बिना साधन के ही फल का प्रदान कर देने पर तो, मर्यादा की रक्षा और साधन करने पर ही फल देने से, महाकारूणिक भाव का भङ्ग होने की शंका करके, अपने प्रमेय बल से दोनों का भङ्ग न करके स्वधाम के दर्शन कराए ।।१३।।

सुबोधिनी—मायोद्घाटनेन तस्य स्वरूपमाह सत्यमिति अक्षररूपं तत्, यदा भगवानीश्वरत्वेन तेषां हृदये जातस्तदाक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतमन्यथा तस्य कृत्रिमत्वं स्यात् स्वरूपं च तस्य सत्यं ज्ञानमनन्तं देशकालापरिच्छिन्नमबाधितज्ञानरूपतापरिच्छिन्नता चोक्ता, अन्यानपि तत्रत्यान् गुणान् वक्तुं प्रमाणमेवातिदिशति यद् ब्रह्मेति, यद् वैकुण्ठाख्यं 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं' यद् ब्रह्मैव, अनेन बृहत्त्वं बृंहणत्वं चोक्तं प्रामाणिकत्वं च गुणोपसहारन्यायेन सर्वे गुणाश्च, दोषाभावार्थमाह ज्योतिरिति, तत्, स्वप्रकाशं कोटिसूर्याधिकप्रकाशरूपं, न चैतदिदानीमेवैवं जातमिति शङ्कनीयं, यतः सनातनमनादिसिद्धमिदमेतादृशमेव, ननु तर्हि सगुणं भवतु वैलक्षण्यप्रतीतेरविकृतेनुत्वाच्च एकरसे ब्रह्मणि लोकत्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह यद्धि पश्यन्तीति, तत् तादृशं स्वभावत एवेति मन्तव्यं, गुणेष्वागतेषु यत् सामर्थ्यं यानुपपत्तिश्च परिहृता भवति सा स्वरूपेणैव परिहर्तव्या सर्वभवनसमर्थं स्वरूपमेवेति, ननु कोयं निर्बन्धो गुणेन वा तथास्तु विनिगमनाभावादिति चेत् तत्राहुर्यद् वैकुण्ठाख्यं भगवत्स्थानं मुनयो मननशीला अपि गुणापाय एव पश्यन्ति, मनने क्रियमाणे यदावस्थात्रयं गुणकार्यं बुद्ध्यादयोपि स्वभावगुणा अपि यदा विलीना भवन्ति तदा निर्गुणावस्थायां प्राप्तायां पश्चादविभूतं तत् पश्यन्ति, तत्रापि सावधाना अतस्तद्द्रष्टारोपि यदा गुणातीतास्तदा का वार्ता तस्य सगुणत्वे ॥१४॥

व्याख्यार्थ—माया के परदे को हटा कर उस ब्रह्म लोक के स्वरूप का वर्णन इस, 'सत्यं' श्लोक से करते है। वह धाम अक्षररूप है । भगवान् जब उनके हृदय में ईश्वर रूप से प्रकट हुए। तब अक्षर का भी लोक रूप से आविर्भाव (प्राकट्य) हुआ । यदि लोकरूप से प्रकट नहीं होता, तो उस में कृत्रिमता-(बनावट)-होती। उस का स्वरूप सत्य, ज्ञान, और अनन्त है । देश, काल से अपरिच्छिन्न, अबाधित ज्ञान रूप और असीमित (किसी प्रकार की सीमा से रहित) है । उस ब्रह्म लोक के और भी गुणों को कहने के लिए श्लोक में, 'तद् ब्रह्म' इन पदों से प्रमाण का निर्देश करते हैं। वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध तथा सब वेदान्त शास्त्रों से जिसका ज्ञान होता है, वह ब्रह्म है। इस प्रकार गुणोपसंहार न्याय से, व्यापकता प्रामाणिकता और सभी गुणों का वर्णन कर दिया । 'ज्योति'-वह दोषों से रहित, स्वयं प्रकाश तथा करोड़ों (अनन्त) सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाला है । वह इसी समय ऐसा (हुआ) हो गया हो-ऐसी बात नहीं, है किन्तु सनातन अनादि काल से ऐसा ही है।

शंङ्का—ब्रह्म तो विलक्षण, अविकारी, सदा एक रस और सम (ऊँच नीच भाव से रहित) है, वह लोक रूप कैसे हो सकता है ? और यदि लोक रूप है तो वह सगुण होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में-यद्धि पश्यन्ति-ये पद श्लोक में कहे हैं। तात्पर्य यह है, कि उस ब्रह्म लोक को स्वभाव से ही ऐसा मानना चाहिए। सगुण (गुणों के आने) होने पर जिस शक्ति की प्राप्ति और जिस अयोग्यता का दूरी करण (परिहार) हो. उस का परिहार स्वरूप (प्रमेय) बल से ही कर लेना चाहिए । वह स्वरूप ही सब रूप होने में समर्थ है। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म लोक को स्वरूप से ही इस प्रकार का मानने में कोई भी विशेष कारण नहीं मिलता, इस लिए वह सगुण होने के कारण से ही लोक रूप होता होगा। इस से, यहाँ उसे स्वरूप से ही इस प्रकार का मान लेने का आग्रह क्यों करना चाहिए ? इस के उत्तर में कहते हैं कि मननशील मुनिलोग भी उस वैकुण्ठ नामक भगवान् के दर्शन सगुणभाव से दूर (निर्गुण) होकर ही कर सकते हैं। मनन करते करते जब मुनिजनों की-गुणों की कार्य भूत जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, बुद्धि आदि वृतियाँ भी और स्वभाव के गुण भी सर्वथा विलीन हो जाते हैं, तब ही प्रकट हुए उस ब्रह्म लोक के वे दर्शन कर सकते हैं। ऐसे गुणातीत भी मुनिजन सावधानी

से ही, उस को देख सकते हैं। इस प्रकार जब ब्रह्म लोक का दर्शन करने वाले मुनिजन तक भी गुणातीत हैं तो फिर वह-ब्रह्म लोक-सगुण कैसे कहा जा सकता है ॥१४॥

श्लोक—ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोध्यगात् पुरा ॥१५॥

श्लोकार्थ—भगवान् उन व्रजवासियों को ब्रह्महृद में ले गए। वे वहाँ उस सरोवर में मग्न हो (डूब) गए। भगवान् ने उन का उद्धार किया। उस अवस्था से उन को हटाया। जिस स्थान पर, पहले अक्रूरजी ने भी यमुना जल के भीतर भगवत्स्वरूप के दर्शन किए थे, गोपों ने उस ब्रह्म लोक के दर्शन किए ॥१५॥

सुबोधिनी—ततो दर्शनानन्तरं सर्वत्रैव तत् प्रकटं जातमिति गोकुलस्य सर्वस्यापि विलय एवाभूदतोग्रे लीला बाधिता स्यादिति पुनस्तेषां प्रत्यापत्त्यर्थं यत्नमाह **ते त्विति**, लोकस्य तिरोभावेपि तदात्मकांशस्य लोकस्य न तिरोभावः काष्ठाग्निवत्, तेषां पुनः काष्ठतार्धज्वलितानामपि सम्पादनीयान्यथाग्रे लीला नोपपद्येत, तच्च वेदात्मके ब्रह्मणि योजिते भवति, तद्धि तस्य जलात्मकं, अत एव शब्दब्रह्मणो जलरूपता क्वचित् प्रकटीकृता तत्कार्यमिदमग्रे च वक्ष्यति, अतोक्षरात्मकानेतान् **ब्रह्महृदे नीत्वा** स्नानं कारितवान्, तदैतेषु स्थितोपि लोकस्तिरोहितस्तत्रापि **नीताः** पुनर्मग्ना जाताः, उत्तमाधिकारिणो हि ते शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः, क्रमश्चायं परब्रह्म तदुत्थं शब्दब्रह्म तदुत्थं जगदिति, अत एवादूरविप्रकर्षेण ज्ञापकं, ततोपि भगवता **त उद्धृताः**, **चकाराद्** वेदैरपि भगवदाज्ञया, अन्यथा प्रमाणगृहीता लीलायां नोपयुक्ता भवेयुः, तर्हि तावत् कृतं व्यर्थमेवासीदित्याशङ्क्य प्रयोजनार्थं जातमित्याह **ददृशुरिति**, **शब्दब्रह्मणो लोकं** ददृशुर्यतस्तदार्द्रनयनास्तस्य न तावन्मात्रपरत्वमिति ज्ञापयितुं राजानं प्रति शुक आह **यत्रैव** स्थानेक्रूरः **पुरा** पूर्वमध्यगाद्, भगवत्स्वरूपमधीतवान् ज्ञातवानित्यर्थः, प्रमाणतस्तत्रैव परिज्ञातवानत एतेषामपि प्रमाणतो ज्ञानं कारणीयमिति तथा कृतवान्,

व्याख्यार्थ—दर्शन होने के बाद वह ब्रह्म लोक जब सब ही जगह प्रकट हो गया, तब तो सारी ही गोकुल के लीन ही हो जाने पर आगे की जानी वाली लीला नहीं होगी। अतः भावी लीला की

योजना—'सत्यं ज्ञानमनन्तं'-इस श्लोक की व्याख्या में-'यद् वैकुण्ठाख्यं, सर्वं वेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्मैव'--आदि पदों का आशय यह है। गीता ‡ हमें अक्षर को गति-प्राप्त करने योग्य-धाम रूप कहा है। यहाँ * श्री भागवत में भी अक्षर ब्रह्म को इसी प्रकार धाम बतलाया है और † बृहद्वामनपुराण में वैकुण्ठ को ब्रह्मानन्दमय कहा गया है ॥१४॥

---

‡ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमो गतिम्। यद् गत्वा न निवर्तन्तेतद्धाम परमं मम। गीता।

* तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्व कारणकारणाम्। विष्णोर्धाम परं साक्षाद् पुरुषस्य महात्मनः। भाग।

† ब्रह्मानन्द मयो लोको व्यापि वैकुण्ठ संज्ञकः-बृ--वा--पुराण।

सिद्धि के लिए भगवान् ने ही उन व्रज वासियों को पहले जैसी स्थिति में लाने का प्रयत्न किया। यह-'ते तु ब्रह्महृदं'-इस श्लोक से कहते है। जिस प्रकार काष्ठ में रहने वाली अग्नि का तिरोभाव नही होता, उसी तरह लोक का तिरोभाव हो जाने पर भी उस लोकात्मक अंश लोक का तिरोभाव नहीं हुआ। आधे जले हुए काष्ठ को पहले की सी स्थिति में लाने की तरह उन व्रजवासियों को भी पहली अवस्था में ले आना चाहिए, जिस से आगे की लीला हो सके। उन की वह पहले जैसी स्थिति वेदात्मक ब्रह्म में उन का योग करने पर ही हो सकती है। वह वेदात्मक ब्रह्म जल रूप है। इसी कारण से कहीं कहीं शब्द ब्रह्म जल रूप कहा है। यह लोक उस शब्द का कार्य है, जो आगे कहा जाएगा। इस लिए अक्षर ब्रह्म रूप हुए व्रजवासियों को भगवान् ने ब्रह्महृद में लेजाकर उस में स्नान करवाया। तब उनमें रहने वाले उस वैकुण्ठ लोक का तिरोभाव हो गया। वहाँ गए भी वे उस में डूब गए। वे उत्तमाधिकारी होने के कारण, शब्द ब्रह्म रूप ही हो गए।

यहाँ यह क्रम है कि प्रथम परब्रह्म, परब्रह्म से शब्दब्रह्म हुआ और उस शब्दब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ। इसीलिए यह समीप और दूर से ब्रह्मरूप का सूचक है। भगवान् ने वहाँ से भी उन को निकाला। यदि उन व्रजवासियों का उद्धार वहाँ से नहीं करते तो वेद प्रमाणस्त वे लीला के उपयोगी नहीं होते। भगवान् की आज्ञा से वेदों ने भी उन का उद्धार कर दिया। भगवान् ने उनके साथ जो इतना किया वह व्यर्थ था क्या? इस का समाधान-'ददृशुः'-इत्यादि पदों से करते हैं। इस सब करने का प्रयोजन यह है कि गीले नेत्र वाले भी उन्होंने शब्द ब्रह्म लोक के दर्शन कर लिये। उस शब्द ब्रह्म को निःसीम (व्यापक) बताने के लिए श्री शुकदेवजी राजा से कहते हैं, कि जिस स्थान पर पहले प्रमाणबल से अक्रूरजी को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हुआ था। इन व्रजवासियों को भी, प्रमाण से ही उसी स्थान पर भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए, भगवान् ने इस प्रकार किया ।।१५।।

कारिका—**ब्रह्मानन्दान् महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः ।**
तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्श्योद्धृतवांस्ततः ।

कारिकार्थ—ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजन में अत्यधिक आनन्द प्रकट रहता है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द से भजनानन्द का उत्कर्ष-दोनों का न्यूनाधिक भाव-बताने के लिए दर्शन कराकर फिर वहाँ से उनका उद्धार किया ।।

टिप्पणी—व्याख्या में-'विलय एवाभूत्'-आदि पदों का अभिप्राय यह है, कि जिस तरह प्रकट अग्नि का सम्बन्ध होने पर काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि प्रकट होकर उस काष्ठ को भी अग्निरूप बना देती है और काष्ठ का विलय हो जाता है इसी प्रकार अक्षरात्मक उस लोक के आनन्द रूप का सभी जगह आविर्भाव हो गया और उन सब व्रजवासियों के देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण तथा आत्मा मे भी आनन्द के प्रकट हो जाने पर उन के देहादिकों के आनन्दरूप हो जाने से, उनके देहादि भाव का विलय ही हो गया। तब उनका-प्रत्यापत्त्यर्थं-पूर्व भाव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया। आनन्दांश का सब जगह 'तदात्मकांशस्य' आविर्भाव होने पर उनके देहादि में भी आनन्द प्रकट हो गया। इस में दृष्टान्त यह है कि जैसे 'काष्ठाग्निवत्' लकड़ी मे रही अग्नि को

प्रकट करने के लिए बाहर की अग्नि का संयोग आवश्यक होता है।

'अर्धज्वलितानां-(आधे जले हुए) इत्यादि पदों का तात्पर्य यह समझना चाहिए, कि उन व्रजवासियों के मनोरथ को पूर्ण करने तथा ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में उत्कर्ष को बताने के लिए भगवान् ने उन्हें अपने लोक के दर्शन कराए। इस दर्शन का स्मरण रहने पर ही इस न्यूनाधिक भाव का ज्ञान आगे रह सकता है और वह स्मरण भी तरतमभाव का अनुभव होने पर ही हो सकता है। इसलिए इन व्रजवासियों को अभी ब्रह्मानन्द का अनुभव भी होना उचित है। वह अनुभव उस से अपना भेद जाने तब ही हो सकता है। इस प्रकार से, आनन्दात्मकता और भेदज्ञान पूर्वक अक्षरानन्द का अनुभव--इन दोनों के एक साथ होने से अर्धज्वलित भाव जानना चाहिए। फिर पीछा काष्ठ भाव प्राप्त होना कहने का अभिप्राय यह है कि पहले उनके देहादि में प्रकट हुए लोक का तिरोधान हो जाने पर, उस लोक के सम्बन्ध से होने वाले आनन्दात्मक भाव का भी तिरोधान हो गया और वे पहले जैसी स्थिति को प्राप्त हो गए। यदि-(अन्यथा)-उन को पहले की सी स्थिति में नहीं लाते तो आगे की लीला नहीं हो सकती थी। वह उन की पूर्व जैसी स्थिति, उन का वेदात्मक ब्रह्म में योग करने पर सम्भव है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जली हुई लकड़ी फिर पीछी काष्ठ रूप में नहीं बदली जा सकती इसी प्रकार आनन्दात्मक रूप को प्राप्त व्रजवासियों के देहादि फिर लौकिक-(जड़भाव)-को प्राप्त नही हो सकने के कारण उनका आगे की लीला में उपयोग नहीं हो सकता है। इसलिए देहादि भाव उन की प्रकृति-(स्वभाविक) नित्य स्थिति है और (सदा नहीं रहने वाली) मुक्ति अवस्था विकार रूप है। इस प्रकार इन की उस विकार रूप स्थिति (मुक्ति अवस्था) को दूर करके स्वाभाविक नित्य स्थिति में लाना आवश्यक है और वह वेदब्रह्म से ही हो सकती है। यह वेदब्रह्म मर्यादारूप नहीं है। इसलिए उन व्रजवासियों को देहादिभावरूप साधारण स्थिति प्राप्त करा कर भजनानन्द का अनुभव कराना भी मर्यादा का कार्य नहीं है। यदि यह वेदब्रह्म भी मर्यादामध्यपाती ही होता तो इन व्रजवासियों की स्वाभाविक देहादि भाव (लौकिक) प्रकृति भजनानन्द का अनुभव नहीं कर सकती। इसलिए जैसे कोई तालाब नदी के भीतर रहता हुआ भी, नदी के प्रवाह से अलग और सदा अतिनिर्मल होता है। उस निर्मल जल में मकरन्द बरसाने वाले कमलों को उत्पन्न करता है और अपने भीतर पड़े-हुए पदार्थों को भी निर्मल जल से भर देता है। इसी प्रकार वह वेद ब्रह्म वेद के भीतर रहता हुआ भी, मर्यादा मार्ग से भिन्न होकर स्वयं ब्रह्म रूप है और निर्दोष भजनानन्द का अनुभव कराने वाले विचित्र भावें को उत्पन्न करता हुआ पुष्टिमार्गीय ही है। इसी अभिप्राय से मूल में वेद को ब्रह्मरूप और जल को तालाब रूप-दोनों रूप से कहा है। यही व्याख्या में-'तद्धितस्य जलात्मकम्', (वही जल रूप है) इत्यादि पदों से कहा है।

वह लोक अक्षर रूप है। इसलिए ब्रह्महृद पद उसके (अक्षर)-आनन्द का वाचक है-ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्मानन्द अथाह और-हृद (तालाब) अल्प है। इस लिए दोनों में महान् अन्तर होने के कारण यह 'ब्रह्म हृद' पद अक्षर के आनन्द का वाचक नही माना जा सकता। यहाँ आनन्द पद का प्रयोग न करके 'हृद' पद के कहने का तात्पर्य ऊपर बताया हुआ उसका पुष्टिमार्गीय रूप ही है। अक्षर का निरूपण तो पहले कर दिया गया है। इस लिए यहां ब्रह्म पद का अर्थ अक्षर नहीं है। बीच में उसका शब्द ब्रह्म में योग करने का कारण व्याख्या में-'प्रमाणतोज्ञानम्'--इत्यादि पदों से कहा है। इस प्रकार यहाँ तालाब रूप कहना और उसमें डूबना (मग्न होना) बतलाने से शब्दब्रह्म को जल रूप भी मान लेना चाहिए। इसी कारण से, उस शब्द ब्रह्म को जल रूप से किसी स्थान पर कहा गया है। यह शब्द ब्रह्म भी व्यापक है। इस लिए कहीं गोकुल के निकट प्रकट करना तात्पर्य है। व्रजजनों को पूर्व स्थिति में लाना और प्रमाण के द्वारा उन्हें ज्ञान देना रूप दोनों

कार्य शब्द ब्रह्म से ही हो सकते हैं। इस लिए उस (शब्द ब्रह्म) को प्रकट करने की आवश्यकता है । इस विषय में युक्ति कहते है कि जहाँ अक्रूरजी को ज्ञान प्राप्त हुआ था वहाँ शब्द ब्रह्म रूप जल के भीतर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान पहले अक्रुरजी को हुआ था। वे व्रजजन उत्तम अधिकारी थे, इस लिए उसमें डूबने पर वे शब्दब्रह्म रूप ही हो गए। यहाँ पर यह शंका होती है, कि यदि शब्द ब्रह्म रूप जल से उनका उद्धार करना आवश्यक था, तो पहले की स्थिति में से उनका उद्धार करके, उन्हें अपना प्रकृति भाव (स्वाभाविक रूप) प्राप्त क्यों नहीं करा दिया ? इसके समाधान में कहते हैं कि अपनी की हुई मर्यादा को स्थापन करने के लिए ऐसा किया है। क्रम यह है, कि पहले परब्रह्म अपने में स्थित शब्द ब्रह्म को अलग करता है और फिर वह शब्द ब्रह्म जिस वस्तु को अपने से अलग करता है, वह जगद्रूप होता है। कहने का अभिप्राय यह है, कि जिस जगत् का साक्षात् लीला में उपयोग होना है वह तो सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह भगवान् के स्वरूप मे ही स्थित रहता है, किन्तु वह बाहर लीलारूपी कार्य नहीं कर सकता है। इस लिए भगवान् क्रीड़ा करने की इच्छा से उस को अपने स्वरूप में से अलग करते हैं।

उस आनन्द स्वरूप से अलग हुआ वह जगत् अपने सहज स्वरूप से बिछड़ा हुआ सा होकर कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता। तब अलौकिक प्रवृत्ति निवृत्ति के द्वारा अलौकिक अर्थ सिद्ध करने में समर्थ शब्द ब्रह्म है। इस कारण से यह मान कर—कि यदि यह स्वरूप से अलग किया जगत् शब्द ब्रह्मरूप हो जाए तो यह लीला में उपयोगी प्रवृत्ति और निवृति के योग्य हो सके। उस जगत् को शब्द ब्रह्म रूप किया। इस प्रकार जब वह अलौकिक प्रवृत्ति निवृत्ति के योग्य हुआ तब वह शब्दब्रह्मात्मक रूप होने से, प्रमाण रूप हुआ। लीला में तो प्रवृत्ति निवृत्ति स्नेह के आधीन है। इस लिए जगत् की उस शब्दब्रह्म रूपता का लीला में उपयोग नहीं होने के कारण व्रजजनों का वहाँ से भी उद्धार किया। यही बात व्याख्या में—'अन्यथा प्रमाण—गृहीता:'—इत्यादि पदों से कही है। यदि व्रजजनों का उस प्रमाण रूप शब्दब्रह्मात्मक जगत् से उद्धार नहीं करते तो प्रमाणग्रस्त, वे व्रजजन लीला में उपयोगी नहीं होते, क्योंकि लीला तो स्वतन्त्र है और प्रमाण के आधीन हुए वे वेद में बताए कर्म को ही करते उसके अतिरिक्त कोई भी कर्म नहीं करते, तो इन का लीला में उपयोग होता ही नहीं। अथवा यों समझिये कि प्रमाण मार्ग में चलने वालों का चित्त प्रमाण के वशीभूत हो जाता है और फिर उसका लीला में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं रहने के कारण, वह पुष्टि लीला में उपयो नहीं होता।

'तदार्द्रनयता:'—जल में डूबने वालों के नेत्र गीले हो ही जाते हैं। यहाँ, यह जल ऊपर बताए प्रमाण के अनुस शब्दब्रह्मरूप है। इस से वेद में भगवान् का स्वरूप जैसा सिद्ध है वैसे स्वरूप के ही वे अपनी दृष्टि से दर्शन कर हैं—यही नेत्रों का गीलापन है। अथवा दर्शन करते समय आनन्द के आँसुओं से भी नेत्रों का भीगना समझ चाहिए। इस सारे कथन का सार रूप गूढ रहस्य व्याख्या में—'ब्रह्मानन्दात्—(ब्रह्मानन्द से भजनानन्द में अत्यधि आनन्द है) इत्यादि कारिका में कहा है।

अथवा—'ते तु ब्रह्महृदं नीता:', इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है। इस की व्याख में—'ततो दर्शनान्तर'—इत्यादि पदों का आशय यह है, कि यद्यपि अक्षरानन्द की अपेक्षा लीलात्म आनन्द अधिक है, किन्तु तो भी, वे व्रजजन लीला रूप तथा लीला के मध्यपाती होने, तथा अब त अक्षरानन्द का अनुभव न करने के कारण, उन को इन लीलानन्द और अक्षरानन्द के अधिक न्यून भाव का ज्ञा नहीं था। भगवान् तो यद्यपि लोक के भीतर विराज कर ही लीला कर रहे थे, तो भी व्रजजन तो अपने आपक दूसरे लोक की तरह—साधारण लोक मान रहे थे। इसी से, उन का ऐसा, 'ब्रह्मलोक दर्शन' का मनोरथ हुआ उन के इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिए भगवान् ने अपने लीलात्मक अंश को मुट्ठी में बन्द सा (छिपा) कर

साधारण रीति प्रकट की, जिस में तो जीवों के भीतर केवल सत्, चित् अंशों का प्राकट्य होता है । आनन्द अंश का तिरोभाव रहता है । जब जीवों में उस आनन्द अंश का प्राकट्य हो जाता है, तब अक्षरानन्द का अंशरूप ब्रह्मभाव सिद्ध होता है ।

जिस प्रकार बाहर की आग के सम्बन्ध से लकड़ी के भीतर छिपी आग बाहर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अक्षरानन्द के प्रकट हो जाने पर जीवस्वरूपात्मक आनन्द भी प्रकट हो जाता है । तात्पर्य यह है, कि जीवस्वरूप के भीतर रहा हुआ आनन्दांश भी-लीला रूपी काष्ठ के बाहर के अंश में ही अग्नि भाव की तरह-प्रकट हो गया । इसी को व्याख्या में विलय शब्द से कहा है । इन व्रजजनों में भगवान् के आगे की लीला करने की जो इच्छा थी उसी लीला रूप काष्ठ के गीलापन के कारण वे अक्षरानन्द रूप नहीं हो सके । बाह्य अंश के स्थान पर केवल जीव भाव ही बना रहा । इसी को व्याख्या में अर्धज्वलितरूप कहा है । पुन: काष्ठ रूप में ले आना, यह है कि अक्षरानन्द का अनुभव करने के लिए लीलात्मक भाव और लीलात्मक कार्य करने के लिए जो उन्मुखता का अभाव और साधारण रीति प्रकट की थी, उसको दूर करके फिर पीछा लीलात्मक कार्य में तत्परता सम्पादन कर देना ही ज्वलित काष्ठ को पुनः काष्ठ रूप में ले आना है । यह कार्य शब्द ब्रह्म के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि देहादि का अध्यास वालों के लिए ही वह शब्द ब्रह्म देह धर्म कर्म ज्ञान उपासनायुक्त वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करता है । इस शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध से अक्षरानन्द के प्रकट होने पर प्रकट हुआ वह जीव का स्वरूपात्मक आनन्द छिप जाता है और पीछा जीव भाव सिद्ध हो जाता है । यह पीछा जीव भाव प्राप्त होना ही यहाँ लीला में उपयोगी होना है । मूल में ब्रह्म को ह्रद–तड़ाग–कहा है । वह जल रूप होने के कारण से जलात्मक कहा जाता है । जल अग्नि को बुझा (शान्त कर) देता है । इसी से, अक्षरात्मक रूप को अग्नि कहा है । इसी लिए कहीं गोकुल के निकट में ही कभी जलरूप शब्द ब्रह्म को प्रकट कर देने से उनका वह अग्नि रूप अक्षरात्मक भाव दूर हो (छिप) गया । इस विषय में व्याख्या में–'अग्रे च वक्ष्यति'–पदों से प्रमाण दिया है ।

'यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा'–अक्रूर को पहले जलमें ही शब्द ब्रह्म का ज्ञान होने से और यहाँ उसको ब्रह्म ह्रद कहने से शब्द ब्रह्म को–बिना किसी संकोच के–जलरूप मानना ही होगा । उसमें स्नान करना कहने से, सब अंशों में उसका सम्बन्ध सूचित होता हे । ह्रद (तड़ाग) में ले जाना कहने से ही, तालाब का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर भी, फिर उसमें डूबना बतलाना,–'शब्दात्मका एव जाता:'–उनका जलरूप–'शब्दात्मकभाव'–होना सूचित करने के लिए है । क्रमश्चायम्–पुष्टिमार्ग में प्रवेश करने का यह क्रम है । शब्द ब्रह्म की अपेक्षा अक्षर ब्रह्म पर–उत्कृष्ट–होने के कारण अक्षर ब्रह्म को ही परब्रह्म कहते हैं । उस पर ब्रह्म को मुक्त जीव ही * प्राप्त कर सकते हैं । इस लिये ब्रह्म भाव उत्पन्न हुए जीवों को ब्रह्म भाव अथवा वैकुण्ठ से अलग करके उनका फिर पीछा देहादि सम्बन्ध कराना मर्यादा श्रुतियों † के विरुद्ध है । तथापि, उन व्रजजनों को ब्रह्म भाव अथवा वैकुण्ठ से अलग करके उनके लिए पुष्टि लीलारूप जगत् (भगवान् ने) सम्पादन कर दिया ।

'अत एव',–इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है, कि पुरुषोत्तम का स्वरूप साक्षात् कहना (प्रत्यक्षतया वर्णन करना) अशक्य है, कार्य द्वारा अथवा अपने अनुभव के ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है । उसका ज्ञान जिस तरह होता है, उस प्रकार का वर्णन–मनोरथान्त श्रुतयो यथा ययु: (२९, १३)–इस दृष्टान्त की व्याख्या में

---

* मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् (ब्र. सू. १।३।२) ।

† न स पुनरावर्तते (छा ८।१५) ।

विस्तार से करेंगे। श्लोक में 'च' का आशय यह है, कि मर्यादा का निरूपण करने वाले वेदों को तो ब्रह्मानन्द में मग्न (डूबे हुए) जीवों को उससे अलग निकाल देना सम्मत नहीं है, तो भी श्रीकृष्ण की आज्ञारूप पुष्टिश्रुति की सम्मति हो जाने के कारण वेदों ने उन्हें अपने (ब्रह्मानन्द से) अलग कर दिया, क्योंकि वेद यह जान गए कि पुष्टिलीला में परिगृहित जीवों पर उनका अधिकार नहीं है केवल मर्यादामार्गीय जीव ही उनके विषय है। इसीलिए व्याख्या में –"वेदैरपि भगवदाज्ञयोद्धृता:" वेदों में भी भगवान् की आज्ञा से उन का उद्धार-अलग-कर दिया यह कहा है। यदि उन्हें वहां से न निकालते, तो मर्यादा में ही रहे हुए उनका पुष्टिलीला में प्रवेश नहीं होता।

'यतस्तदार्द्रनयना:'–इन व्याख्या के पदों का अर्थ यह है, कि यहां आगे के श्लोक में ही वर्णन किए जाने वाले उसके दर्शन से हुए परमानन्द के सुख से वे नन्दादि गोपजन आनन्द के अश्रुओं से गीले नेत्र वाले हो गए। अथवा–'यत्राक्रूर'–इस आगे के पद से इन गोपजनों को प्रमाण के द्वारा दर्शन कराने पर उनका भगवान् में उत्पन्न हुआ माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह ही–आर्द्रनयनरूप से कह कर–सूचित किया है।

यहां पर शका करते हुए कहते हैं, कि इस प्रकार विवरण करने का कारण क्या है ? वाक्यानुसार विवरण करना ही उचित प्रतीत होता है। वह इस प्रकार से–ब्रह्मानन्द ही अत्यन्त गम्भीर शुद्ध और सन्ताप को मिटाने वाला होने से ब्रह्महृद पद से कहा है। जैसे जलपूर्ण तालाब में डूबे हुए मनुष्य को बाहर के पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, वैसे ही, ब्रह्मानन्द में मग्न हुए वे व्रजजन देहादि के अनुसन्धान से रहित हो गए। यह बतलाने के लिए उनका ब्रह्मानन्द में मग्न होना (डूबना) कहा गया है। इसके पीछे पूर्णानन्दरूप श्रीकृष्ण ने उनको गणितानन्द रूप ब्रह्म से अलग करके देहादि के अनुसन्धान वाले किए। तब वे व्रजजन उस ब्रह्मलोक का दर्शन करने लगे। इसीलिए श्लोक में (ब्रह्मण:) ब्रह्म के (लोकम्) लोक को–इकठ्ठा न कह कर अलग अलग कहा है, क्योंकि इस प्रकार अलग नही किये जाते और देहानुसन्धान भी नहीं होता तो, लोक का दर्शन ही सम्भव नहीं था। इस प्रकार साधारण व्रजवासियों की व्यवस्था का वर्णन करके श्रीनन्दरायजी आदि प्रधान गोपों के विषय में,–'नन्दादय:'–नन्दरायजी आदि–इत्यादि पदों से विशेष वर्णन पूर्वक–'दर्शयामासु:'–दर्शन कराना रूप भगवान् का कार्य कह कर–ददृशु:–पद से उनका स्वयं दर्शन करना कहा है। इस कारण से–"दर्शयामास"–इस तेरहवें श्लोक से लेकर–"ददृशु:"–इत्यादि पन्द्रहवें श्लोक तक एक वाक्यता (एक ही विषय का वर्णन) मानना ही उचित है, दिखाना और देखना–इन दोनों को अलग अलग समझ कर वाक्य में कहे पदार्थ अलग मान लेना उचित नहीं है।

इसका समाधान करते हुए कहते हैं, कि पूर्वपक्षानुसार उक्त तीनों श्लोकों की एक वाक्यता नहीं है, किन्तु वाक्यभेद ही है यदि यहां पर दिखाना कह कर उस विषय का स्वरूप बतला कर उसी क्षण में दर्शन कर लेने का अव्यहित वर्णन होता तो एक वाक्यता सम्भव थी, परन्तु उनको पहले ब्रह्म हृद में ले जाना, दूसरे उन्हें उसमें मग्न करना और तीसरे उन्हें वहां से बाहर निकालना–आदि तीन क्रियाओं का समुदाय कहा है और "तु" शब्द से उनकी विभिन्नता (एक का दूसरे से असहयोग) को प्रदर्शित कर रहा है। पूर्वपक्षी के कथनानुसार तो दर्शन के पहले ही उसमें डूबना सिद्ध हो जाता है (और वह) जो किसी प्रमाण के न होने से उचित नहीं है। दूसरी बात यह है, कि–दर्शयामास–दिखाना कहने से दर्शन का वर्णन तो हो ही गया, फिर पूर्वपक्षानुसार तो "ददृशु:" पद से पुन: उसी के दर्शन का ही वर्णन करना सिद्ध होता है। उसका पुन: वर्णन नहीं करता, इत्यादि सब कारणों से श्री व्याख्या के अनुसार अर्थ को ही श्लोकानुकूल यथार्थ समझना चाहिए।

योजना—व्याख्या में शब्द ब्रह्म का जलरूप से निरूपण किया, वह उचित ही है क्योंकि जल को शास्त्रों

श्लोक—नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिवृ ताः ।
कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वे नन्दरायजी प्रभृति गोपजन उस ब्रह्म लोक को देख कर अत्यन्त आनन्दित हुए और वहां यह देख कर कि शरीरधारी वेद श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे हैं–वे अत्यधिक आश्चर्यान्वित हुए ॥१६॥

सुबोधिनी–ततो यज् जातं तत्पर्यवसितमाह नन्दादय इति **तं ब्रह्मलोकं दृष्ट्वा नन्दादयः** प्राप्तस्वरूपाः **परमानन्देन निवृ ता** जाताः, तद्धि सर्वाविद्यानाशकमावरणनिवारकमतः प्रमाणेन तदनुभूय निवृ ताः, पूर्व त्वेकरसतामापन्नाः, किञ्च तत्रापि मध्ये कृष्णस्तं च वेदाः स्तुवन्ति, अत आह **च्छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा** परमाश्चर्यं प्राप्ताः, तस्याप्येतत् फलं वैकुण्ठस्याप्येतत् फलमिति ज्ञात्वेतराभिलाष परित्यज्य परमाश्चर्यरसे निमग्ना जाताः ॥१६॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-वान्तरसाधनप्रकरणे सप्तमस्य स्कन्धादितःपञ्चविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—तदन्तर होने वाले परिणाम का वर्णन इस–'नन्दादयस्तु'–श्लोक से करते हैं। उस ब्रह्म लोक को देख कर, स्वरूप को प्राप्त हुए वे नन्दरायजी आदि गोपजन परमानन्द सुख को प्राप्त हो गए। वह ब्रह्म लोक अविद्या का नाशक और आवरण का निवारण करने वाला है। उसका इस प्रकार प्रमाण द्वारा अनुभव करके वे अत्यन्त सुखी हुए। पहले तो वे ब्रह्म के साथ एक रस हो गए थे और वहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण मध्य में विराजमान थे। वहाँ साक्षात् वेदों को श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए देख करके अत्यन्त चकित हुए। वेदों से स्तुति किए गए श्रीकृष्ण के दर्शन करके वे परम आश्चर्य मग्न हुए। ब्रह्म लोक और वैकुण्ठ–दोनों का भी यही एक फल जान कर वे अत्यन्त आश्चर्य रस में निमग्न हो–(डूब)–गए ॥१६॥

में शब्दब्रह्म स्पष्ट रीति से कहा है। पद्मपुराण में श्री यमुनाजी के तीस नाम कहे हैं, प्रयागमहात्म्यस्थ, उस श्री यमुनास्तोत्र में–त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्म विद्या सुधावहा–श्री यमुनाजी को जलरूप और वेदत्रयीरूप बतलाया है इस कारण से जल और शब्दब्रह्म को एक रूप ही मानना चाहिए ॥१५॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २५ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण सातवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।